❁ श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ❁

चरित-वैभव

रसवारिधिनिमग्न परम पूज्य
श्री बालकृष्णदासजी महाराज का जीवन-चरित



लेखक -
श्री मनोहरदास जी

प्रकाशक –
वेणुविनोद पारमार्थिक न्यास,
तमालकुञ्ज, सेवाकुञ्ज
वृन्दावन – २८११२१, जिला मथुरा
फोन – (०५६५) ४४२६२४

प्रकाशन तिथि –
ज्येष्ठ कृष्णा एकादशी
(निकुञ्ज गमन तिथि-परम पूज्य श्री महाराजजी)
सम्वत् २०५५ वि॰ (२२ मई १९९८)

संस्करण –
प्रथम – २१०० प्रतियाँ

न्यौछावर –
१५१ रुपये मात्र

मुद्रक –
राधा प्रेस,
२४६५, मेन रोड, गाँधी नगर, दिल्ली – ११००३१
फोन – (०११) २२१३१०७

प्राप्ति स्थान –
१. **वेणुविनोदकुंज**
सेवाकुंज, वृन्दावन – २८११२१

२. **श्री मोतीलाल गुप्ता**
श्री रामकृष्ण मन्दिर के पीछे
बड़वानी – ४५१५५१

समर्पण

जिनकी कृपा से सदैव लालित–पालित रहा, उनकी ही अन्तः–प्रेरणा से लिखित यह ''चरित वैभव'' ग्रन्थ उन्हीं के कर कमलों में

समर्पित है।

कृपापालित–

मनोहर

विजयते माधुर्य-वल्ली सदा

सरसिज-मधुरास्यं पञ्चकेशाभिकास्यं
'अलि'-ललितमुपास्यं शीतलं मन्दहास्यम्।
प्रियतम-रति-रासे वेणु-कुञ्जाधिवासे
मधुर-रस-विलासं बालकृष्णं नमामि।।

जिनका मुख-मण्डल कमल के समान मधुरिमा से युक्त है, अलकावली, जटा, श्मश्रु, भृकुटि एवं मुच्छ की श्वेत आभा से प्रकाशमान है; मन-प्राण को शीतल करने वाली मन्द मुसकान से विलसित है; जिनका 'अलि' स्वरूप ललित एवं उपासनीय है जो प्रियतम श्रीकृष्ण की प्रीति-पूर्ण रास-क्रीड़ा में तथा वेणु-कुञ्ज में सम्पद्यमान विलास लीलाओं में सुशोभित रहते हैं, उन श्री बालकृष्णदासजी महाराज को मैं प्रणाम करता हूँ।

प्रेमोल्लास - विलास - गीत - मुखरैर्भृंगैर्श्शतैर्भूषिता
भाव-स्निग्ध-सुगन्ध-धी-सुमनसां वृन्दैस्सदाराधिता।
तन्वी-श्याम-तमाल-लग्न-मधुरा कुञ्जोदरे सुन्दरे
नृत्यन्ती रस-वल्लरी विजयते श्रीबालकृष्णाभिधा।।

प्रेम से उल्लसित होकर विलास-गीतियों का गुञ्जन करते हुए शत-शत भ्रमरों से विभूषित, भावों की स्निग्ध सुरभि से पूर्ण सुमनों के द्वारा निरन्तर आराधित, सुन्दर कुञ्ज के अभ्यन्तर में श्याम-तमाल से लिपटी हुई श्री बाल कृष्ण नाम से ज्ञात नर्तनशीला कमनीय रसभरी कनक-लता की जय हो।

नृत्यन्नेत्र-कटाक्ष-हास-मदिरं रूपं परं सुन्दरं
पीत्वा नेत्रमुखेन मुग्धनयना मूर्छामिता विस्मिता।
प्रीत्या सा सरसाङ्गयष्टि-विकला वाष्पाकुला कम्पिता
श्यामनेकाङ्क - समाश्रिता विजयते श्री बालकृष्णाभिधा।।

नर्तनशील नेत्रों के कटाक्षों और मन्द हास्य से अलंकृत उस परम सुन्दर रूप को नेत्र-मुख से पान कर मुग्ध-नयना बाला विस्मय से अभिभूत होकर



युगल छवि

मूर्च्छित हो गई। स्वेद से सरस-तनु, भाव-विह्वल, अश्रुपूर्णा कम्पिता उस बाला को अपने अङ्क में बिठा लिया ऐसी श्री बालकृष्णनामा प्रिया की जय हो।

आलि त्वं नवमल्लिकासि कलिका बाले सुधा-मञ्जरि
भद्रं तेऽस्ति शुभागमं प्रिय सखि प्राणाधिके वल्लभे।
आश्लिष्य प्रतिनंद्य चारु-वचनैरुत्कण्ठितै रोमभिः
कृष्णेनाभिहिता प्रिया विजयते श्री बालकृष्णाभिधा।।

हे आलि, बाले, सुधा-मञ्जरि, तुम नवीन मल्लिका की कलिका हो। हे प्रिय सखि, प्राणाधिके, वल्लभे, तुम भली आयीं। रोमाञ्चित और उत्कंठित कृष्ण ने आलिंगन और अभिनन्दन कर जिसको इस प्रकार मधुर वचनों से सम्बोधित किया उस श्री बालकृष्ण नाम की प्रिया की जय हो।

वर्षन्ती रसमाधुरीं करुणया तापं हरन्ती नृणां
स्फूर्जन्ती निजमण्डलैस्सह हरे कृष्णेति संकीर्त्तनम्।
कालिन्दी-तटमास्थितं प्रियतमं श्यामं तमालं द्रुमं
सिञ्चन्ती रसधारया विजयते माधुर्य-कादम्बिनी।।

'रस के माधुरी की वर्षा करती हुई करुणा से आर्द्र-चित्त होकर भक्तों के सन्ताप को दूर करती हुई हरे कृष्ण महामंत्र का अपने मण्डल के साथ मेघ गम्भीर ध्वनि से उच्चार करती हुई कालिन्दी तीर पर स्थित प्रियतम श्याम तमाल वृक्ष को रस धारा से सींचती हुई माधुर्य-मेघमाला की जय हो।'

सान्द्रप्रेम-रसाल-गीति-मनिशं मन्दं स्वनन्ती मुदा
पश्यन्ती रति-मुग्ध-रूप-मधुरं नीलोत्पलं चुम्बति।
उन्मत्ता मकरन्द-सीधु-मुखरा पद्मप्रिया मोहिता
आली कापि मनोहरा विजयते माधुर्य-भृंगी सदा।।

'घनीभूत प्रेम के रस से पूर्ण गीत का निरन्तर गुञ्जन करती हुई, प्रीति-विमुग्ध मधुर-स्वरूप नील-कमल का चुम्बन करती हुई पराग की मदिरा से उन्मत्त और मुखर पद्मप्रिया मोहिता और मनोहरा माधुर्य भृंगी रूपा 'आली' की जय हो।'

श्लिष्यन्ती परितस्तु नील-सुषमं बध्वा भुजाभ्यां द्रुमं
प्रेंखे श्याम-तमाल-वक्ष-कलिते माल्येव हिन्दोलिता।
तं श्रीरङ्गमनङ्ग-पुष्प-विलसत्-शृंगार-सारं तरुं
'आली' नित्य-समाश्रिता विजयते माधुर्य-वल्ली सदा।।

'अपनी बाहुओं से नील-कान्ति-रूप तमाल-वृक्ष को बांध कर, उसका सम्पूर्ण रीति से आलिङ्गन करती हुई मुग्धा श्याम-तमाल के वक्ष-रूपी झूले पर पुष्पमाला के समान वह झूल गयी। इस श्रीविलासयुक्त अनङ्ग-पुष्पों से सुशोभित शृंगार-सार द्रुम का नित्य-समाश्रयण करने वाली आली-नामिका माधुर्य-वल्ली प्रिया की जय हो।'

क्वासौ श्याम-तमाल-वल्लि-सुषमा क्वाहं प्रपञ्चान्धधी,
क्वासौ व्योम्नि रसाल-चन्द्र-महिमा क्वाहं वटुर्वामनः।
एवं सत्यपि चातिभेद-विषमे मच्छब्द-नीराजना
त्वद्-वात्सल्य-परानुभावितमियं मन्येऽनुकम्पानिधे।।

'कहाँ तो श्याम-तमाल को आलिंगित करने वाली कनक-वल्लरी की अलौकिक शोभा और कहाँ प्रपञ्च के कारण अन्ध-बुद्धि मैं ? कहाँ तो गगन विहारी रसाल-चन्द्र की ऊँचाई और कहाँ बौना बालक मैं ? इतना अधिक विषम भेद होने पर भी जो मैं यह शब्दों के माध्यम से आपकी नीराजना कर सका। हे दयानिधि, उसका कारण मैं यह मानता हूँ कि यह केवल आपके परम-वात्सल्य से अनुभावित है।'

कालिन्दी-पुलिने निकुञ्ज-भवने दिव्ये तु वृन्दावने
राधा-कृष्ण-विलास-हास-ललिता लीला मयि स्फूर्जतु।
प्रेमा-भक्तिमनन्यनिर्भरगतिं सद्यः प्रसादीकुरु
इत्थं त्वामभियाचितो विजयते श्री बालकृष्णाभिधा।।

वृन्दावन में कालिन्दी के तट पर निकुञ्ज स्थली में राधा-कृष्ण की विलास-हास-लीला का मुझ में स्फुरण हो। प्रेमा भक्ति तथा अनन्य-निर्भर-गति का मुझे शीघ्र वरदान दें। श्री बालकृष्ण अभिधान-युक्त कृष्णप्रिया तुमसे मेरी यह याचना है। तुम्हारी जय हो।

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ सं.
६३. पुनश्च गोरखपुर गमन	३५६
६४. समसामयिक सन्तों से मिलन	३६३
१. पूज्य श्री हरिबाबाजी महाराज	३६३
२. पूज्या माँ आनन्दमयी	३६४
३. पूज्य श्री भक्तमालीजी महाराज	३६५
४. पूज्य ठाकुर श्री ओंकारनाथजी महाराज	३६५
६५. पुनः अज्ञातावास का विचार	३६६
६६. बड़वाह में श्रीमद्‌भागवत-सप्ताह	३७५
६७. अपूर्व योगक्षेम	३७७
१. श्री तिरुपतिबालाजी के दर्शन	३८१
६८. पुनश्च बड़वानी गमन	३८४
६९. दो महान् विभूतियों का अन्तिम मिलन	३८८
७०. पूज्य श्री राधाबाबा का लीला-प्रवेश	३९१
७१. बड़वानी में श्रीमद्‌भागवत-सप्ताह	३९५
७२. प्रियाभाव की एक झलक	३९६
७३. भावराज्य में	४०१
७४. वात्सल्य भावापन्न सन्त श्री पण्डितजी का गोलोक गमन	४०३
७५. बढ़ती हुई अन्तर्मुखता तथा एक विशिष्ट संकल्प	४०४
७६. विग्रह-स्थापना	४०६
१. अपूर्व भावावेश	४११
७७. ममलेश्वर-दर्शन	४१५
७८. तमालकुंज में श्रीमद्‌भागवत-सप्ताह	४१८
७९. महामिलन	४१९
८०. रस ! रस ! रस ! रस ! (गद्य-पद्य)	४२२
८१. रस ! रस ! रस ! रस ! (श्री–जी-हस्तलिखित)	४३२
८२. रस ! रस ! रस ! रस ! (व्याख्या)	४३६

हा हन्त ! हन्त !! क्वाऽसि मे जीवितम् !

चेतस चिन्तय चिन्तमय-भासं
नूतन-जलधर-रुचिर-विकासम्।
पीत-वसनधर सुन्दर-नटवर
मधुर-विकस्वर-सुललित-हासम्।।

क्या लिखूँ ? कैसे लिखूँ ? लिखने की औपचारिक अनिवार्यता है; पूज्यजनों का आग्रह है। किन्तु भाव, वाणी में उतरने को प्रस्तुत नहीं। यदि वाणी दुःसाहस भी करे तो भावों की धूमिल छाया की एक विकृत रूप रेखा ही प्रस्तुत कर सकेगी। मैं भला उनके विषय में क्या लिख सकूँगा ? उनके प्यार की प्लाविनी धारा में वर्षों स्नात रहा। जिन्हें आँखों में भर-भरकर पान किया, जिनके मंजुल कर-स्पर्श ने अन्य स्पर्श का भान ही भुला दिया, जिनके मधुर रसामृत वचनों ने कर्णपुटों को रस से भर दिया, श्री अंग की सुवास तो क्या उनके पहने हुए वस्त्र भी नासिका सूँघने भर से ही परिचय करा दिया करते थे कि वस्त्र "परम पूज्य" के हैं। उनके साथ गमन, हँसन, बोलन, चितवन से क्या नहीं होता था ? सह भोजन उच्छिष्ट प्रसाद लेते ही संसार का तिरोभाव हो जाता था। अतीन्द्रिय-ज्ञान-सम्पन्नावस्था होकर घंटों मस्ती में झूमता रहता। सह-विश्राम की तो बात ही निराली थी। ऐसे-ऐसे विचित्र खेल करके "वे पूज्य" कौतुक देखते रहते और मन्दस्मिति-पूर्वक कहते— बस जी, बहुत हो गया। अब आ जाइये यहीं पर, कहते हुए सिर को कर से सहला देते। जिसकी वस्तु उसी को समर्पित कर सदा की भाँति ही रह जाता।

क्या कहूँ ? कैसे कहूँ इनके बारे में ? प्राणों में प्राण का संचार करने वाले, नीरसता में रस उड़ेलने वाले, नारकीय को महान् बनाने वाले, दुर्गुणी को सर्वगुण-सम्पन्न करने वाले, ऊसर भूमि में रस-लता लहराने वाले मधुरातिमधुर रसिक शिरोमणि के बारे में कुछ भी लिखना कैसे संभव होगा ?

आँख-मिचौनी लीला में पारंगत, लुका-छिपी की लीला ही जिनका स्वभाव, प्रत्येक लीला में एक कौतुक ही दृष्टि-गोचर होता रहा। इस रस से भी वंचित नहीं रखा। गुप्त, सुगुप्त रहस्यमयी लीलाओं में निरन्तर लहराते

रहे। किसी को भी 'उन्होंने' अपना भेद ही नहीं दिया। बाहर से सबके साथ ऐसा व्यवहार करते कि उसे लगता मानो 'वे' उसी के विचार में ही बैठे हों। अगर कभी कोई दुःखों का पहाड़ लेकर उनके पास आता, तो उसे हँसी-विनोद की भाषा से निहाल कर देते, और दुःख- हरण कर लेते। उनमें अनन्त गुण थे जो मन बुद्धि के परे हैं। लेखनी वर्णन करने में समर्थ हो ही नहीं सकती। भगवान् की भगवत्ता का वर्णन करना सुलभ है। पर "इनके" गुणों का वर्णन करना अति दुर्लभ है। वे ही धन्य हैं जिन्होंने यत्किंचित् भी वर्णन किया है। मुझ से तो कुछ कहते ही नहीं बन रहा।

"गिरा अनयन, नयन बिनु वानी।"

मेरे परम सुहृद, परम आत्मीय अग्रज श्रीमनोहरजी के द्वारा जो कुछ भी लिखा गया है, वर्णन हुआ है, यह उन पर विशेष कृपा का ही द्योतक है। परम पूज्य की रुचि का समादर करते हुए भी जो इन्होंने अपने 'जीवना-धार" के वर्णन को लिपिबद्ध किया है, वह निश्चय ही अत्यन्त कठिन था। इसे मात्र कृपा-साध्य ही कहा जा सकता है। मैं इनके विषय में अधिक कुछ भी नहीं कह सकता; कुछ कहना या लिखना आत्मप्रशंसा सी लगती है। विज्ञजन इसी में सब कुछ समझ सकेंगे।

राधा प्रेस ने भी सरस आत्मीयता से अल्प अवधि में इस ग्रन्थ का सुसज्ज एवं आकर्षक मुद्रण कर हमें कृतार्थ किया है। भाई ओमप्रकाश सेकसरिया ने अपने न्यूजेक प्रिंटिंग वर्क्स में मनोरम चित्रों को तथा ग्रंथ के आवरण का मनोहारी मुद्रण से चित्त आह्लादित कर दिया । इसके लिये वे तथा उनका मुद्रण-प्रतिष्ठान हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

अपने परिकर के सहयोग से ही आज यह दुर्लभ वस्तु ग्रन्थ के रूप में आपके हाथों में प्रस्तुत है। अलि-परिकर-परिवार हमारा गौरव है; निश्चय ही इस ग्रन्थ के पठन-पाठन से यह और भी अधिक प्रकाशमान होकर चमकेगा।

घनश्याम शर्मा

तव कथामृतम्

सन् १९४५ श्रावणमास ने नव-जीवन प्रदान किया था श्रीधाम वृन्दावन का वास प्रदान कर। इसके कुछ मास बाद सन्त-कृपा ने बलात् स्नेहाश्रय प्रदान कर अन्त तक श्रीचरणों में रखा। फलतः अत्यन्त सान्निध्य का लाभ प्राप्त कर जो देखा, जो सुना, जो अनुभव किया वह मेरा बहुत बड़ा सौभाग्य है यह कहने में मुझे किंचित् भी संकोच नहीं है। इसे मैं पूर्व-पुण्य समझूँ, अकारण सन्त-कृपा कहूँ या भगवत्-अनुग्रह, कुछ समझ में नहीं आता। कुछ भी हो, परन्तु कृपा अवश्य हुई है और हो रही है।

जीवन में बड़े-बड़े सन्तों के चरित पढ़े, उनको प्रत्यक्ष देखा और सुना परन्तु पूज्य श्री महाराजजी का जो जीवन-वैभव निकट से अनुभव में आया उसका प्रभाव विशेष रूप से मेरे जीवन पर छा गया। श्री–जी के बाल्य-काल की विचित्र घटनाएँ, त्याग की अद्भुत प्रेरणा, पर्यटन-तीर्थाटन की विशेषता अपने लक्ष्य में सतत स्थिरता, लगन, किसी भी प्रपंच से सदा अस्पृष्ट रहना एक जाज्वल्यमान उदाहरण एवं जीवन पर विचित्र छाप डालने वाली जीवन-गाथा है। इससे भी बढ़कर, कृष्ण-विरहिणी व्रजगोपियों तथा वर्तमान-युग में श्रीमन्महाप्रभु की वियोगदशा के सदृश्य मनोदशाएँ, अरण्य-रोदन-स्थिति में दिव्यानुभूतियाँ, व्रज-रस का उमड़ता महासागर तथा पूर्णप्राप्ति तक अविरामगति, इन सब अनिर्वचनीय स्थितियों का प्रत्यक्ष परिचय आपको इस ग्रन्थ में पढ़ने को मिलेगा। बहुत सी बातें तो ऐसी हैं जो प्रत्यक्ष देखी सुनी न होती तो स्वयं मुझे अविश्वसनीय लगतीं। इसमें यथातथ्य मेरे द्वारा जीवन में देखा सुना ही लिखा गया है। अतिशयोक्ति तथा वृथा-विस्तार का स्पर्श इसमें रंचक मात्र भी नहीं किया गया है। जन-सम्पर्क से सदा दूर, मान-सम्मान से असंपृक्त श्री–जी की जीवनचर्या ही इसका प्रमाण आपको देगी। इसमें मुझे, प्रमाणित करने के लिये अलग से कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं है।

सत्यमय जीवन, प्रेम से सुस्निग्ध व्यवहार सदा ही सहृदय, सरस मन वाले व्यक्तियों पर अपनी छाप छोड़े बिना नहीं रहता है। अतः इसे पढ़ने से आपके हृदय पर जो प्रभाव पड़ेगा, आपके मन को भगवान् की ओर चलने की जो प्रेरणा मिलेगी, आपके मानस में जो प्रेम का स्त्रोत उमड़ेगा, श्रीकृष्ण-

भक्ति का जो अंकुर प्रस्फुटित होगा, वही आपको सब कुछ प्रमाणित कर देगा। प्रत्यक्ष कभी उदाहरण की अपेक्षा नहीं करता, 'प्रत्यक्षस्य किं प्रमाणम्' 'हाथ कंगन को आरसी क्या' ? यह मैं स्वानुभव तथा पूर्व सन्तों की जीवनियों एवं लिखित भावग्रन्थों के आधार पर विश्वासपूर्वक लिख रहा हूँ कि भावुक भक्तों के अन्तःकरण इसके पढ़ने एवं मनन करने से रस में डूबे बिना नहीं रहेंगे।

प्रथम, लेखन के प्रारंभ में स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं थी कि मेरे जीवन-काल में ही यह दुर्घटित होगा और मुझे श्री–जी के बाद रहकर यह कठोर कार्य करना पड़ेगा। परन्तु विधानानुसार, भगवत्-प्रेरणा से यह कार्य हुआ, आज यह अनुभव में आ रहा है, कारण वर्तमान में, शेष जीवनके लिये यही चरित्र आधार है, सम्बल है, पथ-प्रदर्शक है। नित्य श्री–जी की स्मृति दिलाकर जीवन के लिये संजीवनी बना हुआ है। 'तव कथामृतं तप्त जीवनम्' सोचकर ही मन को समाधान प्राप्त हो रहा है।

'निज परिकर' का संग्रह भी भगवत्-संकेत से ही हुआ है। किन-किन प्रान्तों से, कैसे-कैसे, किस प्रेरणा से, साधकों का चरणाश्रय में आना हुआ, ये सब आश्चर्यजनक बातें हैं। निज-परिकर-मध्य निरन्तर वर्षों तक सत्संग की जो धारा बहती रही है, इसने साधकजनों को कैसे प्रेम में सिक्त किया है यह वृत्तान्त भी पढ़ने का अवसर आपको प्राप्त होगा। श्री–जी के स्नेह से सदा सिक्त होते रहे हैं निजजन।

अनन्तर भाव की दशा, भावोन्माद, विरह की अन्तर्दशाएँ मूर्च्छा इत्यादि अष्ट-सात्विक भावों का प्रत्यक्ष दर्शन इस चरित्र में आप कर सकेंगे। उत्तरोत्तर आने वाली संकीर्तन की बाढ़ प्रान्त-प्रान्त में संकीर्तन की धून तथा आवेश, मूर्च्छावस्थाएँ, पदों की स्फूर्ति, भावनृत्य तथा लीलास्फूर्ति आदि-आदि का दुर्लभ विवरण पढ़कर प्रेम से आपका हृदय सिक्त होगा ही यह मेरा विश्वास है।

ग्रन्थ विस्तार के भय से श्री–जी के चरित्र की कतिपय छोटी बड़ी घटनाओं का समावेश नहीं किया जा सका है परन्तु जितना भी लिखा गया है वह अपने आप में पूर्ण एवं साधकों का मार्ग प्रशस्त करने के लिये पर्याप्त है। श्री–जी के लिखे 'अद्भुत श्याम तमाल' तथा 'अलि भाव-निर्झर' (पदावली) भी सरस सत्संग तथा श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-माधुर्य से ओत-प्रोत अद्भुत ग्रन्थ

हैं उन्हें भी आप देखें एवं लाभ प्राप्त करें। मेरे परम सुहृद एवं बन्धु ठाकुर श्री घनश्यामजी ने लेखन-कार्य के लिये मुझे प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया एवं प्रारंभ से अन्ततक समय-समय पर हर प्रकार का अपना बहुमूल्य सहयोग प्रदान किया है। प्रूफ रीडिंग में श्री–जी की कृपापात्रा तथा श्री अलबेली-शरणजी एवं श्री विद्याधरजी ने अथक परिश्रमपूर्वक अपना अमूल्य समय प्रदान किया है। इन्हें धन्यवाद देने तथा इनसे उपकृत होने की बात इसलिये नहीं कि ये श्री–जी के अनन्य चरणाश्रितजन हैं। इन्होंने प्रकारान्तर से अपना ही कार्य किया है।

बहिन कुसुमजी ने भी श्री–जी के जीवन की कई विस्मृत घटनाओं एवं तथ्यों का स्मरण दिलाने में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। बालपन से ही श्री–जी की स्नेह पात्रा कु. शशिकला मुले ने इस ग्रंथ की प्रेस कॉपी बनाने तथा संजोने में अथक परिश्रम किया है। इनके द्वारा रचित श्री–जी की प्रातः कालीन आरती नित्य समाधि पर गाई जाती है।

पूज्य श्री राधाबाबा के परम कृपापात्र श्री विश्वम्भरशरणजी पाठक वाइस चान्सलर (पूर्व कुलपति) गोरखपुर युनिवर्सिटी तथा प्रोफेसर श्री गोविन्दशर्माजी जो वृन्दावन के अनेक धार्मिक मासिक-पत्रों के एवं अनेक सन्तों के जीवनचरितों के सम्पादक हैं तथा जिन्हें ब्रजवासी होने का सौभाग्य भी प्राप्त है, इस ग्रन्थ के लेखन एवं मुद्रण में परम आत्मीयता, श्रद्धा पूर्वक विशिष्ट योगदान दिया है। ये भी पूज्य श्री महाराजजी के कृपाभाजन-जन हैं। इनके लिये जितना भी कहूँ कम है। यह 'चरित-वैभव' ग्रन्थ धार्मिक जन समाज को अतुलित लाभ प्रदान करेगा एवं सरस सहृदय साधक-जन इसे पढ़कर अपने पथ पर निरन्तर अग्रसर होते रहेंगे, इसी मंगल कामना के साथ अन्त में पाठकजनों से मेरा निवेदन है कि लेखन में जो त्रुटियाँ दृष्टि-गोचर हो वे मेरी ही हैं एवं उनके लिये मुझे क्षमा करते हुए इस रसिक-चरित्र का रसास्वादन हृदयपक्ष को प्राथमिकता देते हुए करेंगे तो मैं धन्य हो जाऊँगा। इति।

– मनोहरदास

माधुर्य-कादम्बिनी

वर्षन्ती रस-माधुरी करुणया तापं हरन्ती नृणां
स्फूर्जन्ती निज मण्डलैरसाह हरे कृष्णेति संकीर्तनम्।
कालिन्दी-तटमास्थितं प्रियतमं श्यामं तमालं द्रुमं
सिञ्चन्ती रसधारया विजयते माधुर्य-कादम्बिनी।।

"रस माधुरी की वर्षा करती हुई करुणा से आर्द्रचित्त होकर मनुष्यों के ताप को दूर करती हुई हरे कृष्ण महामंत्र का अपनी मंडली के साथ मेघ गम्भीर ध्वनि से उच्चार करती हुई, कालिन्दी तीर पर स्थित प्रियतम श्याम तमाल वृक्ष को रसधारा से सींचती हुई माधुर्य-कादम्बिनी की जय हो।"

उस पगले प्रेम को जिसमें भक्त अपनी संपूर्ण अहंता और ममता की होली जलाकर आनन्द से नृत्य करने लगता है, उस अन्धे प्रेम को जिसे अपने प्रियतम के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं, मस्ती में लहराते हुये उस प्रेम को जिसमें प्रियतम ही भक्त के तन, मन, धन, जन और जीवन बन जाते हैं, उस दीवाने प्रेम को जो निरन्तर और अप्रतिहत रूप से बाह्य और अभ्यन्तर में प्रियतम की लीलाओं का दर्शन कर झूमता रहता है और उस मतवाले प्रेम को जिसे देख कर भुक्ति और मुक्ति की वाञ्छा दूर से ही प्रणाम कर भाग जाती है, सर्वलोक-महेश्वर, सर्व-शक्तिमान, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ भगवान् भी देने में प्रायः असमर्थ है।[1]

---

१. राजन् पतिर्गुरुरलं भवता यदूनां दैवं प्रियः कुलपतिः क्वच किंकरो वः
अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्मन भक्ति-योगं।।

भागवत ५.६.१८

'राजन्, भगवान श्रीकृष्ण स्वयं पाण्डवों के और यदुवंशियों के रक्षक, गुरु, सुहृद इष्टदेव और कुलपति थे, यहाँ तक कि वे कभी-कभी आज्ञाकारी सेवक भी बन जाते थे। इसी प्रकार भगवान् दूसरे भक्तों के भी अनेकों कार्य कर सकते हैं और उन्हें मुक्ति भी दे देते हैं परन्तु मुक्ति से भी बढ़कर जो भक्तियोग है, उसे सहज में नहीं देते। भक्तियोग से यहाँ तात्पर्य 'प्रेमाभक्ति' से है। श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ने 'भाव-भक्तिं प्रायो न ददाति' कहकर और श्री गोस्वामी गिरधारी लाल ने 'पुष्टि मार्गीयं स्नेह लक्षणं तु नैव ददाति' कहकर उसी ओर इंगित किया है। 'न ददाति कर्हिचित्'—'कभी नहीं देते हैं', इस कथन को

अनन्त ऐश्वर्यशाली, सर्व-समर्थ की यह मधुरिमामयी असमर्थता है। सच तो यह है कि पूर्णकाम और नित्य-तृप्त भगवान् में भी ऐसे शुचितम प्रेम की निरन्तर कामना और मधुर अतृप्ति है। वह स्वयं विह्वल होकर प्रीति-रसोन्मत्त भक्तों के पराधीन है; उसके पीछे-पीछे घूमता है। जिससे उनके

लेकर टीकाकारों के मन में यथेष्ट ऊहापोह हुआ। श्रीधर स्वामी तथा कुछ अन्य साफ-साफ कहते हैं 'ददाति न तु कदाचिदपि सप्रेम भक्तियोगं' "कभी भी प्रेमाभक्ति नहीं देते हैं।" श्री शुकदेव अपने 'सिद्धान्त प्रदीप' में न देने के कारण की ओर इशारा करते हैं 'अहम्भक्त पराधीनः' इति श्रुतिश्च 'भक्तिवशाः पुरुष' इति। प्रेमाभक्ति से भगवान् भक्त के आधीन हो जाते हैं–

अहं भक्त-पराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्त हृदयो भक्तैर्भक्त-जनप्रियः।। ६.४.६३
मयि निर्बद्ध-हृदयाः साधवाः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा।। ६.४.६६

"दुर्वासाजी, मैं अपने भक्तजनों को प्यारा हूँ। इन सज्जन भक्तों ने अपने प्यार से मेरा हृदय ही अपने अधिकार में कर लिया है। इसलिये मैं यथार्यतः भक्तों के आधीन होकर उनके द्वारा बन्दी बनाये गये पुरुष के समान हूँ।"

"मुझमें जिनका चित्त भली भाँति स्थिर हो गया है ऐसे समदर्शी सज्जन पुरुष मुझे प्रेम के द्वारा वैसे ही अपने वश में कर लेते हैं जैसे सुशील पत्नियाँ सदाचारी पति को वशीभूत कर लेती हैं।"

किन्तु श्री जीव गोस्वामी अपने भक्ति संदर्भ १४१ में उपर्युक्त श्लोकी व्याख्या में कर्हिचित् न ददाति "कभी भी नहीं देते हैं" के स्थान पर 'कभी-कभी नहीं देते हैं' अर्थात् कभी-कभी दे भी देते हैं। इसके समर्थन में वे निम्नलिखित श्लोक भी उद्धृत करते हैं–

सत्त्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां
नैवार्थदो यत्पुनरर्थितो यतः।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता-
मिच्छापिधानं निज-पादपल्लवम्।। ५.१९.२७

"माँगे जाने पर भगवान् अपने सकाम भक्तों को उनकी अभीप्सित वस्तु को दे देते हैं–यह सत्त्य है। किन्तु विषय वस्तु का दान यथार्थतः दान नहीं क्योंकि वस्तुओं के भोग करने के पश्चात् सकाम भक्त पुनः याचक बन जाता है। निष्काम भाव से भक्ति करने वालों को भगवान् स्वयं सभी कामनाओं की समाप्ति करने वाले अपने चरण कमलों को ही दे देते हैं।"

चरणों की धूलि उस पर पड़ जाय—वस्तुतस्तु भक्त-चरण-धूलि-ग्रहणंविना भक्तिर्न स्यात्, भक्तिर्विना मन्माधुर्य-रसानुभवो न स्यात्। अतोऽहमपि भक्त इव भक्त्या मन्माधुर्य-रस-निमग्नो भवेयम्। "सच तो यह है कि भक्त की चरण-धूलि के ग्रहण किये बिना मेरे माधुर्य का रसानुभव नहीं होता है, इसलिये मैं भी भक्त के समान भक्तिपूर्वक अपने माधुर्य-रस में निमग्न होने के लिये भक्तों की चरण-धूलि धारण करना चाहता हूँ। किं बहुना भक्तो यथा सदा मामनुचरति तथा अहमपि भक्तः परोक्षः सन् भक्तमनुचरामि अधिक क्या कहूँ? जैसे भक्त मेरे पीछे सदा घूमता है वैसे ही मैं भक्त का भक्त बनकर छिपे-छिपे भक्त के पीछे-पीछे निरन्तर घूमता रहता हूँ।" विभोर होकर शाहंशाहों का शाहंशाह खुद ही ऐसे पावन प्रेम का भिखारी बन जाता है।[२]

यह तो सच है कि भगवान् का अवतार ही प्रीति-वितरण के लिये हुआ था—नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप—"हे परीक्षित, भगवान् श्री कृष्ण का आविर्भाव सभी जीवों को परम पुरुषार्थ रूप प्रीतिरस के दान के लिये होता है। (१०.२६.१४)। किन्तु यह तो कभी-कभी ही हो पाता है। इसके विपरीत प्रीति-रस-भावित भगवत्स्वरूप सन्त तो निरन्तर प्रीति-रस-दान के लिये विचरण करते रहते हैं। श्री विदुर की मैत्रेय जी के विषय में उक्ति है :-

जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवादधर्मशीलस्य सुदुःखितस्य।
अनुग्रहायैव चरन्ति नूनं भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य।। ३.५.३

"जो लोग दुर्भाग्यवश भगवान् श्रीकृष्ण से विमुख, अधर्म-परायण और अत्यन्त दुःखी हैं उन पर कृपा करने के लिये ही आप जैसे भाग्यशाली भगवद्-भक्त संसार में विचरते हैं।"

२. परमानंद-स्वरूप भगवान् प्रीतिजनित आनंद के अनुभव के लिये अपने प्रेमी की ओर अग्रसर होते हैं। वे उद्धव से कहते हैं –

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च संकर्षणो न श्री नैंवात्मा च यथा भवान्।।१५.
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूययेत्यंघ्रिरेणुभिः।।१६.

"उद्धव मुझे तुम्हारे जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रेमी हैं उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शङ्कर, भाई बलराम जी स्वयं अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मी और मेरी अपनी आत्मा भी नहीं है। जिसे किसी की अपेक्षा नहीं है, जो जगत् के चिन्तन से उपरत होकर मेरे ही मनन

ऐसी उन्मादक प्रीति न तो भगवान् सामान्यतः किसी को देते हैं, न तप, दान और वैदिक स्वाध्याय अथवा कर्मानुष्ठान से मिलती है और न सांख्य, योग, वेदान्त आदि दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से उपलब्ध होती है। यह मिलती है केवल और केवल किसी प्रेम के मतवाले रस-सिद्ध सन्त के पावन पाद-पद्मों के धूलि-कणों में अन्तःकरण सहित स्नान करने से—महत्पादरजोऽभिषेक से।[३] यह मिलती है किसी रस-प्लावित पागल हृदय की ऊर्मियों के सत्संग से।[४] अवश्य ही, यहाँ सत्संग

चिन्तन में तल्लीन रहता है, उसके पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसके श्री चरणों की धूल उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।"

३. **रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।**
नच्छन्दसा न जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकम्।।

भागवत ५.१२.१२

"रहूगण महापुरुषों के चरण की धूलि से अपने को नहलाये बिना केवल तप यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादि के दान, अतिथि सेवा, दीन सेवा आदि गृहस्थोचित धर्मानुष्ठान, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि तथा सूर्य की उपासना आदि किसी भी साधना से यह परमात्म-ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।"

इसी प्रसंग में प्रह्लाद की निम्न उक्ति (७.५.३२) भी विचारणीय है—वैदिक स्वाध्याय से परमतत्त्व के निर्विकार निर्विशेष का वाचिक ज्ञान हो जाने पर भी संसार रूपी अनर्थ दूर नहीं होता है अतः उनकी मति उस समय तक भगवान् के चरणों का स्पर्श नहीं कर पाती है जब तक परम प्रेमी अकिंचन भक्तों के चरणों की धूलि से अभिषेक का वे वरण नहीं करते हैं —

नैषा मतिस्तावदुरुक्रमांघ्रिं स्पृश्यत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किंचनानां न वृणीत यावत्।।

साधना से प्रेमाभक्ति नहीं मिलती है, यह केवल अनुग्रह से उपलब्ध होती है, इसका विस्तृत विवेचन श्री जीव गोस्वामी ने भक्ति-संदर्भ १८०-२४४ महाप्रभु विट्ठलनाथ जी ने 'भक्ति हेतु निर्णय' में किया है।

४. **यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः।**
रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः।।३.७.१९

"आपके समान महाभागवतों की सेवा से नित्य भगवान् के चरणों में प्रेमोत्सव प्राप्त होता है और साथ ही आनुषङ्गिक फल के रूप से वह आवागमन की यंत्रणा का भी नाश कर देती है।"

से तात्पर्य प्रवचन का श्रवण-गोचर होना नहीं है। सत्संग का अर्थ सत् स्वरूप प्रेम मूर्ति भगवान में मन का सम्यक् गमन, चित्त की अप्रतिहत अविच्छिन्न धारा-प्रवाह गति। किसी दीवाने रसिक के हृदय-देश में विराजित भगवान् से भावात्मक निकट सम्पर्क, उनके चिदाकाश में प्रवाहित रस की लहरों में सर्वथा, सर्वांश और सर्वदा के लिये निमज्जन ही सत्संग है। रस-सिद्ध सन्त के वचन, नयन और मन में बसे हुए हमारे अपने "कोटि-कन्दर्प-लावण्य

सत्संग से ही भाव-भक्ति की उपलब्धि होती है। सत्संग द्विविध है—भगवत्संग और महाभागवत-संग। इन दोनों से भगवान् स्वयं वशीभूत हो जाते हैं –

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा।।
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसङ्गापहो हि माम्।। ११.१२.१२

"जगत में जितनी आसक्तियाँ हैं उन्हें सत्संग नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सत्संग जिस प्रकार मुझे वश में कर लेता है वैसा साधन न योग है न सांख्य है और न स्वाध्याय। तपस्या, त्याग, इष्टापूर्ति और दक्षिणा से भी मैं वैसा प्रसन्न नहीं होता। कहाँ तक कहूँ—व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्संग के समान मुझे वश करने में समर्थ नहीं नहीं।"

भगवत्संग के उदाहरण देते हुए भगवान् ने कहा –

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगाः मृगाः।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा।।

"गोपियाँ, गायें, यमालार्जुन आदि वृक्ष, व्रज के हरिन आदि पशु, कालिय आदि नाग—ये तो साधन-साध्य के सम्बन्ध में सर्वथा मूढ़ धी थे। इतने ही नहीं ऐसे और भी बहुत हो गये हैं जिन्होंने केवल प्रेमपूर्ण भाव के द्वारा ही अनायास मेरी प्राप्ति कर ली और कृत-कृत्य हो गये।"

निर्धूत-कषाय महाभागवत नारद के सत्संग से ध्रुव, प्रह्लाद, वृत्रासुर आदि ने भगवत्प्राप्ति की। श्री जीव गोस्वामी का कथन है –

तस्माद्या कृपा तस्य सत्सु वर्तते, सा सत्संगवाहनैव वा सत्त्कृपावाहनैव सती जीवान्तरे संक्रमते। भक्ति संदर्भ १८०

"इसलिये भगवान की जो कृपा सत्पुरुषों में विद्यमान है वह सत्संग रूपी वाहन के द्वारा ही अथवा सत्कृपा रूप वाहन के द्वारा जीवान्तर में संचरित होती है।"

प्रियतम जो साक्षात्, समक्ष, सत्वर इसी क्षण, हृदय से आलिङ्गित होने को तैयार हैं" उनको सर्वथा और सर्वदा के लिये समर्पण कर देना ही वास्तविक सत्संग है। रस प्लावित महापुरुष के हृदय से एकात्मता, भावाद्वैत की स्थिति ही सत्संग है। यह अभेद सत्संग ही तो दीक्षा है। जैसे एक दीपशिखा दूसरे दीपक को जाज्वल्यमान कर देती है, भास्वर बना देती है, वैसे ही रसिक सन्त से जुड़ने पर, उनके पूरे मन से युक्त होने पर उनकी सम्पूर्ण रस-निधि भक्त के हृदय में संक्रान्त हो जाती है, विरासत के रूप में मिल जाती है, बिना प्रयास अथवा अल्प आयास से। एक दीपशिखा अनेक दीपकों को प्रकाशमान कर सकती है, वैसे ही एक महासिद्ध रसिक सन्त अनेक हृदयों को प्रीति-प्रकाश से उद्भासित कर सकते हैं। प्रेम-मन्दिर के अभिसार-गमन के लिये यह राजपथ है—'नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय।'

ऐसे प्रीति-रसाप्लुत महासिद्ध सन्त, निभृत निकुञ्ज में अद्भुत श्याम-तमाल को आलिङ्गित करती हुई कमनीयतमा मधु-वल्लरी श्री बालकृष्णदास जी महाराज थे। 'लहराना ही लहराना, बेभान डूबे रहना-तत्सुख-सुख में, उभय-तन्मय-माधुर्य-स्वरूप में उनके स्वभाव की विशेषता थी। सतत नाम जप, निरन्तर अनूप रूप का दर्शन, अनवरत मधुरातिमधुर लीलाओं का प्रत्यक्ष अवलोकन और चिन्मय वृन्दावन के वासन्ती कुञ्ज में नित्य निवास उनके स्वरूप की विलक्षणता थी।

वे 'केलि-प्रेम-रस' थे। श्याम-तमाल से आश्लिष्ट गोपी-प्रेम की कनक- लता थे, वे छलिया के प्रेम के हृदय थे, वे केवल प्रेम थे—'केलि-प्रेम-रस, वेलि-प्रेम-वधु, छली-प्रेम-हृदि, 'अलि' प्रेम है। वे प्रेम के वह विभोर रूप थे जिसमें प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद एक हो जाते हैं। जिसमें यह ज्ञान ही नहीं रहता कि प्रेमी कौन है और प्रेमास्पद कौन है। उमड़ती हुई, उफनती हुई पावन प्रेम-सरिता सम्पूर्ण चेतना को आत्मसात कर लेती है, भेद की अनुभूति ही नहीं रहती, रहता है केवल परमाद्वैत –

'प्रेम सहचरी भाव एक्य रस, अभिन्न प्रेमी प्रेमास्पद प्रेम है।'

यह प्रसन्न-सलिला रस-मन्दाकिनी हमारे निकट पार्श्व में प्रवाहित होती रही। किन्तु कैसी दुरन्त विडम्बना है कि कुछ गिने चुनें भाग्यशाली लोगों को छोड़कर हमारे समान अनेक भवरोग से पीड़ित पामर-जन किनारे पर पड़े हुए अनमने भाव से उसको देखते रहे पर उस में निमज्जन करने की उन्होंने चेष्टा नहीं की।

उनके कृपाश्रित और निकट सम्पर्क में रहने वाले कतिपय भक्तों को उनके स्वरूप की झिलमिली छाया ज्ञात हो सकी। भगवत्कृपा से और दिव्य प्रेरणा से कुछ परिगणित उच्च स्थिति सम्पन्न साधकों को उनके स्वरूप का उन्मेष भी हुआ था। शेष हमारे समान सहस्राधिक जन उनको देखकर भी नही देख सके, उनको सुनकर भी नहीं सुन सके। यह सच है कि उनकी सन्निधि शीतलकारिणी और मनोभिराम थी और उनके प्रवचन भगवान् के स्वरूप के उद्भासक प्रतीत होते थे। उनके संकीर्तन में रस-वृष्टि होती थी किन्तु उनके सम्पर्क की निधि का प्रकाश अन्धकार को चीर कर हमारे अन्तस् तक नहीं पहुँच सका। स्पष्ट है कि उनके स्वरूप की धूमिल छाया का भी बोध हमें नही था। यदि होता तो सम्भव है कि इस अनमोल पारस-मणि से सम्पर्क करने के लिये हमारा लोहे के समान कठोर मन भी द्रवित होकर उनकी ओर प्रवाहित हो जाता। इसलिये कृतज्ञता के भार से झुका हुआ हमारा मन पूज्य बाबा मनोहरदास जी को नमन और अभिनन्दन करता है कि उन्होंने देर से ही सही पर यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ तो लिखा जिससे निभृत निकुञ्ज में विराजित महाराज जी के स्वरूप का बोध हमें हो सकेगा।

साधारणतः किसी रसिक संत के जीवन-चरित का समग्र, यथार्थ और सार्थक लेखन अत्यन्त दुष्कर कार्य है। सन्त तो संसार में रहता हुआ भी नही रहता है। उसकी लोक-यात्रा के कार्य, खाना-पीना, चलना-फिरना आदि साँप की उस केंचुली का हिलना-डुलना है जिसे साँप छोड़कर अन्यत्र चला गया। देहाध्यास-रहित संत तो लोकातीत होता है। उसका जीवन और मरण भी लोक-संचालित नही। वे तो प्रियतम की मङ्गलमयी लीला-मात्र हैं।

फिर रसिक सन्त का प्रियतम से प्रीति-व्यवहार संसार के चौराहे पर नहीं होता है। यह प्रीति तो इतनी छुईमुई है कि संसार के स्पर्श मात्र से वह संकुचित हो जाती है; ऐसी कुमुदिनी है कि संसार के सूर्य का प्रकाश सहन ही नहीं कर पाती। उसकी अभिव्यक्ति तो चन्द्र की माध्वी ज्योत्स्ना से उद्भासित ऐसे निभृत स्थल पर होती है जहाँ संसार की अशिष्ट भाव-हीन आँखों की पहुँच ही नहीं। पुनः, चरित-लेखन के हमारे लौकिक साधनों—शब्द, अर्थ, भाव और विचार की, अपनी सीमायें हैं। वे अलौकिक अनुभूतियों को अपने समग्र आयाम के साथ समुचित रीति से अभिव्यक्त ही नहीं कर पाते। अन्त में, लेखक की आँखें यदि खुली नहीं हैं, उन पर भगवत्कृपा का अञ्जन नहीं लगा है, श्रद्धा और विश्वास के सम्बल से उसने सन्त के स्वरूप से यथेष्ट एकात्मता स्थापित नहीं कर ली हैं तो वह अपने बुद्धि-बल से, वासना-विजड़ित मन से सन्त-स्वरूप का उद्घाटन नहीं कर सकेगा। जमीन पर बैठकर आसमान की बातें करना प्रलाप-मात्र होगा।

जब जीवन-चरित-लेखन का साध्य सन्त-स्वरूप लोकातीत है और लेखन के लौकिक-साधन उनकी सार्थक अभिव्यक्ति में अक्षम हैं, तो फिर लेखन क्यों हो और कैसे हो सकता है?

इन प्रश्नों का उत्तर महाराजजी के जीवन में छिपे हुए एक मनोहारी रहस्य में निहित प्रतीत होता है।

महाराजजी को नन्द गाँव में भगवत्साक्षात्कार हो चुका था। अब वे निरन्तर अपने दिव्य स्वरूप से प्रियतम की सेवा अर्चना करते हुए अनिकेत, एकाकी, संसार से पूर्णतः निस्संग और अनासक्त रूप से विचरण कर रहे थे। इसके पश्चात् कुछ ऐसी घटनायें हुईं जिनसे अनुमान लगता है कि भगवान् अब उनके माध्यम से भक्तों की प्रीति-साधन का निर्देशन कराना चाहते थे। सन् १९४५ के उत्तरार्ध में वे अलमस्त विचरण करते हुए वृन्दावन पहुँचे और श्रीरंगजी के मन्दिर में प्रवेश किया। बाह्य अलिन्द में मध्यप्रदेश से आये हुए संसार के थपेड़ों से पीड़ित एक विरक्त वृद्ध दम्पती बैठे हुए थे। महाराजजी को देखकर

उस अपरिचित वृद्ध ने सहसा कातरध्वनि से निवेदन किया—'मेरा भी प्रणाम कहना उस नन्द के कुँवर से'। महाराजजी ठिठके, उसके पास गये और बातचीत की। उसके पश्चात् महाराजजी की जीवन-पद्धति में परिवर्तन हुआ। वे कभी-कभी साधक-जनों को प्रवचन देने लगे। विरक्त होकर नर्मदा-तट पर विचरण करती हुई बुलन्दशहर जिले के शिकारपुर नगर की एक बालिका (अवान्तरकालीन पूज्या श्रीदेवी जी) को कैसे १६४७ में महाराजजी के पास जाने का दिव्य आदेश मिला यह प्रस्तुत ग्रंथ में विस्तार से वर्णित है। प्रायः इसी समय जमीरा राज-वंश की भक्तिमती गिरिजादेवी को जिनसे भगवान् साक्षात् रूप से क्रीड़ा करते थे और दिव्य गोपी मानकर जिनकी पद-धूलि पूज्य गौराङ्गदास जी बाबा ने अपने मस्तक पर चढ़ाई थी, भगवदीय आज्ञा मिली और उन्होंने महाराज जी का गुरु-रूप से वरण किया। ऐसी कई घटनायें हैं—कुछ ज्ञात और कुछ गुप्त।

ऐसी ही भगवदीय इच्छा से और इसी प्रीति-रस के विस्तार के प्रयोजन से, इस ग्रंथ का लेखन हुआ, ऐसी मेरी निजी सन्देह-रहित मान्यता है। इस प्रकार के जीवन-चरित को व्यक्ति नहीं लिख सकता है—इसमें उसकी अहन्ता स्वतंत्र रूप से सक्रिय नहीं होती है। जब 'शम्भु प्रसाद' से सुमति हिय हुलसती है तब 'रामचरित-मानस' लिखा जाता है। जब "मानस-चख" और 'अवंगाही विमल बुद्धि' होती है तब सूरदास की आँखें वह लिखती हैं जिसे संसारी आँख देख नहीं पाती। महत्वकृपा-पात्र के ही नेत्र लौकिक परिधान में अलौकिक तत्त्व का दर्शन करते हैं।

महाराजजी तो अपने प्रीति-स्वरूप को चेष्टापूर्वक आवृत रखते थे। उनका स्पष्ट आदेश था कि यदि किसी भी परिकर ने उनके दिव्य-स्वरूप अथवा उससे सम्बद्ध लीला-रहस्यों को किसी भी प्रकार प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया तो वे वृन्दावन छोड़कर चले जायेंगे। इतना स्पष्ट निषेध के होते हुये भी महाराज जी के संकेतों से निरन्तर सञ्चालित पूज्य बाबा मनोहरदास जी क्यों तीस-चालीस वर्षों तक महाराज जी की घटनाओं को सबकी आँख बचाकर लिपिबद्ध करते रहे? क्यों उन्होंने महाराज जी की मूर्छितावस्था

में उनके मुख से निःसृत पदों को चुपचाप अंकित किया ? क्यों उनकी विविध भावावेशों की विभिन्न अवस्थाओं के चित्र अपने छोटे से बाक्स-कैमरा से लिये ? संभवतः वे स्वयं इसका स्पष्ट और सटीक उत्तर न दे सकें। संभवतः बाबा मनोहरदासजी के मन में इसका कोई निश्चित प्रयोजन नहीं था। अतः यह प्रतीत होता है कि इस कार्य में किसी अदृश्य अँगुली का अज्ञात निर्देश सक्रिय था जो बाबा मनोहरदासजी को अपना यंत्र बनाकर कार्य कर रहा था।

मेरे कहने का यह अर्थ नहीं कि लेखन में लेखक के व्यक्तित्त्व का कोई योगदान नहीं था। फानूस के शीशे का रंग भीतर रखे हुए दीपक की रश्मियों को रंजित करेगा ही। किन्तु यदि शीशा स्वच्छ हो और उसका वर्ण दीप-ज्योति की आभा के अनुकूल हो तो अभिव्यक्त ज्योति का स्वरूप विकृत नहीं होगा। लेखक ऐसे विरागी सन्त हैं जो बाहर से विंध्याद्रि के समान दृढ़ और अनासक्त हैं किन्तु जिनके अभ्यन्तर में अलक्षित रूप से रसवंती धारायें प्रवाहित रहती हैं। उनकी यह विशेषता इस ग्रंथ के लेखन में व्यक्त हुई है। शास्त्रीय विवेचन और व्याख्याओं से रहित, सम्वेदनशीलता की बहुशः अभिव्यक्तियों के प्रलोभनों से बचते हुए और साहित्यिक अलङ्कारों से अप्रभावित तथ्यपरक इतिवृत्तात्मक विवरण की अभिधामूलक ऐसी शैली जो विषय को समग्रता में देखने पर ही रसानुभूति कराती है, इस ग्रंथ लेखन का अपना स्वरूप है। चार दशकों तक सामग्री संकलन का प्रयास लेखक के अध्यवसाय और दृढ़ संकल्प का द्योतन करता है। वे सन् १६४५ से सतत पचास वर्षों तक छाया के समान महाराजजी का अनुसरण करते रहे। पुनश्च, साक्ष्य-परिपोषित मेरी यह मान्यता है कि ग्रंथलेखक को महाराजजी की कृपा से भगवत्- साक्षात्कार भी हो गया है। इन विशेषताओं के कारण यह ग्रंथ आध्यात्मिक स्थितियों के विकास का एक अनोखा दस्तावेज बन गया है।

अलौकिक अनुभूतियों का वर्णन विभिन्न धर्मों में तथा अनेक ग्रंथों में मिलता है। मध्यकालीन ईसाई सन्तों के शरीर से रक्त-स्राव उनका अतीन्द्रिय दृश्य-दर्शन, सूफियों के 'हाल' के आवेश आदि पढ़ने को मिले। कलिपावनावतार चैतन्य महाप्रभु की अद्भुत लीलाओं, परम पूज्य रामकृष्ण

परमहंस देव के आवेशों, पूज्या आनन्दमयी माँ की अलौकिक भावाविष्ट स्थितियों का विवरण अनेक प्रत्यक्षदर्शी साधकों ने लिखा। अनेक सन्तों की अलौकिक दशाओं का, ब्रह्माद्वैत की अपरोक्षानुभूतिपरक स्थितियों का और भक्तों के दिव्य अनुभावों के विवरण लिखे गये। सिद्ध देह से रसिक सन्तों के लीला-दर्शनों का वृत्तान्त पढ़ने और सुनने को मिला। किन्तु फोटोग्राफों के सहित और प्रत्यक्षदर्शी के द्वारा अनुभावों के यथातथ्य विवरण के साथ दैन्य, कृशता, मोह, जड़ता, उन्माद, मूर्च्छा आदि भाव-दशाओं का चित्रण अत्यन्त विरल है। बाह्य-चेतना-विहीन स्थितियों में अस्फुट स्वरों से पदों के उच्चार का अङ्कन दुर्लभ है। भगवान् और महाराजजी के साथ दधि-भाण्ड-भञ्जन की लीला का वर्णन एक अलभ्य और अमूल्य निधि है। यह सच है कि लेखक ने उस प्रसंग में भगवान् और उनके कृत्यों को नहीं देखा। किन्तु यह भी यथार्थ है कि उन्होंने महाराजजी के क्रियाओं और अनुभावों का निरीक्षण किया था। दधि-भाण्ड के फूटने के स्वरों का श्रवण किया था, और फूटे हुए भाण्ड के टुकड़ों को देखा था। अलौकिक क्रिया-कलापों का ऐसा दस्तावेज मुझे देखने-पढ़ने को नहीं मिला। परमहंसदेव श्री रामकृष्ण के भावावेश का केवल एक फोटोग्राफ है जिसमें स्थिर, खडी हुई मुद्रा और जड़िमा की भंगिमा अंकित है। परमशक्तिमती आनन्दमयी माँ की आविष्ट स्थिति के कुछ फोटोग्राफ हैं—जिनमें खड़ी हुई अथवा बैठी हुई हैं; उनकी आनन्द-विह्वला या परमशान्तमुद्रा में उच्च भाव-दशा का स्पष्ट अंकन है। प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक ने चक्षु-निमीलित, विगलित-वस्त्र, उन्माद की स्थिति में भागते हुए, मूर्छित अवस्था में लेटे हुये, जड़िमा की स्थिति में निढाल पडे हुए, आनन्द-विभोर दशा में अश्रुपात करते हुए अनेक भंगिमाओं में महाराज जी के चौबीस फोटोग्राफ लिए जो अलौकिक भाव-दशाओं की प्रत्यक्ष-गोचर मनोरम दृश्यावली उपस्थित करते हैं। अन्य सिद्ध सन्तों के चरित सन्दर्भों में ऐसा साक्ष्य उपलब्ध नही होता है। इसके साथ ही ये घटनाएँ कब और कहाँ हुई इसका उल्लेख करते हुए, देश-काल की परिस्थिति का ब्योरा देते हुए दशाओं का ऐतिहासिक-प्रसंग युक्त वर्णन इस ग्रंथ में मिलता है। महत्त्वपूर्ण

अवधारणीय तथ्य यह है कि यह साज-सम्भार, फोटोग्राफ का लेना और मूर्छित अवस्था में उच्चरित पदों का अङ्कन बिना किसी स्पष्ट हेतु अथवा प्रयोजन के और बिना किसी विशेष आयास के सहजरूप में सम्पन्न हुआ। अतः यह ग्रंथ लोकोत्तर अनुभूतियों और अनुभावों का एक अद्भुत किन्तु विश्वसनीय आलेख बन गया है।

इस ग्रंथ का महत्व इसमें भी निहित है कि यह 'अद्भुत श्याम तमाल' और 'अलि-भाव-निर्झर' का ऐतिहासिक सन्दर्भ बन गया है। सरल बोध-गम्य भाषा में यह जीवन-चरित स्पष्ट, ऋजुरेखाओं से महाराजजी की बाह्य अनुकृति प्रस्तुत करता है। इसके विपरीत 'अद्भुत श्याम तमाल' दिव्य मन की रसीली, मादक और पुष्पित वाणी में महाराजजी की भाव-दशाओं का चित्रण करता है। अतः प्रस्तुत ग्रंथ ऐसा स्पष्ट नयन-गोचर द्वार बन गया है जिससे प्रवेश कर भाव-भरित नेत्रों से दृश्यमान कुसुम-कुञ्ज की ओर जा सकते हैं। वस्तुतः महाराज जी के व्यक्तित्व को समग्रता में देखने और समझने के लिए इस ग्रंथ को पढ़ने के पश्चात् 'अद्भुत श्याम तमाल' और 'अलि भाव निर्झर' पढ़ने की आवश्यकता प्रतीत होती हैं।

'अद्भुत श्याम तमाल' महाराज जी के मन का स्वरूप-सौंदर्य है। विविध भावों में लहराते हुए महाराज जी के द्वारा ऐसे चुने हुए साधकों को दिये गए प्रवचनों का संकलन है जो महाराज जी की प्रेरक सन्निधि में महाराज जी के साथ भाव-तादात्म्य स्थापित कर विभिन्न भाव-दशाओं का आनन्द लेते थे। यह अनुभूतियों का उद्दीपन-कारक सम्बल है, मनन करने का ग्रंथ है। अतः यह सार्वजनीन प्रकाशन के लिये नहीं था और न प्रकाशन के अवसर पर सार्वजनीन उपयोगिता के लिये प्रयास किया गया। यह ठीक हुआ क्योंकि इसी रूप में महाराजजी के रसलीन मन की आकर्षक झाँकियाँ मिलती हैं।

प्रीति-साधक आज भी इस ग्रंथ की भावानुवृति कर आनन्द ले सकते हैं। किन्तु इसके लिये मन की गुफा में प्रवेश कर यथेष्टकाल तक वहाँ बैठना

पड़ेगा। यदि हरिस्मरण में सरसता के अनुभूति की क्षमता हो, यदि दिव्य विलास-लीला में कौतूहल हो तो अद्भुत-श्याम तमाल के पढ़ने की पात्रता होगी। आज की आपाधापी के युग में यह सदा संभव नहीं। जो ऐसा नहीं कर सकते हैं पर इसके सौंदर्य की झलक पाने की लालसा रखते हैं उनके लिये सरल रेखांकन की आवश्यकता है जिसमें मधुरता की रंगीनी भले ही न हो किंतु प्रकाश की झीनी झलक अवश्य हो। यहाँ इसका भी अवकाश नहीं, किन्तु प्रसंगगत आवश्यक कतिपय सूत्रों का उल्लेख अभीष्ट है।

'अद्भुत श्याम तमाल' में 'सूधो सनेह को मारग है जँह नेकु सयानप बाँक नहीं'। प्रीति-पथ पर मन की यह सहज सरल यात्रा है। इसमें 'ज्ञान गठरी' का बोझ अनावश्यक है जो स्वतः प्रस्थान के पूर्व ही यमुना की पावन धारा में विसर्जित हो जाता है। इसमें कर्म-साधना का साज-सम्भार श्रमयुक्त विक्षेप मात्र है जो चलने के पहले अनजाने ही झर जाता है। अनुराग के इस पथ से विराग की कठिन साधना अपने आप भाग जाती है। इसमें पात्रा-पात्र के विचार और चित्त-शुद्धि के प्रयास की अपेक्षा नहीं। इस पथ पर चतुराई और पंडिताई की कोई उपयोगिता नहीं। कैतव-विहीन, कपट-रहित, अघ-सम्भ्रम की भावनाओं से अस्पृष्ट भोला-भाला मन प्रियतम के सौंदर्य से आकृष्ट होकर निःशंक रूप से मिलने के लिए भागता है वैसे ही जैसे पंकज के मधुपान करने की उसमें पात्रता है या नहीं, बिना यह विचार किये कि पंकज की श्री महान् है, अतुलनीय है और वह एक काला-कलूटा श्री-हीन गुण-विहीन जन्तु है। इसमें रुकने की शक्ति नहीं रहती, भागकर मिलने की निरन्तर प्रवृत्ति रहती है।

प्यार करना मन को सीखना नहीं पड़ता है। यह तो उसका स्थायी अप्राकृत भाव है। 'मन साधक नहीं, स्वतः सिद्ध रसिक है।' (पृ. ६) मन प्रेम की अनादिकालीन स्वरूपभूत सिद्धावस्था है (पृ. ४)। 'मन मोहन का साथी है युगान्तरों से, अनादिकाल से (पृ. ५)। किन्तु उसको विस्मृति हो गई है। इसलिए "मानव खा-पीकर, दुनियाई समस्त रंगरलियों में अलमस्त हो रहा है; इसे ही अगणित जन्मों में अपना सुखमय जीवन समझता आ रहा

है। किन्तु चारों ओर, पीछे व सामने, वे उदार स्वामी मिलने के लिये मचल रहे हैं, आकुल हो रहे हैं" (पृ॰ ८)। "यह बेखबर है। ....मानव आंखें खोलता नहीं–यह है सन्त हृदय की वेदना। आँखे खुल जायँ तो क्या ही अच्छा हो।"

"मन क्या है ? हाँ, मन-मोहन का प्रिय है। आश्रय है श्री मोहन का," "मन से मुग्ध होकर मनमोहन कहलाने के लिये, "मैं मोहन हूँ इस बात का पूर्णानुभव स्वयं करने के लिये जब वे लालायित हो रहे हैं तब (मन के) अपने स्वरूप की क्या ही अकथनीय, अवर्णनीय विलक्षणता है (पृ॰ ४)। "जब पूर्व से ही वे (मन से) मिलने के लिये व्याकुल हो रहे हैं तो फिर क्या मन साधक रूप है, (क्या) मन उपासक है कि वह स्वतः सिद्ध पात्र है, आश्रय है।" क्या मोहन से प्रीति की पात्रता प्राप्त करने के लिये कोई चित्त-शुद्धि साधना का उद्यम करना पड़ेगा ? अरे "अलौकिक अप्राकृतिक अनुरागमयी लीलाओं में पात्र होकर भी अपात्रता की, अस्वाभाविकता की, भिन्नता की कल्पना तुममें कहाँ से आ गई ? स्वतः सिद्ध पात्रता का सौंदर्य-स्वरूप तुम्हारा, नयनों में मुस्करा रहा है।" (पृ॰ ८)

क्या गुण-शील-हीन पामर मानव को मोहन से प्रीति कर मधुरमय जीवन बनाने का अधिकार है ? "मनुष्य में ऐसे सुंदर जीवन बनाने का पूर्ण अधिकार है, प्राप्त अधिकार है वह। जीवन के सर्वनाश करने का कारण जब वह स्वयं है तब क्या (जीवन को सुन्दर) बनाने में वह स्वयं कारण नही बन सकेगा।[५] (पृ॰ २)

---

५. भक्ति के कछु आचार्यों का मत है कि आसुरी प्रवृत्ति के व्यक्तियों का भगवद्भक्ति में अधिकार नहीं है। यद्यपि सभी जीव परमपुरुष से निर्गत हुए किन्तु सृष्टि की प्रक्रिया में विविधता के कारण उनकी अन्तः प्रकृति विभिन्न हो गयी। प्रवाह-जीव आसुर-भावापन्न हैं। उनकी प्रवृत्ति भजन-साधन के अनुकूल नहीं। उनके देह में भगवान् का ज्ञान नहीं होता। उनके कार्य भी पशु-हिंसा, दम्भित्व-द्रोह से प्रेरित होते हैं। अतः वे भक्ति के अधिकारी नहीं। इस मत का समर्थन गीता के निम्नोक्त श्लोकों से किया जा सकता है :–

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।

मन का मोहन से मिलना तो मन का अनादिकालीन स्वभाव है। अमिलन, अप्राप्ति की विभीषिका तो संसार की मिथ्या मरीचिका ने ही बना दी है। "संसार क्या है ? वही जिसे कहते हैं भयंकरता, भिन्नता, अज्ञान, न जानना अथवा अपने सुन्दर नित्य स्वरूप की विस्मृति, प्रेम-सौंदर्य-स्वरूप की विस्मृति (पृ॰ ७)। मन जब संसार को आलम्बन बनाता है, तब यह अस्तित्त्व में आता है। "मन को (इसे) दे देने से ही यह अनित्य संसार

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्येव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।। १६.१७.२०-२१

"उन आसुरी प्रकृति वाले द्वेषी, क्रूर नराधमों को मैं संसार में निरन्तर आसुरी योनियों में ही डालता हूँ। अर्जुन, आसुरी योनि को प्राप्त कर वे मूढ मुझे प्राप्त न कर नीच गति को ही प्राप्त करते हैं।"

इसके विपरीत अनेक आचार्य भक्ति में न केवल मनुष्य अपितु प्राणीमात्र का अधिकार मानते हैं। श्री रूपगोस्वामी का कथन है :–

शास्त्रतः श्रूयते भक्तौ नृमात्रस्याधिकारिता। भ. र. सिं. १.२.६०

शास्त्रों में नरमात्र को भक्ति का अधिकारी बताया गया है। यह मत भी शास्त्र सम्मत है –

किरात-हूणान्ध्र-पुलिन्द-पुक्कसा आभीर-कंका यवना खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।।

भागवत २.४.१८

उनके आश्रित भक्तों का आश्रय लेकर किरात, हूण, आंध्र, पुलिन्द, पुक्कस, आभीर, कंक, यवन, खस आदि तथा अन्य पापी पुरुष भी शुद्ध हो जाते हैं, उन जगत्-प्रभु विष्णु को नमस्कार है।"

श्रीमदभगवद्‌गीता का यह श्लोक इस सन्दर्भ में विचारणीय है –

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।। ६.३२.

"हे अर्जुन, स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि चाण्डाल आदि जो कोई भी हों वे भी मेरी शरण आकर परागति को प्राप्त करते हैं।"

प्रहलाद, वृत्रासुर, विभीषण आदि भक्त-शिरोमणि आसुरी योनि में ही उत्पन्न हुए थे।

भयंकर सा दिखाई दे रहा है।" (पृ. ४) तब क्या संसार का त्याग अपेक्षित है? नहीं त्याग-विराग के साधन की आवश्यकता नहीं है। मन कभी संसारी नहीं था। मन संसार त्याग की शिक्षा पाना नहीं चाह रहा है। मन तो स्वयं शिक्षित सम्यक्-रहस्य-ज्ञात और अनुराग को प्राप्त पुनः निज स्वरूप में (स्थित) होने को चाह रहा है। मन को ये ही चाहिये—त्याग नहीं अनुराग चाहिए।——यदि विराग हो तो किससे? यह शब्द भी तो सर्वत्र व्यापक अनुराग-रमणीय पथ में सूचित नहीं दीखा (पृ. ५)। प्रियतम के अनुराग से संसार का स्वयमेव त्याग हो जाता है। सांसारिक आसक्ति तो मिथ्या और अनित्य है। भगवत्प्रेम नित्य और स्वरूप-गत है। जैसे सूर्य मेघ-खण्ड से थोड़ी देर के लिये ढँक जाता है, किन्तु उसके हटते ही पुनः पूर्ण रूप से चमकने लगता है वैसे ही मन में निवास करने वाली भगवत्प्रीति संसार की छाया से क्षणिक रूप में आच्छादित हो जाती है फिर वह प्रदीप्त हो उठती है। गंभीरता से विचार करने पर समझ में आता है कि सूर्य का प्रकाशमान स्वरूप कभी नष्ट नहीं हुआ, उस समय भी नहीं जब मेघखण्ड उसे आच्छादित कर रहा था, इसी प्रकार मन में निवासिनी भगवत्प्रीति उस समय भी मन से हटी नहीं जब संसार की विभीषिका मन को आन्दोलित कर रही थी। भगवत्प्रीति तो मन का स्वरूपभूत गुण है—वह तो स्थायी है। "संशय केवल बाहर से आगन्तुक है, कल्पित है, मिथ्या है, कुछ भी नहीं है। आगन्तुक संशय निकल जाने के लिये ही है। फिर तो मन अपने स्वरूप में अखण्ड रह गया जो था, उसी पूर्व रूप में" (पृ. २१)।

अतः यह सच है कि आसुरी योनि में उत्पन्न मनुष्यों की प्रकृति स्वभावतः भगवद्-भक्ति के अनुकूल नहीं होती है, किन्तु किसी निर्धूत-कषाय महाभागवत सन्त की कृपा से ये भी भजन-साधना करने के अधिकारी हो जाते हैं। भगवान् स्वयं इस का उल्लेख करते हैं –

सत्संगेन हि दैतेयाः यातुधानाः खगाः मृगाः।
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्र-कायाधवादयः।।

"भागवतों के सत्संग से राक्षस, यातुधान, खग, मृग, वृत्रासुर, प्रह्लाद आदि अनेकों ने मेरा पद प्राप्त किया।"

मन अनादिकाल से कृष्ण का आश्रय है, कृष्ण शाश्वत रुप से मन का आश्रित है। वे एक दूसरे बिना रह ही नहीं सकते। उनमें अविनाभाव सम्बन्ध है। "मन मोहन बिना नहीं और मोहन मन बिना नहीं, दोनों पुष्प सुगन्धिवत रह गये।" (पृ. ६)

यदि मन में आकुलता है तो कृष्ण भी मन और मन-समन्वित सर्वेन्द्रियों के रसपान के लिये व्याकुल है। "यह लालसा दोनों ओर है, बातें दोनों ओर हैं, क्रीड़ा दोनों से मिलकर होती है" (पृ. ५६) 'नयनअली का यह विमुग्ध, मतवाला मधुप नयनों में कैद होता हुआ भी, मुख के चारों तरफ़ मँडरा रहा है, मानों खोज रहा हो मुख को, व्याकुल गुञ्जार करता हुआ, व्याकुलतया विलाप करता हुआ।.......इसकी रसिकता, रसमयता, रसोन्मत्तता रोम-रोम से प्रकट हो रही है। (पृ. ४२) "परस्पर-मुग्धता सिद्ध कर रहा है, परस्पर अतृप्ति पूर्ण ललचाये हुए नयनों को दिखा रहा है, यह मधुरातिमधुर 'आश्रय शब्द जो है (पृ. ७१)'। "परस्पर निशङ्क अङ्क में होकर भी पूर्णतया तृप्ति पूर्वक न हो पाने की तीव्र, असहनीय, असम्वर्णनीय व्याकुलता जिससे ज्ञात होती है, वही तो मधुर शब्द आश्रय है।" (पृ. ७१) "अतृप्ति या अपूर्णनीय तृषा-बस यह आश्रय और आश्रित का, आश्चर्य पूर्ण, सौन्दर्य पूर्ण, अवर्णनीय स्वरूप है।" (पृ. ६२)

सार तत्व है कि "मन मोहन का, मोहन मन का बस मध्यवर्ती अभिनिवेश लीला ही है, जो इस सर्वान्तरतम पूर्ण रहस्य स्वरूप को प्रकट करती है।"(पृ.१७)

इस मध्यवर्ती अभिनिवेश के नित्य संयोग में भी वियोग की अनुभूति से विमुग्धता की मोहिनी निरन्तर वर्धमान रहती है–"मध्यवर्ती अभिनिवेश में यही दशा बनी रहती है 'मिले रहत मानों कबहुँ मिले ना'।"

मिले ही रहत संकेत कुंज में घन-चातक ज्यों अकुलात।
पल-पल मिलन-बिछुरन छिनहूँ युग सम समय लखात।।

इस मध्यवर्ती अभिनिवेश की रस-विभोरता में द्वैत-सहष्णु अद्वैत की स्थिति हो जाती है। ज्ञानमार्ग में 'कोऽहं' से यात्रा प्रारम्भ होती है और 'सोऽहं'

के अद्वैत सागर में प्रश्नकर्ता विलीन हो जाता है। प्रेम-पथ में पथिक की जब अनादिकालीन स्मृति जागृत होती है तो अनुभूति होती है—[illegible]—मैं मोहन की प्रीति-प्राप्त सहचरी हूँ। तब मोहन उसकी ओर चलता है और वह मोहन की ओर चलती है और मध्यमार्ग में मधुरभावाद्वैत में वे निमज्जित हो जाते हैं। इस द्वैत-सहष्णु अद्वैत में वे जल-वीचि, पुष्प और उसकी सुगन्ध के समान दो भी हैं और एक भी, प्रीतिमय भावाद्वैत में एक हैं और पारस्परिक रसपान के लिए दो हैं–

अद्वितीय हृदयैक्य प्राण-रस

द्वितीय रूप हृदि रमण रूप रस।

इन दोनों स्थितियों में मोहन मन के निकट और मन मोहन के निकटतम रूप में निवास करता है।

अपनेपन का निकट सम्बन्ध ही प्रेम की अमर प्राण-सञ्जीवनी है, इसके बिना रस नहीं। मन का अपने से अपना मोहन है और मोहन का अपने से अपना मन है। जब यह ज्ञात हो गया कि जिसको मैं अभी तक अपनी माँ मानकर प्रीति करता रहा वह यथार्थ में मेरी माँ नहीं, तो मन उपरत हो गया; तथाकथित माँ का महत्त्व समाप्त हो और सच्ची माँ से मिलने के लिये मन आतुर हो गया। जब प्रतीति हुई कि संसार मेरा अपना नहीं तो संसार से विरक्ति हो गई और जब यह स्मृति जागृत हुई कि पूर्वकाल से ही मोहन अपना है तो क्षणार्द्ध में मोहन से मिलने को मन दौड़ गया।

मन का अपना यह मोहन सदा से हृदय के निकटतम प्रदेश में विराजित है। जनम-मरण का यह साथी अतीत में साथ था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। जागृत अवस्था में यह साथ है और स्वप्न एवं सुषुप्ति में भी। इस प्रकार, "अपनेपन की पूर्णस्मृति ही पूर्ण प्रत्यक्ष मिलन है।" (पृ. ४६३)

इस पारस्परिक संश्लिष्ट अपनेपन की जो अनुभूति है उसका रूप 'मोहन' है और प्रतिरूप 'मन' है अथवा रूप 'मन' है और प्रतिरूप 'मोहन' है। यह अपनापन ही 'मन' और 'मोहन' के स्वरूप का परिचय है। इस अपने-

पन की विशेषता मोहन और मन का निजस्वरूप-वैशिष्ट्य है। 'मैं क्या? इसी अनुभव से सम्भव है। ये क्या ? इसी अनुभव से सम्भव है।' (पृ॰ १०६६)

यह अत्यन्त मनोहर छवि है। भारतीय दर्शन का यह शिखर सिद्धान्त है। मन और मोहन की इस निकटतम संश्लिष्ट अविनाभूत एकात्मता में 'मन ही मोहन है और मोहन ही मन है, तू ही मैं और मैं ही तू, तुझमें मैं और मुझमें तू की वाचातीत अचिन्त्य अनुभूति में 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत्त्वमसि' प्रेमस्वरूपा शक्ति के माध्यम से संयुक्त होकर एक मनोरम आभा धारण करते है।

महाराज जी की साधना का यह सीधा सरस दर्शन है। इसमें न तो शास्त्रीयता का आरोप है, न साम्प्रदायिक आग्रह है और न दार्शनिक ऊहापोह ही। तथापि इसमें एक विस्मयजनक मनोरम विशेषता है कि इसके सभी तत्त्व शास्त्र-समर्थित हैं और प्रायः सभी वैष्णव दर्शनों के मूल-तत्त्वों के साथ उनका सामञ्जस्य है। इसमें शास्त्रीय पदावली का प्रयोग प्रायः नहीं। भाव-लहरियों से भीगे हुए शब्द ही प्रयुक्त हैं, और उनमें ऐसी बाँकी अर्थवत्ता है जो गूढ़ दार्शनिक तत्त्वों को एक मनोरम झाँकी के रूप में सजा देती है। उनमें नई व्याख्या की एक ऐसी वक्रिम आभा है जिसको देखकर मन बरबस मोहन की ओर दौड़ पड़ता है और हम लोगों के समान पामर जनों को भी सरस अनुभूति की छाया से मस्त कर देता है।

इसका आधिकारिक सूत्र जिससे अन्य विवेचित सूत्र नियन्त्रित होते हैं, यह है कि, "मन मोहन का है और मोहन मन का है, बस मध्यवर्ती अभिनिवेश लीला ही है जो इस सर्वान्तरतम रहस्य स्वरूप को प्रकट करती है (पृ॰ १७)।

यहाँ मन से तात्पर्य है, "प्रेममयी स्मृति का वह अखण्ड प्रवाह जिसमें भगवान् का प्रत्यक्ष कल्प-दर्शन होता है। इसी अर्थ में भक्ति-सम्प्रदाय के अनेक आचार्यों ने मन की व्याख्या की है। आचार्य रामानुज 'मन्मना भव' (गीता १८-६५) का भाष्य करते हुए लिखते हैं—दर्शन-समाकारं स्मृति-सन्तानं. ....अत्यर्थ-प्रियं इह मन्मना भव विधीयते। अन्यत्र (६.३४) इस स्मृति-प्रवाह की विशेषता बतलाते हैं—तैल-धारावदविच्छिन्नेन "तैल-धारा के समान

अप्रतिहत निरन्तर साकार-दर्शन-युक्त प्रेम-स्मृति का प्रवाह।" आचार्य पुनः (गीता ६.४७) इसको स्पष्ट करते हैं –

मत्प्रियत्वातिरेकेण अनन्य साधारण-स्वभावतया मद्गतेन अन्तरात्मना मनसा बाह्यान्तर-सकल-वृत्ति विशेषाश्रयभूतं मनो हि अंतरात्मा, अत्यर्थ-मत्-प्रियत्वेन मया विना स्वधारणालाभात् मद्गतेन मनसा श्रद्धावान् अत्यर्थ-मत्-प्रियत्वेन क्षणमात्रवियोगासहतया मत्प्राप्ति-प्रवृत्तौ त्वरावान्.......।

"मेरे प्रेम की अधिकता के कारण जिस मन का स्वभाव असाधारण हो गया है, मुझ से संलग्न बाहर भीतर की समस्त वृत्तियों के ऐसे आश्रय-भूत मन से मुझे भजता है, मेरा अत्यन्त प्रेमी होने के कारण जो मेरे बिना जीवन धारण करने में असमर्थ है अतः मुझमें निविष्ट-मन से जो भजता है; मेरी प्राप्ति की साधना में जो श्रद्धापूर्वक मुझमें निविष्ट मन से जो भजता है.........।

यहाँ मन का विशेषण 'अनन्य-साधारण-स्वभाव' विशेषतः विचारणीय है। सांसारिक विषयों का इन्द्रियों के माध्यम से उपभोग करना बहिर्मुख मन का साधारण स्वभाव है। किंतु जब मन में भगवद्-रति जागृत हो जाती है तब वह अप्राकृत, दिव्य हो जाता है। भगवान् के अथवा महाभागवतों के संग की स्पर्श-मणि से स्पृष्ट होकर वह गुणातीत हो जाता है।

प्रीति करना मन का स्वभाव है। प्राकृत मन सांसारिक विषयों से प्रीति करता है और अप्राकृत मन भगवान् और भगवदीय विषयों से प्रीति करता है। 'येन केन प्रकारेण मनः कृष्णे निवेशयेत् ही साधना का लक्ष्य है। सांसारिक विषयों के उपभोग से हटाकर भगवान् के अनुस्मरण से मन में भगवान के प्रति प्रीति उत्पन्न करना ही साधना है। भक्त-शिरोमणि प्रह्लाद की उक्ति है –

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु।।

(विष्णु पुराण १.२०.१६)

'अविवेकी जनों की जो प्रीति विषय-भोग में अविचलित रहती है तुम्हारी स्मृति से युक्त मन से वह कभी हटे नहीं।'

प्रीति का अर्थ है 'प्रिय-विषयानुकूलता' और अनुकूलता से तात्पर्य है प्रिय विषय से सुख-प्राप्ति की भावना और उसमें आसक्ति। अविवेकी जनों का प्राकृत मन सांसारिक विषयों में सुख की भावना करता है और उनमें उसकी आसक्ति रहती है। अनन्य-साधारण अप्राकृत मन भगवान् और भगवदीय विषयों मे सुख की भावना करता है और उनमें उसकी आसक्ति रहती है। एक मायिक वृत्तिमयी वैषयिक प्रीति है और दूसरी सच्चिदानन्द की शक्तियों की अभिव्यक्ति है। श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती का कथन है –

सैवासक्तिः परम-परिणामं प्राप्तवती रत्यपरपर्यायो भाव इत्याख्यां लभते। य एव सच्चिदानन्द इति शक्ति-त्रिकस्य स्वरूपभूतस्य कन्दली-भावं भजते। 'यही आसक्ति परम परिणाम को प्राप्त कर 'भाव' नाम धारण करती है। उसका दूसरा नाम है 'रति'। यही भाव सच्चिदानन्द की शक्ति-त्रय की मुकुलित अवस्था है।' (माधुर्य कादम्बिनी, ७.१)

'मन मोहन का है' इस उपरिलिखित वाक्य में मन का तात्पर्य यही है–'भगवान के प्रत्यक्ष-कल्प दर्शन से युक्त प्रेममयी स्मृति का अखण्ड प्रवाह।' इस मन का युग्म है 'मोहन' से। यहाँ अवधारणीय है कि समग्र ऐश्वर्य-निधि, समस्त यश-रूप, सौंदर्य-सुधानिधि शौर्य के महासागर, ज्ञान-वैराग्य के अम्बुधि आदि षड्विध वैभवों से युक्त भगवान् को महाराज जी केवल 'मोहन' के रूप से मानते और जानते हैं। 'मोहन' का अर्थ है मोह युक्त-आदौ यः मुह्यते पश्चात् मोहयति स मोहनः – पहले जो मन के माधुर्य से मुग्ध हो जाता है और फिर अपनी मधुरिमा से मन को मोहित कर लेता है, वह मोहन है। यह सच है कि मन में जो माधुर्य है वह मोहन का प्रतिबिम्ब है। यह भी सच है कि प्रतिबिम्ब आश्रित रहता है बिम्ब के। किंतु यहाँ बात उलटी है। प्रतिबिम्ब की मधुरिमा के आस्वादन के लिए बिम्ब का माधुर्य व्याकुल है। "मन से मुग्ध होकर मोहन कहलाने के लिये (पृ. ४) 'चारों ओर पीछे व सामने वे उदार स्वामी मिलने के लिए मचल रहे हैं' (पृ. ६)।

इस तथ्य के लिये कि मोहन पहले भक्त मन से मोहित होता है न केवल भक्तों की अनुभूति प्रमाण है, अपितु उपनिषद् के साक्ष्य भी इसका

समर्थन करते हैं। परम तत्त्व रसरूप है–रसो वै सः (तै. उ. २. ७.) किन्तु रस अपने आस्वादन से आनन्द की अनुभूति उस समय तक नहीं कर पाता जब तक वह स्वयं को आस्वाद्य और आस्वादक के रूप में द्विधा विभक्त न कर ले। आस्वादक बन कर वह रस के स्वाद का आस्वादन कर 'आनन्दी भवति' (तै. उ. २. ७.) स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीय मैच्छत सहैतावानास यथा स्त्री पुमांसौ परिष्वक्तौ (वृ. उ. १.४.७.), "वह रममाण नहीं हुआ। इसलिए एकाकी रममाण नहीं होता है। उसने दूसरे की इच्छा की।'

इस प्रकार रस-रूप महाचैतन्य में अर्थात रसराज में अपने रसास्वादन की इच्छा हुई, आनन्द की कामना हुई तो उसने अपने को ही अविनाभाव रीति से सम्बद्ध दो स्वरूपों में विभाजित कर लिया। परम पुरुष के द्वारा परमा प्रकृति का यह परिष्वजन ही काम है। यही आदि सृष्टि का मूल है और भाव-राज्य का सारा तत्त्व। इस अनादिकालीन सृष्टि के उन्मेष से जीवों का जो निसर्ग हुआ उनमें यह काम-तत्त्व अथवा भगवत्प्रीति सामान्य रीति से वर्तमान है। जीव की यही मूल प्रकृति है, जिससे उसका अनादिकालीन मूल स्वरूप अभिव्यक्त होता है। इसी को महाराज जी ने 'मन की अनादिकालीन सिद्धावस्था' कहा है। विभिन्न सम्प्रदायों में इसी को भाव-देह अथवा निष्पन्न सिद्ध-देह के नाम से पुकारा है। माया के आवरण और विक्षेप से सृष्टि-विकास की प्रक्रिया में इस अनादिकालीन सिद्ध-देह की विस्मृति हो जाती है और जीव प्रवाह-पतित होकर माया की धारा में बहने लगता है। भगवत्कृपा से अथवा महासिद्ध रसिक सन्त के अनुग्रह से जीव को अपने मूल-स्वरूप का बोध होता है और अपनी प्रीति-रस-विशिष्ट स्वभाव की अनुभूति होती है। तब देहाध्यास छूटकर भावदेह से साधना का सूत्रपात्र होता है। इस प्रक्रिया में भी भगवान् कृपा-परवश होकर जीव की ओर उन्मुख होते हैं तब लीला-राज्य का द्वार उन्मुक्त होता है।

यहाँ अवधारणीय है कि रसराज ने ही कामना की–'सोऽकामयत' उसने ही इच्छा की–'स रेच्छतं'। इसके पश्चात् काम-विलास का शुभारम्भ हुआ।

महारास के प्रसंग में भी पहले मोहन ने ही रमण की इच्छा की–'रन्तुं मनश्चक्रे' (१०.२९.१) अनंग-वर्धक वेणुगीत सुनाया और गोपियों के मन को बलात् पकड़ लिया, कृष्णगृहीतमानसाः (१०.२९.४)। गोविन्द पहले मोहित हुआ और तब उसने गोपियों के मन को चुरा लिया, गोविन्दापहृतात्मानः (१०.२९.८) तो गोपियाँ भी 'कृष्ण-दर्शन लालसा' (१०.३२.१) का मूर्तिमान स्वरूप बन गईं। वे तन्मनस्काः (१०.३०.४४) अर्थात् मोहन-मनवाली हो गईं।

इस प्रसंग में, कृष्ण की आकर्षणी शक्ति के संदर्भ में प्रह्लाद की उक्ति का स्मरण होता है –

यथा भ्रामयत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्ष-सन्निधौ।
तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया।।

(भागवत ७.५.१४)

"जैसे चुम्बक के पास लोहा स्वयं खिंच जाता है, वैसे ही चक्रपाणि भगवान् की स्वच्छन्द इच्छा शक्ति से मेरा चित्त भी संसार से अलग होकर उनकी ओर बरबस खिंच जाता है।"

श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती इसकी व्याख्या करते हैं –

अयमर्थः अयस्कान्तो स्वशक्तयैव लोहमाकृष्य स्वसंयुक्तीक्रियते तत्र किमपि कारणं प्रयोजनञ्च नास्तीति। अयस्कान्तस्य स स्वभाव एवायं यत्कृपा परवशतया स्वभक्तस्य चेतसः स्वस्मिन्नाकर्षतीति।

इस श्लोक का अर्थ यह है कि चुम्बक अपनी शक्ति से लोहे को खींचकर अपने साथ संयुक्त कर लेता है। इसमें चुम्बक का कोई हेतु या प्रयोजन नहीं। यह उसका स्वभाव ही है। इसी प्रकार भगवान् का यह स्वभाव ही है कि वे अपनी कृपा से वशीभूत होकर अपने भक्त के चित्त को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

मोहन की यह व्याख्या बड़ी मर्मस्पर्शी है। मेरे मन से मिलने के लिए मोहन व्याकुल है, यह विचार साधक के मन में एक टीस पैदा कर देता है। कितनी भी शिथिल और झीनी क्यों न हो किन्तु ऐसी अनुभूति होने लगती है कि सर्वांग-सुन्दर परम-रमणीय सरस प्रियतम मन के दरवाजे पर चिरकाल

से खड़े हुए हमको बुला रहे हैं किन्तु पाषाण के समान सम्वेदन-हीन मन उस प्रेम-पुकार की ओर ध्यान ही नहीं दे रहा है। कितनी भी क्षणिक क्यों न हो किन्तु साधक के मन में ऐसी इच्छा जागृत हो ही जाती है कि सब कुछ छोड़कर विधि-निषेध, पात्रापात्र का विचार और सांसारिक मोह को त्याग कर उसी प्रेमी हृदय के पास दौड़ जाऊँ।

यह सारगर्भिता है 'मोहन' शब्द की।

इस आधिकारिक सूत्र में कि 'मन मोहन का है और मोहन मन का है' मन और मोहन को जोड़ने वाली अन्तरालवर्ती विभक्ति 'का' है। यह सम्बन्ध कारक विभक्ति है जो दो के बीच में निबन्धन को सूचित करती है। इस 'का' विभक्ति के विषय में महाराज जी सूत्र रूप में लिखते हैं 'का माने लीला ही है अर्थात् मन और मोहन का सम्बन्ध लीलात्मक ही है और लीला-त्मक का अर्थ है 'लोकातीत' प्रेम-निबन्धन, प्रिय के भुजदण्ड में आबद्ध बन्धन (पृ॰ ४७)। पुनः भावमयी भाषा में महाराज जी व्याख्या करते हैं–"इस मन का नाम तभी से कमनीय बेली विख्यात हो गया जब से ये श्याम तमाल इसके आलिंगन में कोमल अकाट्य बन्धन में आ गये (पृ॰ ६३) 'इस प्रकार 'का' शब्द मन और मोहन के 'संयुक्त स्वरूप को ही प्रकट कर रहा है (पृ॰ १७)। इस संयुक्तता, संयोग का बहिरंग अनुभाव-गत तात्पर्य है 'साथ, संग, संश्लिष्ट, मंण्डित, अलंकृत, परिवेष्टित, विक्रीडित आदि" (पृ॰ १७) और अन्तरंग भावगत अर्थ है 'अभिन्नता, रसैक्य, तन्मयता और विमुग्धता" (पृ॰ १७)।

साथ, संग, संश्लेष के मनोरम रूप 'अद्‌भुत श्याम तमाल' में अनेक स्थलों में विवेचित है। दृष्टान्त के लिये यहाँ एक दृश्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है। "श्रीकृष्ण-शब्द, श्रीकृष्ण स्पर्श, श्रीकृष्ण रूप, श्रीकृष्ण-रस, श्रीकृष्ण सुगन्ध में ही जीवन को जीवन-धन से सम्पन्न होने देना चाहिए" (पृ॰ १)। "कृष्ण यह नाम पूर्णाकर्षण कर रहा है" (पृ॰ ३२) "कृष्ण नाम लेने के पूर्व ही कृष्ण रूप प्रकट हो गया। रूप के साथ ही उनका स्वभाव, उनका गुण अभिव्यक्त हो गया। वे प्रेम-मूर्ति हैं–प्रेम उनका स्वभाव है। उनके रूप में प्रेम छलछला रहा है। वे मन की ओर एकटक दृष्टि से देख रहे हैं,

मुस्कुरा रहे हैं। वे आलिंगन-बद्ध कर रहे हैं। उनके अङ्गों की दिव्य सुगन्ध मोहित कर रही है, मादक स्पर्श से मूर्च्छा सी आ रही है। अधर-रस-पान से अपूर्व आनन्द आ रहा है। इस प्रकार जब "प्रेम भर गया मन में, सर्वेन्द्रियों में, तनु में, रोम-रोम में, फिर क्या हुआ ? क्या कहें उस अवर्णनीय, अकथनीय दिव्योन्मादक दशा को। नयनों में मन्मथ-विमोहन-रूप आकर ऐसा लगा कि मानो वह चिरपरिचित हो। श्रवणों में श्रीमुख की वाणी गोचर हो गई, मानो ये श्रवण इन बातों को सुनने के लिये ही हो या सुनते रहने से ही श्रवण बन गये—इस प्रकार वे आतुर, अतृप्त, आकण्ठ, पूर्णपान करने के लिये लग गये। फिर मनोरथ जो भुजाओं में अनुरंजित था, वह भी पूर्ण हो गया—नील कमनीय भुजा-वल्ली एक दम आकर गले में परिवेष्टित हो गई" (पृ. ७)। "सत्य यह इतना साधारण शब्द सा दीख रहा है, पर इसे ही संग, परिवेष्टित, विक्रीडित, विलसित, आदि आदि मधुर शब्दों से कहते हैं" (पृ. ९७)

'संग यही हृदय-गत भाव संश्लिष्टता का—दृष्टि पथ में उन्हें अपनी ओर आते देख हृदय से बहिर्गत हो गया, माने उनके अंग संग होकर गमन करने का भाव प्रकट हो गया। भाव का प्राकट्य ही लीला की सम्पन्नता है।' (पृ. १००)

साथ, संग आदि शब्दों से सूचित लीला के बहिरंग अनुभाव के अतिरिक्त 'संयुक्तता' का भावगत अंतरंगीण अर्थ है विमुग्धता, तन्मयता, अभिन्नता और रसैक्य। इस भाव-दशा का 'अद्‌भुत श्याम तमाल' में बहुत अधिक विस्तार है। किन्तु संक्षेप में इसकी तीन प्रमुख विशेषतायें बतलाई जा सकती हैं—प्रथम, पारस्परिक आत्मीय सम्बन्ध, अपनापन जो रसाद्वैत में प्रतिष्ठित हो जाता है, द्वितीय अहैतुकी आनन्द-विलास-लालसा और तृतीय नव-नवोन्मेष-शाली तरंगें।

अपनेपन की अनुभूति इस दशा का मूल आधार है, स्थायी तत्त्व है। "अपनापन ही अखण्डतया रहता ही है। अखण्डतया ही स्थायी रहने वाला भाव अपनाते रहने का" (पृ. ६६४)। अन्योन्य घुलमिल कर रहते हैं, परस्पर आधीन रहते ही हैं एक दूसरे-चन्द्र-चन्द्रिकावत, पुष्प सुगन्धिवत" (पृ. ६६५)

अपनेपन की प्रगाढ़ अनुभूति ही प्रियतम है। श्री प्रियतम में होकर अपनापन, अपनेपन में होकर श्री प्रियतम है। यह अपनेपन की अनुभूति नित्य एवं स्वयं प्रकाश्य है। "वर्तमान से, इसी क्षण से पूर्व, जिसे भूत, हाँ गतक्षण कहें, तब से हम हैं अपना है। अपनापन में पहले से, वर्तमान में एक सर्वदा रहने वाले श्री प्रियतम हैं।" (पृ॰ ७०६) यह अपनापन देशकालातीत है, प्राप्य या साध्य नहीं सहज एवं स्वयं प्रकाश्य है जिनका प्रारम्भ-परिणाम नहीं, एक देशीय नहीं, ससीम नहीं, साधनोपायो की दृष्टि में प्रयत्नों-प्रयासों से साध्य नहीं (परिणाम नहीं) जो पूर्व से अपने, अभी भी अपने, सर्वदा अपने, समीपतम श्री प्रियतम अपने हैं" (पृ॰ ७०६)

इस अपनेपन की भावदशा का प्राथमिक स्तर है—विमुग्धता और तन्मयता। "प्रियतम अपने हैं, यह शब्द अभी तक हृदय को मुग्ध, लुब्ध, प्रभावित, तन्मय नहीं कर पा रहा हो तो अपने अन्य ही बने हुये हैं, अपने (केवल) कहने के लिये हैं" (पृ॰ १६४)। इस भावस्तर की रंगीन छटा का मनोहर रूप 'आंश्रय-आश्रित सम्बन्ध की व्याख्या में मिलता है। आश्रय के माने मुगधता, उन्मुक्तता, निश्चेष्टता हो जाने की स्वाभाविकता (पृ॰ ६६)। "परस्पर मुग्धता सिद्ध कर रहा है, परस्पर अतृप्तिपूर्ण ललचाये हुये नैनों को दिखा रहा है, यह मधुरातिमधुर 'आश्रय' शब्द (पृ॰ ७१)। यही पारस्परिक प्रेमाधीनता है। इस आधीनता ही को आश्रय कहा है, बेली के नाम से पुकारा है" (पृ॰ ६६)।

पारस्परिक मुग्धता ही पुष्पित हो जाती है तन्मयता, निश्चेष्टता और मूर्च्छा में—"मन मोहन से एक होकर, मोहन मन से घुलकर एक रम्य स्थल में विश्राम किये हों उस स्थली का नाम ही तन्मयता, निश्चेषटता, मूर्छा अस्त-व्यस्त माधुर्य स्थिति है" (पृ॰ २१)। तन्मयता के भाव की यह मार्मिक व्याख्या है—'मन और मोहन एक हो जायँ अर्थात मन मोहन बन जाय और मोहन मन में रूपान्तरित होकर दोनों संश्लिष्ट हो जायँ। संभवतः इसी भाव-दशा के विषय में श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती लिखते हैं —

मत् हृदयानुवृत्तिहृदयाः साधवः साधु हृदयोऽहम्। परस्पर-प्रियत्वात् मम भक्त पारतंत्र्यम् (भागवत ७.५.१४)। प्रियतम के मन की अनुवृत्ति ही भक्त के मन का स्वरूप है और भक्त के मन की अनुवृत्ति ही प्रियतम की

छवि है, पारस्परिक मन की अनुवृत्तियों की एकात्मता से पारस्परिक प्रीति के कारण प्रियतम भक्त के अधीन हो जाते हैं। अतः श्रीमद्भागवत की उक्ति–

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।। (७.५.७४)

"भक्तगण मेरा हृदय है और भक्तों का हृदय मैं हूँ।"

यह निकटतमता, यह एकात्मकता, यह तत्सुख-सुखित्व की एकानुवृत्तिता भक्ति-रसामृत-मूर्ति का आस्वादन है। "आस्वादन ही वे दोनों हैं। यह पूर्व-प्रत्यक्षानुभूति ही वर्तमान में तन्मय दशा में आ रहा है। आस्वादन से आस्वाद्य पृथक नहीं। आस्वादक मन ही निज स्वरूप है। (पृ. ६६७) यही भक्ति-रस का सार-स्वरूप है।

इस भक्ति-रस का अत्यन्त निर्मल रूप 'अलि-भाव-निर्झर' में अभिव्यक्त हुआ। इस संकलन के अधिकांश पदों की रचना अत्यन्त असाधारण, अलौकिक मनःस्थिति में हुई। पूज्यपाद महाराज श्री को प्रगाढ़ भावावेश होता; दोनों नेत्रों से अश्रुधाराएँ प्रवाहित होने लगतीं और बाह्य-ज्ञान-शून्य होकर वे मूर्च्छित हो जाते। दृश्य संसार विलुप्त हो जाता और दिव्यलोक की लीलाओं का साक्षात् दर्शन होता। उन में प्रविष्ट होने पर अनायास ही मन्द स्वरों में कुछ संगीत-बद्ध पंक्तियाँ अचेतावस्था में उनके श्रीमुख से निकलने लगतीं। जैसे ही किसी गीत की ध्रुवा-पंक्ति निकलती वैसे ही निकटवर्ती परिकर सजग हो जाते और क्रमशः पूरा गीत लिपिबद्ध कर लेते। पूज्य बाबा मनोहरदास जी का कथन है कि इस में "अट्ठाइस पद भाव-मूर्छावस्था में श्रीमुख से निःसृत हैं जो समय-सयम पर मैंने उसी समय लिपिबद्ध कर लिये थे।... .... (यह) साधकों के लिये संजीवनी है, भक्तों के लिये रस-स्रोत व सिद्धों के लिये दिव्यानुभूति है, आनन्दानुभूति है। अधिक क्या कहूँ ? (यह) श्रीकृष्ण का प्रत्यक्ष दर्शन है, मिलन है।" विलक्षण ग्रंथ है यह। विश्व के भक्ति-साहित्य में ऐसे दृष्टान्त विरल हैं। क्या इसी को समाधि-भाषा कहा गया है–एषा समाधिभाषा हि व्यासस्यामितेजसः। निस्सन्देह यह अलौकिक है। लौकिक शब्द, अर्थ, छन्द और रस की मर्यादा से इसे नापना शिशु के द्वारा अपने छोटे-छोटे

बाहुओं से आकाश का बाँध लेना, समेटना जैसा हास्यापद होगा। अतः इसे प्रणाम करके आगे चलता हूँ –

भावावेशपरे तु चेतसि मुदा साक्षीकृता चक्षुषा
आह्लादैकमयी स्वतः प्रकटिता लीला-महामाधुरी।
प्रेमानन्द-रस-प्रवाह-लहरी दिव्यार्थशब्दात्मिका
आलि-प्रीति-रसाप्लुता विजयते भावोज्ज्वला निर्झरी।।

मनोमुग्ध हूँ पूज्य बाबा मनोहरदास के द्वारा महाराज श्री की भाव दशाओं के सचित्र वर्णन से। पाठ-मात्र से विलक्षण रोमाञ्च हो जाता है। निस्संदेह हम सभी पूज्य बाबा मनोहरदास जी के सदा-सर्वदा आभारी रहेंगे इस अमूल्य, अलौकिक उपकार के लिये।

अन्त में महाराज श्री के चरणों में अजस्र सतत वन्दना –

क्वासौ व्योम्नि रसाल-चन्द्र-महिमा क्वाहं वटुर्वामनः,
क्वासौ-श्याम-तमाल-वल्लि-सुषमा क्वाहं चिरान्धोऽधमः,
एवं सत्यपि चातिभेद-विषमे मच्छब्द-नीराजनं
त्वद्-वात्सल्य-परानुभावितमियं मन्येऽनुकम्पानिधे।।

कहाँ वह गगन बिहारी रसाल चन्द्र की ऊँचाई और कहाँ मैं बौना बालक। कहाँ यह कृष्णवर्णा तमाल को आलिङ्गित करने वाली कनक वल्लरी और कहाँ मैं चिरकाल से अन्धा अधम व्यक्ति। इतना अधिक विषम भेद होने पर भी मेरे द्वारा की गई यह शाब्दिक नीराजना, मैं ऐसा सोचता हूँ कि हे दयानिधे, यह आपके परम् वात्सल्य से ही अनुभावित है।

– विश्वम्भर शरण पाठक
भूतपूर्व कुलपति,
गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर

महाभागवतार्चनम्

यक्ष प्रश्न था–कः पन्था ? युधिष्ठिर ने तुरन्त उत्तर दिया–चारों वेद भिन्न-भिन्न बातें कहते हैं और सारी स्मृतियाँ कुछ और-और बताती हैं। कोई भी ऋषि या मुनि ऐसा नहीं, जिसका अभिमत कुछ अलग न हो। धर्म का वास्तविक तत्त्व बड़ा गूढ़ है जिसे समझना दुष्कर है। उस तक पहुँचने का सबसे सरल उपाय यही है कि महान् पुरुषों का अनुसरण किया जाय। वे जिस मार्ग पर चले हो वही ठीक मार्ग है–महाजनो येन गतः स पन्था। मुश्किल यह है कि हमारे देश के महापुरुष, ऋषि-मुनि, धर्मगुरु, भक्त, रसिक एक से बढ़कर एक वैराग्यवान्, त्यागी, तितिक्षु एवं आत्मगोपनशील रहे हैं– "आत्मार्थं पृथिवीं त्यजेत्" सिद्धान्त के सच्चे अनुपालनकर्ता। अतः पूर्वग्रह एवं अतिरंजना रहित प्रामाणिक जीवन-चरित लिखने का कार्य बड़ा कठिन है। जीवनी-लेखक या तो अपने चरित-नायक के साथ दीर्घकाल तक रहा हो, या उसने नायक के समकालिक व्यक्तियों, ग्रन्थों अथवा अन्य सूत्रों से सामग्री संगृहीत की हो। श्रद्धेय बाबा मनोहरदासजी ने अपने सद्गुरु पूजनीय महाराज श्री बालकृष्णदासजी का "चरित-वैभव" प्रस्तुत करके एक स्तुत्य कार्य किया है। आप पूरे पचास वर्ष महाराज श्री के चरणाश्रय में रहे और प्रगाढ़ श्रद्धा ने आपको वह दूरदर्शिता प्रदान की, जिससे आप अपनी डायरियों और कैमरों में पूज्य श्री–जी के दैनिक जीवन की घटनाएँ, बातचीत, विलक्षण मानसिक दशाएँ आदि-आदि निरलस भाव से अंकित करते रहे। उस "सुश्रम कल्पतरोर्गलितं फलं" है यह "चरित-वैभव," जो स्वयं में सम्पूर्ण है–पूर्ण के द्वारा पूर्ण की पूर्णकृति, फिर भी पूर्ण ही अवशिष्ट रह गया है –

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्यपूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

पूज्य श्री–जी का चरित्र बड़ा विचित्र रहा है–"विहित विचित्र चरित्र-मखेदम्"। भक्ति, विरहोन्माद, रसग्रन्थों में अनुल्लिखित अनुभाव दशाएँ, अद्भुत चमत्कार, इष्ट से नोक-झोंक, छीना-झपटी के सरस, रोचक, कौतूहल पूर्ण विवरणों से ओतप्रोत यह जीवनी ऐसी है कि आज के युग में इसकी यथार्थता पर सहसा विश्वास करना कठिन है। यदि पूज्य बाबा मनोहरदासजी

की आप्तता पर लेशमात्र भी सन्देह होता तो मैं भी इन्हें अतिरंजना ही समझता। महाप्रभु चैतन्य जैसी भावदशाओं का, विरह-वेदना का वर्णन हम उनके चरित्र-ग्रंथों में पाते हैं, उनका प्रत्यक्ष दर्शन पाँच सौ वर्ष पश्चात् बड़भागियों ने पूज्य महाराज श्री के चरित्र में किया है। पचासों साल के अथक परिश्रम से बाबा मनोहरदासजी ने उन्हें अपनी दैनन्दिनियों में लिखकर उन लोगों पर कितना अनुग्रह एवं उपकार किया है, जिन्होंने अपनी आँखों से उनके दर्शन नहीं किये। अब वे पूज्य बाबाजी की आँखों से प्रत्यक्षवत् देख सकेंगे। "आँखिन में बसते जु सदा तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं"। अथवा तिनकी अब आँख कहानी पढ्यौ करैं।

इस "चरित-वैभव" के प्रकाशन हेतु प्रेस कॉपी प्रस्तुत करने के कार्य का श्रीगणेश गोरखपुर विश्व विद्यालय के पूर्व कुलपति प्राचीन इतिहास तथा दर्शन के नदीष्ण विद्वान् डॉ. विश्वम्भरशरण पाठक ने कर दिया था। समया-भाव से अथवा श्री–जी की ही प्रेरणा से यह महत् कार्य मुझ जैसे दुर्बल और प्रमादी के कन्धों पर आ पड़ा। पूज्य बाबा मनोहरदासजी की "आज्ञा गुरुणामनुलंघनीया" उपाय क्या ? सम्मान्य पाठकजी ने जो रास्ता बना दिया "तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई" महाजनः येन गतः स पन्था। भक्तिमती शशि मुले और पूज्य बाबा के सान्निध्य में नित्य प्रति डायरियों के आधार पर लिखे चरित का पाठ होता। बाबा का मूलस्थान महाराष्ट्र होने के कारण कहीं-कहीं शब्द प्रयोग या शैली में स्थानीय प्रभाव दिखाई देता तो उसमें यथावश्यक परिवर्तन पर विचार होता। श्रद्धा की प्रगाढ़ता के कारण मूल-प्रति के एक-एक शब्द और वाक्य से बाबाजी की गहरी ममता है तो बड़ी मुश्किल से इसके लिए सहमत होते। सुश्री शशि जी बड़ी मधुरता से समझाकर उन्हें तैयार करतीं। "चरित-वैभव" की भाषाशैली बड़ी प्राञ्जल तथा प्रसादगुणमयी है, जिसमें बाबाजी के विशिष्ट शब्द प्रयोग, वाक्यभंगिमा एवं अर्थछटाओं से कहीं-कहीं बड़ा अनूठापन उत्पन्न हो गया है। प्राकृतिक दृश्यों और भाव-दशाओं के चित्रण में अलंकारमयी तत्सम बहुल शैली तथा चित्रोपमता के दर्शन भी हो जाते हैं। बार-बार सत्संगों, संकीर्तन-समारोहों एवं शोभायात्राओं के वर्णन कुछ पाठकों को पुनरावृत्तिपूर्ण इतिवृत्त मात्र प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु कालक्रमानुसार विवरण प्रस्तुत करने वाले लेख की यह विवशता ही

है। श्री–जी की भावदशाएँ और उनके भक्तों की प्रगाढ़ श्रद्धा के प्रसंग तो नयनों को अश्रुपूरित करने में पूर्णतया सक्षम हैं।

ग्रन्थ के नाम पर भी पर्याप्त विवेचन हुआ। "चरित्र-वैभव" नाम हो या "चरित-वैभव"। हिन्दी भाषा में "चरित" और चरित्र के अर्थों में अब अन्तर नहीं रहा, किन्तु संस्कृत में है। सूक्ष्मता से सोच-विचार के बाद बाबाजी का अभिमत नाम "चरित-वैभव" ही रखा गया।

पहले विचार था कि पूज्य श्री–जी की जयन्ती पर ग्रन्थ का प्रकाशन हो, किन्तु समय सम्भव न हुआ तो उनके लीला-प्रवेश की तिथि का लक्ष्य बनाया गया। मुझ जैसे प्रमादी व्यक्ति से लगातार काम लेना पूज्य बाबाजी का ही सामर्थ्य था; पूज्य श्री–जी की कृपा, इसे मैं समझ नहीं पा रहा। आदरणीय बाबा एवं सुश्री शशि मुले के धैर्य तथा श्रम की जितनी सराहना की जाय, कम है। श्री देवीजी, ठाकुर घनश्यामजी तथा अन्य महानुभावों के सत्परामर्श को इसके सुवर्णों में सुगन्ध समुत्पन्न करने का श्रेय है। यह सचित्र विचित्र जीवन-चरित्र हिन्दी के जीवनी-साहित्य को समृद्ध करेगा, ऐसा पूर्ण विश्वास है। इसके लिए पूज्य बाबा मनोहरदासजी का अपार अभार स्वीकार करना पड़ेगा।

भगवान् को अपने से अधिक अपने भक्त और उनके चरित्र प्रिय हैं। वे उनकी चरण-धूलि से अनुरंजित और पावित होने के लिए उनके पीछे-पीछे घूमते रहते हैं। अपने भक्तों की पूजा उन्हें अपनी पूजा से भी अधिक अच्छी लगती है–मद्भक्त पूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः। (श्रीमद्भागवत ११/१६/२१)। उनके भक्तों के जो भक्त हैं, वे ही उनकी दृष्टि में परमभक्त हैं। आदि पुराण के अनुसार "मद्भक्तानां च ये भक्तास्तेमे भक्ततमामताः।" महाभागवतों का अर्चन करने से समस्त दुःखसमूह से परित्राण हो जाता है–"सर्वं तरति दुःखौघं महाभागवतार्चनात्।" तो इस "चरित-वैभव" के पाठ से, अनुशीलन से हम लोगों के सांसारिक संतापों का शमन होकर श्रीराधा-माधव का अहैतुक अनुग्रह प्राप्त होगा–यही विश्वास है।

– गोविन्द शर्मा

श्याम वाटिका
अनाज मण्डी, वृन्दावन

रस मत्त-भ्रमर

मकरन्द ही भ्रमर का जीवन एवं आधार है। वह सदा-सर्वदा उसीके अनुसंधान और सेवन में संलग्न रहता है। इस संलग्नता में मार्ग का श्रम, वर्षा, शीत, ओले आदि की भीषण परिस्थिति तथा कंटक एवं हिंसक जंतुओं का आघात भी उसके लिए नगण्य हो जाते हैं। ऐसी प्राणोत्सर्गमयी मकरन्द-पिपासा से ही उसे दैवी-विधान से मकरन्द रसास्वादन का सुयोग प्राप्त होता है। रसिकजनों ने इसके व्रत को सराहा है –

जैसे मूल कमल बसि दादुर आदरहि न पावै।
ता रस कौ अधिकारी मधुकर कोस सौक तें धावै।।

दक्षिण देश में ऐसे ही एक अनोखे अलमस्त रसिक-भ्रमर को सौभाग्यवती जननी ने जन्म दिया, जो बालपन से ही श्रीहरिचरणारविन्द-रस-मकरन्द रूप अनुपम तत्त्व के अनुसंधान में संलग्न हो गया। उस संलग्नता ने उसके मातृ-पितृ, बन्धु-बान्धवजनों के स्नेह को सार हीनकर उसे दरवेश रूप में बना दिया। अनेक पुण्यमय तीर्थ एवं धामों में भ्रमण करने तथा सतंजनों का संग करने पर भी वह पिपासा-लालसा बलवती होती गई और उसीने श्रीवृन्दावन की रसमय शरण प्रदान की।

व्रज-वृन्दावन में रहकर कठोर तितिक्षा, साधना, रसिक-महानुभावों का संग एवं उनकी कृपा प्राप्त कर वह लालसा-सरस प्रेमानुरागमयी तीव्र वेगवती स्रोतस्विनी के रूप में परिणित हो गई, जिसने वेद-गुह्य परम रस तत्त्व को अनुरागी बना, उसे बाहुपाश में आवद्ध करने तीव्र लालसान्वित कर दिया। अन्ततोगता वह स्थिर रह नहीं सका और कोटि काम लावण्य मनोहर अपने भुवन-मोहन सुन्दर रूप में प्रत्यक्ष प्रकट होकर उसे आलिंगनबद्ध करते हुए उसकी चिर-अभिलाषा पूर्ण की। पूर्ण क्या की, उसे पाकर वह स्वयं पूर्ण हुआ; तृप्त हुआ, सन्तुष्ट हुआ।

वे "अलमस्त रसिक-भ्रमर" हमारे श्री महाराजजी हैं, जिन्होंने तीव्र लालसायुक्त प्रखर साधना से अति दुर्लभ वस्तु को भी पाँच वर्ष की अल्पावधि में प्राप्त कर लिया, किन्तु प्रेमानुरागमयी लालसा की बलिहारी कि अप्राप्त

की भाँति उन्हें विरह-व्यथित ही बना दिया। पाई निधि हाथ से चली गई की भाँति अत्यन्त विरहाकुल हो फिर साधना में तत्पर हो गये; किन्तु यह साधना पहली साधना से विलक्षण थी। इसमें प्राणप्रेष्ठ के संयोग-वियोग युक्त विरह- आनन्दमयी उत्ताल तरंगें लहरान्वित होती रहती थीं।

इसी अनुराग-रसोर्मियों में लहराते हुए वे प्रेम की सर्वोच्च दशा महाभाव में परिनिष्ठित हो गये, जिसमें सतत् मिलन-विरह रस का समुद्र उत्कृष्ट लहरों युक्त लहान्वित रहता है। ऐसे सतत रसास्वादनोन्मत्त-अलमस्त रहते हुए भी उस रसास्वाद को आपने अत्यन्त सुगुप्त ही रखा। यत्किंचित् प्रकट भी हुआ, तो वह निजजनों पर करुणा का प्रतिफलन ही है।

श्रीकृष्ण की अद्भुत प्रभावमयी भक्ति ने या श्रीकृष्ण-कृपा ने उन्हें ज्ञान, विवेक, वैराग, सरसता, दीनता, नम्रता, उदारता, करुणा, स्नेह, प्रेम, माधुर्य, सिद्धि, शक्ति, सामर्थ्य आदि गुणों का भण्डार बना दिया, किन्तु वे इनसे सदा असम्पृक्त रहते हुए अति सरलतया अपने नित्य स्वरूपास्वादन में संलग्न रहे। आपकी ऐसी सरस-उन्मनी दशा देख बाह्य प्रलोभन भी भयभीत हो आपसे दूर भाग गया। सर्वथा निर्भय-निशंक सिंहवत् श्रीवन में विचरण करते रहे, स्थित रहे।

श्रीकृष्ण-कृपा-भक्ति से आप ऐसे कुशल एवं समर्थ शिल्पी बने, जो उच्च से अत्युच्च दशा में अपने को गढ़ते हुए भी बाह्य परिवेश में आप अति सरल एवं सुगुप्त ही बने रहे तथा साथ ही अपने आश्रितजनों को भी भक्ति-रस की अद्भुत दशाओं में गढ़ गये। यह सब करते हुए भी आप कर्तापन से अलिप्त ही रहे।

प्रिया-भाव या महाभाव के उस शिखर पर पहुँच गये थे, जिसका आकलन करना अत्यन्त दुष्कर है। उस भाव में सदा लहरान्वित रहने से शारीरिक व्यवहार सहज छूटते से गये। खान-पान, हँसना-बोलना आदि नाम-मात्र का उदासीनतायुक्त उपेक्षणीय एवं सहज बन गया था। ऐसे में भी आपसे भक्ति के बाह्य अंग अनुराग, निष्ठा-पूर्ण सहज बन जाते थे–ठाकुर श्री वेणुविनोदबिहारी की आरती में प्रेमपूर्ण सम्मिलित होना, नित्य संकीर्तन में निजजनों का आनन्दवर्द्धन करना तथा श्री बाँकेबिहारीजी के नियमित दर्शन करना। दर्शन करते हुए वे विचित्र भाव-लहरियों में अवगाहन करते रहते

थे। श्री बिहारीजी का पुष्प-शृंगार तो आपको अत्यन्त प्रिय था। बहुत समय तक फूल-बँगला के दर्शन करते रहते थे, जिसमें हृदय के भावोदधि का उमड़न अश्रुकला के रूप में प्रवहित होता रहता था।

श्रीकृष्ण-प्रेम एक होते हुए भी विस्तारमय होता है या एक-अनेकता युक्त होता है। जहाँ वह अपने इष्ट के प्रति प्रगाढ़ अनुरागमय एकनिष्ठ होता है, वहीं सब में उनका अधिष्ठान जान करुणा, स्नेहमय सौहार्दयुक्त भी होता है। यही रसिक-महानुभवों ने वर्णन भी किया है –

'श्री स्वामी के जे भये, तिनकी यही सु रीति।
नित्य केलि हिय में धरैं, सब जीवन सौं प्रीति।।"

"वैष्णवानां त्रयं कर्म दया जीवेषु नारदः।
गोविन्दे पराभक्ति तदीयानां समर्चनम्।।" "नारद पंचरात्र"

श्री महाराजजी भी जहाँ चिन्मय रस-भाव विभोरता में अपने तन-मन की सुधि भूले हुए थे, वहीं जन-वात्सल्यवशात् अपने आश्रित निजजनों की प्रत्येक चेष्टाओं पर दृष्टि भी रखते थे। कोई क्या कर रहा है, उनसे छिपा नहीं था। सब कुछ जानते-बूझते हुए भी आश्रितजनों के गुण-दोषों की ओर न देखते हुए, उन पर कृपा-स्नेह- वर्षण करते रहना आपका सहज स्वभाव था। इसी मंजुल-स्नेहील स्वभाव ने असंख्य नगण्य जीवों को श्रीचरणों में स्थान देकर कृतकृत्य कर दिया। यह मुग्ध-मोहित भी इन्हीं श्रीचरणों की कृपामयी शीतल सीकरों से पालित-पोषित है।

– अलबेलीशरण

ठा. श्रीगोरेलालजी की कुंज
प्रेमगली, श्रीवृन्दावन

'जिन' गुरु दिये मिलाय

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दिये मिलाय।।

पृथ्वी पर आते ही व्यक्ति को जिस सहजता से माता-पिता मिल जाते हैं, कोई प्रयास या चुनाव नहीं करना पड़ता, उसी सहजता से मात्र अपनी सात वर्ष की वयस् में मुझे पूज्य श्री महाराजजी मिले। उस अबोध शैशव में न तो गुरु का अर्थ जानती थी, न संत का। केवल अन्तर्मन में यह अनुभूति होती थी कि नख-शिख स्नेह से गढ़ी हुई यह मूर्ति उतनी ही अपनी है, जितने परिवार के अन्य जन।

श्री–जी जब घर आते तो दौड़-भाग कर, उछल-कूद कर अपना आनन्द प्रकट करती। वे बुलाकर सामने बिठा लेते और कहते "हाँ, अपना वह मराठी पद "कालिन्दी चे डोहा" सुनाओ।"

कालान्तर में बार-बार मन में यह प्रश्न उठने लगा कि सभी गुरु बनाते हैं, भला मेरे गुरु कौन होंगे ? एकबार गुरु-पूर्णिमा के दिन स्वप्न में पूज्य श्री महाराजजी ने कहा–"मुझे धोती दो" और मेरी हथेली पर दो सफेद पुष्प रख दिए। बस उसी दिन बोध हुआ कि जो धन बालपन से मुझे मिला ही हुआ था, मैं उसे भ्रमवश कहाँ-कहाँ ढूँढ रही थी।

जिनको निमित्त बनाकर इन सिद्ध-महापुरुष की कृपावृष्टि हमारे परिवार पर हुई, जिनसे माता का सा स्नेह, पिता का सा संरक्षण और गुरु का सा मार्ग दर्शन पाया तथा जिनकी कृपा से परम गुरुरूप पूज्य महाराजजी मिले, उन्हीं के विषय में दो शब्द लिखना चाहती हूँ। पूज्य श्री मनोहरदासजी बाबा रक्त-सम्बन्ध से मेरे चाचाजी हैं। सौभाग्य से वे इस "चरित वैभव" ग्रन्थ के लेखक तथा पूज्य श्री–जी के अन्तरंगतम-जनों में एक हैं।

नर्मदातटवर्ती प्राचीन माहिष्मती नगरी में महाराष्ट्रीय ब्राह्मण परिवार में आपने जन्म ग्रहण किया। पिता श्री खण्डेरावजी मूले (बाबूरावजी) थे

तथा होलकर महाराज के राज-पुरोहित तथा जागीरदार भी थे। माता परम सात्विक एवं एक श्रद्धालु महिला थीं। वे कहा करती थीं कि ये पूर्व जन्म के कुछ विशिष्ट संस्कार साथ लेकर आये थे। जन्म लेने के बाद एकमाह तक इन्हें केवल रुई में लपेट कर रखा गया था। पानी, दूध या दवा की एक बूँद तक अन्दर नहीं जाती थी। जीवित होने के प्रमाण-स्वरूप छाती की धुकधुकी मात्र चलती थी। सभी कहते–पूर्वजन्म का कोई साधु अपनी साधनापूर्ण कर रहा है। एक माह पश्चात् रोना तथा अन्य क्रियाएँ स्वयमेव प्रारंभ हो गईं।

कनिष्ठ सन्तान होने से विशेष प्यार-दुलार से लालन-पालन हुआ। माता-पिता को बड़ी-बड़ी आशाएँ थी। बालक की हर अभिरुचि का सत्कार किया गया। धार्मिक रुझान देखकर एक पृथक् पूजन-कक्ष की व्यवस्था की गई। एक महात्मा द्वारा प्रदत्त अद्‌भुत शिवलिंग का एक सौ आठ बिल्वदलों से नित्यप्रति पूजन करने का आपका नियम था। पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में श्री रंगनाथ गुरु से हठयोग की षड् क्रियाएँ सीखीं एवं काफी सफलता प्राप्त की। कुछ वर्षों तक राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सक्रिय कार्यकर्ता रहे। सिद्ध-महात्मा श्री कुलकर्णी महाराज के मार्गदर्शन में कई गायत्रीपुरश्चरण किए। इनकी उपरामता देख, वे कहते–"तुम्हें तो बहुत शीघ्र विरक्त होकर निकल जाना है" और एक वर्ष पश्चात् ही उनकी भविष्यवाणी सत्य हो गई। आपने संस्कृत काव्यतीर्थ तक शिक्षा प्राप्त की तथा कलात्मक अभिरुचि होने से सितार वादन भी सीखा। उम्र के बाईसवें वर्ष में माता-पिता आपको गृहस्थी की शृंखलाओं में जकड़ना ही चाहते थे कि वैराग्य की आँधी आई और सब कुछ उड़ा कर ले गई।

उस प्रान्त में एक नवानुरागी संत ने संकीर्तन की धूम मचाई हुई थी। उन्हीं को माध्यम बनाकर श्री वृन्दावन-बिहारी ने आपको अपने धाम की ओर आकर्षित कर लिया। घर में रहना दूभर हो गया। आशाओं पर पानी फिरते देख पिता ने रुद्र-रूप धारण कर लिया पर माता ने हृदय पर पत्थर रख कर अनजान यात्रा के लिये बिदा कर दिया। चलते समय एक स्वर्ण

की अँगूठी अवश्य पहना दी। बड़े भाईसाहब ने यात्राव्यय के साथ बस में बैठा दिया पर अगले ही मुकाम पर पहुँचकर आपने सभी वस्तुएँ घर भिजवा दीं। भिक्षा माँगने का अभ्यास न होने से एक प्रकार से आठ दिनों तक निराहार से ही रहे।

वृन्दावन पहुँचने पर रससिद्ध सन्त श्री महाराजजी मिले। उन्होंने बाँह गही और स्नेह से नहला दिया। दीर्घकाल तक छाया की भाँति उनके साथ रहकर अपूर्व लाभ प्राप्त किया। उनके जीवन तथ्यों, घटनाओं का विवरण लिपिबद्ध करते रहे। अपूर्व सूझ-बूझ के साथ आपने पूज्य श्री–जी के भावावेश के चित्र भी लिए, जो आज उनके निजजनों की बहुमूल्य निधि बने हुए हैं। पूज्य श्री–जी के दिव्य आकर्षक का ऐसा नशा छा गया कि उनके सान्निध्य सुख के आगे सब कुछ भी पाना शेष नहीं है, यही अनुभव होने लगा।

अब "तीव्र-ताप-धुताशुभा" की बारी आई। एक दीर्घ कालखण्ड, तक इन्हें वियोग व्यथा सहनी पड़ी। जिनके प्राणों में प्राण मिलाकर जी रहे थे, उन्हीं के एकाएक तटस्थ हो जाने से अरण्यक्रन्दन प्रारंभ हो गया। यमुनापुलिन पर झाड़झंखाड़ों में जा गिरे। अनुभव हुआ कि श्यामसुन्दर ने अपनी बाँहों में ले रखा है, परन्तु उनसे भी यही प्रश्न किया–"महाराजजी कहाँ हैं ?"

कई बार शरीरान्त करने के प्रयास किये, किन्तु हर बार उसी कृपा किरन ने बचा लिया। आज आपकी अवस्था अस्सी वर्ष के लगभग है। इस अवधि में कई उतार चढ़ाव आए, गुरु परीक्षा के कठिनतम दौर में से आपको गुजरना पड़ा, परन्तु गुरुचरणों में आपकी निष्ठा अविचल बनी रही।

अधिक क्या लिखूँ ? मैंने बत्तीस वर्ष के अध्यापन काल में कितने कागज काले किये एवं समय का अपव्यय भी। पूज्य श्री–जी के चरित-लेखन के कार्य में मुझे जो यत्किंचित् सेवा करने का अवसर मिला, वही समय की सार्थकता एवं मेरा परम सौभाग्य है।

"जिन गुरु दिये मिलाय" उनके श्रीचरणों में प्रणाम करती हुई, अपने परम गुरु पूज्य श्री महाराजजी के पाद पद्मों में –

शत शत वन्दन! शत शत वन्दन!!
उस ''श्याम तमाल'' प्रणेता को!
उस सरस वल्लरी-रूपा को!
उस ''वेणु कुंज'' बिहारी को!
उस अलिजन यूथ स्वामिनी को!
शत शत वन्दन, शत शत वन्दन, शत शत वन्दन!

उस श्याम तमाल प्रणेता को!
उस सरस वल्लरी-रूपा को!
उस वेणु-कुंज विहारी को!
उस अलिजन यूथ दुलारी को!
शत शत वन्दन, शत शत वन्दन, शत शत वन्दन!

कृपा परिपोषिता

शशिकला

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः
श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

चरित वैभव

मंगलाचरण

मणि-नूपुर-वाचालं वन्दे तच्चरणं विभोः।
ललितानि यदीयानि लक्ष्माणि व्रजवीथिषु।।

परब्रह्म परमेश ईश जो सब सुखदाता।
विधि हू के विधि करन, हरन दुख जन मत भ्राता।।
सो प्रभु अति आधीन दीन है रहत सदा ही।
श्रीगुरु चरण जे गहे नित्य, तिनके हित आही।।
मो सम कुटिल कुबुद्धि हीन मति को गहि राख्यौ।
तातें होत विश्वास शास्त्र वचनामृत साँच्यौ।।

क्षुद्र मति, कुण्ठित गति,
गमन हंस सम चाहत, मन-मतंग सागर मझार।
करत गमन विना विचार, चरित सागर अपार।।
रक्षक भये कृपामय कर्णधार।
आस धर विश्वास कर अवगाहत बार-बार।।

परम सुहृद संकेत एक, मोहि सुन्दर दीन्हीं।
तातें श्रीगुरु-चरित, यथामति वर्णन कीन्हीं।।
कियौ संकलन नित्य कौ, सद्‌गुरु सद्व्यवहार।
त्याग साधना पूर्णता, विरह वास-वनचार।।
प्रेम कम्प गद्‌गद वचन, मूर्च्छा भाव प्रलाप।
लीला वर्णन भावमय, पद्य गद्य संलाप।।
हरिकीर्तन सतसंग युत, भक्त गठन वृत्तान्त।
देश देश विहरण कथा, नव नवीन बहुबात।।

नव वैभव सुखरासी।
उदय भये पूरण नव शशि यह, मधुर मंद मुख हाँसी।
तिथि एकादशी सुभग दिवस यह, मन्दवार अभिलाषी।
रसिकन को सुख वैभव दानी, श्याम सुघन चपलासी।
बृन्दावन की सुख सम्पति यह, 'संपत' संपदरासी।
प्रिया प्राण की प्राण अली यह, 'अलिगण' भाग्य सुपासी।

भक्तिर्नृत्यति यत्र च

द्रविड़ क्षेत्र में उत्पन्न भक्ति का परिवर्धन कर्णाटक प्रदेश में ही तो हुआ था। स्वयं भक्तिदेवी का कथन है –

उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।

और वह वृन्दावन में आकर नवयौवना, सुरूपिणी प्रियतमा के रूप से प्रकाशित हुई –

वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।
जाताहं युवती सम्यक् प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्।।

यहाँ श्रीधाम वृन्दावन में आकर ही भक्ति का पूर्ण विकास हुआ; यहाँ ही उसने दिव्य आवेश में रस-पूर्ण आनन्द-नर्तन किया था –

धन्यं वृन्दावनं तेन भक्तिर्नृत्यति यत्र च।

हमारे चरित-नायक श्री महाराजजी❀ का जीवन-वृत्त भक्ति के इस इतिहास का छायांकन सा प्रतीत होता है। उनका जन्म कर्णाटक में हुआ और उनकी भक्ति-साधना का पूर्ण परिपाक श्रीधाम वृन्दावन में हुआ। यहाँ ही उनको प्रियतम श्रीकृष्ण का पूर्ण साक्षात्कार हुआ और यहीं पर प्रेमोन्माद में उनका मन निरन्तर आनन्द-विभोर होकर सरस नृत्य करता रहा।

जयति जयति वृन्दारण्यमेतन्मुरारेः
प्रियतममति साधु स्वान्त वैकुण्ठवासात्।
रमयति स सदा गाः पालयन् यत्र गोपीः
स्वरित मधुर वेणु वर्द्धयन् प्रेमरासे।।

नवोन्मीलित-कैशौरक-ललित-लीला-रसमयं
प्रियं तन्मे जीयान्मधुर मधुरं धाम युगलम्।

❀ श्री बालकृष्णदासजी महाराज

"शुचीनां श्रीमतां गेहे" उक्ति के अनुसार भक्ति-केन्द्रित जीवन-वृत्त का सूत्र और आगे बढ़ता है। आपका जन्म केरल देश के नरेश, प्रसिद्ध भक्त-संत कुलशेखर आलवार के वंश में हुआ था। कुलशेखर भगवान् की कौस्तुभ-मणि के अवतार माने जाते हैं। भक्ति का ऐसा आवेश उन्हें रहता था कि राजोचितचर्या उनसे सम्पादित नहीं हो पाती थी। अतः उन्होंने राज्य का परित्याग कर दिया था और भक्ति-चर्या में ही जीवन व्यतीत किया। श्रीरङ्गम् में रहकर उन्होंने 'मुकुन्दमाला' स्तोत्र की रचना की, जो अद्यावधि वैष्णवों का कण्ठहार है। इनकी याचना थी –

मुकुन्द, मूर्ध्ना प्रणिपत्य याचे
भवन्तमेकान्तमियन्तमर्थम्।
अविस्मृतिस्त्वच्चरणारविन्दे
भवे भवे मेऽस्तु भवत्प्रसादात्।।

भक्तमाल में नाभाजी ने इनका वर्णन भक्तदास के नाम से किया है।

इनका परिवार श्रीरङ्गम् में ही बस गया। जब एकादश शती के उत्तरार्द्ध और द्वादश शती के पूर्वार्ध में वैष्णव-आचार्यों के शिखामणि शेषावतार आद्याचार्य श्री रामानुज ने श्रीरङ्गम् क्षेत्र को केन्द्र बनाकर विशिष्टाद्वैत और पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय की पुनः प्रतिष्ठा की और उसका प्रसार किया तो यह कुल भी उनसे दीक्षित हुआ। किन्तु तत्कालीन चोल सम्राट् कुलोत्तुंग के वैष्णव-उत्पीड़न से व्यथित होकर श्री रामानुजाचार्य ने श्रीरङ्गम् छोड़कर कर्णाटक में मैसूर के पास एक स्थल पर अपना आवास बनाया। वहाँ श्रीनारायण के एक विशाल मन्दिर का निर्माण किया और इसी आधार पर उस स्थल का अभिधान तिरु-नारायणपुरम् रखा, जो अवान्तरकाल में मेलकोट के नाम से विख्यात हुआ। कुलशेखर-वंशीय परिवार भी आद्य श्रीरामानुजाचार्य के साथ श्रीरङ्गम् से तिरुनारायणपुरम्-मेलकोट आ गये। यहाँ श्रीरामानुजाचार्य ने सन् ११००–१११८ तक अवस्थान किया और इसी स्थल पर सन् १११६ में उन्होंने होयसल सम्राट् बिट्टिग को विष्णुवर्धन के नाम से दीक्षित किया। इसी तिरुनारायणपुरम्-मेलकोट में श्री महाराजजी का जन्म हुआ था। इनका

परिवार श्रीरामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्तित व्यंकटाद्रि आम्नाय से सम्बद्ध था और तिरुपति के बालाजी इनके इष्टदेव थे।

इनके मातृकुल की परम्परा को गौड़ीय सम्प्रदाय में सुविख्यात आचार्य श्री गोपालभट्ट रंगाचार्य ने सुशोभित किया था। वे श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव के समकालीन थे। उनके पिता श्री व्यंकटभट्ट के घर पर ही श्रीरङ्गम् में महाप्रभु ने अपनी दक्षिण-यात्रा में चातुर्मास व्यतीत किया था। श्री चैतन्य 'चरितामृत' में इसका उल्लेख हुआ है।

श्री वैष्णव एक वैंकट भट्ट नाम।
प्रभू के निमंत्रण कइल करिया सन्मान।।
निज घरे लइया कइल पाद प्रक्छालन।
सेई जल सबइ सेते करिल भक्छन।।
भिक्षा कराइया किछु कइल निवेदन।
चातुर्मास्य आसि प्रभू हइल उपसन्न।।
चतुर्मास्य कृपा करि रहो मोर' घरे।
कृष्ण कथा कहि मोरे निस्तार अमारे।।
तार घरे रहिला प्रभू कृष्ण कथा रसे।
भट्ट संगे गोङाइला सुखे चारी मासे।।

इस कालावधि में ही श्री वेंकट भट्ट ने अपने पुत्र श्री गोपाल भट्ट को महाप्रभु के चरणों में अर्पित किया –

'यह मम सुत गोपाल भट्ट तव पद में लुंठित।
आज दिवस की भिक्षा में ये सादर अर्पित।।
करुणामय प्रभु करें कृपा कर अंगीकार।
इसे करें निज भृत्य सदय दें चरणाधार'।।५।।

महाप्रभु ने उस अष्टवर्षीय शिशु पर अप्रतिम कृपा-वृष्टि की। उसे अपने शिष्य के रूप से दीक्षित किया –

'कल प्रभात आना करके कावेरी स्नान।
सविधि दीक्षा दूँ तुम को सह शास्त्र विधान।।३१।।
तुम ही एक मात्र मम दीक्षित शिष्य प्रधान।
तुम में ही करता मैं स्वीय तेज आधान।।३३।।

महाप्रभु ने उन्हें गोपालमंत्र प्रदान कर अद्‌भुत आशीर्वाद से कृतार्थ किया –

'यह विद्वान् महान् करे जग का कल्याण'।।१३।।

तथा –

तुमसे होंगे प्रकट सर्व वैष्णव सिद्धान्त।
न रस निरूपण प्रतिपादन में होंगे भ्रान्त।।२३।।

ये अन्ततोगत्वा श्रीधाम वृन्दावन पधारे, जहाँ आपके पूजित शालिग्राम की शिला से भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्त्ति प्रकट हुई। वह अद्यावधि विख्यात श्रीराधारमण मन्दिर में सुपूजित है। चैतन्य महाप्रभु ने श्री गोपालभट्ट के लिये अपने आसन और कौपीन-डोर का प्रसाद भी भेजा था।

इसी कुल में श्री जटावल्लभ अप्रमेय अन्नाचार्य हुए, जिनको सेवाकुञ्ज, वृन्दावन में गोपिकाओं के साक्षात् दर्शन हुए थे। इस प्रकार आपकी पितृ-परम्परा और मातृ-कुल, दोनों में भक्ति-मन्दाकिनी कल्लोल किया करती थी।



बालक सम्पत् कुमार (श्रीमहाराजजी)



इन्टरमीजिएट विद्यार्थी जीवन में श्रीमहाराजजी

जन्म एवं बाल्यावस्था

ऐसी पावन-कुल-परम्परा में श्री महाराजजी का जन्म श्रीरामानुजाचार्य के द्वारा बसाये गये और उन्हीं के द्वारा प्रतिष्ठापित श्री नारायण-मन्दिर से विभूषित तिरु (श्री) नारायणपुरम्- मेलकोटा के पुनीत तीर्थ में विक्रम सम्वत् १९७५ मार्गशीर्ष मास, शुक्ल पक्ष की पावन एकादशी, शनिवार तदनुसार १९१८ सन् के २६ नवम्बर की मध्य रात्रि को १२ बजकर ५५ मिनट पर हुआ था। जन्म के समय भरणी नक्षत्र, मेष राशि और कन्या लग्न प्रवर्तमान थी। **मासानां मार्गशीर्षोऽहं** के उद्घोषक भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी एकादशी तिथि पर सहस्राब्दियों पूर्व श्रीमद्भगवदगीता का उपदेश किया था, अतः गीता-जयन्ती का समारोह इस तिथि पर ही होता है। इस प्रकार पावन कुल-परम्परा, पवित्र तीर्थ और पुनीत तिथि की त्रिवेणी से उद्भासित था आपका जन्म।

आचार्य-कुल-भूषण, संगीत-प्रेमी, गायन-कुशल तथा तन्तु-वाद्य-विशारद श्री पार्थ सारथि अय्यङ्गार को आपके पिता होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इनका यथार्थ नाम तो श्रीकृष्णन अय्यङ्गार था, किन्तु बाद में उन्होंने अपना नाम परिवर्तित कर लिया था। इस नाम-परिवर्तन में एक रहस्यमयी अन्तर्कथा छिपी है। प्रथम विश्व महायुद्ध (सन् १९१४–१९१६) चल रहा था। इस दौरान श्री श्रीकृष्णन अय्यङ्गार फ्रांस में थे। भारत की स्वाधीनता के प्रयास में इस समय क्रान्तिकारी दल यूनाइटेड किंगडम और फ्रांस में सक्रिय थे। इनसे श्री श्रीकृष्णन अय्यङ्गार का सम्पर्क था। इनकी एक अन्तर्राष्ट्रीय बैठक में ये सम्मिलित हुए थे। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को इसका पता चल गया। उसने 'रील्म डिफेंस एक्ट' के तहत इनके विरुद्ध वारण्ट जारी कर दिया। ये छिपकर स्वदेश तो लौट आये किन्तु इस प्रक्रिया में इन्होंने अपना नाम श्रीकृष्णन का पर्यायवाची पार्थसारथि अय्यङ्गार रख लिया और बाद में वे इसी नाम से विख्यात हुए। किन्तु आपकी यह राजनीतिक भूमिका अल्पकालीन ही रही। कुल के संस्कारों के प्रभाव से आप पुनः भगवत्प्राप्ति की चर्या में दत्तावधान हो गये। हरिकीर्त्तन में स्वर-लालित्य तथा हारमोनियम बजाने की प्रवीणता

के कारण आपकी विशेष ख्याति थी। चित्रकला में भी आपकी सक्रिय रुचि थी। श्री महाराजजी की माता परम भक्तिमती श्रीमती कमलम्मा दर्शनशास्त्र में निष्णात, संस्कृत भाषा की सुविज्ञ ज्ञाता और कवयित्री एवं सरल स्वभावा थीं। आपने दर्शनशास्त्र में आचार्या की पदवी प्राप्त की थी। आप धारा-प्रवाह संस्कृत भाषा बोलती थीं। संस्कृत और कन्नड़ भाषाओं में आपकी अनेक काव्य-रचनायें हैं।

श्री महाराजजी का जन्म नाम सम्पत्कुमार रखा गया। पिताजी की कुल नौ सन्तानें हुईं—पाँच पुत्र एवं चार पुत्रियाँ। क्रमशः इनके नाम हैं—यदुगिरि, सम्पत्कुमार, वेदवल्ली, राजगोपाल, रङ्गनाथ, श्रीमोहन, गीता (श्यामला), ज्योति एवं इन्द्राणी। सब सन्ततियों में ज्येष्ठ कुमारी यदुगिरि थीं, जिन्होंने विशेष प्रतिभाशाली और कुशाग्र-बुद्धि होने के कारण अपनी बाल्यावस्था में ही अपने पिता की गायन-कुशलता और वादन-पटुता के गुणों को आत्मसात् कर लिया था। सात वर्ष की अल्पवय से ही इन्होंने हरिकथा कहना प्रारम्भ कर दिया था। इनके मधुर कण्ठ से निःसृत सरस हरिकथा हजारों की संख्या में उपस्थित श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध कर देती थी। इनके हरिकथा-कीर्त्तन की कीर्ति शनैः - शनैः मैसूर महाराज श्रीमान् कृष्णराय ओडेयार तक पहुँची। फलस्वरूप मैसूर राजदरबार में भी इनके ललित स्वरों से हरिकथा की आनन्द-सलिला प्रवाहित हुई। प्रसन्न होकर मैसूर महाराज ने आपको 'बाल-भारती' एवं 'कीर्तन-धुरीणा' की पदवियों से विभूषित तथा स्वर्ण-पदक से सम्मानित किया। परिवार वैभव-सम्पन्न था अतः हरिकीर्तन से उपार्जित धनराशि दरिद्रों और याचकों में वितरित कर दी जाती थी।

हमारे चरित-नायक श्री सम्पत्कुमार वय में कुमारी यदुगिरि से तीन वर्ष छोटे थे। बाल्यावस्था में ही आपके व्यक्तित्व में सात्विक गुणों की अभिव्यक्ति होने लगी थी। आपका स्वभाव शान्त और बुद्धि कुशाग्र थी। सूक्ष्मदर्शिता का गुण भी प्रारम्भ से ही विद्यमान था। पाँच वर्ष की आयु में आपको विषम-ज्वर हुआ, जो लगातार तीन वर्षों तक रहा। आपके शान्त एवं सहिष्णु स्वभाव के कारण इस सुदीर्घ व्याधि में परिजनों को आपसे कोई कष्ट नहीं हुआ।

शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया था। आप शान्त पड़े रहते मानो ध्यान-मग्न हों। किसी ने कुछ खिलाया तो खा लिया, औषधि दी तो ले ली; सामान्यतः ये निरपेक्ष भाव से आँखें बंद किये हुए लेटे रहते। ऐसा प्रतीत होता था कि अभिजात शिशु अपने पूर्वाचरित ध्यान-साधन में तल्लीन हो। इस प्रकार रुग्णावस्था के आवरण में ही आपकी साधना का प्रथम चरण सम्पन्न हुआ।

आठ वर्ष की अवस्था में प्रथम भाव स्थिति की घटना घटी। तब आप प्रायमरी स्कूल में पढ़ने जाते थे। एक दिन अध्यापक ने स्यमन्तक मणि के लिए जाम्बवन्त व श्रीकृष्ण के युद्ध की कथा 'चिन्तामणि' नामक पुस्तक से सुनाई। यह युद्ध अट्ठाईस दिनों तक निरन्तर चलता रहा। पश्चात् श्रीकृष्ण ने जाम्बवन्त को राम रूप में दर्शन दिये; तब श्रीकृष्ण के साथ युद्ध करने का उसे बहुत पश्चाताप हुआ। उस दर्शन से भावविभोर व शरणागत होकर वह स्तुति करने लगा। श्री महाराजजी बालकों के मध्य कुर्सी पर बैठे हुए मनोयोग पूर्वक कथा सुन रहे थे कि उन्हें मूर्च्छावस्था प्राप्त हो गई और कुर्सी से नीचे गिर गए। शरीर में रोमांच, कंप आदि सात्त्विक भावों का उदय हो गया। अध्यापक व छात्र यह स्थिति देखकर विस्मित हो गये। इसी स्थिति में इन्हें इनके माता-पिता के पास घर पहुँचाया गया। जाग्रत होने पर श्री महाराजजी ने इस आख्यान के प्रत्यक्ष दर्शन की बात घर के लोगों को सुनाई। उन्हें भी सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ।

आध्यात्मिक साहित्य के पढ़ने में श्री महाराजजी की विशेष रुचि हो गई थी और दस वर्ष की छोटी आयु में ही आपने अनेक संतों के चरितों को पढ़ लिया था। इनमें परमहंस श्री रामकृष्णदेव, स्वामी श्री विवेकानन्द और स्वामी श्री रामतीर्थ के चरित आपको विशेष प्रिय थे। परमहंस श्री रामकृष्णदेव के जीवन-वृत्त के अध्ययन ने तो आपके हृदय में भक्ति-बीज ही अङ्कुरित कर दिया। उनके जीवन-चरित को पढ़ने पर आपके मन में यह कामना जाग्रत होती कि मेरा जीवन भी श्री रामकृष्णदेव के समान आध्यात्मिकता से समुज्ज्वल हो जाये। इस कामना के उदय होने पर श्री परमहंसदेव की कृपा आप पर होने लगी। आध्यात्मिक चिन्तन में रत आपकी

व्यर्थालाप से वितृष्णा हो गई। भाई-बहनों के साथ पढ़ने के लिये जाते तो रास्ते में ताँगा-स्टैण्ड के पास खड़े लोगों के निरर्थक वार्तालाप को सुनकर आप कहते "देखो तो, ये लोग व्यर्थ में कितनी बातें करते रहते हैं ? इनमें एक भी तो भगवच्च्चर्चा नहीं कर रहा है।"

दस-ग्यारह साल की वय में एकबार आप अपने पिताजी, बड़ी बहन तथा परिवार के अन्य सदस्यों के साथ परमहंस श्री रामकृष्णदेव के मन्दिर में गये। मन्दिर में जगमोहन की दीवार पर लगे हुए श्री परमहंसदेव के विशाल चित्र पर आपकी दृष्टि पड़ी। देखते ही आपकी दृष्टि उस पर केन्द्रित हो गई। एक क्षण पश्चात् आपके नेत्र निमीलित हो गये। उनसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। भावावेश में जिस प्रकार परमहंसदेव के शरीर में सात्त्विक भावों की जागृति होती थी, वैसे ही थोड़ी देर तक आपके शरीर में लक्षित हुई– कम्पन, जड़िमा का सञ्चार, नेत्रों का निर्निमेष होना। साथ में आये हुए परिवार के सदस्य आश्चर्य से देखने लगे। उनके मन में यह विचार आया कि यह कोई साधारण बालक नहीं है।

धीरे-धीरे भावोद्रेक शान्त हो गया। शारीरिक अवस्था शिथिल हो गई। परिवार के सदस्य सँभालकर बालक को घर ले आये। तब से घर के व्यक्ति विनोद में आपको 'रामकृष्ण' कहा करते थे। अब जब भी आपको भगवच्चरित पढ़ने अथवा सुनने का अवसर आता, आपके शरीर में सात्त्विक भावों का जागरण होने लगता। परन्तु संकोची स्वभाव होने के कारण आप इन सात्त्विक भावों के जागरण को गोपनीय रखते थे।

माता, पिता तथा बहिन यदुगिरि कीर्तन के प्रचारार्थ विभिन्न प्रदेशों में भ्रमण करते रहते थे। श्री सम्पत्कुमार भी साथ में ही रहते थे। कुछ साल सम्पूर्ण परिवार ने तुम्बकुर में निवास किया। यहीं आपकी पढ़ाई प्रारम्भ हुई। बाद में कुछ समय तक श्री सम्पत्कुमार बसवनगुड़ी में अपने नाना श्री नृसिंह अय्यंगार के घर पर रहे। पश्चात् पिताजी ने श्री सम्पत्कुमार, कुमारी वेदवल्ली और अनुज राजगोपाल को मामा श्री व्यंकटाचार्य के घर पढ़ने के लिये बंगलौर में रखा। मामाजी डॉक्टर थे। यह इतिवृत्त १६३२–३३ का है। श्री सम्पत्कुमार

सोलहवें वर्ष में प्रवेश कर चुके थे । तीव्र बुद्धि होने के कारण आप स्वभावतः पढ़ाई में बहुत प्रवीण थे। आपकी तीक्ष्ण मेधा का प्रभाव स्कूल में सभी विद्यार्थियों के ऊपर था। आप यहाँ लगभग तीन साल रहे। यहाँ पर भी आप श्री परमहंसदेव के चरित का अवलोकन करते रहते थे। पढ़ाई के अतिरिक्त आपका शेष समय भगवच्चिन्तन में ही व्यतीत होता था।

धीरे-धीरे श्री महाराजजी के चित्त में संसार की असारता के विचार उठने लगे। बाह्य व्यवहार से आपका मन क्रमशः उपराम होने लगा–एक प्रकार की निर्विशेष उदासीनता से आपका मन सदा आच्छन्न रहने लगा।

सब भाई-बहिनों के रहने के लिए एक ही कमरा था। वहीं वे अध्ययन करते और रात में सो जाते। आप में एक उत्कट अनजानी प्यास सदा बनी रहती। संसार में सुख है, ऐसा भाव आपके मन में उठता ही नहीं था। भगवच्चिन्तन करते-करते जब आप रात में सोते तो नींद में भी अनजान में एक प्राप्तव्य वस्तु के लिए एक सूक्ष्म व्याकुलता का भाव बना रहता, जिसने धीरे-धीरे स्थायी रूप से आपके मन में घर बना लिया था। "मुझे भी ऐसी उच्च आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त हो सकती है क्या ?" यह आकांक्षा आपके चित्त को जाने-अनजाने उद्वेलित करती रहती थी।

इसी चिन्ता में आपके दिन व्यतीत हो रहे थे कि आ पहुँचा वह दिन। उस दिन भी यथापूर्व सूर्य उदित हुआ। यह सूर्योदय आपके जीवन का वास्तविक सूर्योदय था, जो परिवर्तन का एक स्वर्णिम विहान लेकर उपस्थित हुआ था। इसने आपके मन में एक विचित्र ही दशा उत्पन्न कर दी थी। उस दिन आपका मन न खाने में, न पीने में और न किसी से वार्तालाप करने में ही लग रहा था। यहाँ तक कि उस दिन आपको अपने प्रिय भाई-बहिन भी नहीं सुहा रहे थे। जैसे-तैसे दिन बीता। रात्रि ने पदार्पण किया। मन की व्याकुलता बढ़ती ही गई। दिनचर्या सम्पन्न कर आप शय्या पर आ विराजे।

बहिन-भाई तो घोर निद्रा के वशीभूत थे। आप अर्धनिद्रित से नेत्र मूँदे हुए लेटे थे। अचानक किसी दिव्य आलोक ने कमरे को प्रकाशित कर

दिया। आप चौंक गये–आँखें खुल गईं। आपने एक दिव्य उज्ज्वल कान्ति कमरे में व्याप्त देखी। आप सहसा उठ बैठे। नेत्र स्थिर कर देखा–तेजोमण्डल के मध्य में एक अद्भुत प्रतिमा विराजित है। यह प्रतिमा उन्हीं श्रीरामकृष्णदेव की थी, जिनके पावन चरित से आपको प्रेरणा मिली थी। वे आज साक्षात् आपके सामने खड़े थे। नत-मस्तक होकर आपने प्रणिपात किया। श्रीपरमहंसदेव के अधरों पर मन्द मुस्कान थी। वे आपको निहार रहे थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो वे नेत्रों से आप पर कृपा-वृष्टि कर रहे हों। उन्होंने कहा– "चले आओ। यहाँ मत रहो। वहाँ चले आओ।" उनकी उज्ज्वल अंग-कान्ति थी; विहसन में स्वच्छ दन्त-मुक्ता झिलमिला रहे थे। प्रेम-पूरित प्रमत्त नेत्रों से कृपा का सञ्चार हो रहा था। मुख आरक्त वर्ण था। मल्लिका-पुष्प के सदृश अंग-सौरभ से कमरा सुवासित हो उठा था। कुछ क्षण यह स्थिति रही। फिर श्री परमहंसदेव के अधरों में मृदुल कम्पन्न हुआ; ओष्ठ किंचित् विकसित हुए, अमृतवर्षिणी मधुर वाणी प्रस्फुटित हुई–"चलो, मैं तुम्हें लेने आया हूँ।" वाणी मूक हो गई।

श्री सम्पत्कुमार के नेत्रों से सतत अश्रु-प्रवाह हो रहा था। आपने भाई-बहिन को निद्रा से जगाया और कहा–"उठो, उठो, देखो, देखो। श्री परमहंसदेव के दर्शन करो।" वेदवल्ली और राजगोपाल हड़बड़ाकर उठे। उन्होंने उज्ज्वल शीतल प्रकाश का पुञ्ज देखा और सुरुचिपूर्ण मन्द सुगन्ध का अनुभव किया। किन्तु उन्हें श्री परमहंसदेव के दर्शन नहीं हुए। क्षणार्ध में ही यह अलौकिक दृश्य तिरोहित हो गया। उस रात्रि को आपके मन की क्या स्थिति हुई, यह सम्वेदनशील सहृदय की कल्पना का विषय है।

अब आपको वहाँ बंगलोर में एक क्षण भी ठहरना असह्य होने लगा। अध्ययन से मन उपरत हो गया। परिवेश से चित्त विरक्त हो उठा। "चलो, मैं तुम्हें लेने आया हूँ"–यह आह्वान अपने प्रबल आकर्षण की सरस मोहिनी के साथ सदैव सर्वकाल उनके कानों में गूँजने लगा। उन्होंने अपने छोटे भाई और बहिन से कहा कि "मुझे परमहंस देव बुला रहे हैं। मैं चला जाऊँगा।" किन्तु उन्हें इस कथन पर विश्वास कैसे होता ? उन्होंने इसे विनोद-मात्र

समझा। इस हृदय-भेदिनी पुकार का मर्म, जीवन में क्रान्ति उपस्थित करने वाले, इस भगवदीय संकेत का अर्थ उन्हीं की समझ में आता है, जिन पर भगवत् कृपा होती है और उसको समझकर वे सारी विघ्न-बाधाओं की उपेक्षा कर प्रियतम-प्राप्ति के पथ पर बिना रुके धावित हो जाते हैं। यह दिव्य संदेश, यह संकेत केवल सम्पत्कुमार के लिये ही था और इसलिये इसका महत्त्व उन्होंने ही समझा।

दिव्य संदेश कृपा-पात्रों को ही प्राप्त होता है और दिव्य प्रेम-आह्वान को सुनकर कोई रुके, यह सम्भव ही कैसे है?

प्रेमावतार श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव को भी किसी साँवले सलौने का मधुर संकेत मिला था। उस प्रेम की पुकार को सुनकर उन्होंने स्नेहमयी वृद्धा माता, नवयौवना रूपवती धर्मपरायणा पत्नी, परिजन, विद्वत्ता, ख्याति, सब को एक निमेष में तिलाञ्जली देकर माघपूर्णिमा की मध्य रात्रि के बारह बजे घोर शीत में गंगा के शीतल विस्तृत जल पाट को तैर कर पार किया और व्याकुल-चित्त होकर धावित हुए अपने प्राण-प्रियतम श्रीकृष्ण की ओर।

दिव्य संकेत का चमत्कार ही ऐसा होता है। वह बलात् आकृष्ट कर ही लेता है–**'गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः।'** अब हम देखें कि इस दिव्य संकेत ने हमारे चरित्रनायक को कहाँ और कैसे आकर्षित किया।

गृहत्याग एवं भ्रमण

जैसे-तैसे पन्द्रह दिन व्यतीत हुए। निद्रा तो आपको नाम-मात्र को ही आ रही थी। आखिर वह मंगलमय सुप्रभात और उस दिन का सूर्य मानो आपको ले जाने के लिये ही प्रसन्न वदन से उदित हुआ। ब्राह्म मुहूर्त्त में आप शय्या से उठ बैठे। घर त्यागने का विचार मानस में समाया हुआ था। किसी प्रकार नित्य-कर्म से निवृत्त हुए और बहिन-भाई की सम्हाल का भार पिताजी को सौंपने के लक्ष्य से आपने उन्हें इस आशय का तार भेजा– "श्रीरामकृष्णदेव मुझे बुला रहे हैं। मैं जा रहा हूँ।" आपने राजगोपाल और वेदवल्ली के लिए भी एक पत्र लिखकर देवी के चित्र के पीछे रख दिया। उसमें यही लिखा था कि "मैं किसी अच्छे काम के लिये जा रहा हूँ। चिन्ता नहीं करना। तुम लोग घर चले जाना।" साथ ही पिताजी के नाम एक संदेश तथा एक श्लोक था।

हेमन्तीय निशा के बारह बजे अपने छोटे भाई-बहिन को सोता हुआ छोड़कर और घर को अन्तिम नमस्कार कर वे गृहद्वार से बाहर निकल पड़े।

रात्रि के बारह बजे, मध्य निशा। यही तो वह समय था, जब सम्पत्कुमार का जन्म हुआ था–संसार में उन्होंने प्रवेश किया था और यही था वह समय जब वे सांसारिकता को अन्तिम प्रणाम कर श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिये निकल पड़े। यही तो वह समय था जब भगवान् श्रीकृष्ण का मथुरा के कंस-कारागार में जन्म हुआ था और वसुदेव जी उन्हें लेकर गोकुल पहुँचे। शारदीय निशा के मध्य पूर्ण चन्द्रवती ज्योत्स्ना में ही तो वंशी की मधुर स्वर-लहरी से संकेत पाकर आभीर बालायें अभिसार करती हुईं अपने प्राण-प्रेष्ठ श्रीकृष्ण के पास पहुँची थीं। यही बेला थी जब चैतन्यदेव गृहत्याग कर प्रियतम की ओर प्रधावित हुए थे।

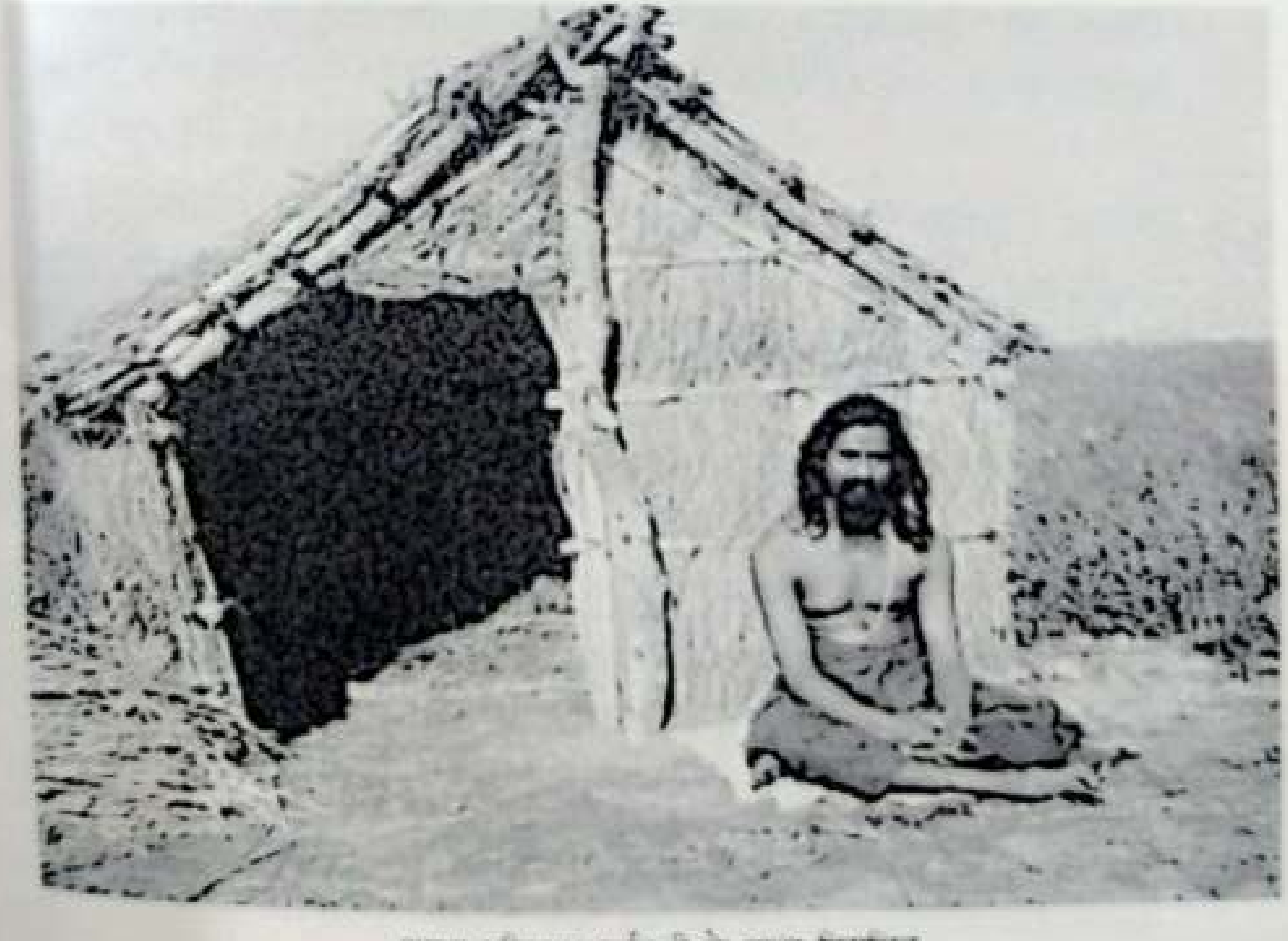
गृह-त्याग की घटना सन् १९३५ के नवम्बर मास की थी। इस समय सम्पत्कुमार इण्टरमीडियेट की कक्षा में पढ़ रहे थे। अब लौकिक अध्ययन का परित्याग हुआ, क्योंकि लोकोत्तर विषय की पढ़ाई प्रारम्भ होनी थी।



कौपीनधारी श्रीमहाराजजी (केलिकुंज, वृन्दावन)



ललितकुंज, नन्दगाँव



यमुना पुलिनपर पर्णकुटी के बाहर विराजित

बंगलोर से प्रस्थान कर श्री महाराजजी सीधे निजाम हैदराबाद पहुँचे। स्टेशन के मुसाफिर खाने में बैठे हुए थे कि एक सिपाही आया और पूछने लगा– "आप कहाँ से आये हैं ? कहाँ रहते हैं ? आपका नाम क्या है ?" आपने ऐसे ही इधर-उधर के टालम-टोल उत्तर दिये। सिपाही को संदेह हो गया। उसने कहा– "अच्छा, यहीं बैठना। मैं अभी आता हूँ।"

बात यह थी कि गृहत्याग की सूचना पाकर पिताजी ने पुलिस में आपके भाग जाने की रिपोर्ट कर दी थी। अतः खुफिया पुलिस आपकी तलाश कर रही थी। आपको यह समझने में देर नहीं लगी और सिपाही के जाते ही आप वहाँ से अन्यत्र चले गये।

आपको आगे काशी जाना था। किन्तु किराये के लिये पैसे पास में नहीं थे। बिना टिकिट यात्रा करने का कोई अनुभव था नहीं। अतः इस प्रकार की कोई कल्पना भी आपके मन में नहीं आई। आपने एक युक्ति सोची। एक इंजीनियर के यहाँ आपने एक माह के लिये सुपरवाइजर की नौकरी कर ली और वेतन की तीस रुपये की धनराशि उपार्जित कर, उससे टिकिट कटा कर रेल द्वारा काशी जा पहुँचे।

गाड़ी में बैठे-बैठे आप अपने भविष्य के चित्र अपने मानस में खींचने लगे। आपकी कल्पना में काशी-गंगा के पावन तट पर सघन वृक्षावलियों से शोभित एक वन्य क्षेत्र था, जहाँ सन्त-महात्माओं की रम्य पर्णकुटियाँ थीं और जहाँ तपस्या-निरत महात्मा कन्द-मूल-फल खाकर अपना जीवन-निर्वाह करते थे। आपने सोचा कि मैं भी इस वन-प्रान्त में, एकान्त पुलिन पर वृक्षों के नीचे बैठकर, कन्द-मूल-फल खाकर भजन करूँगा, क्योंकि पतितपावनी स्फटिक-प्रभा जाह्नवी के तट पर भजन शीघ्र फलप्रद होता है। इन्हीं विचारों में मग्न विश्वनाथ की काशीपुरी में आ पहुँचे। स्टेशन पर उतरकर बाहर आये; अपनी कल्पना के प्रतिकूल वहाँ अरण्य परिवेश के स्थान पर जनसमूह और नागरिक वातावरण को देखकर संभ्रमित हुए।

आपने पतित-पावनी श्री गंगा में स्नानकर काशीश्वर विश्वनाथ के दर्शन किये। इससे अत्यन्त शान्ति और आनन्द प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् आपने

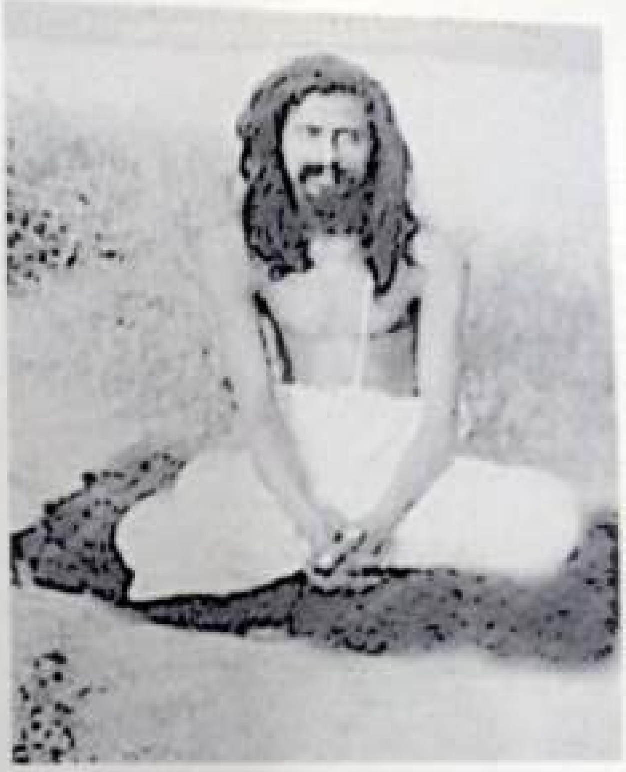
सम्पूर्ण काशीपुरी में भ्रमण किया। यह एक वैभवशाली विशाल नगरी थी। सहस्रों की संख्या में गृह-परिवार बसे हुए थे। बड़े-बड़े महलों, अट्टालिकाओं, बाजारों, वाहनों का संकुल था। घनी बसी नगरी में लता-पादप-वृक्ष-गुल्मों का तो दर्शन ही दुर्लभ था। हाँ, कुछ दूर जाने पर गंगा के किनारे वृक्षावली के दर्शन होते थे। विस्तृत, रमणीय घाटों से गंगा-तट सुशोभित था। परन्तु यहाँ भी प्रातः-सायं नागरिकों का कोलाहल रहता। प्रातः स्नानार्थी और सन्ध्या में नौका-विहार के लिये आये हुए विलासी नागरिक ही दृष्टि-गोचर होते थे। फिर भी गंगा-स्नान तथा विश्वनाथजी के दर्शन से आनन्द-लाभ करते हुए आपने कुछ दिन काशीपुरी में अवस्थान किया। आपको यहाँ रहने के लिए किसी विशेष स्थान की अपेक्षा नहीं रही। आप इतस्ततः कहीं भी गंगा किनारे पड़े रहते और यत्र-तत्र कहीं भी भिक्षा कर लेते।

इस प्रकार कुछ काल-यापन कर श्री महाराजजी ने काशी से अन्यत्र भजन-योग्य स्थल के अन्वेषणार्थ तीर्थाटन करना प्रारम्भ किया। कभी पदाति संचरण करते और कभी बिना टिकिट रेल से यात्रा करते। पैसा तो आप कभी अपने पास रखते ही न थे। यदि कभी किसीने पैसे दिये भी तो आप उन्हें गरीबों में बाँट देते अथवा उनसे कुछ खाद्य-पदार्थ खरीद कर उन्हें खिला देते। परिग्रह के रूप में आपके पास परिधान-वस्त्र तथा जलपात्र रहता था और कभी-कभी तो आप जलपात्र भी नहीं रखते थे—सर्वथा परिग्रहहीन एवं अनिकेत तथा निरन्तर भ्रमणशील। एक वर्ष के अन्तराल में आपने इस विधि से अनेक तीर्थों के दर्शन करते हुए सैंकड़ों मीलों की यात्रा की।

इसी बीच आपने सुना कि हरिद्वार में महाकुम्भ महोत्सव होने वाला है। आपको उस परम पावन तीर्थ बदरिकाश्रम जाने की इच्छा हुई, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने भागवतोत्तम श्री उद्धव को भक्ति-साधना करने के लिये भेजा था—"**गच्छोद्धव मयादिष्टो बदर्याख्यं ममाश्रमम्।**" इस संकल्प को मन में रखकर आपने हरिद्वार के लिये प्रस्थान किया।

श्री महाराजजी एकाकी ही पर्यटन करते थे, —भगवत् दर्शन की उत्कण्ठा से उत्पन्न व्याकुलता ही आपकी एकमात्र सङ्गिनी थी। असंगता





त्याग, तितिक्षा एवं वैराग्य के स्वरूप कृषकाय श्रीमहाराजजी



निधिवन, वृन्दावन में एक वृक्ष के सहारे
विराजित (पार्श्व में हरिण)



आपके मन का स्वभाव था। जहाँ भी जाते, एकान्त में रहते। जो भी भिक्षा में मिलता, निरपेक्ष होकर खा लेते। एक स्थान पर एक-दो दिन ही ठहरते। व्याकुल हृदय से सतत भगवन्नाम का स्मरण होता रहता। कुल-उपास्य श्री बालाजी की उपासना करते थे। 'ॐ कृष्ण' का जप निरन्तर चलता रहता।

गृह-त्याग किये करीब एक वर्ष हो रहा था। आपके पञ्चकेश बढ़ गये थे। सुन्दर अलकावली से मुखाकृति सुशोभित थी। देदीप्यमान मुख-मण्डल पर भजन-साधन की आध्यात्मिक आभा झलक रही थी। आप कुम्भ मेले के दर्शनार्थ पदयात्रा करते हुए हरिद्वार पहुँचे।

कुम्भमेला प्रारंभ हो चुका था। वहाँ आये हुए सन्त-समाज के दर्शनार्थ आप मेले में विचरण करने लगे। आपके पास एक कम्बल, बहिर्वास तथा एक पात्र के अतिरिक्त कोई सामान तो था नहीं; अतः आप मेले में स्वच्छन्द विचरते, जहाँ कहीं सत्संग होता श्रवण करते, जहाँ चाहें वहाँ भिक्षा कर लेते, जहाँ चाहें वहाँ सो जाते। इस प्रकार आप निःसङ्ग, स्वच्छन्द, एकाकी, परिग्रहहीन होकर मस्ती में विचरण करते रहे।

आपके तेजोमय मुखारविन्द से आकृष्ट हो कोई भक्त आपको अपने निवास पर ले जाता, भिक्षा कराता और भगवत् चर्चा सुनता। आप गंगा-स्नान कर प्रायः नित्य ही कुम्भमेला दर्शनार्थ निकल जाते। लाखों की संख्या में जनसमूह उमड़ रहा था। जहाँ-तहाँ विद्वानों के प्रवचन, कीर्तन की धूम मच रही थी। चारों सम्प्रदायों के सन्त-महन्तों के तम्बू-शामियाने लगे हुए थे। जगह-जगह अन्नक्षेत्र खुले हुए थे। कहीं-कहीं साधुओं की जमातें ठहरी हुई थीं, जिनमें बड़े-बड़े जटाधारी, नखाधारी, विभूतिचर्चित, मूँज की मेखला पहने हुए, धूनी रमाये हुए सन्त आसन लगाकर बैठे हुए थे। कई स्थानों पर संन्यासी महामण्डलेश्वरों के वेदान्त प्रवचन हो रहे थे। कहीं-कहीं कलिपावन अवतार गोस्वामी श्री तुलसीदासजी के रामचरितमानस का गान हो रहा था।

इस प्रकार आप कुम्भ मेले के दर्शन का आनन्द ले रहे थे कि एक ऐसी हृदय-विदारक घटना आपके समक्ष घटी, जिससे आपका मन अत्यन्त व्यथित हो गया। एकाएक कुम्भ-मेले में आग लग गई। तम्बू, शामियाने, पशु

तथा लोग जलने लगे। खड़े-खड़े लोगों के जलने का दृश्य आपने देखा। उनकी छटपटाहट देखी, उनकी करुण चीत्कार सुनी, जिससे आपको मर्माहत वेदना हुई। इस दुर्घटना का कारण यह था कि मेले में एक नागा साधु ने किसी हलवाई से आग माँगी। उसने देने से इनकार कर दिया। वह सिद्ध महात्मा थे। उन्होंने आग उठाकर अपने कपड़े में बाँध ली और चलते-चलते शाप दे दिया। इसी कारण मेले में आग लग गई थी, ऐसा श्री महाराजजी ने सुना। शान्ति-लाभार्थ आपने बदरीनारायण यात्रा का विचार कर लिया और एक कम्बल लेकर पाथेयहीन चल दिये।

उन दिनों बदरीनारायण-यात्रा अत्यन्त कठिन थी। बदरीनारायण जानेवाले तीर्थ-यात्री अपने जीवन की आशा छोड़कर ही यात्रा हेतु प्रस्थान करते थे। सुना है बहुत से यात्री तो अपना जीवित श्राद्ध करके ही जाते थे। जाते समय ग्रामवासी उन्हें गाजेबाजे और समारोह के साथ गाँव की सीमा तक पहुँचाने जाते थे। बहुत से यात्रियों की जीवनयात्रा तो मार्ग में ही समाप्त हो जाती थी। यदि कोई भाग्यशाली अपनी यात्रा निर्विघ्न सम्पन्न करके लौट आता था तो ग्रामवासी स्वागत के साथ उसे गाँव में लाते, कई दिनों तक कथा-कीर्तनादि से उत्सव मनाते, ब्रह्मभोज करते और उस व्यक्ति को देवता के समान पूजते थे।

काली कमली वाले बाबा की तरफ से बदरीनारायण जानेवाले यात्रियों के लिये मार्ग में चट्टियों पर सीधा-सामान (भोजन बनाने हेतु सामग्री) देने की व्यवस्था की हुई थी। सन्तों को हरिद्वार के कालीकमली आश्रम से चिट्ठी दी जाती थी। चिट्ठी दिखाकर उन्हें चट्टियों पर सीधा-सामान मिल जाता था। इस चिट्ठी को प्राप्त करने के लिए सौ रुपये वितरक को दिखाने पड़ते थे। यह बात महाराजजी को ज्ञात थी, किन्तु पैसा तो आप अपने पास संचय करते ही नहीं थे। अतः आपने बिना किसी व्यवस्था के ही भगवत् योगक्षेम पर निर्भर होकर जाने का विचार किया।

मार्ग में हिंसक पशु भी मिलते थे। इसलिये यात्री दस-पाँच के समूह में ही यात्रा करते थे; परन्तु श्री महाराजजी तो असंग ही थे। जाने के उपक्रम

में आप गंगा किनारे एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे। कुछ दूरी पर एक वृद्धा रसोई बना रही थी। उसका एक संन्यासी पुत्र भी उसके साथ था। वृद्धा की दृष्टि श्री महाराजजी पर पड़ी। जब उसे ज्ञात हुआ कि इनके पास सौ रुपये की धनराशि नहीं है, तो वह इनको आग्रहपूर्वक कालीकमली वाले आश्रम में ले गई और अपने पास के सौ रुपये दिखाकर श्री महाराजजी के लिये पर्चियाँ ले आई। उसने आपको आग्रहपूर्वक अपने हाथ से बनाकर भोजन भी कराया।

बदरिकाश्रम की यात्रा के लिये पर्वतारोहण प्रारम्भ हुआ। आपकी कठोर वैराग्य-पूर्ण तितिक्षा और प्रभापूर्ण मुखमण्डल से हठात् यात्रियों का मन आपकी ओर आकर्षित हो जाता। वे इन्हें बुलाकर या यदि एकान्त में कहीं आसीन हों तो वहाँ जाकर भिक्षा दे जाते अथवा स्वयं परोसकर भोजन करा देते। यदि कभी ऐसा संयोग नहीं हुआ तो आप निराहार ही यात्रा करते। दर्शन की उत्कण्ठा और साधन में संलग्नता के कारण आपको न तो अनाहार-जन्य शारीरिक शिथिलता ही हुई और न तीव्रगति से आरोहण करने पर श्रान्ति का अनुभव ही हुआ। **'योगक्षेमं वहाम्यहं'** के भगवदीय आश्वासन ने स्वयं आपके आहार-विहार की व्यवस्था की और कालीकमलीवाले की पर्चियों के उपयोग का अवसर ही नहीं मिला।

दस हजार फीट ऊँचे बदरीनाथ जी के उत्तुंग शैल शिखर की यात्रा आपने सात दिनों में सम्पन्न कर ली। स्फटिक-प्रभा, कल-कल-निनादिनी, शीतल-स्पर्शवती श्रीअलकनन्दा के तटवर्ती गगनचुम्बी हिमालय के हिमाच्छादित उत्तुंग शिखर पर अवस्थित श्री बदरीनाथ के आपने दर्शन किये। चतुर्दिक रजतगिरि की हिम-मण्डित शिखर-श्रेणियों के मध्य वहाँ के नीरव प्रशान्त सत्त्व-प्रधान वातावरण और श्री बदरीनाथ के दिव्य दर्शन से आपका चित्त आह्लाद-सिन्धु में निमग्न हो गया। आपने श्री बदरीविशाल के श्रीचरणों में एक रात्रि निवास किया। दूसरे दिन शीतल-तोया अलकनन्दा में स्नान तथा श्री बदरीनाथ के दर्शन कर आपने हरिद्वार के लिये प्रस्थान कर दिया और मात्र सात दिनों में ही वहाँ पहुँच गये। हरिद्वार से श्री बदरीनाथ की यह यात्रा आपने केवल पन्द्रह दिनों में ही सम्पन्न कर ली।

हरिद्वार पहुँचकर आपने गंगा किनारे एकान्त में एक-दो दिन वृक्ष-तले निवास कर पर्वतीय यात्रा की थकान दूर की। पुनश्च कुम्भ-मेले का दर्शन किया। इस बार आप श्री श्रवणनाथ महन्तजी के आश्रम में ठहर गये। यहाँ भी आप एक कुटिया में एकान्त में ही रहते थे और निरन्तर "ॐ कृष्ण" का जाप करते। आश्रम में ही भिक्षा कर लेते। श्रवणनाथ महन्तजी के अन्य शिष्य आश्रम की सेवा में रहते। श्री महाराजजी को भिक्षा लेकर एकान्त में रहते देख उन शिष्यों को ईर्ष्या होने लगी। एक दिन महन्तजी को उदरपीड़ा हो गई। दिनभर हो गया, दर्द किसी प्रकार शान्त नहीं हो रहा था। शिष्यों को मौका मिला और उन्होंने महन्तजी के पास जाकर कहा–"उन बालयोगी साधु से आप क्यों नहीं कहते ? वह सिर्फ खा-पीकर पड़े रहते हैं, कुछ काम नहीं करते।" यह सुनकर महन्तजी ने एक साधु को भेजकर महाराजजी को बुलवाया और अपनी उदर-पीड़ा की बात कही। महाराजजी ने कहा–"अच्छा, उपले की गरम राख मँगवा दो, मैं मन्त्रित कर देता हूँ।" राख मँगवाई गई। महाराजजी ने राख लेकर "ॐ कृष्ण" मन्त्र-जप के साथ महन्तजी के पेट पर चार-पाँच बार मली। महन्तजी का पेट दर्द ठीक हो गया। अब तो महन्तजी को महाराजजी पर श्रद्धा हो गई। उन्हें बड़े आदर से आश्रम में रखा। ईर्ष्यालु शिष्य लज्जित हो गये।

एक दिन कुछ व्रजवासी महन्तजी के आश्रम में पदगान कर रहे थे। आपका ध्यान सहसा उन व्रजवासियों की ओर गया, जो भाव-नृत्य करते हुए रसिया-गीतों से भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन कर रहे थे। रंग-बिरंगे बड़े-बड़े तिलक लगाये, अटपटी पगड़ियाँ बाँधे, कानों में फूलों के गुच्छे खोंसे, उछलते-कूदते हुए, नाच-नाच कर वे मस्त होकर व्रज के लोक-गीत रसिया गा रहे थे। इन भोले-भाले सहृदय व्रजवासियों को देखकर आपका मन एक अभूतपूर्व अवर्णनीय सरसता से परिपूरित हो गया। निर्मल जीवन, सांसारिक भावना-शून्य हृदय, भगवत्-दर्शन की उत्कट अभिलाषा से सर्वदा स्पन्दित मन तथा परमोच्च आध्यात्मिक स्थिति में अवस्थित, प्रेममूर्ति परमहंसदेव के वरद-हस्त से अनुगृहीत श्री महाराजी इस व्रज-रस की माधुरी

से आकृष्ट हुए बिना कैसे रहते ? सुना है कि निर्मल, सरस हृदय पर श्रीकृष्ण बलात् अपना अधिकार जमा लेते हैं। वह चितचोर प्रेमियों का चित्त हरण कर लेता है। वह मन-मोहन उनका मन हठात् आकर्षित कर लेता है– **कर्षतीति कृष्णः**, आकर्षण करना उसका स्वभाव ही है।

रसिया सुनते हुए कितना समय व्यतीत हुआ, इसका पता ही नहीं चला। तन्मय होकर श्री महाराजजी श्रवण करते रहे। गान समाप्त हुआ तब आपको बाह्य ज्ञान हुआ, परन्तु इस बाह्य सुधि ने श्रीधाम वृन्दावन जाने के लिये बैचेन कर दिया।

अब श्री महाराजजी का मन कुम्भ मेले में था ही नहीं। वह तो व्रज की वन-वीथियों में विचरण कर रहा था। बिना मन के तन कब तक कुम्भ मेले में रहता। पग सहज ही उस मग पर चल पड़े। आप कुम्भ मेले के महोत्सव को मध्य में ही छोड़कर हरिद्वार स्टेशन जा पहुँचे। देखा कि मथुरा जाने के लिये देहरादून एक्सप्रेस प्लेटफार्म पर खड़ी है। पास में किराये के लिये पैसे तो थे नहीं। बिना टिकिट लिये ही आप गाड़ी में बैठने को प्लेटफार्म पर पहुँच गये। एक टिकिट-चेकर की नजर आप पर पड़ी। उसने आपको गाड़ी में बैठने से रोक दिया। हृदय पर वज्राघात सा हुआ। मन व्याकुल हो उठा, प्राण रो पड़े, गहरी उदासी से मुखम्लान हो गया। पैर वापस लौटने में असमर्थ से थे। जैसे-तैसे आप मुसाफिर खाने में आये और बेचैनी से इधर-उधर टहलने लगे। मुसाफिर खाने में एक बेंच पर एक सिक्ख महाशय बैठे हुए थे। सहसा वे उठे और श्री महाराजजी के पास आकर पूछने लगे– क्या आप मथुरा जाना चाहते हैं ? श्री महाराजजी ने उदासीन भाव से सिर हिलाकर प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर दिया। उन्होंने आपके हाथ में मथुरा का टिकिट देते हुए कहा–"जाइए, गाड़ी के खुलने का समय हो गया है। मुझे मथुरा जाना था किन्तु याद आया कि एक आवश्यक कार्य आज ही करना है। इसलिये जा नहीं सकूँगा। जल्दी जाइए, गाड़ी छूटने वाली है।" श्री महाराजजी को मानो नव जीवन प्राप्त हुआ। आपकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं था।

अकस्मात् भगवदीय योगक्षेम की इस घटना पर आह्लाद पूर्ण आश्चर्य करते हुए श्री महाराजजी टिकिट लेकर भागे। सीटी बज चुकी थी। जैसे-तैसे आप गाड़ी में जा बैठे और ट्रेन रवाना हो गई। जाने की जल्दी में आप अपने उपकार-कर्ता सिक्ख महाशय को धन्यवाद भी नहीं दे सके।

गाड़ी में सुस्थिर बैठ जाने पर आप सहसा घटित इस विस्मयकारी संयोग पर विचार करने लगे। आप की बुद्धि विभिन्न ऊहापोहों से आन्दोलित हो उठी। इन बिन्दुओं पर पहुँचकर बुद्धि असहाय हो उठती थी कि यदि उस सिक्ख सरदार को टिकिट खरीदने के बाद ही किसी आवश्यक कार्य की स्मृति आई तो वह क्यों टिकिट लौटा कर अपने पैसे वापिस वसूल करने के बजाय मुसाफिर खाने की बेंच पर बैठकर अपना समय बर्बाद कर रहा था ? मैं अवश्य ही वृन्दावन जाने के लिये व्याकुल-चित्त था; किन्तु मैंने अपनी इच्छा किसी से व्यक्त तो की नहीं। फिर क्यों उसने मुसाफिरखाने के अन्य सभी व्यक्तियों को छोड़कर मुझे ही मथुरा का टिकिट सौंपा ? फिर क्यों उसने बार-बार गाड़ी छूट रही है, कहकर ऐसी हड़बड़ी मचाई कि मुझे उसको ठीक से देखने का और परिस्थिति को समझने का अवसर ही नहीं मिला। अन्ततोगत्वा बुद्धि इस निष्कर्ष पर पहुँची कि यह भी भगवान् द्वारा किया गया योगक्षेम ही था। श्रीकृष्ण ने इस प्रकार श्री महाराजजी को उस समय तो भुलावे में डाल दिया, परन्तु कालान्तर में अपनी उच्च आध्यात्मिक स्थिति में आपको ज्ञात हुआ कि धूर्त शिरोमणि प्रियतम ने ही सिक्ख-सरदार का रूप धारण कर मेरे वृन्दावन जाने का मार्ग प्रशस्त किया था। अनेक सन्तों के जीवन-वृत्त इस तथ्य के साक्षी हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं विविध रूपों में आकर अपने प्रेमी भक्तों का योग-क्षेम वहन करते हैं।

एक बार भी श्रीकृष्ण की लीलास्थली व्रजभूमि का स्पर्श जिसे हो जाता है, उस पर जाने-अनजाने में यह अपने आकर्षण का अमिट प्रभाव डाल ही देती है।

हरिद्वार से प्रस्थान कर दूसरे दिन रात्रि में श्री महाराजजी धन्याति-धन्या श्रीकृष्ण-जन्म-भूमि मथुरापुरी पहुँच गये। इस पावनपुरी को प्रणाम कर

आपने प्रातः विश्रामघाट पर यमुना-स्नान किया और श्री द्वारकाधीश के दर्शन कर पैदल ही वृन्दावन के लिये रवाना हो गये। मथुरा से श्रीधाम वृन्दावन केवल छह मील ही दूर है। कुछ देर में ही आप वृन्दावन आ पहुँचे और दिनभर वहाँ की गलियों में घूमते रहे। सहसा मन में उच्चाटन हुआ और यहाँ एक दिन रहकर ही आप पशुपतिनाथ के दर्शनार्थ नेपाल-यात्रा के लिये प्रस्तुत हो गये, परन्तु अनजाने में ही आपके हृदय में एक बीज अंकुरित हो ही गया। निस्सन्देह यह उच्चाटन आश्चर्य का विषय है। इसका अन्तर्निहित रहस्योद्भेद भविष्य में होगा। अभी तो पशुपतिनाथ के दर्शनों को प्रस्तुत हों।

अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी।
दिनमेकं निवासेन हरौ भक्तिः प्रजायते।।

नेपाल - यात्रा

आपने मथुरा स्टेशन से रेल द्वारा नेपाल जाने के लिये प्रस्थान किया। आप **एक एव चरेन्नित्यः निःसंग असहायवान्** के अनुसार एकाकी ही पर्यटन करते थे, किन्तु एक साधु अचानक आपके साथ हो लिया। इसमें आपकी सहज किन्तु निरपेक्ष स्वीकृति थी। मथुरा से नेपाल जाने के लिये एक-दो स्टेशनों पर गाड़ी बदलनी पड़ती थी और रेलपथ न होने से यात्रा का अन्तिम चरण पैदल अथवा अन्य वाहन-साधनों से पूरा करना पड़ता था। आपकी यात्रा प्रवर्तमान थी। वह स्टेशन आया, जहाँ गाड़ी बदलनी थी। आप उतरकर प्लेटफार्म पर बैठ गये। साधु भी आपके साथ था। इतने में एक गार्ड टहलता हुआ आया। आपका तेजोमय स्वरूप देखकर वह आकर्षित हुआ। उसने दण्डवत् प्रणाम कर याचना के स्वर में पूछा–"महाराज, कोई सेवा ?" आप का उत्तर था–"कुछ नहीं।" किन्तु वह अनुनय-विनय पूर्वक कुछ सेवा स्वीकार करने का आग्रह करने लगा। उसका विशेष आग्रह देखकर आपने दूर बैठे हुए साधुओं की ओर संकेत करते हुए कहा–"ये साधु भूखे दिखाई देते हैं। इनको कुछ खिला दो।" प्रसन्नता-पूर्वक उस गार्ड ने एक खोमचे वाले को बुलाकर साधुओं को आधा-आधा सेर पूरी और साग दिलवा दिया। स्वयं कुछ भी नहीं लिया। आप की इस स्वसुख-निरपेक्षता, दूसरों के सुख की कामना और त्याग से युक्त व्यवहार को देखकर गार्ड प्रभावित हुआ। यह जानकर कि श्री महाराजजी नेपाल-यात्रा के लिये जा रहे हैं, उसने आपके तथा साथ के साधु के लिये टिकिट की व्यवस्था कर दी।

इस प्रकार मार्गातिक्रमण करते हुए श्री महाराजजी सीतामढ़ी ग्राम पहुँचे। यहाँ अर्जुनदास नामक एक धनी-मानी भावुक भक्त सेठ रहता था। जो भी संत उस गाँव में आते उनकी वह यथा शक्ति सेवा करता था। वह श्री महाराजजी के दर्शन के लिये आया और आपके सहज संत-स्वरूप तथा सत्संग-प्रवचनों से प्रभावित हुआ। अत्यन्त आग्रहपूर्वक वह श्री महाराजजी को अपने घर ले गया और वहीं पर कुछ दिनों तक श्रद्धा-सहित सेवा-शुश्रूषा

की। श्री महाराजजी के प्रति अर्जुनदास की ऐसी श्रद्धा और ऐसा सेवा-सत्कार साथ रहने वाले साधु को सह्य नहीं हुआ।

सत्संग-प्रवचन तो होता ही रहता था। कभी-कभी विनोद-वार्ता और व्यवहार-चर्चा भी हो जाती थी। एक दिन सहज भाव से सेठजी ने अनाज की समस्या तथा कंट्रोल की चर्चा छेड़ दी। श्री महाराजजी ने सहानुभूति व्यक्त करने की दृष्टि से विनोद-पूर्वक कहा–"कंट्रोल का जमाना है। आपने तो अपने लिये यथेष्ट अनाज का संग्रह कर लिया होगा ?" इसी प्रकार की बातें थोड़ी देर तक होती रहीं। श्री महाराजजी ने दूसरे दिन जाने का प्रस्ताव रखा। सेठ और सेठानी ने पारस्परिक एकान्त वार्ता में यह निश्चित किया कि श्री महाराजजी की सेवा के निमित्त दो सौ रुपये, वस्त्र और पात्र का प्रबन्ध करना चाहिये। उस साधु ने सेठ और सेठानी की यह एकान्तिक वार्ता सुन ली। श्री महाराजजी का ऐसा सत्कार उसको सहन नहीं हुआ। उसने एक उपाय ढूँढ निकाला। प्रातःकाल उठते ही वह सेठजी के पास गया और कहने लगा–"अजी सेठजी, आप भी बड़े भोले हैं। किसके बहकावे में आ रहे हैं ? यह महात्मा तो खुफिया है। आपका भेद ले रहा है। नहीं तो महात्मा को क्या जरूरत थी यह पूछने की कि अनाज रखा है या नहीं, कण्ट्रोल का जमाना है, क्या भाव है ? ये कहीं आपको पकड़वा न दें। सावधान रहियेगा।" इस प्रकार उसने सेठजी के खूब कान भर दिये। सेठ प्रायः भीरु और कान के कच्चे होते हैं। बस, सेठजी के कान खड़े हो गये। उस साधु की बातों पर उन्हें पूरा विश्वास हो गया। अब सेवा-सत्कार कहाँ होना था ? सेठजी ने अन्यमनस्क होकर उपेक्षापूर्वक भिक्षा कराई और बिदाई का उपक्रम किया। यह परिवर्तन देखकर श्री महाराजजी को बड़ा आश्चर्य हुआ। कल तक इतनी भावुकता से सेवा करने वाले सेठजी में आज यह अचानक परिवर्तन कैसे हो गया ! कुछ विचार करने के बाद आपने यह अनुमान लगा लिया कि इस परिवर्तन में यह साधु ही कारण है। बातों-बातों में आपने सेठजी से यह बात जान भी ली। किन्तु आपने साधु से कुछ भी नहीं कहा और प्रसन्न-चित्त आगे की यात्रा के लिये रवाना हो गये।

अब आपने निःसंग विचरण करना ही उचित समझा। किसी बहाने से उस साधु का संग छोड़कर एकाकी ही विचरण करने लगे। आगे चलकर आप एक गाँव में पहुँचे। तीन दिनों से आपने कुछ खाया नहीं था। बड़ी जोर की भूख लगी हुई थी। वहाँ श्री रामानन्द-सम्प्रदाय के एक स्थान पर किसी उत्सव के उपलक्ष्य में साधुओं का भण्डारा हो रहा था। आप भिक्षा-प्राप्ति के उद्देश्य से वहाँ गये। द्वार पर महन्तजी खड़े थे। उन्होंने पूछा– "आप किस सम्प्रदाय के हैं ? कौन सा अखाड़ा है ? कौन सा द्वारा है ?" आपने सहज विनोदमयी भाषा में उत्तर दिया–"मुख द्वारा है और पेट अखाड़ा है। तीन दिनों से कुछ खाया नहीं। बड़ी भूख लग रही है। भिक्षा चाहिए।" आपके उत्तर से महन्तजी क्रोधित हो उठे। धक्का देकर बाहर किया और दरवाजा बन्द कर लिया। बन्द करते ही अचानक दरवाजे की विशाल पक्की ऊँची दीवाल धड़ाम से जा गिरी। प्रारब्धवशात् महन्तजी बच गये। इस आकस्मिक घटना से महन्तजी अचम्भे में पड़ गये। वे समझ गये कि आगन्तुक कोई सिद्ध महात्मा हैं, जिनके प्रति अपराध संघटित होने के कारण यह दुर्घटना हुई। किन्तु जब तक यह बात उनकी समझ में आयी, श्री महाराजजी काफी दूर निकल गये थे। महन्तजी पीछे-पीछे दौड़े और अनुताप के स्वरों में कहने लगे–"महात्माजी, महात्माजी, ठहरिये। मेरे अपराध को क्षमा कीजिये। प्रसाद पाने चलिये।" मानापमानयोस्तुल्यः श्री महाराजजी लौट आये। महन्तजी ने बड़े ही आदर से आपको भोजन कराया। बिदा लेकर आगे चल पड़े और कुछ ही दिनों में नेपाल पहुँच गये।

हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखरों के पार्श्व में बसा नेपाल एक स्वतंत्र राष्ट्र है। द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में परिगणित श्रीपशुपतिनाथ इस राष्ट्र के उपास्य देव हैं। शिवरात्रि के पर्व पर सहस्राधिक भक्त-गण एवं संत-समुदाय भारत से दर्शनार्थ वहाँ पहुँचते हैं। यदि कोई उच्च कोटि का महात्मा आता है तो ज्ञात होने पर राणा-परिवार उनका सेवा-सत्कार करता है।

श्री महाराजजी ने काठमाण्डु पहुँच कर श्रीपशुपतिनाथजी के दर्शन किये और नगर में भिक्षा कर एकान्त स्थान में विश्राम किया। जब तक

काठमाण्डु में रहे आप श्रीपशुपतिनाथ के दर्शन को प्रायः जाते थे। आपके ओजस्वी व्यक्तित्व और विरक्ति से आकर्षित भक्त-समाज आपके पास आता और आपके सत्संग-प्रवचनों को सुनकर मंत्र-मुग्ध हो जाता।

नेपाल की राजधानी काठमाण्डु तो शिवपुरी है। यहाँ प्रायः शिवनाम की ध्वनि और शिवचर्चा ही सुनने को मिलती है। एक दिन श्री महाराजजी एक प्रसिद्ध श्रीकृष्ण-मन्दिर के परिपार्श्व में बैठे हुए थे। कुछ भक्त-गण भी उपस्थित थे। मन्दिर से आरती की ध्वनि सुनाई पड़ी। वहाँ कुछ वैष्णव विद्यार्थी भी बैठे थे। मधुर ललित स्वर गूँज रहे थे–'श्रित-कमलाकुच-मण्डल ए, जय जय देव हरे'। श्री महाराजजी के श्रवणों में स्वर-लहरियों ने प्रवेश किया–श्रुति-पथ से भगवान् का अन्तरात्मा में निवेश हुआ; बहुत दिनों के पश्चात् मधुर कृष्णनाम सुनने को मिला था। श्री महाराजजी को भावावेश हो गया। रोमाञ्च, अश्रु, कम्प और वैवर्ण्य आपके शरीर में लक्षित हुए। कुछ देर तक यह भाव बना रहा। काठमाण्डु के प्रवास-काल में आप नित्य उस कोमल-कान्त आरती-गीत के श्रवण के लिये श्रीकृष्ण-मन्दिर जाते थे।

कुछ काल पश्चात् श्री महाराजजी की ख्याति कमांडिंग जनरल हिज ऑनर सर मोहन शमशेर जङ्ग बहादुर राणा के कानों तक पहुँची। ये तथा इनका परिवार भक्त-हृदय था। अपनी पत्नी के साथ राणा आये। कुछ प्रश्न करने पर सहज रूप से सत्संग-चर्चा चल पड़ी। बड़ी उत्कण्ठा से वे दोनों सुनते रहे। उस सत्सङ्ग का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा। दूसरे दिन वे स्वयं आये और श्री महाराजजीको श्रद्धापूर्वक राजमहल-परिसर में निर्मित अपने आवास में ले गये। श्री महाराजजी को उस दिन उनका आतिथ्य स्वीकार करना पड़ा। भोजन-वस्त्र आदि विविध उपचारों से राणा-परिवार ने आपकी अर्चना की। जबतक आप काठमाण्डु में रहे रानी की पत्नी एक-दो दिन के अन्तराल से आपके दर्शन को आतीं, सत्संग-लाभ करतीं तथा फल-फूल और द्रव्य आदि अर्पित कर सेवा करतीं। उन भावुक हृदय रानी को आप मना तो नहीं करते थे, किन्तु उनके जाते ही अर्पित वस्तुएँ साधु-संतों में वितरित कर देते; अपने पास कुछ भी नहीं रखते। निर्द्वन्द्व भाव से आप रात्रि में पद-गान

करते रहते। इस प्रकार आप कुछ दिन नेपाल में रहे। फिर आपका मन चलने को हुआ। आपके जाने का समाचार सुनकर रानी आपके दर्शन के लिये आईं और उन्होंने एक अञ्जुली भर सुवर्ण मुद्रायें श्री महाराजजी को अर्पित कीं। आपने वे मुद्रायें वहीं वितरित कर दीं और पैदल ही सीसागढ़ी और चन्द्रागढ़ी की यात्रा की।

कैलाश यात्रा

नेपाल-यात्रा सम्पन्न कर श्री महाराजजी सीधे मथुरा आये। यहाँ यमुना-स्नान एवं द्वारकाधीशजी के दर्शन कर मध्याह्न-भिक्षा की। फिर यमुना-तट पर विश्राम किया। संध्या की ट्रेन से आप श्रीधाम वृन्दावन आये। वृन्दावन स्टेशन पर ही आपने विश्राम किया। सुबह होते ही पता नहीं आपके मन में क्या विचार आया कि स्टेशन से ही रेल द्वारा मथुरा चले गये। मथुरा पहुँचने पर आपके मन में कैलाश यात्रा की इच्छा हुई। आप जैसे खड़े थे वैसे ही चल पड़े और बिना टिकिट लिये रेल में बैठकर कैलाश के लिये प्रस्थान कर दिया। जहाँ ट्रेन की सुविधा नहीं थी, वहाँ पैदल ही चलकर यात्रा की। सांसारिक वैराग्य और भगवद्-अनुराग की मादकता से आप इतने अभिभूत थे कि भूख-प्यास, मार्ग-श्रम अथवा अन्य किसी प्रकार के कष्ट का कभी अनुभव नहीं हुआ तथा आप उस स्थान पर पहुँच गये जहाँ से कैलाश के लिये पर्वतारोहण करना पड़ता है। यह अति दुर्गम पथ है। अब तो मार्ग-सुधार हो गया है और कहीं-कहीं खाद्यान्न की सुविधा भी हो गई है, किन्तु पचास वर्ष पूर्व यात्रा असाध्य सी थी। इस पर भी आप सामान्य पथ का अनुगमन न कर शीघ्र ही इष्ट गन्तव्य पहुँचने की इच्छा से वन्य पगडंडी पर चल पड़े। पास में एक कम्बल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। भयंकर शीत था। बर्फ तो बराबर गिर रही थी। आप अपनी तेज चाल से चले जा रहे थे। मार्ग में किसी मनुष्य के मिलने की तो कोई सम्भावना थी ही नहीं; किन्तु अपनी धुन में मस्त आपको वन्य हिंसक पशुओं की आशंका भी नहीं हुई। आपको वहाँ के जंगली लोगों की भयंकर क्रूर वृत्ति का पता ही नहीं था।

चलते-चलते संध्या हो गई। सामने कोई ग्राम दिखाई नहीं दे रहा था। उस जंगली पगडण्डी से इतनी दूर निकल आए थे कि वापिस लौटना भी सम्भव नहीं था। संध्या रात्रि का रूप धारण करती जा रही थी। शीत का प्रकोप भयङ्कर था। किन्तु आपके मन में न तो कोई भय हुआ और न किसी प्रकार का संत्रास ही। रात बिताने के लक्ष्य से भगवत्-स्मरण करते हुए आप एक वृक्ष के नीचे जा बैठे।

कुछ ही क्षण बीते होंगे कि आपने एक जंगली जानवर पर बैठा हुआ जंगली व्यक्ति सामने से आता हुआ देखा। उस व्यक्ति की दृष्टि भी आप पर पड़ी। वह श्री महाराजजी के पास आकर खड़ा हो गया। आपको उससे तनिक भी भय नहीं लगा। उस जंगली व्यक्ति ने अपनी ही भाषा में कुछ पूछा। भाषा न समझने पर भी उसके हाव-भाव से ज्ञात हुआ कि वह पूछ रहा है–"यहाँ क्यों आये हो ?" आपने भी संकेत से उसे उत्तर दिया–जाड़े से हाथ- पाँव जकड़ गये थे। बैठने पर उठना भी कठिन हो रहा था। वह व्यक्ति अपने जानवर से उतरा और श्री महाराजजी से जानवर पर बैठने के लिये संकेत किया। आप किसी प्रकार उठे और निस्संकोच उस जानवर पर बैठ गये।

तिब्बत की कुछ जंगली प्रजातियाँ नरभक्षी होती हैं; कहीं यह जंगली मुझे इसी प्रयोजन के लिये तो नहीं ले जा रहा है ? ऐसी आशंका की एक क्षीण रेखा आपके मन में उठी और सद्यः विलीन हो गई। आप निर्भय ही रहे। जानवर की रस्सी पकड़े वह आगे-आगे चल रहा था। करीब एक डेढ़ मील ही चले होंगे कि वह अपनी झोंपड़ी के पास आ गया। उसमें एक छोटा सा दीपक टिमटिमा रहा था। उसने श्री महाराजजी को उतरने का इशारा किया। पुनः उसने अपनी भाषा में कुछ कहा। सुनकर झोंपड़ी से उसके स्त्री-बच्चे बाहर निकल आये। उस स्त्री ने जल्दी से आग जलाई और श्री महाराजजी को आग के पास बैठने का इशारा किया। ठंड से आपके हाथ-पैर बहुत जकड़ गये थे। धीरे से सरकते हुए आप आग के पास जा बैठे और हाथ-पाँव सेकने लगे। सेकने से आपको कुछ चैन आया; शीत का

निवारण हुआ। उस व्यक्ति ने चमड़े के दो टुकड़े दोनों हाथों में लेकर आग पर गरम किये और उनसे श्री महाराजजी के अंगों को सेकने लगा। बिना दूध-चीनी की नमकीन चाय बनाकर रात में दो-तीन बार आपको पिलाई। प्रातःकाल तक आपके शीत-कष्ट का निवारण पूर्णतया हो गया था।

सूर्योदय के बाद उस जंगली व्यक्ति ने फिर अपना जानवर तैयार किया और श्री महाराजजी को उस पर बैठाकर, कुछ मील ले जाकर एक रास्ते पर उतार दिया। उसने इशारे से कहा–"इस रास्ते चले जाओ। फिर कभी इधर मत आना। यहाँ आदमी को जंगली लोग मारकर खा जाते हैं।" ऐसा संकेत करते हुए वह अपने जानवर पर बैठकर दूसरी दिशा में चलता बना। कुछ ही दूर चलने पर श्री महाराजजी आम रास्ते पर पहुँच गये। यहाँ से बस्ती पास ही थी। आप पर्वत से नीचे उतर आये। अपनी कैलाश-यात्रा बीच में ही अधूरी छोड़कर वहाँ से आप घूमते हुए पुनः वृन्दावन आ गये। भगवान् अपने भक्तों का योग-क्षेम किस प्रकार वहन करते हैं, कैलाश-यात्रा में भी इसका प्रमाण मिला। श्रीधाम वृन्दावन में आपका यह तीसरी बार आगमन था।

दीक्षा, रास-रुचि तथा व्रज-भ्रमण

इस बार श्रीधाम वृन्दावन में श्री महाराजजी का दीर्घकालीन निवास हुआ। प्रारम्भं में तो आप भजन करते हुए इतस्ततः विचरण करते रहते थे। क्रमशः आपके मन में श्रीमद्‌भागवत का अध्ययन करने की इच्छा हुई। अतः आप ऐसे रस-मर्मज्ञ विद्वान् भक्त का अन्वेषण करने लगे, जो भागवत में आपका अभिनिवेश करा सके। पूछने पर पता लगा कि इस समय वृन्दावन में श्रीहरिदेव मन्दिर के महंत श्रीरामानुजाचार्यजी श्रीमद्‌भागवत के अद्वितीय ज्ञाता एवं वक्ता हैं। आचार्य श्रीसम्प्रदाय में आद्य श्रीरामानुजाचार्य की परम्परा में दीक्षित थे। उच्चकोटि के ब्रह्मनिष्ठ, विद्वान्, सिद्ध सन्त उड़िया बाबा के आश्रम में इन आचार्यजी का बहुत सम्मान था। वहाँ आप श्रीमद्‌भागवत की कथा प्रायः कहते ही रहते थे।

अतः श्रीमद्‌भागवत पठन के लक्ष्य से आप आचार्य श्रीरामानुजाचार्य जी के पास आये। किन्तु बिना दीक्षा दिये आचार्यजी ने श्रीमद्‌भागवत को पढ़ाना अस्वीकार कर दिया। हम लिख चुके हैं कि श्री सम्प्रदाय और विशिष्टाद्वैत परम्परा के पुनः प्रवर्तक शेषावतार आद्याचार्य श्रीरामानुज के वंश और साक्षात् शिष्य-परम्परा के कुल में श्री महाराजजी का जन्म हुआ था। आपका श्री वेंकटाद्रि आम्नाय से सम्बन्ध था। किन्तु आपने अपनी कुल-परम्परा तथा आम्नाय का परिचय श्री हरिदेव मन्दिर के महंत त्रिदण्डी स्वामी श्रीरामानुजाचार्यजी को नहीं दिया। कुशाग्र बुद्धि, आंग्लभाषा-प्रवीणता, त्याग और विरक्ति के गुणों को देखकर आचार्यजी ने सहर्ष दीक्षा देकर आपको अपने आश्रम में ही रख लिया। वहाँ कुछ काल रहकर आप श्रीमद्‌भागवत का अध्ययन करते रहे। साथ ही आपने लघुसिद्धान्त-कौमुदी भी पढ़ी।

महन्त श्रीरामानुजाचार्य के एक कमलनयन नामक शिष्य थे, जो श्रीहरिदेव मंदिर में अवस्थित आश्रम में रहा करते थे। वे सरल स्वभाव, सरस हृदय और श्री महाराजजी के समवयस्क थे। श्री-सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर भी उनका अनुराग वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण में था। वे अपना अधिकांश

समय मानसिक अष्टयाम सेवा में लगाते थे। जब तक जीवित रहे वे व्रज के बाहर नहीं गये; साधारणतः श्रीधाम में ही रहते थे–कभी मन करने पर व्रज में ही भ्रमण कर आते। श्री महाराजजी से उनका परिचय हुआ और शनैः-शनैः वे घनिष्ठ मित्र बन गये।

इस समय तक श्री महाराजजी भगवान् श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य स्वरूप श्रीबालाजी के उपासक थे, किन्तु इनका मन श्रीकृष्ण के माधुर्य स्वरूप के लीला-चिन्तन से स्वभावतया आकर्षित होता था। श्री कमलनयनजी आपको कभी-कभी आग्रह पूर्वक रास-लीला में ले जाते थे, पर रास में आपकी कोई अभिरुचि नहीं थी। आपकी धारणा थी कि किशोर बालक-बालिकाएँ एक साथ सम्मिलित होकर रास में प्रवृत्त होते हैं। एक दिन उन्होंने यह प्रश्न पूछ ही लिया–"रास-लीला में किशोरी बालिकाओं को समाज के सामने क्यों नचाते हैं ? इनके नचाने से समाज पर दुष्प्रभाव पड़ेगा।" श्री कमलनयनजी ने अट्टहास किया और बताया कि इन लीला-स्वरूपों में कोई बालिका नहीं है। ये सब ब्रजवासी ब्राह्मणों के बालक हैं। यह रास-लीला का अनुकरण सैंकड़ों वर्षों से चल रहा है। इसके दर्शन से रसिक-भक्तों को अलौकिक अनुभूतियाँ होती हैं। स्वरूप धारण करने पर कभी-कभी बालकों को दिव्य आवेश हो जाता है। ऐसे कई चमत्कार घटित हुए हैं।

कमलनयनजी के इस प्रकार समझाने पर रास-लीला के प्रति आपकी रुचि जाग्रत हुई और आप उनके साथ नित्य ही रास में जाने लगे। धीरे-धीरे रास-लीला-दर्शन में आपकी यह अभिरुचि इतनी बढ़ी कि उसमें अपार आनन्द की अनुभूति होने लगी। अब तो बिना रास देखे आप से रहा ही नहीं जाता था। जहाँ भी रास-लीला होती, आप कमलनयनजी के साथ चले जाते। कुछ काल के पश्चात् रास-लीला-दर्शन से आपको प्रेमोदय तथा सात्त्विक भावों का जागरण होने लगा। कभी-कभी तो आप एक दिन में तीन बार रास-लीला-दर्शन करते और उसके आनन्द-सम्प्लव में लीन हो जाने से खाने-पीने की भी सुधि नहीं रहती।

उन दिनों प्रतिदिन प्रातःकाल वंशीवट पर स्वामी श्री दामोदरजी की मण्डली के द्वारा और रात्रि में ब्रह्मचारी मन्दिर के नाम से ख्यात ग्वालियर मन्दिर में स्वामी श्री प्रियाशरणजी की मण्डली द्वारा रास-लीला हुआ करती थी। कमलनयनजी के साथ आप दोनों ही स्थानों पर जाकर लीला-दर्शन करते। साथ ही मथुरा में द्वारिकाधीश मन्दिर में प्रत्येक एकादशी को रास-लीला का संयोजन होता था। वहाँ भी पैदल जाकर लीला का आनन्द प्राप्त करते और प्रातःकाल श्रीधाम वापिस आ जाते। लीला-दर्शन का ऐसा गहरा नशा था कि मार्गशीर्ष मास में श्री राधावल्लभजी के घेरे में अवस्थित कलकत्ताबाड़ी नाम से प्रसिद्ध राधाजीवन-मन्दिर में रात नौ बजे से बारह बजे तक रासलीला देखते। यहाँ शीत-प्रकोप के कारण वास्तविक रास-प्रेमी ही लीला-दर्शन के लिये आते थे, अतः शान्तिमय वातावरण में सुन्दर लीला संयोजित हुआ करती थी। इन लीला-आयोजनों में श्री कमलनयनजी के साथ श्री महाराजजी उपस्थित होते थे। श्री कमलनयनजी का शरीर शान्त होने पर आपका यह क्रम एकाकी रूप में चलता रहा।

कमलनयनजी की अष्टयाम सेवा-साधना में अच्छी स्थिति थी। उनके संग से श्री महाराजजी भी अष्टयाम सेवा-चिन्तन करने लगे। अध्ययन से आपको अरुचि हो गई। स्थान का बन्धन भी साधना में अन्तराय उपस्थित करने लगा। अतः आप श्रीहरिदेवजी का मन्दिर छोड़कर स्वतंत्र रूप से रंगजी के बगीचे में बुर्ज के नीचे एक छोटी सी एकान्त कुटिया में रहने लगे। अतः इस समय आप किसी क्षेत्र से भिक्षा कर लेते। अधिकांश समय आपका रास-लीला-दर्शन, अष्टयाम सेवा-चिन्तन तथा नाम-जप में व्यतीत होता था। पता नहीं कब और कैसे आपके जाप्य मंत्र 'ॐ कृष्ण' के स्थान पर महामंत्र का जप होने लगा–'हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे, हरे कृष्ण हरेकृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे' की नामध्वनि से आपको आनन्दानुभूति होने लगी। हो सकता है कि मंत्र परिवर्तन में गौड़ीय सन्तों के सम्पर्क का अथवा 'चैतन्य-चरित' के अध्ययन का प्रभाव कारण बना हो। इस मंत्र के जप से आपका मन व्याकुल हो जाता, आँसू बहने लगते और रोमाञ्च हो जाता। साथ ही

लीला-चिन्तन होता रहता। शनैः-शनैः लीला- चिन्तन में निरन्तरता आने लगी और स्वच्छन्द रूप से विविध प्रकार की लीलायें दिन रात विभिन्न समयों पर मानस-पटल पर स्फुरित होने लगीं। परिणाम-स्वरूप अष्टयाम सेवा-पद्धति की काल-बद्ध, सीमित और एक विशिष्ट भाव की लीला-भूमिका से आपकी परितृप्ति नहीं होती थी।

आचार्यों ने विविध सम्प्रदायों में विभिन्न प्रकारों से अष्टयाम सेवा-चिन्तन की प्रणालियाँ निर्धारित की हैं। इनमें मञ्जरी-स्वरूप से आठ पहरों में उपदिष्ट पद्धति से विहित आठ लीलाओं का चिन्तन और तदनुकूल सेवा-विधान की साधना निर्धारित है। किन्तु श्री महाराजजी के मन में अब स्वच्छन्द लीला-स्रोत का प्रवाह कल्लोलित हो रहा था।

इस लीला-चिन्तन ने आपकी आन्तरिक आकुलता और भी तीव्र कर दी। अब आप प्रत्यक्ष लीला-दर्शन के लिये आतुर हो गये। आपका चित्त इस उत्कट आकांक्षा से अनवरत स्पन्दित हो रहा था कि प्रत्यक्ष-दर्शन कैसे हो?

एक बार श्रीहरिदेवमन्दिर के महंत श्रीरामानुजाचार्य की संनिधि में सम्प्रदाय के विद्वानों के समक्ष आपने यह प्रश्न रखा कि 'क्या कलियुग में भी श्रीकृष्ण का प्रत्यक्ष-दर्शन होता है ?' विद्वानों ने इस विषय पर अपने विचार प्रस्तुत किये। सब ने यही प्रतिपादन किया कि 'इस घोर कलियुग में भगवान् का स्वप्न-दर्शन तो हो सकता है, मानस में ध्यान-गत दर्शन भी हो जाता है किन्तु प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता है।'

प्रत्यक्ष दर्शन के लिये व्याकुल, लालायित साधक के हृदय पर इस उत्तर से वज्राघात हुआ। आपको ऐसे उत्तर की कल्पना भी नहीं थी। सुनते ही आपकी दशा विचित्र हो गई। आप स्तम्भित हो गये और अवाक् रह गये। सभा से चुपचाप उठकर अपनी कुटिया में चले आये और द्वार बन्द करके जोर-जोर से रोने लगे। बिना खाये-पिये तीन दिन तक आप रोते रहे। यह बात कमलनयनजी ने जाकर आचार्य श्रीरामानुजस्वामी से कही। उन्होंने श्री महाराजजी को बुलवाया और अपने पास बैठाकर प्यार से सिर तथा पीठ

पर हाथ फेरते हुए कहा—"ऐसा रोना यदि सतत हो तो प्रत्यक्ष दर्शन अवश्य हो सकता है। इसी प्रकार के अगाध विरह की वेदना में मेवाड़ की राजरानी श्रीमीरा को इसी कलियुग में भगवान् श्रीकृष्ण का प्रत्यक्ष-दर्शन हुआ था। ऐसे विरही को अभी भी प्रत्यक्ष-दर्शन हो सकता है।" ऐसा सुनकर आपको परम सन्तोष हुआ। अखण्ड नामस्मरण करते हुए, भगवत् दर्शन की लालसा से व्याकुल होकर उस मङ्गल-दिवस की आप उत्कण्ठित रूप से प्रतीक्षा करने लगे।

इसी समय एक सिद्ध संत की कृपा आप पर हुई। एक बार कमल नयनजी को बड़े जोरों से सर्दी-जुकाम हो गया और बुखार आने लगा। तीन दिन हो गये किन्तु बुखार अथवा जुकाम कम नहीं हुआ। दोनों ही परम विरक्त थे; पास में एक भी पैसा नहीं था कि उपचार की व्यवस्था करते। वैसे भी दोनों ही शरीर के प्रति निरपेक्ष रहते थे। परन्तु कष्ट जब अधिक होने लगा तो श्री महाराजजी ने सोचा कि कहीं से थोड़ी सी काली मिर्च और मिश्री लाई जाय, जिससे तुलसी का काढ़ा बनाकर कमलनयनजी को दिया जाय। ऐसा सोचकर आप बगीचे से बाहर निकले। प्यास लग रही थी, इसलिये साथ में लोटा-डोर ले ली कि बाहर कोने पर जो कुआँ है, उससे पानी खींचकर पी लेंगे। कुएँ पर आकर आप डोलची से पानी खींचने लगे। इतनें में एक वृद्ध महात्मा आये। वे मलिन वस्त्र धारण किये हुए थे। केश की लटायें बँधी हुईं थीं। कुएँ के पास आकर वे महाराजजी से पानी माँगने लगे, कहा—"मैं प्यासा हूँ। मुझे पानी पिलाओ।" वृद्ध महात्मा के मलिन वस्त्रों को देखकर श्री महाराजजी का शौचाचार संस्कारों से अभिभूत मन अपनी डोलची से उनको पानी पिलाने में हिचकिचाने लगा। महात्माजी सहसा शुद्ध परिमार्जित संस्कृत भाषा में बोलने लगे। उनकी ओजपूर्ण संस्कृत गिरा सुनकर श्री महाराजजी बहुत प्रभावित हुए तथा अपने व्यवहार से संकुचित भी हुए। आपने अपनी डोलची से महात्माजी को पानी पिलाया। महात्माजी पूरी डोलची पानी पी गये। फिर उन्होंने पूछा—"तुम्हें क्या चाहिए ?" श्री महाराजजी तो कमल-नयनजी के उपचार की चिन्ता में व्यग्र थे। इसलिये झट से कह दिया—"काली मिर्च और मिश्री।" सुनकर महात्मा'जी मुस्कराये। अँगुली से जमीन

थोड़ी कुरेद कर काली मिर्च के कुछ बड़े-बड़े दाने और ऐसे दो पैसे निकालकर श्री महाराजजी के हाथ पर रख दिये, जो इतने नये थे कि मानो अभी-अभी टकसाल से बनकर आये हों। यह देखकर आपको बड़ा आश्चर्य हुआ। महात्माजी ने फिर पूछा–"और कुछ?" आप का उत्तर था–"कुछ नहीं।" महात्माजी ने करुणापूरित नयनों से देखा और कहा कि "तुमने तो कुछ माँगा ही नहीं।" आपको तो कमलनयनजी के स्वास्थ्य की चिन्ता थी, अतः आप तुरन्त मिश्री लाने के लिये चल दिये। उधर महात्माजी देखते-देखते ही चार सम्प्रदाय आश्रम की ओर जाने वाले मार्ग से चले गये।

श्री महाराजजी काली मिर्च और मिश्री लेकर जल्दी से वापिस आये। कमलनयनजी की इस जिज्ञासा के उत्तर में कि मिश्री कहाँ से मिली, श्री महाराजजी ने उन्हें सम्पूर्ण घटना सुना दी। इस अद्‌भुत घटना को सुनते ही कमलनयनजी एकदम उठकर बैठ गये और बोले–"आपने यह क्या किया? आप चूक गये। वे तो कोई सिद्ध महात्मा थे। आपने हाथ में आई हुई निधि खो दी।" यह कहते हुए वे उसी क्षण खड़े हो गये और अपनी बीमारी हालत को भूलकर श्री महाराजजी से कहा–"जल्दी चलिए। बताइए वे किस तरफ गये हैं?" दोनों भागते हुए बगीचे के बाहर आये और उस रास्ते की तरफ दौड़े, जहाँ से महात्माजी गये थे। सर्वत्र खोजा। परन्तु उन महात्माजी का कहीं भी पता नहीं चला। दोनों निराश होकर बगीचे में लौट आये। कमलनयनजी ने अनुताप के स्वरों में कहा, "बहुत बड़ा अवसर हाथ से निकल गया। आज आप जो कुछ भी उनसे माँग लेते, मिल जाता।" अनेक दिनों तक वे महात्माजी की खोज में रहे किन्तु उनका कुछ भी पता नहीं चला। श्री महाराजजी कहते थे कि साधना-क्रम में उच्च स्थिति प्राप्त होने पर मुझे ज्ञात हुआ कि मेरे न माँगने पर भी उन्हें मुझ पर जो कृपा करनी थी, उसे वे कर ही गये थे।

कमलनयनजी का महाप्रयाण

कमलनयनजी और श्री महाराजजी का परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध था। दोनों ही परम विरक्त थे। दोनों में ही प्रगाढ़ भगवत्-अनुरक्ति थी। दोनों ही साधना में कटिबद्ध थे। दोनों की उपासना में सादृश्य था। दोनों का पारस्परिक हार्दिक सम्बन्ध था। दोनों प्रायः एक ही साथ रहा करते थे, किन्तु एकान्त भजन करने के उद्‌देश्य से वे व्रजमण्डल के पृथक्-पृथक् स्थानों पर चले भी जाते और दोनों को एक दूसरे के भजनस्थल का पता भी नहीं होता, तो भी किसी एक को दूसरे की स्मृति जाग्रत होने पर उनकी अकस्मात् और अनायास भेंट हो जाती थी। वे इस प्रकार के अचानक मिलन से आश्चर्य में पड़ जाते। श्री वृन्दावन धाम में तो वे साथ ही रहते और विचरण करते। वृन्दावन-वासी परिचित भक्तजन उनको 'जुगल जोड़ी' के नाम से पुकारते। इस प्रकार कमलनयनजी का और आपका साथ तीन साल तक रहा।

एक बार श्री महाराजजी ने व्रजमण्डल में गेंदोखर नाम के ग्राम में खेत के किनारे एक झोंपड़ी बनाकर एकाकी रहकर एकान्त में भजन करना प्रारम्भ किया। भजन करते हुए करीब चार माह हुए थे कि किसी व्यक्ति ने आकर आपको सूचना दी कि श्रीरंगजी के बगीचे में कुछ दिन अस्वस्थ रहकर कमलनयनजी पाँच दिन पूर्व परलोकवासी हो गये हैं। इस दुःखद वार्ता को सुनकर आपका हृदय भर आया। आपने उसी क्षण पैदल ही श्रीधाम के लिये प्रस्थान कर दिया। संध्या के समय आप श्री रंगजी के बगीचे में पहुँचे। मित्र-रहित शून्य कुटिया को देखकर आप विह्वल हो गये। दोनों नेत्रों से अश्रुधारायें कपोलों से होती हुई वक्षस्थल पर बह निकलीं। कुछ देर बाद आप स्वस्थ हुए। कुटिया लीपकर उसी में सोये। रात में आपको बहुत प्यास लगी, इतनी कि एक मटका पानी पी गये। आपकी समझ में नहीं आया कि आपको इतनी प्यास क्यों लगी। सुबह आपने यह बात बगीचे में रहने वाले वैष्णवों से कही। उन्होंने बताया कि जब कमलनयनजी पधारे तब उनके पास कोई नहीं था। तीन दिनों तक उनकी मृत्यु का किसी को

पता ही नहीं लगा। उनकी बातों से आपने अनुमान लगाया कि मृत्यु के समय वे प्यासे थे, इसलिये आपको इतनी प्यास लगी। आपने उस कुटिया में कमलनयनजी की आत्मा की शान्ति के लिये जप किया। तदनन्तर श्री महाराजजी ने श्रीरंगजी के बगीचे के आवास को सदा के लिये छोड़ दिया और स्वच्छन्द रीति से जहाँ-तहाँ रहने लगे।

निःसंग एवं अनिकेत

श्री महाराजजी अब स्थान के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो गये। आप पूर्णतः अनिकेत थे। यत्र-तत्र क्षेत्रों में भिक्षा कर लेते, जहाँ रास-लीला होती वहाँ जाकर देख लेते। जहाँ मन चाहा सो जाते। कमलनयनजी के पधारने के बाद आप बिल्कुल निःसंग हो गये, कुछ वर्षों तक किसी के साथ नहीं रहे और न किसी से परिचय ही बढ़ाया, न किसी आश्रम में रहे और न किसी सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखा। यहाँ तक कि आपने तिलक आदि साम्प्रदायिक चिह्नों को धारणकरना भी छोड़ दिया। शौचाचार की मर्यादा भी शिथिल हो गई। अब वृन्दावन के किसी क्षेत्र से अथवा व्रज के गाँवों में व्रजवासियों के घरों से भिक्षा कर लेते। अब आप भगवद्भजन की मस्ती में, लीला-चिन्तन के आनन्द में और प्रत्यक्ष दर्शन की चटपटी में स्वछन्द विचरण करने लगे।

यह वह स्थिति है जिसमें प्रेमी साधक– **"वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागंलभते"** वेद विहित आचारों का भी परित्याग कर देता है और केवल अखण्ड, अनवरत प्रेम की धारा में निमग्न रहता है।

उन दिनों श्री उड़ियाबाबा आश्रम, वंशीवट और ब्रह्मचारी-मंदिर में रास-लीला हुआ करती थी। इन स्थानों पर जाकर रास-दर्शन करते। रात्रि में कहीं भी–दावानल-कुण्ड, गोविन्दजी का मन्दिर, चीरघाट, केशीघाट अथवा श्रीहरिवंशजी का पुराना मंदिर आदि स्थानों में विश्राम कर लेते। इन दिनों श्री उड़ियाबाबाजी महाराज का आश्रम एक प्रसिद्ध स्थान था। श्री उड़िया बाबाजी एवं श्री हरिबाबाजी इस समय पूर्ण सिद्ध सन्त थे। आश्रम में नित्य रास-लीला का जो सुख प्राप्त होता था वह अवर्णनीय है।

श्री हरिबाबाजी महाराज की रास के प्रति बहुत ही निष्ठा थी। रासबिहारी के सिंहासन पर विराजने पर वे उन्हें साष्टांग प्रणिपात करते, माला धारण कराते व जब तक रास होता, पीछे खड़े होकर लीला समाप्ति तक चँवर ढुलाते रहते। श्री महाराजजी की इन पर पूर्ण श्रद्धा थी। उनके साथ श्री महाराजजी की एक अद्वितीय घटना घटी, जिसका प्रसंगानुरूप आगे वर्णन होगा। प्रायः आप श्री उड़ियाबाबाजी आश्रम में रास-दर्शन कर पास में बम्बई कोठी क्षेत्र से दो रोटी की भिक्षा लेकर दावानल-कुण्ड पर सीढ़ियों के पास की गुफा में पड़े रहते थे। बहुत दिनों तक बस्ती में भी नहीं जाते थे। एक बार शीत ऋतु में श्री उड़ियाबाबाजी के आश्रम में रास-लीला के आयोजन का तथा बम्बई कोठी क्षेत्र में भिक्षा-दान का समय एक ही हो गया। अतः आप रास के बाद किसी खेत में चले जाते और गाजर-मूली माँगकर खा लेते। इस प्रकार आपने चार माह व्यतीत किये।

मथुरा निवास तथा व्रज-भ्रमण

श्रीधाम वृन्दावन में रहते हुए श्री महाराजजी को तीन वर्ष हो गये। अतः निकट सम्पर्क में न आने पर भी अनेक वृन्दावनवासी आपको जानने लगे थे। आपको जन-समुदाय से विरक्ति थी—**अरतिर्जनसंसदि**। अतः आपने कुछ समय के लिये वृन्दावन छोड़कर मथुरा जाना उचित समझा। यहाँ मथुरा में यमुना-तट पर एकान्तिक स्थान बंगाली घाट पर रहने लगे। कभी-कभी रास देखने वृन्दावन चले आया करते थे। मथुरा में अपना यमुना-तटीय अवस्थान छोड़कर शहर में तो प्रायः जाते ही नहीं थे। एकान्त में और अप्रकट रूप में वे कभी बुर्जी पर, कभी घाट के किनारे, कभी तिवारी में और कभी किसी मंदिर में पड़े रहते थे। केवल भूख लगने पर किसी क्षेत्र से भिक्षा ले आते थे। आप किस प्रकार देहाध्यास को छोड़कर और सांसारिक-वृत्ति से उपरत होकर इस समय रहा करते थे, इसकी झलक एक घटना से मिलती है।

गर्मी के दिन थे। दोपहर का समय था। बंगाली घाट पर एक छोटे से शिवालय में आप अपने भावराज्य में खोए हुए आँखें मूँदे लेटे थे। एक

काला फणिधर सर्प कहीं से आकर आपके गले पर से सरकता हुआ निकल गया। आपको उसका पता ही नहीं चला। जब उसकी गिलगिली पूँछ का स्पर्श हुआ तो आपने आँखें खोलीं, देखा कि सर्प मन्दिर की नाली से होता हुआ चला जा रहा है।

निस्संगता के साथ-साथ अपरिग्रह आपकी जीवन-यात्रा की विशेषता थी। एक बार आपने रात्रि में शरीर ढकने के लिये अनेक महात्माओं के प्रसादी पुराने कपड़ों और अपने फटे पुराने वस्त्रों को जोड़कर एक गुदड़ी बनाई। यह इतनी लम्बी और चौड़ी थी कि आप इसे बिछाकर ओढ़ भी लेते थे। इसका वजन बीस सेर से कम नहीं था। आप इसे घाट पर कहीं भी छोड़कर चले जाते। चिथड़ों से बनी हुई गुदड़ी को कोई उठाता भी नहीं, उपेक्षित यह केवल श्री महाराजजी की प्रतीक्षा करती हुई पड़ी रहती। किन्तु एक दिन आप गुदड़ी लिये हुये बंगाली घाट पर बैठे हुए थे कि पुलिस के कुछ सिपाही आये और उस गुदड़ी को उठाकर थाने में ले गये। आपने उन्हें गुदड़ी ले जाने से रोका नहीं। निरपेक्ष भाव से घटना को देखते रहे। पुलिस ने तीसरे दिन गुदड़ी लौटा दी। उन्हें शक था कि इस भारी गुदड़ी में इस महात्मा ने कुछ चोरी का सामान छिपा रखा होगा, किन्तु जाँच करने पर जब कुछ नहीं मिला तो उसे वापिस कर दिया।

गर्मी के दिनों में आप संध्या के समय यमुना-पुलिन पर एकान्त में पुण्यतोया कालिन्दी की ओर मुख किए आँखें बंद किये ध्यानस्थ बैठे रहते। कुछ व्यक्ति आपके स्वरूप, आसन-मुद्राओं और निरपेक्षभाव से आकर्षित होकर पीछे कुछ दूर पर धीरे से बैठ जाते। जब आप ध्यान से उठते तो पीछे मुड़कर समुत्सुकनयन व्यक्तियों को बैठे हुए देखते। दण्डवत्-प्रणाम करके वे लोग जब आप से अध्यात्म-सम्बन्धी कुछ प्रश्न करते तो आप भगवत्प्रसंगों की चर्चा तथा सिद्धान्त-निरूपण करके शीघ्र ही द्वारकाधीश के दर्शनों को निकल जाते। श्रोता-वृन्द साथ-साथ चलना चाहते किन्तु आप इतनी द्रुत गति से निकल जाते कि उनका साथ चलना सम्भव नहीं होता।

यह क्रम कई दिनों तक चला। भीड़ बढ़ती गई। व्यक्तियों ने आपका परिचय प्राप्त करने का प्रयास किया, आपका स्थान जानना चाहा; किन्तु इस अनिकेत सन्त का कोई स्थान होता, तब न पता लगता। अप्रकट रहने के लिये आप एकाकी द्रुत-गति से गमन करते और द्वारकाधीश मन्दिर जाते समय सिर पर इस प्रकार कपड़ा बाँध लेते कि बाजार अथवा मंदिर में कोई आपको पहचान नहीं पाता। इतनी सतर्कता होने पर भी भीड़ बढ़ती ही गई। यह आपको अच्छा नहीं लगा। कोई न पहचाने इसलिये आपने अपने पंच केश निकलवा दिये और सन्ध्या को पुलिन पर बैठना छोड़ दिया। श्री महाराज जी ने एक वर्ष का मौनव्रत ले लिया और एकान्त में रहने लगे।

अपने निःसंग एवं निरपेक्ष व्यक्तित्व के कारण एक-दो परिवारों को छोड़कर आपने किसी से सम्पर्क नहीं रखा। केवल पेशकार महीलालजी और जड़िया परिवार के तीनों भाइयों ने आपसे निकटता प्राप्त की थी। पूरा जड़िया परिवार श्री महाराजजी को गुरुरूप में मानता था। सभी आप पर बहुत श्रद्धा रखते थे। उनका अति आग्रह होने से आप प्रायः उनके घर जाते रहते थे। श्री महाराजजी के घर आने पर यह परिवार बहुत प्रसन्न चित्त से आपकी सेवा करता था। उनकी एक बारह साल की लड़की थी। वह भी बहुत श्रद्धालु थी। उसने श्री महाराजजी की झोली पर रेशम की कढ़ाई करके महामन्त्र लिख दिया था। उस पर आपकी भी बहुत कृपा थी। यह बालिका अल्पावस्था में ही पधार गई। श्री महाराजजी ने एक बार बातों-बातों में सहजभाव से कहा था कि "भगवान् ने उसे स्वीकार कर लिया।" उनके घर में श्री महाराजजी की सत्संग चर्चा होती रहती थी। पूरा परिवार पूर्ण विश्वास एवं श्रद्धा से इनकी वाणी सुनता था। वे लोग आपको 'बड़े महाराजजी' नाम से सम्बोधित करते थे। उन्होंने श्री महाराजजी की आज्ञा लेकर लोहवन में एक खेत खरीदा था। उससे वे बहुत सम्पन्न हो गये। उन्होंने उसी खेत में श्री महाराजजी के लिए एक कुटिया बनवा देने का आग्रह किया परन्तु आपने अस्वीकार कर दिया। धीरे-धीरे उनके घर जाना आपने बंद ही कर दिया। मैं सन् १६४५ में जब श्री महाराजजी के श्री चरणों में आया तब आप मुझे एक बार उनके घर ले गए थे।

मथुरा में ही एक गुजराती महीलाल पेशकार रहते थे। उन पर भी श्री महाराजजी की बहुत कृपा व स्नेह था। वे बड़े सच्चे और भावुक भक्त थे। श्री महाराजजी जब तक मथुरा में रहे, उनके दर्शन करने का पेशकारजी का नित्य-नियम रहा। प्रायः द्वारकाधीश-मन्दिर में वे आपकी प्रतीक्षा करते रहते व दर्शन करके ही घर जाते।

मथुरा निवास-काल की कतिपय मनोरञ्जक घटनायें हैं। एक बार आपने कुछ ग्रन्थों का संग्रह किया। रात्रि में आप विश्रामघाट की एक बुर्ज पर सो रहे थे। समय प्रातः तीन-साढ़ेतीन बजे का होगा। एक थानेदार दो सिपाहियों के साथ आपके पास आया और ग्रन्थों के आवरण हटाकर देखने लगा। उसने आवाज लगाकर आपको जगाया और पूछने लगा–"तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ?" आप उठकर बैठ गये और उससे प्रतिप्रश्न किया–"आप कौन हैं ? किस लिये आये हैं ?" थानेदार ने जवाब दिया–"मैं पुलिस-ऑफिसर हूँ। आज रात मथुरा में चोरी हो गई है। मैं चोर की तलाश में घूम रहा हूँ।" आपने हँसते हुए कहा–"मैं सी. आई. डी. ऑफिसर हूँ। ब्रजमण्डल के महाचोर की तलाश में कई सालों से घूम रहा हूँ।" आपकी निर्भय मधुरवाणी सुनकर वह स्तब्ध होकर आपकी तरफ देखता रहा। आप मुस्कराये और उसे बैठने का इशारा किया। आपने –

ब्रजे प्रसिद्धं नवनीत-चौरं ब्रजाङ्गनानां च दुकूल चौरं।
अनेक जन्मार्जित-पाप-चौरं, चौराग्रगण्यं शिरसा नमामि।।

की चर्चा प्रारम्भ कर दी। इस आनन्द वार्ता से वह इतना मुग्ध हुआ कि भूल ही गया कि किसी चोर की तलाश में वह घूम रहा था। समय काफी हो चुका था। प्रभात होने वाला था। आपने उसे जाने का संकेत किया। वह बड़ी श्रद्धा से बोला–अभी ड्यूटी पर जाना है। संध्या को श्रीचरणों के दर्शन करूँगा। आप भी यमुना-स्नान कर के अन्यत्र चले गये।

सदा आप पर एक दिव्य मस्ती का नशा छाया रहता था। नेत्र रस से छके रहते थे। लहराती हुई अलकावली कपोल-द्वय को स्पर्श करती हुई वक्षस्थल पर झूलती रहती थी। चाल भी आपकी मस्त गजराज की सी थी।

रास्ता चलते लोगों के नेत्र बरबस आपकी ओर खिंच जाते। सम्पूर्ण व्रज में आपका स्वेच्छापूर्वक विचरण होता। कभी गोवर्धन, कभी बरसाना, कभी नन्दगाँव अथवा व्रज के किसी अन्य गाँव में आप घूमने चले जाया करते। किन्तु कहीं भी हों, घूमते हुए अगहन माह में कलकत्ता बाड़ी में रास-दर्शन के लिये वृन्दावन अवश्य पहुँचते।

ऐसे ही एक बार आप रात्रि में मथुरा में से अपनी धुन में मस्त द्रुत-गति से चले जा रहे थे। आपकी द्रुतगति देखकर एक खुफिया पुलिस को आप पर शक हो गया। वह आपके पीछे लग गया। उसने सोचा कि इधर उधर न देखते हुए इतनी तेज चाल से जो यह व्यक्ति जा रहा है, वह अवश्य ही चोर होगा। आप तो अपनी मस्ती में झूमते चले जा रहे थे। आपको यह कल्पना भी नहीं थी कि मेरे पीछे कोई चल रहा है। करीब दो मील पीछा करने के बाद उसने आवाज देकर आपको रोका और आपकी तलाशी ली। आपके पास एक कमली के सिवा और कुछ भी नहीं था। बेचारा बड़ा निराश हुआ। श्री महाराजजी ने उससे पूछा–"आपको मुझ पर क्यों शक हुआ ?" उसका उत्तर था "आपकी तेज चाल से।" मुस्कराकर आपने कहा–"भाई, पहले ही पूछ लेते तो इतनी दूर पीछा करने की परेशानी नहीं उठानी पड़ती। मेरी तो यह स्वाभाविक चाल है।" बेचारा क्षमा-याचना-पूर्वक प्रणाम करके चला गया।

एक बार आपको बारह बजे रात में गोवर्धन जाने की धुन सवार हुई। रात अँधेरी थी। अभी कुछ देर पहले वर्षा हो चुकी थी किन्तु नभ-मण्डल में बादल छाये हुए थे। आपका इन बाधाओं की ओर ध्यान ही नहीं था। बस, जब भी व्याकुलता होती आप चल पड़ते। गोवर्धन के रास्ते पर आप तेजी से चले जा रहे थे। करीब तीन-चार मील रास्ता तय कर चुके होंगे कि मन में एक क्षीण सी रेखा उठी और उसी समय विलीन हो गई–यदि ताँगा आता तो बैठ लेते। आप फिर मार्ग-श्रम और वृष्टि की आशंका को उपेक्षित कर अपनी मस्ती में चलते रहे। थोड़ी देर बाद एक ताँगा आया और आगे बढ़ गया। आप द्रुतगति से चले जा रहे थे। ताँगे पर बैठने का विचार आपके मन से

निकल चुका था। कुछ थोड़ी दूर ही चले होंगे कि ताँगे वाले ने आवाज दी– "ओ बाबा, गोवर्धन जाय रह्यौ है का ?" उसका मधुर स्वर सुनकर आपने जब स्वीकारात्मक उत्तर दिया तो चौदह-पन्द्रह साल के ताँगेवाले बालक ने ताँगा रोका, "मोकूँ हूँ गोवर्धन, राधाकुण्ड जानों है। आ जा, ताँगे में बैठ लै। मैं हू अकेलौ हूँ। आगे अड़ींग में चोर रहैं हैं। वो रस्तागीरन कूँ लूट लेय हैं।" बालक के कहने से आप ताँगे में पीछे की तरफ बैठ गये। बीच में घास रखी थी। उसकी आड़ होने से आपको बालक का मुख नहीं दिखाई दे रहा था।

ताँगा चल पड़ा। कुछ दूर चलने पर आपने बालक से उसका नाम पूछा। मधुर व्रजभाषा में उसने अपना नाम 'गिरवर' बताया। इस वार्तालाप के प्रसंग में उसने बताया कि वह राधाकुण्ड में निवास करता है। उसकी मधुर वाणी सुनने के लोभ से आप रास्ते में कुछ न कुछ बातें करते रहे। एक डेढ़ घण्टे में ताँगा राधाकुण्ड जा पहुँचा। बीच बाजार में बालक ने ताँगा रोककर आप से उतर जाने को कहा। आप उतर गये और बालक ताँगा लेकर चला गया। आपने भी कुण्ड के किनारे एक तिवारी में विश्राम किया। प्रातःकाल उस बालक को देखने की आपकी इच्छा हुई और उसकी खोज में निकल पड़े। जहाँ ताँगे वाले रहते थे वहाँ जाकर पूछा। उन लोगों ने बताया कि वहाँ गिरवर नाम का कोई ताँगे वाला नहीं रहता। आपने काफी खोज की। राधाकुण्ड जैसी छोटी सी बस्ती में खोज करना कठिन नहीं था, किन्तु आपको गिरवर का कोई पता नहीं चला। आपको यह रहस्य समझने में अब देर नहीं लगी कि वे गिरिवरधारी थे, जो बालक के रूप में आये थे। यह विचार आते ही आप भाव-विभोर हो गये और बहुत समय तक आपकी भावमय दशा बनी रही।

कुछ दिनों के लिये आप गोवर्धन चले गए और वहाँ प्रत्येक रात्रि में बारह बजे परिक्रमा करने लगे। एक बार परिक्रमा-पथ पर पूँछरी से कुछ आगे ही पहुँचे थे कि सामने से आते हुए एक नित्य सिद्ध सन्त के दर्शन हुए। कुछ वार्तालाप के पश्चात् वे आपके देखते-देखते ही अदृश्य हो गए। एक बार वार्तालाप प्रसंग में आपने बताया था कि वास्तविक कृपा इन्हीं सन्त के द्वारा उन पर हुई थी। किन्तु पूछने पर भी इससे अधिक उन्होंने कुछ नहीं कहा।

कुछ दिन गोवर्धन में रहकर आप पैदल ही श्रीधाम आ गये। गर्मी के दिन थे। संध्या हो गई थी। दिन भर के भूखे थे। किसी ने आपको दो आने दिये थे। अनाजमण्डी के चौराहे की एक दुकान से आपने चार पैसे की पकौड़ी ली। इतने में मलिन वस्त्र धारण किए एक बूढ़े बंगाली संत आपके पास आकर खड़े हो गए और कहने लगे–"बाबा, एक-दुई-दु पकौड़ी आमाके ओ दावो" श्री महाराजजी के पास एक आना शेष था। उसकी पकौड़ी खरीद कर उन्हें दे दीं। वे प्रसन्नता से हाथ में लेकर खाने लगे। वे बोले–"आज बिहारीजी का फूल बँगला है। देखने नहीं गए ?" आपने कहा–"अभी जाता हूँ।" बंगाली महात्मा पकौड़ी लेकर अन्यत्र चले गए। आप श्री बिहारीजी के दर्शन के लिये चले आये। श्री बिहारीजी के मंदिर में जाकर आपने देखा कि बहुत ही सुन्दर फूल बँगला बना हुआ है। बहुत देर तक आप मुग्ध होकर दर्शन करते रहे।

दर्शन करने के पश्चात् आप श्री बिहारीजी की परिक्रमा कर रहे थे। परिक्रमा में आपको पूर्व परिचित श्री संतरामजी मिले। परस्पर दण्डवत् प्रणाम हुआ। आपने सन्तरामजी से कहा–"आज तो बहुत ही सुन्दर फूल बँगला है।" सन्तरामजी आश्चर्य चकित होकर आपके मुख की ओर देखने लगे और बोले–"अरे आपने कहीं भाँग तो नहीं पी ली है। आज फूल बँगला कहाँ है !" आप प्रत्युत्तर में विस्मय से उनका मुँह देख कर कहने लगे–"मैं अभी- अभी दर्शन करके ही तो आ रहा हूँ; चलो आपको दिखाऊँ।" दोनों मिलकर अन्दर गए। उन्होंने जाकर देखा कि कोई फूल बँगला नहीं है। नित्य की भाँति ही श्रीबिहारीजी का दर्शन था। आप समझ गए कि वह तो दिव्य फूल बँगला था–श्रीबिहारीजी के मन्दिर की विभिन्न पुष्पों से सज्जा जो श्री महाराजजी ने देखी थी, वह अलौकिक थी और उसका जो लोकोत्तर दर्शन हुआ था, वह उन बंगाली महात्मा का कृपा-प्रसाद था। अनेक दिनों तक आप उनको खोजते रहे, किन्तु फिर वे कभी नहीं मिले।

उन दिनों इस प्रकार की दो तीन घटनायें आपके साथ हुईं। एक रात्रि जब आप ब्रह्मचारी–ग्वालियर मन्दिर से रास-लीला-दर्शन कर बाहर

आ रहे थे कि दरवाजे पर ही एक संत मिले। उन्होंने मिश्री की एक बड़ी सी डली आपके हाथ में रख कर मुट्ठी दबाई और आगे बढ़ गये। आपने भी साधारण भाव से वह डली मुख में रख ली। रखते ही आप पर एक दिव्य मस्ती छा गयी। कुछ कदम आगे बढ़ते ही यह दृश्यमान संसार आपके नेत्रों से ओझल हो गया। नेत्रों के सामने दिव्य गोकुल प्रकट हो गया। श्रीकृष्ण दर्शन की लालसा से वन प्रान्त में इधर-उधर घूमते हुए व्रज-गोपियों के यूथ और इतस्ततः चारण करती हुई गायों के समूह दिखाई देने लगे। सामने सुन्दर यमुना-पुलिन, उस पर व्रजाङ्गनाओं के यूथ और उनमें आपने अपने कृष्णान्वेषण-तत्पर दिव्य गोपी-स्वरूप को भी विचरण करते हुए देखा। ऐसी भाव-स्थिति करीब चार घण्टे रही। जैसे ही वह मिश्री की डली मुख में घुल कर समाप्त हुई, वैसे ही आप भाव-राज्य से उतर कर प्रकृतिस्थ हो गये। आपने देखा कि आप सेवाकुञ्ज के पास से गुजर रहे हैं। ब्रह्मचारी-मंदिर से सेवाकुञ्ज तक आने में करीब पन्द्रह मिनिट लगते हैं। किन्तु भावदशा में आपको इतनी दूरी चलने में चार घण्टे लग गये। दूसरे दिन इन संत की खोज में आप बहुत घूमे, किन्तु उनके फिर कभी दर्शन नहीं हुए।

अपने इस दिव्य गोपी स्वरूप के दर्शन से श्री महाराजजी की भक्तिसाधना की प्रारम्भिक स्थिति का एक विशिष्ट चरण सम्पन्न हुआ। यह तो स्पष्ट है कि उनके जीवन में यह रागोदय सिद्ध सन्तों की अहैतुकी कृपा का परिणाम था। साथ ही यह भी सच है कि संसार से विरक्ति, मानशून्यता से युक्त नाम-गान में रुचि एवं लीला-चिन्तन की साधना ने कृपा को आकृष्ट और समाहित करने योग्य चित्त-भूमि का निर्माण भी कर दिया था। श्रीरूपगोस्वामी का कथन है –

कृष्णस्तद्भक्तकारुण्यमात्रलोभैकहेतुका।
पुष्टिमार्गतया कैश्चिदियं रागानुगोच्यते।।

श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्ण-भक्तों की केवल करुणा ही राग-मार्ग में प्रवृत्ति का एकमात्र कारण है।

श्री महाराजजी के जीवन में इस समय तक पाँच संतों की कृपा सक्रिय हुई थी। बाल्यावस्था में परमहंस श्री रामकृष्णदेव का अनुग्रह हुआ। उसने संसार के प्रति तीव्र वैराग्य और गृहत्याग के साथ साधन-परक जीवन व्यतीत करने के संकल्प के लिये प्रेरित किया। हरिद्वार में रसिया-निबद्ध लीला-गीतों ने और काठमाण्डु में श्री जयदेवजी की अष्टपदी ने श्रीधाम वृन्दावन की ओर उन्मुख किया। किन्तु आश्चर्य है कि वे भावोद्वेलित चित्त से रस-निकेतन वृन्दावन आते थे और एक दिन अथवा एक रात्रि वहाँ व्यतीत कर अन्यत्र चले जाते थे। जब पुनः वृन्दावन में उनका प्रत्यावर्तन हुआ तब चार संतों की करुण कृपा उन पर हुई—श्रीरंगजी के बगीचे में काली मिर्च की प्राप्ति के प्रयास मे मिले अज्ञात-नाम सिद्ध, गोवर्धन की परिक्रमा में नित्य-सिद्ध सन्त, श्री बिहारीजीके मन्दिर में दिव्य फूल बँगला के दर्शन कराने वाले बंगाली महात्मा और सर्वोपरि ब्रह्मचारी-मंदिर में मिश्री की डली का प्रसाद-दान करने वाले सन्त। इन सभी की कृपा से उत्तरोत्तर आप इस प्रेम रूपा रागात्मिका भक्ति की ओर अग्रसर होते गए।

श्री परमहंसदेव का प्रभाव प्राथमिक था और उसका अनिकेत, निःसंग वैराग्यमय जीवन-साधना में पर्यवसान हुआ। रागात्मिका भक्ति के उदय में अन्य चार संतों की कृपा फलवती तो अवश्य हुई किन्तु इन संतों का संग भी क्षणिक रहा। ऐसा नही हुआ कि उन्होंने श्री महाराजजी को दीक्षा दी हो, साधना-पथ का निर्देश किया हो अथवा अंतश्चिंतित सिद्ध-देह के स्वरूप का विधान किया हो। वे आये, कृपा की और अन्तर्द्धान हो गये। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे भस्मावगुंठित अंगार की राख उन्होंने हटाई और अंगार अपनी अन्तर्निहित ऊष्मा के साथ जाज्वल्यमान हो उठा।[१]

१ श्री रूप गोस्वामी के उपर्युक्त श्लोक पर टिप्पणी करते हुए श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती लिखते है—तत्र भक्तकृपा-हेतुको द्विविध प्राक्तन आधुनिकश्च। प्राक्तनः पौर्वभविकतादृश-भक्त-कृपोत्थ,आधुनिक एतज्जन्मावधितादृश भक्त-कृपोत्थ। 'भगवद्भक्त की कृपा से उत्पन्न 'लोभ' दो प्रकार के होते है—प्राक्तन (प्राचीन) और आधुनिक। पूर्व-जन्मों में कृष्णभक्तों के द्वारा भाव-माधुर्य का लोभ होना 'प्राक्तन' है और वर्तमान जन्म में ही अनुरागी भक्तों के प्रसाद से इसका उदय होना 'आधुनिक' है।'

आज से सात-आठ सौ वर्ष पूर्व श्री घमंडीदेवजी ने भगवत् आज्ञा से, व्रज मण्डल के नाभिक्षेत्र करहला ग्राम में रासलीला आयोजन की परिपाटी प्रवर्तित की थी। श्री घमंडीदेवजी को भगवान् द्वारा प्रदत्त स्वर्णनिर्मित मुकुट एवं चन्द्रिका आज भी करहला ग्राम में सुरक्षित हैं, जिसे शरदपूर्णिमा को रासबिहारी स्वरूपों को धारण करा के दर्शन कराये जाते हैं। तब से मण्डलियों द्वारा रास-लीलाओं का आयोजन हो रहा है। आज भी रास-स्वरूपों में भगवद्-आवेश होता है। रास-लीला-दर्शन से अनेक सन्तों के जीवन में विलक्षण परिवर्तन हुए हैं।

उन दिनों श्रीधाम वृन्दावन में अनेक अच्छी रास-मण्डलियाँ—श्री स्वामी ब्रजलाल बौहरेजी, श्री स्वामी दामोदरजी, श्री लक्ष्मण स्वामी, श्री चेतराम स्वामी, श्री किशनलाल स्वामी आदि के द्वारा संचालित हो रही थीं। स्वामी मुरलीधरजी की मण्डली में खैरा ग्राम के श्यामजी, ठाकुर का स्वरूप धारण करते थे। इनको रास में कई बार भावावेश हो जाता था। जहाँ-कहीं भी ब्रजमंडल में आप की रास-लीला होती, श्री महाराजजी वहाँ अवश्य जाकर लीला-दर्शन करते थे। लीला को देखकर आप में सात्त्विक भाव जाग्रत हो जाते; धारा-प्रवाह अश्रु बहने लगते।

एक बार इसी मण्डली की रास-लीला का आप दर्शन कर रहे थे। माखन-चोरी लीला का प्रसंग था। श्री रासबिहारी ठाकुर अपने सखा-मण्डल के साथ एक ब्रज-गोपी के घर में घुसकर चोरी कर रहे थे, स्वयं भी खा रहे थे और सखाओं को भी खिला रहे थे। श्री महाराजजी के मन में आया कि श्री ठाकुर जैसे सखाओं को माखन दे रहे हैं, वैसे ही मुझे भी अपना उच्छिष्ट देते तो कितना अच्छा होता। इस भाव में आपका हृदय उमड़ पड़ा और अश्रुपात होने लगे। आप आँखें बंद किये सिर नीचा किए हुए बैठे थे। रास-बिहारी ठाकुर सहसा दर्शकों की भीड़ को चीरते हुए पलक गिरते न गिरते श्री महाराजजी के पास जा पहुँचे और एक हाथ से आपका सिर हिलाते हुए बोले—"बाबा, बाबा, ये ले माखन तू हू खाय ले।" एक हाथ से श्री महाराजजी का हाथ पकड़कर उन्होंने दूसरे हाथ से [illegible] पर नवनीत रख

दिया। फिर हँसते, कूदते हुए मंच पर चले गये। श्री महाराजजी का भाव इस कारण और अधिक उद्दीप्त हो गया। बड़ी देर तक आप हाथ में माखन लिये, अश्रु बहाते हुए भाव-तन्मयता में बैठे रहे। येनकेन प्रकारेण आपने भाव का संवरण किया और रास-लीला सम्पन्न होने के पहले ही लोगों की दृष्टि से बचने के लिये चुपचाप उठकर चले गये।

रास-दर्शन की अवधि में स्वरूपों का प्राकृतिक परिवेश—ये ब्रजवासी बालक हैं, आपके नेत्रों से ओझल रहता था। केवल दिव्यरूप से ही आपका मन भावित रहता था।

एक बार आप रास-दर्शन कर रहे थे। खैरा ग्राम निवासी श्यामजी ने ठाकुर स्वरूप धारण किया था और प्रेममयी लीला हो रही थी। आप तल्लीन थे, अश्रुपात हो रहा था। इतने में ही रासबिहारी ठाकुर भीड़ को पार करते हुए अति दूर बैठे हुए आपके पास पहुँच गए और अपने गले से विशाल पुष्पमाला उतारकर पहना दी और पुनः द्रुतगति से लीला-मञ्च पर पहुँच गये।

इन घटनाओं से 'समुत्कण्ठा', भगवत्-दर्शन की लालसा आपके हृदय में तीव्रतर होती गई। व्याकुलता में फिर आपके चरण ऋषिकेश की ओर चल दिये। ऐसी ही विरह विकल दशा में एक दिन जाह्नवी के तट पर बैठे आप सोच रहे थे कि भगवान् आते हैं—कभी हरिद्वार में सिक्ख सरदार के रूप में और कभी ताँगेवाले बालक के छद्मवेष में; कभी रासबिहारी के स्वरूप से प्रसाद-दान देकर कृतार्थ भी करते हैं; किन्तु अपने दिव्य स्वरूप से प्रत्यक्ष दर्शन नहीं दे रहे हैं। उस जगन्मोहिनी मूर्त्ति का साक्षात्कार नहीं हुआ व्याकुल चित्त था। इसी विचार में आप में शरीर त्याग का संकल्प जाग्रत हुआ और आप ऋषिकेश की ओर चले गये। वहाँ पहुँचकर रात्रि को आप एक ऊँचे शिखर पर चढ़ गये। लगभग सौ फीट नीचे गंगाजी बह रही थीं। आप उसमें छलाँग लगाने ही वाले थे कि ठीक इसी क्षण एक गम्भीर स्वर गुंजित हुआ—"कौन है यहाँ ? इतनी रात में इस भयावने जंगल में क्यों आये हो ?" आप चौंके और मुड़कर देखा तो सशस्त्र पुलिस का एक सिपाही सामने खड़ा है। उसने पुनः डाँटकर कहा—"जाओ, तुरन्त लौट जाओ।" आप निरुत्तर

थे। उदासी के साथ सिर नीचा किये लौटे। कुछ दूर तक वह पीछे-पीछे चला, फिर कहाँ रह गया, पता नहीं। आप दुःखी मन से वापिस अपने निवास पर आकर लेट गये। नींद तो क्या आती, विचारों के ऊहापोह में रात्रि बीत गई। श्री महाराजजी ने जैसे-तैसे वह दिन बिताया। रात्रि होते ही वही धुन फिर सवार हो गयी और मध्य निशा में घोर वन को चीरते हुए आप हिमगिरि के उसी उत्तुंग शिखर पर जा पहुँचे। फिर वैसे ही गम्भीर शंखनाद सदृश वाणी गूँज उठी उसी सिपाही की–"कौन हो ? तुम्हें कल यहाँ आने को मना किया था। फिर क्यों आये ? जाओ, लौट जाओ। अब कभी मत आना।" उसकी वाणी में न जाने क्या चमत्कार था कि आप जड़वत् हो गये और फिर यंत्र-चालित से सिर नीचा किये हुए लौट आये। दूसरे दिन सुबह सहज भाव से आपने एक सन्त से कहा कि रात्रि में पहाड़पर सिपाही गश्त लगाते हैं ? सन्त हँसने लगे–"क्या पहाड़ पर सोना-चाँदी रहता है, जो पुलिस गश्त लगायेगी ? हमने तो इतने वर्षों में न ऐसी बात सुनी है और न देखी है।" श्री महाराजजी समझ गये कि यह भी उसी चतुर-शिरोमणि की लीला है। आपके मन से शरीर छोड़ने का विचार हट गया और वृन्दावन लौट आये।

साधना में तीव्रता

इसके बाद आपका वास श्रीधाम वृन्दावन में ही होने लगा। जब इच्छा होती व्रजमण्डल में भ्रमण कर आते, किन्तु लौटकर श्रीधाम में ही निवास करते। यहाँ आप श्रीबिहारीजी के दर्शन करते, सन्तों का सत्संग करते और मस्ती से विचरण करते रहते। कभी यमुना-पुलिन पर, कभी गोविन्ददेवजी के मन्दिर में और कभी श्रीरंगजी के सामने के मार्ग पर सो जाते।

एक बार संध्या के समय आप भावावेश में गोवर्धन के लिये चल पड़े। रास्ते में ही रात्रि हो गयी। गोवर्धन अभी दूर था। सामने ही एक गाँव था। सोचा कि कुछ देर यहाँ विश्राम कर लें, फिर आगे चलेंगे। गाँव के किनारे वृक्ष-तले आप बैठ गये। अनतिदूर एक वृक्ष के नीचे एक बरात ठहरी थी। सहसा विचार आया कि यहीं रात्रि-विश्राम कर लें; प्रातः गोवर्धन के लिये प्रस्थान करुँगा। दिनभर से आपने कुछ खाया नहीं था। क्षुधा तीव्र थी, किन्तु गाँव में जाकर भिक्षा करने की इच्छा नहीं हुई। गर्मी के दिन थे। काली कमली बिछाकर, वृक्ष के आश्रय में आप अधलेटे हुए थे। इतने में सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये हुए एक नव किशोरी रूपवती गोप-बाला आपके पास आई और निस्संकोच आपका हाथ खींचती हुई बोली–"चल बाबा, मेरे घर चलकर जींम ले"। आप व्रजवासियों के सरल और निष्कपट स्वभाव से तो परिचित थे ही। उनके प्रति सदैव आपका आत्मीय भाव रहता था। सहजभाव से अपनी काली कमली उठा कर आप उसके साथ चल दिये। वह व्रजगोपी हाथ पकड़े हुए आगे चलती जा रही थी, हँसती भी थी और बातें भी करती जाती थी। उसके विच्छुरित हास्य की ध्वनि और चलते हुए चरणों के नूपुर मधुर झंकार कर रहे थे। पास ही ठहरे बराती व्रजवासी जोरों से हँसते हुए विनोद करने लगे–"अरे लै गयी रे, बाबा कूँ लै गयी।" वह व्रजांगना भी घूँघट की ओट से उन बरातियों की ओर तिरछी चितवन से देखती हुई हँसती जा रही थी।

व्रजवासी निर्मल निष्कपट स्वभाव के होते हैं। वे श्रीकृष्ण के स्वजन हैं। मन्दिर में भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन करने नहीं अपितु अपने लाला को

देखने जाते हैं। इसी नाते सन्तों के प्रति उनका भाव घनिष्ठ आत्मीयता का होता है। सन्त भी इसी से उनके प्रति स्वजन-भाव एवं आत्मीय सम्बन्ध रखते हैं।

वह व्रज-गोपी आपका हाथ खींचती हुई घर ले गयी। भोजन के लिये सस्नेह बैठाया। स्वयं परोसती हुई आग्रह-पूर्वक कहने लगी–"मेरे घर आज बरात आयी है, जाते खूब पकवान बने हैं। जो इच्छा होय सो माँग कै पेट भर खाय लै।" आप दिन भर के भूखे तो थे ही उसका स्निग्ध भाव और सहज प्रेम देखकर आपने खूब तृप्तिपूर्वक भोजन किया। फिर लौटकर उसी वृक्ष के नीचे विश्राम किया और गोवर्धन को चल पड़े। कुछ ही क्षण चले होंगे कि राधाकुण्ड आ गया। आपको आश्चर्य हुआ कि 'इतनी जल्दी राधाकुण्ड कैसे पहुँच गया', मन में आया कि 'यह तो कोई बहुत पास का नया रास्ता है। अब इसी रास्ते आया-जाया करूँगा।'

प्रातःकाल आपने राधाकुण्ड में स्नान किया और गोवर्धन की परिक्रमा की। एक-दो दिन वहाँ रहकर आपने उसी रास्ते से वृन्दावन के लिये प्रस्थान किया। बहुत देर तक चलते रहने पर भी मार्ग में वह गाँव कहीं नहीं मिला और रास्ता भी काफी लम्बा प्रतीत हुआ। आपको बड़ा आश्चर्य हुआ। बाद में कई बार आप गोवर्धन-राधाकुण्ड गये, किन्तु कभी भी आपको वह गाँव और वह छोटा रास्ता दिखाई नहीं दिया। आप समझ गये कि वह गाँव उतनी ही देर के लिये प्रकट हुआ था और उतनी ही देर के लिये रास्ता भी छोटा हो गया था। वह गाँव, वह बरात, वह छबीली व्रजांगना, वह मार्ग सभी दिव्य थे, जो आपको योग-क्षेम से कृतार्थ करने के पश्चात् अदृश्य हो गये।

इसके बाद की ही घटना है–एक दिन आपने रास-लीला देखी तथा श्री बिहारीजी के दर्शन किये। तत्पश्चात् श्रीगोविन्ददेवजी के मन्दिर के विशाल जगमोहन के एक कोने में आकर बैठ गये। सहसा सम्मुख श्रीकृष्ण के रूप की स्फूर्ति हुई। आपने देखा कि सामने श्रीकृष्ण दो कदम दूर खड़े हैं। वे मंद-मंद मुस्करा रहे हैं। मुक्तासदृश दन्तपंक्ति से किरणें विच्छुरित हो रही हैं। उस दन्तपंक्ति के सौंदर्य से मुग्ध होकर आपको उसे स्पर्श करने

की इच्छा हुई। आपने अपने दाहिने हाथ की एक अँगुली दन्तपंक्ति के स्पर्श के लिये आगे बढ़ाई। ऐसा लगा कि श्रीकृष्ण पीछे हटते जा रहे हैं। वे ज्यों-ज्यों हटते थे, आप आगे बढ़कर अँगुली आगे बढ़ाते जाते थे। अचानक अँगुली मन्दिर की दीवार से टकराई। आप चौंक पड़े। देखा सामने और कुछ नहीं केवल दीवार ही है। रूप-स्फूर्ति का लोप हो गया। आपको उनके इस कौतुक पर आनन्द-जन्य हँसी आयी और उस एकान्त-स्थल में एकाकी देर तक हँसते रहे।

सतत होने वाली इन लोकोत्तर दिव्य घटनाओं ने प्रत्यक्ष-दर्शन की लालसा को तीव्रतर कर दिया। दर्शन-पिपासा, तड़प-छटपटाहट से आप बेचैन होकर श्रीधाम के महासिद्ध सन्तों के पास गये। सर्वश्री अवधदासजी, गौरांगदासजी, गोविन्द कुण्ड - गोवर्धन के मनोहरदासजी, टटीकुंज के माधवदासजी, पं. अमोलकराम शास्त्री, पण्डित बाबा श्री रामकृष्णदासजी आदि के दर्शन और सत्संग किया। उस समय पण्डित बाबा श्री रामकृष्णदासजी महाराज रसिक-सन्तों के मुकुटमणि के रूप से अवस्थित थे। इनका जीवन-वृत्त विख्यात है।

एक दिन श्री महाराजजी दाऊजी के बगीचे में पण्डितबाबा के दर्शन के लिये गये। सत्संग-चर्चा के पश्चात् आपने पण्डितबाबा से पूछा–"क्या मात्र महामंत्र के जप से गोपी-भाव की प्राप्ति हो सकती है?" पण्डितबाबा का उत्तर था–"क्यों नहीं? अवश्य हो सकती है। अखण्ड नाम-जप से गोपी-भाव और प्रेम की उपलब्धि होती है।" आपका दूसरा प्रश्न था–"क्या दीक्षा, तिलक, कण्ठी आदि बाह्य उपचारों की आवश्यकता है?" उत्तर था–"बाह्य उपचारों की विशेष आवश्यकता हो, ऐसी बात नहीं है। साम्प्रदायिक लोगों का इनके प्रति आग्रह मात्र व्यावहारिक है। कृपा-दीक्षा ही वास्तविक दीक्षा है। यदि कोई सिद्ध-सन्त दीक्षा दे दे तो लेने मे कोई हर्ज नहीं।"

पण्डितबाबा के उपदेशों से आपका समाधान हो गया। यह आपके व्यवहार और सिद्धान्त के अनुकूल था। सच्चे प्रेमी भक्त–

लिखन्ति भुजमूलतो न खलु शंख-चक्रादिकं
विचित्र-हरिमन्दिरं न रचयन्ति भालस्थले।

निरन्तर नाम-रस में डूबे और लीला-दर्शनोत्सुक श्री महाराजजी पण्डित बाबा के कथन से आश्वस्त हुए और अखण्ड नाम-जप-साधना के लिये नन्दगाँव चले गये। वहाँ सघन वृक्षावलि से परिवेष्टित, परम रमणीय श्री ललिता-कुण्ड पर श्री छितरियापण्डित की एकान्तिक कुटिया में रहते हुए आप अखण्ड नाम-जप में संलग्न हो गये। श्री अवधदासजी महाराज ने इसी कुण्ड पर भजन किया था। उनकी भजनस्थली भी आज वहाँ बनी हुई है।

प्रातःकाल चार बजे आप कुण्ड में स्नान करके नाम-जप के लिये बैठ जाते। मध्याह्न में नन्दगाँव जाकर भिक्षा ले आते और फिर नाम-जप में लग जाते।

इस प्रकार भजन करते हुए करीब चार माह व्यतीत हो गये। इन्हीं दिनों आपने सुना कि पण्डितबाबा श्री रामकृष्णदासजी के कृपा-पात्र संत श्री कृपासिन्धुदासजी महाराज नन्दगाँव और बरसाने के बीच में स्थित, रस-ग्रन्थों में वर्णित, लीला-स्थली प्रेम-सरोवर में विराज रहे हैं तथा रात्रि में एक-दो अन्तरंग सन्तों के साथ सत्संग चर्चा करते हैं। उनके दर्शन करने तथा उनका सत्संग सुनने की इच्छा आपको हुई और प्रेम-सरोवर चल पड़े।

दूर से आपने देखा कि एक झोंपड़ी के पास एक सघन लता कुञ्ज में छोटा सा दीपक टिमटिमा रहा है। श्री कृपासिंधुदासजी महाराज एक ग्रंथ लिये समक्ष आसीन एक सन्त को कुछ सुना रहे हैं। आप उत्कण्ठा से आगे बढ़े। पैरों की आहट सुनकर वे चौंके, नेत्र ऊपर कर दूर से ही देखा कि कोई आ रहा है। उन्होंने झट से ग्रंथ बन्द कर घुटने के पीछे छिपाया और दीपक बुझा दिया। श्री महाराजजी आये और दण्डवत्-प्रणाम कर बैठ गये। श्री कृपासिन्धुदासजी महाराज ने जानना चाहा कि श्री महाराजजी किस स्थान से आये हैं और किस सम्प्रदाय के हैं ? श्री महाराजजी ने बताया कि वे श्रीरामानुज-सम्प्रदाय में दीक्षित हैं। महाराज-कृपासिन्धुदासजी गौडीय सम्प्रदाय में दीक्षित थे और सुगुप्त रीति से अष्टयाम लीला चिन्तन करते थे। एक सम्प्रदाय का भक्त दूसरे सम्प्रदाय में दीक्षित व्यक्ति से अपनी सुगुप्त साधन-प्रणाली की चर्चा नहीं करता है। उस पर भी श्री रामानुजाचार्य द्वारा

प्रचारित श्री- सम्प्रदाय में चतुर्भुजनारायण की ऐश्वर्य-प्रधान उपासना प्रचलित है, जो गौड़ीय-सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण की मधुरोपासना से बहुत भिन्न है। अतः श्री कृपासिन्धुदासजी महाराज इधर-उधर की बातें करते रहे। आप कुछ देर वहाँ अवस्थान कर ललिता-कुण्ड वापिस आ गये। आपको इस बात का दुःख हुआ कि अपात्र समझकर श्री कृपासिन्धुदासजी ने ग्रंथ को छिपा लिया और आपके सामने नहीं पढ़ा।

आप फिर अपनी नाम-जप-साधना के प्रति दत्तावधान होकर उसमें संलग्न हो गये। किन्तु यहाँ विघ्न पड़ने लगे। नन्दगाँव से प्रातः व्रजवासी स्नान के लिये ललिता-कुण्ड पर आते और उच्च स्वर में हँसी-मजाक करते, सांसारिक-व्यावहारिक चर्चा, व्यर्थालाप करते, जिससे आपकी साधना में विक्षेप उत्पन्न होने लगा। इसलिये आपने नन्दबाबा के बगीचे के पीछे एक सघन पीलू वृक्ष के नीचे बैठकर भजन करने का निश्चय किया। पास में ही श्री रूपगोस्वामीजी की भजनस्थली कदमखण्डी है। वहाँ भी कुछ संत रहते थे। आपने इस स्थल पर अखण्ड नाम-जप प्रारम्भ किया। सुबह से शाम तक उच्च स्वर से साढ़े तीन लाख नाम-जप करते, सायंकाल नन्दगाँव भिक्षा के लिये जाते, कृष्ण-कुण्ड आकर भिक्षा करते और वहीं आस-पास कहीं भी नाम-जप करते हुए सो जाते। फिर प्रातःकाल उसी पीलू वृक्ष के नीचे नाम-जप की चर्या में तल्लीन हो जाते। पीलू के वृक्ष की डालियाँ चारों ओर से झुककर जमीन से लग रही थीं, अतः इस सघन पीलू वृक्ष के नीचे आसीन होने पर बाहरी व्यक्ति उनको देख भी नहीं सकता था। श्री महाराजजी अपने कोमल कण्ठ से व्याकुलतापूर्वक उच्च स्वर से नाम-जप करते, जिसको सुनकर पास की पगडण्डी से नन्दगाँव जाने वाले सहसा स्तब्ध हो जाते और खड़े होकर श्रवण करने लगते। नाम-धारा से आकृष्ट सर्प आदि भी आपके सामने आकर बैठ जाते।

शनैः - शनैः इसकी चर्चा महात्माओं में फैलने लगी और क्रमेण वह प्रेम-सरोवर पर श्री कृपासिन्धुदासजी महाराज के कानों तक पहुँची। सुनकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने आपको प्रेम-सरोवर बुलाया। आप उसी वक्त

रात्रि में बड़ी उत्कण्ठा से उनके पास गये। प्रेम-सरोवर पर कदम्बों के नीचे तीन-चार सन्तों के मध्य वे गोविन्द-लीलामृत की चर्चा कर रहे थे। आप भी निकट विराज गये। चर्चा मध्य अभिसार-लीला का वर्णन हो रहा था –

श्रीकृष्ण वृन्दावन में गौएँ चरा रहे हैं। सखी ने यह सूचना दी। ललितादिक सखीगण ने संकेत स्थल पर पहुँचने के लिये दिवाभिसार के योग्य गुरुजनों को वञ्चित करने के लिए सखा भेष में शृंगार किया और प्रियाजी को सुबल-वेश में सजाया; क्योंकि सुबल की अनुहार प्रिया के समान है। सखा-वेश में शृंगार तो कर दिया, किन्तु उन्नत उरोजों को कैसे छिपाया जाय; यही विचार सखी कर रही थी कि उछलता-कूदता हुआ मृग-शावक सामने आकर मुग्ध सा उपस्थित हो गया। ललिताजी ने बिहँसते हुए उसे पकड़ लिया और प्रियाजी की गोद में दे दिया। दैवात् मंगल सुयोग देखकर प्रियाजी प्रफुल्ल हो उठीं और उसे हृदय से लगाए श्रीवन की ओर अभिसरण करने लगीं। सखा-वेश में सखी समूह के अद्‌भुत अभिनिवेश में विचित्र महा-भावोदधि में लहराती हुई सुबल-वेश में अभिसरणोन्मुखा श्रीप्रिया अत्यन्त सुशोभित हो रही हैं। कदम्ब, तमाल द्रुमों से लिपटी वल्लरियों की शोभा, मकरन्द भीनी शीतल पवन का स्पर्श, मोर, शुक, कोकिल के कलरव एवं भृंग समूह के गुंजरित स्वर के उन्मादकारी वातावरण ने उनकी विचित्र भावमयी दशा उत्पन्न कर दी। वे जहाँ-तहाँ प्रियतम की स्थिति का प्रत्यक्षानुभव कर ठिटक जातीं। सखियाँ रसभरे विनोद-प्रमोद द्वारा उन्हें प्रबोध देती हुई आगे ले जा रही हैं। सम्पूर्ण वनप्रान्त उनके नूपुरों की रुनझुन झनकार से गुञ्जाय-मान और अंग-कान्ति से उद्‌भासित तथा अंग-सुगन्ध से सुरभित हो रहा है।

श्री महाराजजी सोत्कण्ठ दत्त चित्त हुए इस नूतन लीला का श्रवण कर रहे थे। उनके भजन-भाव से समृद्ध अत्यन्त पूत-निर्मल हृदय मे यह लीला मूर्तिमान् स्फुरित हो गई। उस भावोदधि की लहरी को शरीर सँभाल न सका। वह हर्षोत्पुलक के वेग से एक हस्त ऊँचा उछल गया। अश्रु, रोमांच, कम्प, पुलकावली से देहयष्टि व्याप्त हो गई। अति गम्भीर व भाव-गोपन स्वभाव-प्रिय श्री महाराजजी ने प्रयत्नपूर्वक भाव का सँवरण कर लिया।

श्री कृपासिन्धुदासजी ने ग्रन्थ पढ़ते-पढ़ते ही तिरछी दृष्टि से श्री महाराजजी को देखा, सुयोग्यपात्र समझ अत्यन्त प्रसन्न हुए और पुनः पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। सत्संग के पश्चात् अत्यन्त प्रेम दर्शाते हुए वार्तालाप किया और अपने सत्संग में कभी-कभी आने को कहा। उन्होंने आपको अपने ग्रंथों को भी पढ़कर सुनाया।

एक अन्तर्कथा के साथ यहाँ एक बात और कह दी जाय। इस साधन-काल में आपकी परीक्षा भी होती रहती थी। जब कदमखण्डी में नाम-जप निरत और संकीर्तन-प्रिय महात्मा के रूप में आपकी ख्याति होने लगी, तो वहाँ रहने वाले साधकों के मन में ईर्ष्या जाग्रत हुई। एक दिन आप अपने नित्य नियम के अनुसार साढ़े तीन लाख नाम-जप पूरा करके नन्दगाँव भिक्षा के लिये गये और वहीं कहीं सो गये। प्रातःकाल जब आप स्नान करके पीलू वृक्ष के नीचे अपनी नियत भजन-स्थली पर आये तो देखा कि वहाँ किसी ने शौच क्रिया सम्पन्न की हुई है। आपको अपनी नाम-जप साधना में विलम्ब हो रहा था, इसलिये वह स्थल स्वच्छ किया, गोबर से लीपा और भजन में निरत हो गये। आपके निर्मल चित्त में इस विचार की हलकी रेखा भी नहीं उठी कि किसी ने द्वेषवश यह विघ्न उपस्थित किया है। अवान्तर काल में जिस व्यक्ति ने यह दुष्कर्म किया था, उसकी पीठ पर कार्बंकल फोड़ा हो गया। पीड़ा से व्यथित उसने श्री महाराजजी के पास आकर क्षमा-याचना की। श्री महाराजजी ने उसे सान्त्वना दी। क्रमशः उसका रोग दूर हो गया।

किन्तु एक विषम परीक्षा कुछ दिन बाद बरसाने के निकट पीली पोखर के पास हुई, जहाँ श्री महाराजजी एक कुटिया में भजन में निरत थे। सन्ध्या का समय था। धीरे-धीरे अन्धकार छा रहा था। आप नाम-जप में तल्लीन थे। सहसा एक रूपवती किशोरी उस जनशून्य स्थल पर श्री महाराजजी के पास आयी और प्रणय निवेदन करती हुई कहने लगी– "लै बाबा, अपनी इच्छा पूरी कर लै।" आगे बढ़कर वह श्री महाराजजी के अत्यन्त निकट खड़ी हो गयी। यह सोचकर कि मेरी परीक्षा हो रही है, श्री महाराजजी जोर-जोर से रोने लगे। यह देखकर वह किशोरी भाग गयी। इस घटना

से व्यथित आप कई दिनों तक रोते रहे। अन्ततोगत्वा किसी दिव्य शक्ति ने आपको सान्त्वना दी, जिससे आपकी व्यथा शमित हुई।

आपने उस पीलू वृक्ष के नीचे चार माह तक सतत भजन किया। उसके बाद आप पास में ही नन्दबाबा के बगीचे की एक कुटिया में भजन करने लगे। पीलू वृक्ष-स्थली छोड़ने के बाद वह पीलू वृक्ष धीरे-धीरे सूख गया। मैंने उस सूखे पीलू वृक्ष को बाद में श्री महाराजजी के साथ जाकर देखा था। श्री महाराजजी कहते थे—उसका उद्धार हो गया।

श्रीनन्दबाबा के बगीचे में कुछ गौड़ीय बंगाली साधु भी निवास करते थे। उनमें एक श्री स्वस्तिकरणानन्दजी अच्छे भजनानन्दी, कीर्तन-प्रेमी, खोल बजाने में प्रवीण और कठोर त्यागमय जीवन व्यतीत करने वाले महात्मा आपकी कुटिया के सन्निकट ही रहते थे। वे श्री प्रबोधानन्दसरस्वती कृत 'संगीत-माधव' के पदों का सुललित स्वरों में गायन करते, जो श्री महाराजजी को बहुत प्रिय लगता। अतः श्री महाराजजी ने श्री स्वस्तिकरणानन्दजी से निवेदन किया कि वे पद लिखकर दे दें। किन्तु साम्प्रदायिक भेद के कारण उन्होंने ऐसा नहीं किया। श्री महाराजजी सुन-सुनकर ही उन पदों का गायन करने लगे, जो श्री स्वस्तिकरणानन्दजी के आश्चर्य का विषय बना।

यहाँ चार माह तक निवास के पश्चात् आपकी इच्छा किसी परम एकान्त स्थान में भजन करने की हुई और आप जन-शून्य नीरव स्थल की खोज करने लगे, किन्तु आपको कोई मनोनुकूल स्थान नहीं मिला। एक दिन खिन्नमनस्क आप पावन-सरोवर के तट पर बैठे थे। संध्या समय था। सहसा आपने देखा कि सम्मुख एक दीर्घकाय, वयोवृद्ध,गौरवर्ण, श्वेत-श्मश्रु-युक्त सन्त आविर्भूत हो गये। मुस्कराते हुए सन्त ने हाथ ऊँचा उठाकर आशीर्वाद दिया एवं समाधानसूचक करुणापूर्ण दृष्टि से अवलोकन किया। यशोदा कुण्ड की दिशा में अँगुलि निर्देश करते हुए वे हठात् अदृश्य हो गए। सन्त की इस अहैतुकी कृपा से श्री महाराजजी को बहुत संतोष हुआ। उसी समय आप उठकर अँगुलि से निर्दिष्ट दिशा की ओर चल पड़े। आपके पैर यशोदा कुण्ड के पास एकाएक रुक गये। सामने ही एक छोटी गुफा दिखाई दी।

आपको वह गुफा मनोनुकूल और भजन-स्थली के रूप में उपयुक्त लगी। बस्ती से दूर, जंगल के सन्निकट, सघन-लता-पत्रादिकों से घिरी हुई यह छोटी सी गुफा जीर्ण-शीर्ण अवस्था में थी। इसमें कपाट रहित एक छोटासा प्रवेश मार्ग था, जिससे छह-सात सीढ़ियाँ उतरने के पश्चात् केवल इतना ही स्थान था कि एक व्यक्ति बैठ भर सके, पाँव पसार कर कोई लेट सके यह सम्भव नहीं था। इसमें न तो जंगला था और न रोशनदान। सीढ़ियों के ऊपर एक मोखा था, जिससे प्रकाश की किरणें संकोच के साथ मन्द-मन्थर गति से आती थीं। श्री महाराजजी के श्री मुख से ही सुना कि "यह गुफा चार सौ वर्ष पुरानी है। इसमें अनेक सन्तों ने भजन किया था।[१] पावन सरोवर पर जो सन्त मुझे दिखाई दिये थे, उन्होंने भी इसी गुफा में रहकर भजन किया था।"–ऐसा श्री महाराजजी का कथन था।

नन्दगाँव से २-३ फर्लांग दूर गुफा के पास ही यशोदा-कुण्ड नामक एक कच्चा-सरोवर है। यहीं से एक कच्ची पगडण्डी बरसाने की ओर जाती है। वृक्षावलियों से घिरा हुआ यह सरोवर अति रमणीय एवं प्राचीन लीला-स्थली है। इसके एक ओर पक्का घाट बना हुआ है। कथन है कि श्री यशोदाजी नन्दगाँव से प्रातः स्नान करने यहीं आती थीं। इस सरोवर की पश्चिम दिशा में 'हाऊ-बिलाऊ' नामक स्थान है। कहते हैं– यशोदा मैया ने श्रीकृष्ण को वन में अकेले जाने से रोकने के लिये यह कहकर डराया था कि वहाँ अकेले जाओगे तो हाऊ-बिलाऊ पकड़ लेंगे। यह वही स्थान है। सरोवर से सौ कदम दूरी पर कुछ ऊँचे टीले पर उक्त गुफा है।

आपने स्वयं इस गुफा को स्वच्छ किया, गोबर से लीपा और भजन करने का दृढ़ संकल्प लेकर बैठ गये। यहाँ आपका मन सहज रूप से भजन के आनन्द-रस में लीन हो ज़ाता था। आप ठीक तीन बजे उठकर यशोदा-कुण्ड में स्नान करते और गुफा में बैठकर साढ़े तीन लक्ष नाम-जप करते। नाम-जप करते समय भगवच्चिन्तन के अतिरिक्त यदि कोई इतर विचार आता

---

१ द्रष्टव्य–श्री अवधबिहारीलाल कपूर : ब्रज के भक्त, भाग १, पृष्ठ ६६

तो आप उस समय के नाम-जप को निर्धारित संख्या के अन्तर्गत परिगणित नहीं करते। नाम-जप पूरा करने के पश्चात् आप भिक्षा के लिये नन्दगाँव जाते, किसी भी एकान्त स्थान पर बैठकर उसको ग्रहण करते और गुफा की छत पर अथवा पार्श्वस्थ रास-मण्डल के चबूतरे पर अथवा अन्य किसी स्थल पर कहीं भी रात्रि-विश्राम करते। न कोई परिचय, न कहीं जाना, केवल नाम-जप और उस समय निरन्तर अश्रुपात।

कभी-कभी नन्दगाँव में कोई रास-मण्डली आती तब आप रास-लीला-दर्शन के लिये जाते। उस समय आपको अतिशय प्रेम की जागृति होती और रोते रहते। यह देखकर व्रजवासियों ने आपका नाम 'रोने वाला बाबा' रख दिया था।

इस अवधि में आपके शरीर से चन्द्र की मन्द ज्योत्स्ना के सदृश प्रकाश निकलने लगा और आप अँधेरी रात में इसी अंग-निसृत प्रकाश से पथ देख लिया करते थे। एक-दो बार व्रजवासियों ने इस प्रकाश को देखकर कहा–'जे कहा है रह्यौ है।' तब से आप जब भिक्षा के लिये जाते तो नेत्रों को छोड़कर सम्पूर्ण शरीर आवृत कर लेते। चार माह के प्रयास के बाद आप इस प्रकाश का संवरण कर पाये।

इस समय प्रियतम से मिलन की इच्छा-जनित व्याकुलता निरन्तर बढ़ती जा रही थी। एकादशी तिथि को भिक्षा में गुड़ ही प्राप्त होता है। आप अपने नित्य नियम के अनुसार नाम-जप सम्पन्न करके गुड़ की भिक्षा ले आये और पुनः जप में तल्लीन हो गये। तीसरे दिन संध्या सात बजे एक सन्त आये और गुफा के द्वार से आपको पुकारा। उत्तर न मिलने पर वे और भी उच्च स्वर से 'आचार्यजी', 'आचार्यजी', कहकर पुकारने लगे। किंचित् सजग होकर श्री महाराजजी ने 'राधे-राधे' कहकर प्रत्युत्तर दिया और भिक्षा की झोली लेकर बाहर आये। झोली में कुछ रखा देखकर उन सन्त महोदय ने पूछा–"झोली में क्या रखा हुआ है ?" आपने झोली में देखकर कहा–"गुड़ है। आज एकादशी है, अतः यह भिक्षा में प्राप्त गुड़ है।" हँसते हुए सन्तजी बोले–"एकादशी तो परसों थी। परसों का गुड़ अभी तक कैसे रखा है ?"

चौंक कर श्री महाराजजी ने पूछा–"आज कौन सी तिथि है ?" उत्तर था–"त्रयोदशी।" श्री महाराजजी विचार में पड़ गये। स्मृति लौटी। मूर्च्छित स्थिति का स्मरण हुआ। सन्तजी की बात से ज्ञात हुआ कि वे एकादशी से त्रयोदशी की संध्या तक तीन दिन मूर्च्छित अवस्था में थे और उन सन्त के पुकारने से ही मूर्च्छा भंग हुई, परन्तु उन सन्त से श्री महाराजजी क्या कहते ? श्री महाराजजी से कभी मुझे यह ज्ञात नहीं हो सका कि उस स्थिति में उनको क्या दिव्य अनुभूतियाँ हुईं ?

एक दिन आप भजन कर रहे थे कि गुफा में नन्दगाँव में स्थित नन्द भवन मूर्त्त हो गया। इसके कुछ माह बाद दशावतारों के क्रमशः दर्शन हुए। इन दिव्यानुभूतियों के पश्चात् आपकी स्थिति अवर्णनीय हो गई। आपका नवनीत सदृश कोमल चित्त भाव के संस्पर्श-मात्र से द्रवीभूत होकर अश्रुओं के रूप में निरन्तर बहता रहता। एक बार अनवरत रोते-रोते अनेक दिन बीत गये। सहसा गुफा आलोक से जगमगा उठी। प्रकाश-मण्डल से एक दिव्य गोपी आविर्भूत हुई। उसने श्री महाराजजी को गोदी में लेकर प्यार किया, समझाया और उसके पश्चात् अन्तर्धान हो गयी।

शारीरिक अस्वस्थता

गोपी का अन्तर्धान होना था कि विरह-जन्य व्याकुलता-छटपटाहट, तड़प ने जीवन दुःसह कर दिया। भजन और चिन्तन में किंचिदपि विक्षेप असह्य पीड़ादायी था। दैनिक कृत्य अन्तराय प्रतीत होने लगे। इसलिये आप एक-दो घरों से भिक्षा लेकर, शीघ्रता से उसको ग्रहण कर नाम-जप के आनन्द में अथवा लीला-रस में निमग्न हो जाते थे। जब प्रतिदिन भिक्षाटन भी सह्य नहीं हुआ, तो एक दिन छह-सात घरों से भिक्षा ली, उसे सुखा लिया और मटके के पानी में घोलकर थोड़ी-थोड़ी प्रतिदिन ले ली। आहार की इस रीति के विरुद्ध शरीर ने विद्रोह कर दिया। प्लीहा बढ़ गई, यकृत् खराब हो गया, शरीर पीला और कृश हो गया और शक्ति हीनता इतनी बढ़ गई कि कुछ कदम चलना भी मुश्किल। इससे आपकी मस्त मनःस्थिति और भजन-वृत्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अतः आपकी दिनचर्या पूर्ववत् चलती रही। किन्तु संयोग था कि आपकी रुग्णावस्था की सूचना लाला श्री रतनलालजी बेरी वाले नामक भावुक रसिक-भक्त को मिली। ये प्रायः नन्दगाँव में ही रहते थे। इन्होंने ही नन्द-भवन का जीर्णोद्धार करवाया था। नन्द-भवन के ठाकुर की भोग-राग, उत्सव आदि की सेवा ये बड़े उत्साह से करते थे। समाज-गायन श्रवण में इनके अविरल अश्रु बहते रहते थे। श्री महाराजजी से इनका स्वल्प और दूर का परिचय था। उन दिनों श्री रतनलालजी का नन्दगाँव में ही अवस्थान था। एकदिन प्रातःकालिक भ्रमण में ये गुफा के पास के दगरे (कच्चा रास्ता) से जा रहे थे कि सहसा आकुल कण्ठ से निःसृत संगीत की लहरियाँ उन्होंने सुनी –

वसतु मनो मम मदन गोपाले।
नव रति केलि विलास परावधि राधा सुरत रसाले।।

लालाजी स्तब्ध होकर खड़े हो गये। थोड़ी देर बाद गीत-ध्वनि की सहायता से अनुसंधान करते हुए गुफा के पास पहुँचे, मोखा से झाँककर पद-गान में तल्लीन श्री महाराजजी को देखा। पद-समाप्ति होने पर उन्होंने श्री महाराजजी को राधेश्याम कहकर प्रणाम किया और चले गये। यह उनके

प्रतिदिन का कार्यक्रम बन गया। श्री महाराजजी उन दिनों 'संगीत माधव' के अथवा श्रीपाद सनातन गोस्वामी रचित पदावलियाँ गाते थे। श्री महाराजजी को श्री प्रबोधानन्द सरस्वती के **''स्मरतु मनो मम निरवधि राधां''** (श्रीराधा जी का नख-शिख वर्णन), **''वसतु मनो मम मदन गोपाले''** (श्रीकृष्ण का नख-शिख वर्णन), **श्रीराधे जय जय माधव दयिते** और श्री रूप सनातनजी के **''जय जय सुन्दर नन्दकुमारा''**, **''वन्दे विश्वंभर पद कमलं''** आदि पद बहुत प्रिय थे। श्री रतनलालजी प्रतिदिन प्रातः भ्रमण के अवसर पर उनको बाहर खड़े होकर सुनते और श्री महाराजजी से राधेश्याम कहकर चले जाते।

जब श्री महाराजजी की रुग्णस्थिति सुनकर वे आये तो मृदुल उपालम्भ दिया–"ब्रह्मचारीजी, आपने अपना स्वास्थ्य खराब होने पर भी मुझ से कुछ नहीं कहा।" श्री महाराजजी मौन रहे–केवल शीतल मन्द स्मित उनके मुख पर बिखर गयी। उन दिनों इस क्षेत्र में आवागमन की विशेष व्यवस्था नहीं थी। उन्होंने एक बैलगाड़ी किराये पर ली, श्री महाराजजी को उस पर बैठाया और एक परिचारक के साथ मथुरा आये। यहाँ उन्होंने सरकारी सिविल अस्पताल में श्री महाराजजी को भरती कराया।

यथाकथंचित् उपचार प्रारम्भ हुआ। सरकारी दवाखाने लापरवाही के लिये कुख्यात हैं। फिर जब श्री महाराजजी की वेशभूषा और उनकी अपरिग्रही वैराग्य-वृत्ति को देखा तो डॉक्टरों ने समझा कि कोई अनपढ़, भीख माँगने वाला, उपेक्षणीय साधु है। तब उपचार में वे सावधानी बरतते ही क्यों? अस्पताल की परिपाटी पालन करने के लिये आते, देखते, दवाई देते और चले जाते। कुछ दिन बीत गये। लाभ तो कुछ हुआ नहीं, शारीरिक क्षीणता और बढ़ती गई।

एक बार रात में तीन डॉक्टर राउण्ड पर आये। उन्होंने श्रीमहाराजजी की शैया के पास आकर उनके शरीर का परीक्षण किया। वे परस्पर अंग्रेजी में बातें कर रहे थे। उपेक्षा और अवहेलना के भाव उनके मुख पर अंकित थे। श्री महाराजजी के स्वस्थ होने की उन्हें कोई सम्भावना नहीं दिखाई दे रही थी। अन्ततः उन्होंने ऐसा जहर का इंजेक्शन देने का विचार किया,

जिससे श्री महाराजजी को या तो आराम हो जाय अथवा अस्पताल की वह शैया ही खाली हो जाय। डॉक्टरों ने आप से पूछा—'कहिये महाराज, कहाँ रहते हैं ? घर में कौन-कौन हैं ? साधु क्यों हो गये ? 'इस प्रश्नावली का उत्तर न देकर श्री महाराजजी ने अंग्रेजी में भगवच्चर्चा प्रारम्भ कर दी। पहले तो श्री महाराजजी के अंग्रेजी भाषा के प्रयोग से वे चकित हुए। वे नहीं जानते थे कि इस वेश में कोई शिक्षित व्यक्ति छिपा है। फिर भाषण की विचार-गरिमा से प्रभावित हुए और सावधान मन से उसको सुनने लगे। वाणी में एक ऐसा मोहक आकर्षण था कि वे भूल गये कि राउण्ड पर आये हैं और सुनने में तल्लीन हो गये। अब डॉक्टरों के मन से अवज्ञा, अवहेलना तथा निरादर के भाव दूर हो गये और उस ओजस्वी प्रवचन—कर्ता रोगी के प्रति आत्मीयता एवं श्रद्धा उत्पन्न हुई। उन्हें अनुताप हुआ और वे सावधानी के साथ उपचार में संलग्न हुए। कृतज्ञ और श्रद्धान्वित डॉक्टरों ने श्री महाराजजी के पथ्य की व्यवस्था निजी तौर से अपने घर से ही की। पंद्रह दिनों के उपचार से श्री महाराजजी स्वस्थ हो गये। उदास-मना डॉक्टरों ने श्रद्धापूर्वक बिदाई दी और आग्रह किया कि यथावसर वे उनके घर पर आकर प्रवचनों से कृतार्थ करेंगे।

इनमें से एक डॉक्टर साहब जो उस समय वहाँ सिविल सर्जन थे, सन् पिचहत्तर में अचानक श्री महाराजजी को दिल्ली में मिल गये। श्री महाराजजी जिस भक्त के यहाँ ठहरे थे, वे डॉक्टर साहब के निकट सम्बन्धी थे। डॉक्टर साहब अपनी टाँग का एक्सरे करवाकर आये थे । श्री महाराजजी ने देखते ही उन्हें पहचान लिया, परन्तु बिना परिचय दिये उन्हें 'कोडोपायरिन' की गोलियाँ पिसवा कर तीन पुड़ियाँ बनवाकर दीं और कहा—"आप तो इस दवा से ही ठीक हो जायेंगे।"

सचमुच ही दूसरे दिन वे बिल्कुल स्वस्थ होकर आए और कहा—"महाराजजी ! मैं तो आपकी दवा से बिल्कुल ठीक हो गया। मैं तो एक्सरे की रिपोर्ट लेने गया ही नहीं।"

पुनश्च साधना में तीव्रता

कभी-कभी पथ में अन्तराय पथिक की तीव्रतर गतिशीलता के हेतु बन जाते हैं। जैसे मार्ग में स्थित पर्वतीय शिलाखण्डों के अवरोध समुद्रगामिनी आकुलिता नदी के प्रवाह को अधिक क्षिप्र गतिशाली बना देते हैं; वैसे ही भगवद्-अभिमुख व्याकुल साधक के पथ में आने वाली बाधायें उसकी इष्ट-प्राप्ति की लालसा को अधिक उद्दीप्त कर साधन में प्रखरता उत्पन्न कर देती हैं। इस छह माह की बीमारी के व्यवधान ने श्री महाराजजी की कृष्ण-दर्शन-लालसा को तीव्रतर कर दिया था।

नन्दगाँव पहुँचने पर व्याकुलता-पूर्वक आप कठिन साधना में प्रवृत्त हो गये। प्रातःकाल तीन बजे उठकर आप गुफा में एक लक्ष नाम जपते उच्च स्वर से और ढाई लक्ष मानसिक। नाम-जप करते-करते आप कभी-कभी इतने तल्लीन हो जाते कि कब संध्या हो गई इसका पता ही नहीं चलता और कभी-कभी इतने विह्वल हो जाते कि अनवरत रोदन होता रहता। गुफा से बाहर निकलते तो किसी भी उद्दीपन से भाव-प्रवाह उमड़ पड़ता। कदम्ब पुष्प देखकर किसी लीला के दर्शन में निमग्न हो जाते और सात्त्विक भावों का जागरण हो जाता। शुक कोकिला और मयूर को देखकर मन दृश्य संसार को छोड़कर लोकोत्तर भावों में बहने लगता। गायों के समूह के दर्शन से आपका मन लीला-राज्य में खो जाता।

आपकी इस स्थिति का ज्ञान धीरे-धीरे व्रजवासियों को होने लग गया था। वे आप पर विशेष स्नेह करने लगे थे। आप जब भी भिक्षा लेने जाते तो द्वार पर जाकर धीरे से 'राधेश्याम' कहकर एक टेर लगाते, कुछ क्षण प्रतीक्षा करते और आगे बढ़ जाते। अतः व्रजवासी इस आशंका से कि आप बिना भिक्षा लिये द्वार से चले न जाँय, आपकी प्रतीक्षा करते और पहले से ही भिक्षा देने के लिये प्रस्तुत रहते। व्रज में केवल रोटी की भिक्षा देने की प्रणाली है। किन्तु व्रजवासी आपको रोटी के साथ अचार अथवा साग अवश्य देते।

नन्दगाँव परिसर में यह ख्यात हो गया था कि आप पढ़े-लिखे महात्मा हैं। इसलिये वहाँ के व्रजवासियों को आपके प्रति श्रद्धा एवं आत्मीयता हो गई। किन्तु श्री महाराजजी को जनसम्पर्क असहनीय हो गया था। आपका इस समय रूप था—कर में जपमाला और नेत्रों से झरती अश्रुमाला। श्रीकृष्ण-दर्शनेच्छा की तीव्रतम स्थिति थी। वैसे तो उसी दिन से जब गुफा में दिव्य गोपी ने प्रकट होकर आपको दर्शन दिये थे, विरह का एक अदम्य स्रोत उमड़ पड़ा था। अब तो सर्वेन्द्रियों ने , मन ने, प्राण ने ही कृष्ण-दर्शन-लालसा का रूप धारण कर लिया था। विरह के तप्त आँसुओं में शरीर की सुधि और संसार की स्मृति बह गयी थी। मात्र श्रीकृष्ण की ही स्मृति अवशेष थी। भिक्षा का अब वही हाल हो गया; कभी खायी, कभी नहीं खायी।

विरही हृदय भावुकता का आकर (खजाना) होता है। विश्वास ही उसका एकमात्र सम्बल रहता है। तर्क-वितर्क का उसमें कोई स्थान नहीं होता, वह तो प्रिय-प्रेम में पागल रहता है, किन्तु उसके इस पागलपन पर विश्व की सम्पूर्ण बुद्धिमत्ता वार दी जा सकती है। एक दिन आप वन-प्रदेश में पथ के किनारे वृक्ष के नीचे बैठे हुए रो रहे थे। वहाँ से एक व्रजवासी निकला। वह आपको जानता था। आपको रोते हुए देखकर वह पास आया और सान्त्वना देते हुए कहने लगा—"रोवै कायकूँ है। आज चार बजे तोकूँ ठाकुरजी मिलिंगे।" वह तो चला गया। आप वहीं श्रीकृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा में बैठे रहे। मन में आकुल उत्सुकता थी। दृष्टि पथ पर बिछी हुई थी। समय धीरे-धीरे अपनी गति से चल रहा था—बारह बजे,दो बजे और चार बजने का समय समीप आ गया। उनकी उत्कट लालसामयी प्रतीक्षा-रत हृदय की स्थिति अवर्णनीय है। जनशून्य वातावरण, करीब चार बजे का समय, पथ पर आता हुआ दूर से दिखाई दिया एक व्यक्ति। जैसे ही वह पास में आया, आप दौड़ पड़े, उसके चरणों में लिपट गये; जोर-जोर से फूट-फूट कर रोने लगे। वह अपरिचित पथिक आपके इस विचित्र व्यवहार से घबड़ा गया। वह बार-बार कहता—"बाबा, छोड़ दै, मोय जानौ है। देर है रही है।" श्री महाराजजी कहते—"मैंने तुम्हें पहचान लिया है। वह व्रजवासी मुझे बता गया

है। तुम श्रीकृष्ण हो। इस वेष में आये हो। मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगा।" यह कहते-कहते वे और भी जोर-जोर से रो पड़े। "बाबा, तोकूँ काहू ने बहकाय दीन्हों है। मैं तौ व्रजवासी ब्राह्मण हूँ। विश्राम घाट प्याऊ पै पानी पिवायवे कौ काम करूँ हूँ।" इस प्रकार बहुविधि अनेक बार समझाने पर आपने उस ब्राह्मण को छोड़ा।

एक दिन सुबह से ही दुर्दमनीय व्याकुलता से आपका हृदय विदीर्ण होने लगा। उच्च स्वर से रोदन हो रहा था। पलकें सूजी हुई थीं। नेत्र लाल थे। करीब ग्यारह बजे का समय था। गुफा में बैठना भी दुष्कर था। धीरे-धीरे मन्द गति से आप बाहर आये और उद्धव-क्यारी की ओर चल पड़े।

उद्धव-क्यारी बरसाने मार्ग पर है। नन्दगाँव से चार-पाँच फर्लांग दूर है। यह सारस्वत कल्प की लीला-स्थली है—यहीं गोपी-उद्धव-सम्वाद हुआ था। चतुर्दिक् कदम्ब-वृक्षराजि से परिवेष्टित **"कृष्णस्य दयितः सखा'** भागवतोत्तम उद्धवजी की बैठक अवस्थित है। आप पगडण्डी से धीरे-धीरे लड़खड़ाते हुए जा रहे थे। अनाहार से शरीर शिथिल था। विरह से मन व्याकुल था। शरीर में चलने की शक्ति नहीं थी। फिर भी मन्द गति से चरण अग्रसर हो रहे थे—मुख नीचा किये हुए थे, कपोलों पर अश्रु धाराएँ बह रही थीं। कठिनाई से करीब आधे रास्ते चले होंगे कि शरीर और मन ने साथ छोड़ दिया। आप पगडण्डी के किनारे एक वृक्ष के नीचे लेट गये—बाह्य सुधि से विहीन भावराज्य में चित्त विलीन। इस स्थिति में कितना समय व्यतीत हुआ, इसका भी ज्ञान नहीं।

करीब डेढ़ बजे होंगे कि एक जाटनी कपड़े में बँधी हुई रोटी सिर पर लिये उस मार्ग से जा रही थी। श्री महाराजजी को इस प्रकार पड़े हुए देखा तो पास में आकर 'बाबा-बाबा' कहकर पुकारने लगी। जब बेसुध पड़े हुए श्री महाराजजी को चेत नहीं हुआ, तब उसने एक हाथ से कन्धा हिलाकर और आवाजें देकर चैतन्य करने की कोशिश की। कुछ देर इस प्रकार हिलाये जाने पर आपको कथंचित् बाह्य-ज्ञान हुआ। आँखें खोलीं, जाटनी की तरफ

देखा, किन्तु बोलने का सामर्थ्य नहीं था। ग्वालिनी ने कहा—"बाबा, तू भूखौ दीखै है। लै रोटी खाय लै।" आपने गर्दन हिलाकर इशारे से इन्कार कर दिया। ग्वालिनी हठ करने लगी। वह बोली—"नहीं बाबा, तोकूँ खानी ही परैगी।" आप चुपचाप उठकर बैठ गये और कठिनाई से उस रोटी के केवल तीन-चार ग्रास ही मुख में डाले होंगे कि सहसा ग्वालिनी अदृश्य हो गयी। हाथ का ग्रास हाथ में ही रह गया, हृदय का हाहा-कार विकल क्रन्दन में व्यक्त हुआ। आप रोते रहे, रोते-रोते ही उद्धव-क्यारी की ओर चले गये। वहाँ आपकी क्या स्थिति हुई, इस दशा में आप कब तक पड़े रहे, वह दिव्य गोपी क्यों आई थी, वह क्या करके अदृश्य हो गयी ? यह बताना सम्भव नहीं। हाँ, इतना तो कह ही सकते हैं कि धधकती विरहाग्नि में घृत का कार्य कर गई। गोकुलचन्द्र के दर्शन के लिये आपके अन्तःकरण में स्थित व्याकुलता के सागर में उन्मद ज्वार अपनी पूर्ण प्रचण्डता के साथ उठने लगा।




यशोदाकुण्ड, नन्दगाँव के पास
गुफा (पूर्व भजनस्थली) में विराजित

गुफा (पूर्व भजनस्थली) के बाहर विराजित




एकान्त में शान्त मुद्रामें स्थित श्रीमहाराजजी

पूर्ण साक्षात्कार

प्रथम कृपा तो आप पर उसी समय हो गई थी, जब पावन-सरोवर पर उन सिद्ध महात्मा ने आपको दर्शन देकर आशीर्वाद दिया था। तब से पाँच वर्ष व्यतीत हो गये थे। आपकी विरहाकुल स्थिति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही थी। इन पाँच वर्षों में अन्तिम दो वर्ष तो आपके ऐसे बीते कि सूर्योदय व सूर्यास्त के दर्शन ही नहीं किए। आप प्रातः तीन बजे से गुफा में बैठकर भजन में प्रवृत्त हो जाते व शाम को सात बजे भिक्षा के लिए निकलते। इन दो वर्षों में आप भजन में ऐसे तन्मय रहे कि कौनसा माह है, कौनसी तिथि है, कौन सा वार है, कौन सा उत्सव है, कुछ भी आपको ज्ञात नहीं था। इन दिनों आप जन-संपर्क में आये ही नहीं। इन दो वर्षों में भी अन्तिम छह महीनों में तो आपकी जो अगाध विरह-व्याकुलता की स्थिति रही, उसका वर्णन करना ही इस लेखनी के लिए सम्भव नहीं है। उस जाटनी ग्वालिनी के अदृश्य होने के बाद तो आपकी विरह-व्याकुलता पराकाष्ठा पर पहुँच गई। दिन-रात रोना ही रोना। कपोलों पर बहने वाले अश्रु कभी सूखते ही नहीं थे। स्नानादि दिनचर्या अस्तव्यस्त हो गई थी। खाना-पीना नाम मात्र का ही रह गया था। नींद शायद ही कभी आती हो। नेत्रों से अविरल सावन-भादों की सी वृष्टि होती रहती थी। शरीर पीला पड़ गया था। चित्तौड़ की मीरा के विरह-व्याकुल ह्रदय से निसृत ये पक्तियाँ–

''अँखियन जल सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे,''
''दिवस न भूख नींद नहिं रैना'',
''अँखियाँ हरि दर्शन की प्यासी'',

की प्रत्यक्षतः पुनरावृत्ति हो रही थी। इसमें अतिशयोक्ति कुछ भी नहीं है। इस प्रसंग में मुझे प्रेमावतार श्रीमन्महाप्रभु का यह श्लोक स्मरण हो रहा है–

युगायितं निमेषेण, चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत् सर्वं, गोविन्द-विरहेण मे।।

अक्षरशः यही स्थिति थी। आने-जाने के स्थान तो गुफा से उद्धव-क्यारी और उद्धव-क्यारी से गुफा, बस, ये ही शेष रह गये थे।

अब तो अधिकतर समय उद्धव-क्यारी में ही व्यतीत होता था। जप-साधन सब छूट चुके थे। जप-माला को नितान्त विश्राम था। माला जपते थे, परन्तु तुलसीमाला नहीं, अश्रुमाला, जिसके एक-एक अश्रु-मुक्ता-बिन्दु में नीलमणि श्रीकृष्ण प्रतिबिम्बित हो रहे थे। उद्धवजी की बैठक के चबूतरे पर ही बैठे-बैठे रात्रि व्यतीत होती थी। यहीं तो उद्धवजी के ज्ञान की गठरी श्री व्रजांगनाओं के अश्रु-सलिल में बह गई थी। उनके अश्रुओं की निर्मल गंगा में स्नान करके ही उद्धवजी प्रेमी बने। मानो उसी चबूतरे पर बैठकर आप पुनः श्री उद्धवजी को अपने प्रेमाश्रुओं की सरिता में नहला रहे थे। कदम्बाटवी के वृक्षों का प्रेमालिंगन कर कईबार आपने अपने प्रेमाश्रुओं से उनका सिंचन किया। उस नितान्त निर्जन कदम्बवन में, घोर अँधेरी रात्रियों में आपके अरण्य-क्रन्दन को सुनने वाला कोई 'अव्यक्त' व्यक्त होने के लिये छटपटा रहा था, परन्तु वह किशोर न जाने किस क्षण की प्रतीक्षा में था, यह तो वही जाने। इस विरहव्यथा के मूक साक्षी कदम्बाटवी के कदम्ब-वृक्षों ने इसी स्थान पर ही तो उद्धव-गोपी संवाद सुना था। प्रेमिका की हृदयव्यथा से इनका हृदय भी द्रवीभूत हो चुका है। व्रज-गोपिकाओं की विरहदशा में इन्होंने भी भरपूर अश्रु बहाये हैं। अब भी ये किसी विरही के साथ अश्रु बहाते हों तो क्या आश्चर्य ! उन्होंने निश्चय ही इस विरही की विरह-गाथा प्रियतम को सुनायी ही होगी। अविरत छह मास से अपनी मानसिक भावना में हृदय सिंहासन पर प्रिय को विराजित कर कोई प्रियतमा प्रवाहित नयनाश्रुओं के शुद्ध गंगाजल से उसका महाभिषेक कर रही हो, उठने वाले अनन्त भावों के नव-नव विकसित सुरभित कुसुमों से अर्चना कर रही हो, इतने पर भी उसके हृदय-देवता प्रसन्न न हों; यह सोचना भी कल्पनातीत है।

प्रिया की अनन्य आराधना से प्रियतम का प्रसन्न होना, प्रकट होना स्वाभाविक ही है। फिर उन तीन महारात्रियों का तो कहना ही क्या है, जिनमें

प्रियतम गोपबालक के रूप में पूजा स्वीकार करने स्वयं आते हों। इस महापूजा से प्रसन्न हो कौनसा वर देने के उपक्रम में हों, यह कहना कठिन है। इस बात को तो वे ही दोनों जानें या फिर निरन्तर देखने वाले वे कदम्ब-वृक्ष। हाँ, आगे के प्रसंग से कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

जिन तीन महारात्रियों का उल्लेख किया गया है, उनमें आज प्रथम महारात्रि है। उस चन्द्रवती मध्य रात्रि के समय कदम्बवृक्षों के सघन पत्रों से छन-छन कर कुछ-कुछ चन्द्रप्रकाश उद्धव-क्यारी में फैल रहा था। उस नीरव वातावरण में एक विरही के करुण-क्रन्दन का रव ही मुखरित था। उद्धवजी के चबूतरे पर वह विरही अपना एक घुटना जमीन पर टिकाये हुए, दूसरे खड़े घुटने पर वाम बाहु टिकाये, वाम करतल पर वाम कपोल रखे हुए, सम्पूर्ण विश्व की स्मृति भुलाये हुए दोनों नयनों की अश्रुधाराओं से अपने प्राण-प्रेष्ठ की आराधना में संलग्न था या यों कहें कि बहुमूल्य मुक्ता-लड़ियाँ अपने प्रियतम को समर्पित कर रहा था।

इसी समय आपके सम्मुख के दो कदम्ब-वृक्षों के मध्य एक गोप बालक न जाने कहाँ से आकर इधर से उधर मन्द-मन्द चरण रखते हुए घूमता हुआ दिखाई दिया। विरही की आँखों ने उसे देखा, पर विरह के अगाध सागर में निमग्न उसकी सोचने-विचारने की शक्ति लुप्त थी। पीत वसन तथा शिखिपिच्छ-चन्द्रिका परिशोभित, कन्दर्प कोटि लावण्य, उज्ज्वल नील मणि श्रीकृष्ण की माधुरी मूर्ति मन तथा रोम-रोम में, समस्त इन्द्रियों में समायी हुई थी। विरही, विरह में भी **संयोग सुख** में था। अन्याकृति के लिये मन-नयनों में स्थान नहीं था।

संगम विरह विकल्पे-वरमिह विरहो न संगमस्तस्य।
एक एव संगे विरहे तन्मयं जगत्।।

एकान्त निर्जन प्रदेश में, इस मध्यरात्रि में यह सुन्दर किशोर गोप-बालक क्यों आया है, यह भी सोचने का अवकाश ही कहाँ था ? वह गोपबालक भी स्वच्छन्द घूम रहा था। हो सकता है, जिसके लिये घूम रहा था, उसे चोरी-

चोरी तिरछी चितवन से देख भी लेता हो, विरही की व्याकुल दशा देखकर वह भी छटपटाता हो, परन्तु यह ज्ञात होना कठिन था।

आपकी सम्पूर्ण रात्रि विरह के अथाह सागर में गोता लगाते हुए ही बीती। वह गोपबालक कब चला गया यह भी आपको ज्ञात नहीं हुआ। प्रातः काल गोचारण के लिये आने-जाने वाले ग्वालों का कोलाहल सुनकर आप कुछ बाह्य हुए और उठकर लड़खड़ाते हुए गुफा की ओर चले गये।

वह दिन जैसे-तैसे बीता। संध्या से ही आप फिर उद्धव-क्यारी में चले आये। उसी स्थिति में फिर अरण्य-क्रन्दन आरंभ हो गया। संध्या कब व्यतीत हुई, कितनी रात्रि हुई कुछ ज्ञात नहीं। फिर मध्यरात्रि का समय, वही ग्वाल वेषी किशोर उन्हीं दो कदम्ब-वृक्षों के मध्य मन्द-मन्द टहलने लगा। आपकी दृष्टि उस पर पड़ी पर विचार शून्य। फिर सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत हुई। वह गोपबालक कब चला गया ज्ञात नहीं। आप प्रातःकाल पुनश्च ग्वालों के कोलाहल से जाग्रत हुए व गुफा की ओर गमन किया। आज का दिन भी व्यतीत हुआ। तीसरी रात्रि उपस्थित हुई। आप पूर्व दिन की भाँति फिर उद्धवजी की उसी बैठक पर बैठे हुए आँसुओं की लड़ी पिरो रहे थे। नित्य के अनुसार चन्द्रजोत्स्ना-प्लावित मध्य रजनी में आज भी वह गोपबालक अपनी मन्द-मन्थर चाल से उन्हीं कदम्ब द्वय के मध्य टहल रहा था। नित्य की भाँति आज भी आपने उसे देखा, परन्तु आप तो अपने ही विरह-साम्राज्य में खोये हुए थे। अन्य विचार को आज भी अवकाश नहीं था।

सहसा उन्हीं कदम्ब द्वय तले एक नील आभा कौंध उठी। उस गोप बालक के स्थान पर कोटि कन्दर्प लावण्य, कोटि मन्मथ-मन्मथ त्रिभुवन-सुन्दर एक नव कैशोर्याकृति प्रकट हो गई। अद्भुत् लावण्य की छटा थी श्रीश्याम की। चारों ओर नील आभा प्रसरित हो रही थी। रतनारे-अनियारे नयनों से अजस्र करुणा का स्रोत बह रहा था। श्री महाराजजी ने उस रूप के सागर को अपनी अश्रुमालिका के मध्य से देखा। अखण्ड, अजस्र, अगाध विरह के परिपक्व फल को सम्मुख निहारा। हृदय उछल पड़ा। विद्युत गति से धावित

हो दोनों पाद-पद्मों को बाहु-पाश में बाँध लिया। लिपट गये उन कमल-कोमल सुभग-शीतल चरणों से। आज तक अविरल बहने वाली नयन-वारिधारा से श्रीचरणों को पखार कर धन्य हुए। साधना सम्पन्न हुई। प्रियतम प्रसन्न हुए और उनके बाहु द्वय चञ्चल-आतुर हो उठे 'अपने' किसी को हृदय से लगाने के लिये। दोनों विशाल भुजाएँ नीचे को झुकीं और श्री महाराजजी को उठाकर हृदय से लगाकर दृढ़ भुजपाश में बाँध लिया। स्नेह सलिल तथा कौस्तुभ परिशोभित विशाल वक्षःस्थल से शीतलता प्रदान करने लगे। कितने समय तक यह दृढ़ बन्धन रहा कुछ कह नहीं सकते।

यह तो लेखक द्वारा किया गया बाह्य वर्णन है। अन्तरंग स्थिति कुछ और ही थी। श्री महाराजजी के कथनानुसार वे अपने प्राकृत स्वरूप से सर्वथा विस्मृत थे। उनका प्रागट्य होते ही आपने, अपने को सखी स्वरूप में ही पाया। यह कहना ही ठीक है कि प्रियतम के कमल-कोमल, सुभग-शीतल चरणों में उन्हीं की एक प्रियतमा ही लिपटी हुई थी। सुदीर्घ विरह के पश्चात् पाये प्रिय ने उसे बाहुद्वय से उठाकर दृढ़ आलिंगन-पाश में बाँध लिया था। मिलनानन्द में दोनों की वाणी मूक थी।

श्री श्याम का शृंगार अद्भुत था। पीताम्बर से फूटकर नील किरण मालिका प्रवाहित हो रही थी। अनावृत वक्षःस्थल पर आजानुलम्बिनी वनमाला झूल रही थी। अंगकान्ति से चहुँओर की प्रकृति आलोकित थी। वनमाला में चित्र-विचित्र सुवासित सुमन गुंफित थे। घुँघराली सुचिक्कण काली-काली अलकावली कपोलों को चूमती हुई दोनों स्कंधों पर लहरा रही थी। मस्तक पर मुकुट नहीं था। मुकुट के स्थान पर सुन्दर पुष्प-बन्दनी धारण की हुई थी। कर-कमल में वंशी थी। दोनों मणिबन्ध सुन्दर पुष्पगजरों से सुशोभित थे। दोनों भुजाओं पर भी पुष्पालंकार धारण किये हुए थे। चरणों में स्वर्ण नूपुर झिलमिला रहे थे।

क्षणोपरान्त प्रियतम के अधर द्वय में कम्पन हुआ। मंदस्मित युक्त, गद्गद कंठ से पीयूषवर्षिणी मधुर वाणी स्फुरित हुई–"मैं फिर आऊँगा।" इस वाक्य के साथ ही श्रीकृष्ण अदृश्य हो गये। श्री महाराजजी भावसाम्राज्य

में खोये हुए कब तक मूर्च्छित पड़े रहे, कह नहीं सकते। इसी भावमय स्थिति में आपको ज्ञात हुआ कि बरसाने में श्रीकृष्ण श्रीराधाजी के साथ लीला-रत थे। श्री महाराजजी की अतिव्याकुल दशा देखकर वे लीला मध्य से ही कुछ क्षणों के लिये आ गये थे। इसी कारण "मैं फिर आऊँगा" कहकर तत्क्षण पुनः लीला में चले गये। श्रीकृष्ण के अंगों में जो पुष्पश्रृंगार सुशोभित हो रहा था, वह श्रीकिशोरीजी ने स्वयं अपने हाथों से धारण कराया था।

कुछ समय पश्चात् आपको बाह्य चेतना हुई। एक दिव्य खुमारी आप पर छाई हुई थी। अपने जिस गोपी नित्य स्वरूप से प्रियतम से आपका मिलन हुआ था, वही भावदेह आपका स्थायी हो गया। प्राकृत शरीर की स्मृति आपको नहीं रही। सखीभाव से परिचर्या में आप संलग्न हो गये। श्रीवन के दिव्य कुसुमित लता-गुल्मों से आप नित्य सुन्दर सुगन्धित पुष्पों का चयन करते व सुन्दर माला बनाते। प्रतिदिन एक सखी आपके पास आकर वह माला ले जाती व प्रियतम श्रीकृष्ण को धारण कराती। यह दिव्य भाव साम्राज्य की बात है। प्राकृत शरीर एवं प्राकृत स्थली से इसका किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है। यह भावदशा कई दिनों तक रही।

कुछ काल के पश्चात् भाव में परिवर्तन आया। अपनी भावदशा में ऐसा भान हुआ कि प्रियतम श्रीकृष्ण मान में हैं। कारण कुछ ज्ञात नहीं हो सका। इसी भावदशा में श्री महाराजजी नन्दगाँव से गोवर्धन चले आये थे। कुछ दिनों पश्चात् भावदशा में फिर परिवर्तन आया। अनुभूति हुई कि प्रियतम श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रसन्न हैं और उन्होंने समस्त सखी परिकर में आपको श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया हुआ है। अब श्री महाराजजी अपने नित्य सिद्ध सखी स्वरूप में नित्यप्रति अत्यन्त उल्लास से एक सुवर्ण थाल में सुन्दर रेशमी किनारीदार काछनी, ककही, छोटासा सुन्दर दर्पण सजाकर प्रियतम के पास ले जाते, अपने हाथों से काछनी धारण कराते, ककही से घुँघराली अलकावली सँवारते व श्यामसुन्दर का सुन्दर श्रृंगार कर उन्हें दर्पण दिखाते। इस सरस परिचर्या का क्रम कई दिनों तक चलता रहा। भावोदधि में निमग्न आपका रूप-मुग्ध ह्रदय सौन्दर्यवारिधि प्रियतम को सजाता-सँवारता ही रहा—

गोपी-स्वरूपमधिगम्य चिदात्मकं तं
माल्यान् विधाय तुलसी-दल मल्लिकाभिः।
आधाय भूषण-दुकूलसुकच्छ पट्टान्,
कृष्णप्रिया प्रियमुपैति लता-निकुञ्जे।।

निर्माय दिव्य-कुसुमैर्मणिबन्ध मौलि -
केयूर-बन्ध-कटि-पाद विभूषणानि।
ताम्बूल - दर्पण - सुकंकतिकाऽङ्गरागा
न्नाधाय याति रसिका परिचारिका सा।।[1]

उद्धव-क्यारी में प्रीतम के साक्षात्कार के पश्चात् प्रमुखतः इन तीन भाव-दशाओं में छह मास का समय व्यतीत हुआ। इस अवधि में आपके भाव-सागर में उत्तरोत्तर ऐसी कितनी उत्ताल तरंगें उठीं यह ज्ञात नहीं। अब तो नित्य स्वरूप से नित्य लीला का आस्वादन ही आपके लिए एकमात्र जीवन बन चुका था। जगत् की जड़ता से आपका सम्बन्ध सर्वथा छूट चुका था। प्राकृत शरीर का अस्तित्व एक मात्र भगवत्-प्रेरणा एवं आज्ञा पर ही टिका हुआ था। अब तो आप अहर्निश अपने निज स्वरूप से लीला साम्राज्य में ही तन्मय थे। इसके अतिरिक्त आगे क्या कहें कि मधुर रस परिप्लावित इन महापुरुष के गोपीस्वरूप की जय हो –

जयतु जयतु कुञ्जे कान्त-शृंगार लग्ना,
जयतु जयतु मुग्धा कृष्णलीला-निमग्ना।
जयतु जयतु कान्ता-कौमुदी-रश्मि धारा,
जयतु जयतु गोपी प्रेम-पीयूष-सारा।।[2]

अब श्री महाराजजी इस धरा पर स्वतन्त्र रूप से विचरण करने लगे। भगवान् को आपसे कुछ जनकल्याण का कार्य कराना था। कुछ काल तक गोवर्धन में निवास किया। उस बीच ब्रजमंडल में ही आप विचरण करते रहे। आपकी रहनी पूर्ववत् ही थी। एक छोटासा कटिवस्त्र, एक चादर, उस पर

१ और २. श्री विश्वम्भरशरण पाठक

एक काली कमली। यह काली कमली आप सतत बारह वर्ष तक प्रायः सभी मौसमों में ओढ़ते रहे। कभी किसी के सामने अपना शरीर खुला करके नहीं बैठते थे। भ्रमण-काल में आपके पास पात्र तक नहीं होता था।

एक बार आप मथुरा आये हुए थे। एक दिन, रात के बारह बजे आपको गोवर्धन जाने की धुन सवार हुई। बस, जैसे बैठे थे वैसे ही उठकर चल दिये। मौसम गर्मियों का था। पैदल ही गोवर्धन पहुँचे एवं जाते ही चौदह मील की परिक्रमा पूरी की फिर वैसे ही मथुरा के लिए लौट पड़े। आधे रास्ते में ही आये होंगे कि पूर्व परिचित दो सन्त मिले। उनके आग्रह पर आप पुनः गोवर्धन की ओर लौट पड़े और उनके साथ पुनः परिक्रमा की तथा पैदल ही वापस मथुरा आये। यह तो मानव शक्ति के बाहर का कार्य था। किसी प्रकार की थकावट का भी अनुभव नहीं किया। वैसे ही प्रफुल्ल वदन दीखते थे। दिव्य मस्ती में आपका मन इन सब बातों को छूता ही नहीं था। कोई अज्ञात शक्ति ही आपसे ऐसे कार्य करा लेती थी। अद्वितीय कान्तियुक्त, इन्दीवर के सदृश खिले हुये श्री महाराजजी के मुख को देखकर कोई भी यह अनुमान नहीं लगा सकता था कि आपका शरीर इतना कृश है। सिर से पैर तक एक-एक हड्डी गिनी जा सकती थी। आपके नेत्र तेजोमय, रसभरे एवं सदा ही अरुण वर्ण रहा करते थे।

एक बार श्री उड़ियाबाबाजी के आश्रम में श्री हरिबाबाजी ने सत्संग में कहा था कि रूखा-सूखा खाकर भी, शरीर अत्यन्त कृश होने पर भी, जिसका मुख कमलवत् प्रफुल्ल एवं तेजोमय हो वही वास्तविक सन्त है, साधक है। श्री महाराजजी ने भी अपने विरक्ति-काल में वर्षों घी-दूध के दर्शन तक नहीं किये थे।

व्रज-भ्रमण करते हुए आप प्रायः बीच-बीच में वृन्दावन आ ही जाते थे व कई-कई दिन रह जाते थे। नित्य श्रीबिहारीजी का दर्शन और रास-लीला का अवलोकन आप अवश्य ही करते थे। पहले की भाँति क्षेत्रों से अल्प मात्रा में भिक्षा ले लेते, इतस्ततः कहीं भी–बहुधा श्रीहरिवंशजी का मन्दिर, श्रीगोविन्ददेवजी का मन्दिर, चीरघाट, केशीघाट, दावानलकुण्ड आदि

स्थानों पर विश्राम कर लेते। ग्रीष्मकाल में प्रायः यमुनापुलिन ही आपका विश्राम स्थल होता। वृन्दावन में सदा प्रच्छन्न अपनी मस्ती में चूर, स्वछन्द विचरते रहते। किसी से कोई परिचय नहीं, कोई मित्रता नहीं। आपकी मस्ती, विरक्ति एवं तेजोमय मुखारविन्द के दर्शन कर लोग सहज ही आपकी ओर आकर्षित हो जाते। स्कन्ध पर झूमनेवाली आपकी अलकावली की रचना तेल इत्यादि न लगाने पर भी अति ही सुन्दर थी। कई लोग तो आपकी इस झूमती हुई अलकावली और मस्ती भरी चाल पर ही लट्टू हो जाते, परन्तु आप सदैव जनसंपर्क से बचने का ही प्रयास करते।

संध्या समय श्री बिहारीजी के दर्शन कर यदि आप कभी बाहरी चबूतरे पर कुछ समय के लिये बैठ जाते तो वहीं जन समूह एकत्रित हो जाता। कोई दण्डवत् प्रणाम करता, कोई मिठाई भेंट करता, कुछ तो निकट खड़े होकर आपको निहारते ही रहते। कई लोग घर चलने की प्रार्थना करते थे। यथासंभव आप टालते ही रहते। कभी किसी का अत्यधिक आग्रह देखते तो उसके यहाँ कुछ समय के लिये चले जाते थे। अत्यल्प मात्रा में कुछ खाकर और उससे कुछ संक्षेप में ही सत्संग चर्चा करके चले आते। भेंट स्वरूप दी हुई वस्तुओं को आप सस्नेह ले तो लेते, परन्तु उस व्यक्ति के जाते ही तुरंत ही उसे बाँट देते या किसी को दे देते थे।

मोतीरामजी दम्पती तथा लोकनाथ-मायावती का चरणाश्रय में आना

सन् १९४३ आषाढ़ मास, प्रातःकाल श्रीरंगजी मंदिर के पश्चिम द्वार के पास सामान की एक छोटी सी पेटी लिये हुए एक ब्राह्मण दम्पती बैठे हुए थे। वहीं काली कमली ओढ़े हुए अपनी मस्तानी चाल में श्री महाराजजी उसी द्वार से, उनके निकट से तेजी से चले जा रहे थे कि दम्पती का ध्यान सहज ही आपकी ओर आकृष्ट हुआ। ब्राह्मण ने दोनों हाथ उठाकर आपको प्रणाम करते हुए उच्च स्वर से कहा–"मेरा भी प्रणाम कहना उस नन्द के कुँवर से"। ये शब्द कानों में पड़ते ही आप चौंके और ठिठक कर खड़े हो गये। प्रत्युत्तर में राधेश्याम कहते हुए परिचय पूछा। ब्राह्मण का परिचय पाकर आपने उन्हें इन्दौर स्टेट की "श्रीअहिल्या बाई होल्कर की कुंज" में ठहरने एवं कभी-कभी मिलते रहने का निर्देश दिया और चले गये। "मेरा भी प्रणाम कहना उस नन्द के कुँवर से"। इस पंक्ति ने ब्राह्मण के लिये आपके हृदय में एक स्थान अंकित कर दिया।

इन ब्राह्मण का नाम मोतीरामजी था। ये मध्यप्रदेश के निमाड जिलान्तर्गत 'मोद' ग्राम के निवासी नार्मदीय ब्राह्मण थे। पेशे से पटवारी थे परन्तु सदा ही अपने इस कार्य में असफल रहे। कारण बचपन से ही अति सरल-चित्त एवं भोले-भाले थे। सन्तों के प्रति सहज इनका अनुराग था। किसी भी सांसारिक कार्य, यहाँ तक कि नौकरी की भी परवाह किये बिना कथा, कीर्तन, सत्संग या सन्त-दर्शन के लिये ये पहुँच जाते थे। अपने इसी स्वभाव के कारण कई बार ये नौकरी से भी निकाले गये। परिवार जन, विशेषकर इनके बड़े भाई इनसे अप्रसन्न रहने लगे। एक बार तो इन्होंने महत्त्वपूर्ण शासकीय कागज को महामन्त्र लिखकर भर दिया। वह कागज हस्ताक्षर के लिये जब तहसीलदार के पास गया तो वह आश्चर्य में डूब गया। बुलाकर पूछने पर मोतीरामजी अपनी त्रुटि पर संकुचित हो क्षमा याचना करने लगे।

कुछ समय पश्चात् राजयक्ष्मा रोग से आक्रान्त हो जाने से ये बहुत दुःखी रहने लगे। वृन्दावन की महिमा सुन रखी थी। इनके रोगाक्रान्त निराश

मन में वृन्दावन दर्शन करते हुए जगन्नाथपुरी जाकर समुद्र में शरीर छोड़ने का संकल्प जागा। परस्पर परामर्श कर ये सपत्नीक तीर्थ यात्रा के लिये निकले थे। पूर्व पुण्य कहें, सन्त कृपा कहें, भगवत् कृपा कहें या श्रीधाम की कृपा कहें, इन्हें वृन्दावन आकर श्रीरंगजी के द्वार पर श्री महाराजजी के दर्शनों का अमोघ लाभ प्राप्त हुआ।

श्री मोतीरामजी श्रीधाम में भिक्षावृति अपनाकर अकिंचन रूप से रहने लगे। जिस दिन जो कुछ मिल जाता उसी से सन्त-सेवा एवं अपना भी निर्वाह करते। दूसरे दिन के लिये कुछ भी बचाकर नहीं रखते थे। इनकी साध्वी पत्नी भी इनके कार्य में पूर्ण सहयोग करती थी। श्री महाराजजी इनकी रहनी से बहुत प्रसन्न थे। इनके दैन्य एवं आग्रह के कारण कभी-कभी कुछ समय के लिये आपको इनके निवास स्थान पर जाना पड़ता था। वहाँ अति स्नेह एवं सरल, निष्कपट भाव से इनके द्वारा निवेदित वस्तु को आप प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण भी करते थे।

जब कभी श्री महाराजजी वृन्दावन से मथुरा, गोवर्धन या नन्दगाँव चले जाते और उन्हें वहाँ अधिक दिन हो जाते, तब श्री मोतीरामजी इनके दर्शन के लिये व्याकुल होकर ढूँढने निकल पड़ते। इनके भाव के अनुकूल आप इन्हें कहीं न कहीं मिल ही जाते तथा इनके प्रेम व परिश्रम को देखकर इनके साथ वृन्दावन लौट आते। वैसे श्री–जी किसी गृहस्थ के घर नहीं रहते थे परन्तु मेरे श्रीधाम आने के पश्चात् कभी-कभी मुझे लेकर इनके यहाँ रह भी जाते थे। श्री–जी के प्रति पूर्ण समर्पित ये दम्पती आजीवन उनकी सेवा में ही रहे। श्री मोतीरामजी के श्रीधाम आने के एक वर्ष बाद एक वैश्य दम्पती "लोकनाथ, मायावती" रींवा से श्रीधाम दर्शन के लिये आए। रींवा निवासी एक कृष्णानुरागी एवं धनी सेठ श्री रामेश्वरजी ने इन्हें वृन्दावन के लिये प्रेरित किया था। ये नित्य रास-दर्शन एवं श्री बिहारीजी के दर्शन करते।

एक दिन श्री मोतीरामजी से इनकी भेंट हो गई। भावुक दम्पती को श्री–जी के दर्शन करवाने के लक्ष्य से श्री मोतीरामजी अपने घर ले आये। इनकी भावुकता देख श्री–जी ने कुछ सत्संग चर्चा सुनाने की कृपा की और

श्रीधाम वास करने का आदेश दिया। ये घर से सम्पन्न थे। श्री–जी के आदेशानुसार भट्ट गली में एक छोटासा मकान किराये पर ले सुख पूर्वक साधनामय जीवन-यापन करने लगे। घर पर माता पिता थे। दोनों छोटे भाइयों ने व्यापार कार्य सम्हाल लिया था। दम्पती कुछ समय के लिये घर पर भी रह आते थे।

लोकनाथजी सरल हृदय एवं भगवदानुरागी थे, परन्तु व्यावहारिकता का निर्वाह भी कुशलता पूर्वक कर लेते थे। साधना के क्षेत्र में इनकी पत्नी मायावती इनसे दो कदम आगे ही थी। श्री–जी के आज्ञानुसार श्रीधाम में रहते हुए कभी किशोरवन में, कभी रसिकबिहारीजी की लताओं के नीचे बैठ कर वह तीन लक्ष नाम-जप नित्य करती थी। जब कभी रींवा जाती तो घर पर भी इस नियम का पालन दृढ़ता पूर्वक किया करती थी। एक बार श्री–जी इनके आग्रह पर रींवा गये। जब आपने रींवा के लिये प्रस्थान किया तो सतना स्टेशन पर एक घटना हुई। अत्यधिक भीड़ होने से आपको टिकिट नहीं मिल रहा था। अचानक एक व्यक्ति ने आपको रींवा का टिकिट देते हुये कहा– "आपको रींवा का टिकिट चाहिए न ? यह लीजिये। मुझे जाना था पर अब नहीं जा रहा हूँ।" आप उससे टिकिट लेकर ट्रेन में बैठ गये। आपके रींवा पहुँचने पर दम्पती के आनन्द की सीमा नहीं रही। कुछ ही दिनों का परिचय होने से ये लोग श्री महाराजजी के स्वभाव, आहार-विहार आदि से पूर्णतया परिचित नहीं थे। पूरे परिवार ने बहुत ही आदर-पूर्वक एवं उत्साह से श्री महाराजजी का स्वागत-सत्कार किया। गरमी का मौसम होने से एक ताजा सा सुस्वादु तरबूज बाजार से लाकर श्री–जी को खिलाया। भोजन के विषय में पूछने पर कि "आप भोजन में क्या लेते हैं ?" श्री–जी ने विनोद में कह दिया–"मैं आजकल तरबूज खाकर ही रहता हूँ।" सरल हृदय दम्पती ने इसी बात पर विश्वास कर लिया। भोजन के स्थान पर तरबूज ही दिया जाने लगा। उनकी तो यही धारणा थी कि साधु-संतों की दिनचर्या स्वतन्त्र रहती है। वे सात्विक आहार ही लेते हैं। आप भी कुछ न कहकर तरबूज ही लेते रहे। इस प्रकार पन्द्रह-बीस दिन व्यतीत हो गये। श्री–जी की विशेष याद सताने पर

श्री मोतीरामजी रींवा जा पहुँचे श्री–जी के दर्शन के लिये। भोजन के समय श्री–जी को तरबूज पाते हुए देख उन्हें बड़ा ही कष्ट हुआ। उन्होंने लोकनाथ जी को ऐसे व्यवहार के लिये कुछ कड़े शब्द भी कहे, परन्तु दम्पती के सरल स्वभाव को देखकर अधिक क्या कहते ? उसी समय भोजन बनवाकर श्री–जी को पवाया गया।

तीन-चार दिन पश्चात् श्री–जी ने मोतीरामजी सहित श्रीधाम के लिये प्रस्थान किया। चलते समय लोकनाथजी ने पाँच सौ रुपये एवं पर्याप्त कपड़ा भेंट स्वरूप प्रदान किया। मोतीरामजी ने तो सोचा था कि वृन्दावन पहुँचकर इससे बहुत दिनों तक श्री महाराजजी की सेवा हो जायेगी, परन्तु मथुरा स्टेशन पर पहुँचते-पहुँचते केवल बीस रुपये बच गये थे। श्री–जी ने सारा कपड़ा एवं रुपये बँटवा दिये थे।

बहुत दिनों पूर्व श्री–जी के पैर के अँगूठे में एक काँटा लग गया था। असावधानीवश अँगूठा पक गया व सूजन हो गई थी। असह्य वेदना होने लगी। इलाहाबाद स्टेशन पर मोतीरामजी आपको यात्री प्रतीक्षालय के पास वाले रेलवे दवाखाने में ले गये। डॉक्टर ने चीरा लगाकर पट्टी बाँध दी। बड़ी कठिनता से ताँगे में बैठकर मोतीरामजी आपको यात्री निवास में ले आये। यहाँ आप तीन दिन रहे। पास में लोकनाथजी के दिये रुपये थे ही; अतः मोतीरामजी को उपचार करवाने में कोई असुविधा नहीं हुई। यात्री निवास में भी आपसे आकर्षित होकर आपके आस-पास लोग इकट्ठे हो जाते थे। अपनी अस्वस्थता की स्थिति में भी आप उनको सत्संग-चर्चा से कृतार्थ करते रहते।

चौथे दिन आपको श्रीधाम जाने की इच्छा हुई, परन्तु आप अभी भी चलने-फिरने में असमर्थ थे। मोतीरामजी के सामने यह समस्या थी कि कैसे आपको प्लेटफार्म तक ले जाया जाय ! भीड़ के कारण टिकिट मिलना भी कठिन हो रहा था। सब कुछ भगवद्-इच्छा पर छोड़कर आप प्रशान्त-प्रसन्न वदन बैठे हुए थे।

आप जहाँ रुके थे, वहीं आप से कुछ दूरी पर श्री निर्विकारानन्दजी नामक एक युवक-संन्यासी आकर ठहरे। उनके पास हाथी दाँत की एक सुन्दर श्रीकृष्ण मूर्ति को देखकर श्री महाराजजी का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ। आपने मोतीरामजी को परिचय प्राप्त करने के लिये उनके पास भेजा। वे सेवा-पूजा में तन्मय थे। पूछने पर ज्ञात हुआ कि उन्हें भी वृन्दावन ही जाना है। मोतीरामजी ने उन्हें श्री महाराजजी का परिचय देते हुए वृन्दावन जाने की बात बताई। अपनी सेवा-पूजा समाप्त कर युवक संन्यासी श्री–जी के पास आये। दण्डवत्-प्रणाम के पश्चात् श्री–जी के स्वास्थ का हाल एवं उनके वृन्दावन जाने का मन्तव्य जानकर वे तुरन्त ही स्टेशन गये, स्टेशन मास्टर से मिलकर व्हीलचेयर का प्रबन्ध किया एवं टिकिट भी ले आये।

प्लेटफार्म पर पहुँचकर वे श्री–जी को ट्रेन में बैठाने का प्रयास कर ही रहे थे कि गाड़ी ने सीटी दे दी। सब घबड़ा गये। गाड़ी सीटी पर सीटी दे रही थी पर चल नहीं रही थी। कुछ यूरोपियन ऑफिसर्स एवं गार्ड नीचे उतर आये। वे सोच में पड़ गये थे कि ड्रायवर के प्रयत्न करने पर भी आखिर गाड़ी चल क्यों नहीं रही है ? अचानक उनकी दृष्टि श्री महाराजजी पर पड़ी। उनके तेजोमय मुखमंडल को देखकर उन्हें यह समझने में देर न लगी कि गाड़ी इन्हीं महात्मा के चढ़ने की प्रतीक्षा कर रही है। (ऐसी घटनायें पहले भी कई बार हो चुकी थीं।) सबने मिलकर आदर एवं प्रयत्न पूर्वक श्री–जी को ट्रेन में बैठाया और गाड़ी चल पड़ी। श्री निर्विकारानन्दजी भी आपके साथ ही बैठ गये। संन्यासी-महात्मा आपकी सत्संग-चर्चा से बहुत ही प्रभावित एवं प्रसन्न हुए। वृन्दावन में मोतीरामजी आपको अपने घर ही ले आये। दम्पती तन-मन से आपकी सेवा करते रहे। अँगूठे में काफी गहरा घाव था। मोतीरामजी डॉक्टर होतीचन्दजी को श्री–जी के उपचारार्थ घर ले आये। ये डॉक्टर साहब कुछ समय से सपरिवार वृन्दावन-वास कर रहे थे। सन्तसेवी तो थे ही। यहाँ इनका भी कुछ परिचय देना उपयुक्त होगा। सिन्ध प्रान्त के निवासी होने से लोग इन्हें सिन्धी डॉक्टर भी कहते थे। जीविका के लिये ये अपने ही औषधालय में केवल चार घण्टे कार्य करते थे, बाकी

समय सत्संग, रास-दर्शन आदि में व्यतीत करते थे। ये श्री हरिबाबाजी महाराज के कृपापात्र थे। श्री मोतीरामजी से इनका सामान्य परिचय था। इनको मोतीरामजी श्री महाराजजी के दर्शन करवाना चाहते थे, परन्तु उन्हें भोला-भाला ब्राह्मण समझकर इन्होंने उनकी बात पर विशेष गौर नहीं किया।

सन्त-कृपा कब, किस पर कैसे होती है, इसका अनुमान लगाना कठिन है। एक दिन श्री महाराजजी अपनी वही काली कमली ओढ़े हुए डॉक्टर साहब के औषधालय के सामने से द्रुत गति से जा रहे थे कि मोतीराम जी ने जो वहीं बैठे थे, जल्दी से कहा–"देखिये, देखिये, डॉक्टर साहब! ये वे ही महात्मा हैं, जिनके विषय में मैं आपसे कहा करता हूँ।" होतीचन्दजी इन्हें देखते ही रह गये। ब्राह्मण का संकल्प पूरा हुआ। अँगूठे के उपचार के बहाने श्री महाराजजी की कृपा ने इन्हें खींच ही लिया। वे इनके प्रतिदिन पट्टी बाँधने आने लगे तो कुछ न कुछ सत्संग लाभ भी होने लगा। आपके पथ्य, दूध आदि की व्यवस्था डॉक्टर साहब ने ही कर दी। श्री महाराजजी का स्वास्थ धीरे-धीरे ठीक होने लगा। सत्संग के प्रभाव से डॉक्टर साहब की भी श्री महाराजजी पर अटूट श्रद्धा हो गई। ये नित्य प्रति आपके दर्शन के लिये आने लगे।

इन्हीं दिनों अहमदाबाद से एक रिटायर्ड स्टेशन मास्टर (श्रीरामराम महाराज) सपत्नीक वृन्दावन आये। श्री मोतीरामजी ने इन्हें श्री–जी के दर्शन कराये। उनके सत्संग के प्रभाव से इन्होंने भी वृन्दावनवास कर लिया। हाइकोर्ट जज टाट वाले श्री नारायण स्वामीजी की शिष्या रामप्यारी (मीराजी) भी सत्संग सुनने आने लगीं। इन्हीं दिनों इलाहाबाद हाइकोर्ट के वकील श्री बाँकेबिहारीजी भी वृन्दावन-वास करने आ गये थे। ये श्री महाराजजी की विरक्ति, अनुरक्ति से बहुत प्रभावित थे और सत्संग में नित्य आया करते थे। श्री महाराजजी अब पूर्णरूपेण स्वस्थ हो गये थे। वैसे तो स्वतन्त्र रूप से विचरण करते रहते पर अब प्रायः वृन्दावन में ही रहते थे। कभी-कभी मोतीरामजी के घर या लोकनाथ-मायावती के घर आते रहते थे। वे जब भी आते मोतीरामजी दौड़कर सबको श्री–जी के आने की सूचना दे आते। सभी अपना-अपना आवश्यक काम भी छोड़कर दर्शनों के लिये आ जाते व घन्टों तक सत्संग होता।

एकदिन रात्रि के आठ बजे श्री–जी लोकनाथजी के घर शान्त वृत्ति से बैठे हुए थे। धीरे-धीरे सभी लोग आ गये। सत्संग प्रारम्भ हुआ। श्री महाराजजी भाव-गम्भीर स्थिति में श्रीकृष्ण के रूप-माधुर्य की चर्चा कर रहे थे। सभी अविचल स्थिति में बैठे हुए एकाग्र मन से श्रवण में तन्मय हो रहे थे। एकाएक डॉक्टर साहब उठकर भागे और सामने की दीवार से जा टकराये। चश्मा फूट गया। स्वयं भी शिथिल होकर जमीन पर एक ओर चुपचाप बैठ गये। जब कुछ प्रकृतिस्थ हुए तो श्री–जी के पूछने पर आपने बताया–"आप श्रीकृष्ण का जैसा रूप वर्णन कर रहे थे, उसी रूप में मुझे श्रीकृष्ण स्फुरित हुए। मैं आतुरता से उन्हें पकड़ने भागा तो वे अदृश्य हो गये। जब टकराया तो ज्ञात हुआ कि यहाँ दीवार है।" इस घटना के बाद डॉक्टर साहब की श्रद्धा में और भी निखार आया। वे श्री–जी के स्वरूप को यथातथ्य समझने लगे।

सत्संग प्रतिदिन होता था। यह सत्संग-चर्चा श्री महाराजजी के ब्रज गोपीभाव के अनुरूप ही होती थी। एकदिन श्री महाराजजी तन्मयता से ब्रजगोपी-चर्चा सुना रहे थे। लोकनाथ, मायावती आदि सभी सत्संगी जन दत्तचित्त हो सुन रहे थे, इसी मध्य मायावती ने आपका आधा मुख गोपी रूप में तथा नासिका में बेसर धारण किये हुए देखा।

एकबार श्री महाराजजी के साथ ये सभी सत्संगी जन बरसाने गये थे। श्री लाड़िलीजी के दर्शन कर सभी ने मंदिर के सामने वाले बरामदे में विश्राम किया। सभी लोग गाढ़ निद्रा में थे। रात्रि के लगभग एक बजे मंदिर के पीछे के द्वार से किसी नारी कंठ की आवाज आई–"दरवाजा खोलो, दरवाजा खोलो।" यह ध्वनि सुनकर केवल मायावती की निद्रा भंग हुई और उसने उठकर द्वार खोला। देखा–एक दिव्य गोपी द्वार पर खड़ी है। द्वार खुलते ही वह अन्दर आई और मायावती के देखते-देखते मंदिर में प्रवेश कर गई। मंदिर के सभी द्वार बंद थे। मायावती के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। प्रातःकाल उससे यह घटना सुनकर श्री महाराजजी ने कहा–'तुम्हें श्री लाड़िलीजी की सखी के दिव्य दर्शन हुए हैं" ।

पहले भी कहा जा चुका है कि मायावती की साधना का धरातल अपने पति लोकनाथजी से काफी ऊपर उठा हुआ था। वह सांसारिकता से सर्वथा उपरत थी और उसे भगवत्-प्राप्ति की तीव्र उत्कंठा थी। उसका समर्पण सच्चा था। वह श्री महाराजजी की छोटी से छोटी आज्ञा को भी पूर्ण महत्त्व देकर पालन करती थी। तीन लाख नाम-जप का नियम तो उसने आजीवन पालन किया। सत्संग सुनते समय एवं नाम-जप करते समय मायावती के रोमाञ्च, अश्रु , पुलक आदि सात्विक भाव जाग्रत हो जाते थे। श्रीकृष्ण-दर्शन करने के लिये वह मचल जाती व रो-रोकर श्री महाराजजी के चरणों मे प्रार्थना करती। वह इस संसार में ही बहुत कम समय तक रही परन्तु श्री महाराजजी की अपार कृपा, अपनी दृढ़ निष्ठा एवं लगन के सहारे अनेकानेक प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए, अल्पावधि में ही उसने अपना जीवन सफल बनाया और लक्ष्य को प्राप्त कर लियां।

किस जीव के क्या संस्कार हैं , कौनसा जीव किस प्रकार स्वीकार किया जाता है और किस पर कैसी कृपा होती है, कुछ कहा नहीं जा सकता। मायावती के जीवन में भी एक दुःखद घटना ने जो मोड़ ला दिया, वह हृदय द्रावक है। एक बार पति-पत्नी में कारणवशात् कुछ कहा-सुनी हो गई और बात तूल पकड़ गई। लोकनाथजी मनस्ताप के वशीभूत होकर कहीं चले गये, फिर लौटकर नहीं आये। इन दिनों लोकनाथजी का भतीजा भी इनके पास ही था। इस घटना में अपने को ही कारण मानकर मायावती बहुत व्याकुल हो गई और शरीर त्यागने का विचार करने लगी। पूज्य श्री महाराजजी सत्संग द्वारा उसे सान्त्वना देने का प्रयास किया।

एक दिन महाराजजी उसकी अति व्याकुलता देख आवेश में आ गये। वे भावमत्त स्थिति में सत्संग सुना रहे थे। उस दिन मायावती के अतिरिक्त अन्य भी कई लोग वहाँ थे, जिनमें मध्यप्रदेश, धरगाँव के निवासी साधक कोटि के श्री नागेश्वरबाबा भी बैठे थे। उनका शरीर काँपने लगा और वे एकाएक उठकर चले गये। सत्संग के आवेग को सम्हाल पाना सभी को कठिन हो रहा था। वातावरण में मत्तता छा रही थी। ऐसा लग रहा था कि

सत्संग के मध्य अभी-अभी श्रीकृष्ण प्रकट हो जायेंगे, जिसे हम सहन नहीं कर पायेंगे। यह घटना गंगा-मंदिर की है। इन दिनों, मैं श्री–जी के चरणाश्रय में आ चुका था। मंदिर का वातावरण श्रीकृष्ण-स्फूर्ति से भरा हुआ था।

अन्ततोगत्वा तीन दिनों के सतत सत्संग के प्रयास से मायावती का मन शान्त हुआ। श्री–जी ने "अपनी जप की मालायें" उसे दीं व समझा-बुझाकर लोकनाथ जी के भतीजे के साथ रींवा भेज दिया। मायावती रींवा में अपने पितृगृह में रहने लगी और और भी अधिक तीव्रता से अपनी साधना में संलग्न हो गई।

मायावती के रींवा पहुँचने के पश्चात् लोकनाथजी के बड़े भाई उनकी खोज में श्रीधाम आये। उन्हें सन्देह था कि लोकनाथजी कहाँ हैं, यह बात श्री महाराजजी को ज्ञात है। उन्होंने श्री–जी को धमकी देते हुए कुछ अशोभन शब्दों का प्रयोग किया। श्री–जी सब कुछ शान्त रूप से सुनते रहे। सन्त भले ही अपने स्वभावानुकूल मान-अपमान तटस्थ भाव से सहन कर लें, परन्तु भगवान् अपने जनों की अवज्ञा सहन नहीं कर सकते।

"साधु अवज्ञा तुरत भवानी । कर कल्यान अखिल के हानी।।"

लोकनाथजी के भाई रींवा जाते ही पागल हो गये, घर में आग लग गई, पुत्र ट्रक-दुर्घटनाग्रस्त हो गया और उसका पैर टूट गया। मायावती ने अपने परिवार जनों को सजग किया–"देखो, यह सिद्ध महापुरुष के प्रति किये गये अपराध का परिणाम है।" उसने अपने श्वसुरालय एवं पित्रालय के परिवारजनों से दृढ़ता पूर्वक कह दिया कि यदि मुझे घर में रहने देना चाहते हो तो इस मिथ्या दोषारोपण एवं अशोभन व्यवहार के लिये महाराजजी से क्षमायाचना करो। यदि किसी ने महाराजजी के साथ अपव्यवहार किया तो श्री लोकनाथजी के समान मुझसे भी हाथ धो बैठोगे। संसार की कोई शक्ति मुझे रोक नहीं सकती। उसकी अपूर्व निष्ठा, तेजस्विता व निर्भीकता देखकर सब सहम गये। श्री महाराजजी को बहुत अनुनय-विनय पूर्वक रींवा बुलाया व चरणों में गिरकर क्षमा माँगी। इस बार की रींवा-यात्रा में मैं भी श्री महाराजजी के साथ था।

मायावती को तीन दुःख सदा ही सालते रहे। प्रथम तो यह कि पति के चले जाने में वह कारण बनी। दूसरा, श्रीधाम वास से वंचित होना पड़ा। तीसरा, भाग्य से जिन महापुरुष का सत्संग प्राप्त हुआ था, वह अब सुलभ नहीं रहा। इन दुःखों ने राजयक्ष्मा रोग का रूप धारण कर उस पर आक्रमण कर दिया। क्रमशः उसका शरीर क्षीणता की ओर अग्रसर होने लगा; पर शरीर की परवाह किये बिना वह अभीष्ट-प्राप्ति की दृढ़ उत्कंठा लिये साधना में लगी रही।

श्री महाराजजी रींवा सात दिन रहे। उसकी सान्त्वना व शान्ति के लिये नित्य ही सत्संग होता रहा। मायावती के परिवार-जन भी चित्रवत् सत्संग सुनते थे। सत्संग-चर्चा से इन लोगों के मन का सारा मालिन्य धुल गया। वे अति स्नेह व श्रद्धा से श्री–जी की सेवा करने लगे। चलते समय मायावती ने श्री–जी के चरणों में रो-रोकर धाम बुला लेने की अतीव कातर प्रार्थना की। श्री–जी उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए उसे साधना में तीव्रता से लगे रहने की आज्ञा देकर श्रीधाम लौट आये। मायावती ने श्री–जी की आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। किसी भी परिस्थिति में उसने तीन लक्ष नाम जप कभी छोड़ा नहीं। मायावती को साधनाकाल में कई अनुभूतियाँ भी हुईं।जब भाव जाग्रत होता तो पसीने से नहा जाती थी। एक बार उसे गन्ना चूसते हुए श्रीकृष्ण के दर्शन हुए।

श्री–जी को रींवा से आये कुछ महीने व्यतीत हो गये थे। (सन् १९४७) इस समय श्री देवीजी का आगमन श्री–जी के चरणाश्रय में हो चुका था, जिसका वर्णन आगे विस्तार से किया जायेगा। श्री–जी और मैं श्रीधाम से मंडलेश्वर गये हुए थे। वहीं से एकाएक श्री–जी का विचार पुनः रींवा जाने का हो गया। अब की बार मेरे अतिरिक्त श्री–जी के साथ श्री माँगीलालजी, श्री नागेश्वरबाबा एवं वहीं की एक माताजी भी थीं। हम सब मायावती के घर न रुककर इस बार रामेश्वरजी की धर्मशाला में ठहरे। प्रतिदिन मायावती के घर जाते व घण्टों तक सत्संग-चर्चा होती। आठ दिन वहाँ रहकर जब श्री महाराजजी चलने लगे तो मायावती के आँसू बाँध तोड़कर बह निकले।

उसने अपने पवित्र आँसुओं की गंगा से श्री–जी के चरणों का प्रक्षालन कर पुनः - पुनः धाम बुलाने की कातर प्रार्थना की। भगवत्-प्राप्ति की उसकी उत्कंठा एवं व्याकुलता हृदय विदीर्ण करने वाली थी। उस समय मैं श्री–जी के पास उपस्थित था। श्री–जी ने आश्वासन पूर्वक सत्संग-चर्चा से उसे सान्त्वना दी। संभवतः उसे यह आभास हो गया था कि "मैं अन्तिम बार श्री–जी का दर्शन कर रही हूँ।"

श्रीधाम लौटने के कुछ महीनों बाद एक दिन गंगा-मंदिर की छत पर श्री–जी और मैं सो रहे थे। अर्ध रात्रि का समय होगा। श्री–जी चौंककर उठ बैठे। मुझे जगाकर पूछा – "तुमने क्या अभी-अभी मेरा अँगूठा छुआ था" ? मेरे अस्वीकार करने पर वे पुनः लेट गये। दूसरे दिन भी यही हुआ। तीसरे दिन श्री–जी पुनः चौंककर उठ बैठे व मुझे जगाकर कहने लगे–"अभी-अभी एक दिव्य आत्मा आकर मेरे समक्ष खड़ी हो गई। कहती है–मुझे वृन्दावन वास करायें, यह आत्मा कौन होगी ? कहीं मायावती पधार तो नहीं गई ? तुम पत्र लिखकर पता लगाओ"। उसी समय मैंने पत्र लिखा। वहाँ से उत्तर आया कि आठ दिन पूर्व श्रीधाम की स्मृति करते हुए मायावती ने शरीर छोड़ दिया है। श्री महाराजजी प्रसन्नता पूर्वक कहने लगे–"बस, अब मुझे चिन्ता नहीं रही, मायावती की आत्मा श्रीधाम आ चुकी है। वह यहाँ के सखी-परिकर में आकर मिल गई है।"

मायावती श्री–जी की सर्वप्रथम कृपापात्र थी। श्री–जी के यथातथ्य आज्ञा-पालन में वे सर्वाग्रगण्य हो गई तथा अपने जीवन का पूर्ण लक्ष्य प्राप्त करके नित्यधाम पधारी।

कृपा-किरण

आज जब कि लिखते-लिखते कलम हाथ में ही रुक गई है, हृदय संकोच से गड़ा जा रहा है, उन्हीं की चिर परिचित कृपा का स्मरण कर कुछ लिखने के लिये साहस बटोरने का प्रयास कर रहा हूँ। जिन्होंने बड़े ही विचित्र ढंग से हमेशा-हमेशा के लिये अपनाकर अत्यन्त दुर्लभ अपना संग दिया, धाम-वास दिया। अधिक क्या कहूँ, उनकी कृपा-किरण ने जो दिया वह "गूँगे के गुड़" की भाँति अवर्णनीय वस्तु ही है। यथाप्रसंग, श्री–जी के चरित्र का ही एक अंश होने से मुझपर उनकी जो 'कृपा वृष्टि' कभी अबाध रूप से हुई उसका उल्लेख न करना भी एक अपराध ही होगा। अपने निजजनों एवं पाठकगणों से मेरा विनम्र निवेदन है कि **"सार सार को गहि रहें थोथा देहिं उड़ाय"** का अवलम्बन कर मेरी धृष्टता को क्षमा करें।

श्री महाराजजी का दर्शन होने के पूर्व के घटनाक्रम का उल्लेख करना आवश्यक है। संसार के घोर कलुषित वातावरण में अवस्था के २३ वर्ष व्यतीत हो चुके थे, किन्तु भगवत्-कृपा ने अभी तक मुझे गृहस्थ बन्धन से मुक्त ही रखा था। ममतामयी जननी की ममता का एक दृढ़ बन्धन अवश्य था। इसी समय सर्वत्र व्याप्त सन्त-कृपा ने हाथ पकड़ लिया और एक क्षण में सर्व बन्धनों से मुक्त कर श्रीधाम में अपना चरणाश्रय प्रदान कर दिया। इसमें निमित्त बने एक अन्य सन्त, जो श्री रामकृपालुजी महाराज के नाम से जाने जाते हैं। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ उल्लेखनीय है।

उस समय श्री रामकृपालुजी की २० वर्ष की अवस्था थी। ये श्रीकृष्ण-प्रेम में सदा मत्त रहते थे। जब भाव-विभोर होकर कीर्तन करते तो पाषाण हृदय भी पिघल जाता था। कीर्तन में नयनों से अविरल अश्रुप्रवाह बहता रहता था। नेत्र-प्रान्त सदैव आरक्त एवं सूजे हुए रहते थे। श्रीकृष्णलीलानुभव में आप मूर्च्छित हो जाते थे। खाने,पीने, सोने तक की सुधि आपको नहीं रहती थी। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् भी थे। कालान्तर में इनका मिलन श्रीधाम में श्री महाराजजी से भी हुआ था। श्री–जी ने इन्हें भाव गोपन रखने के लिये सजग किया। ये महेश्वर (पश्चिम निमाड़, मध्य प्रदेश, मेरा निवास

स्थान) आये हुए थे। इनके सात दिन के संग ने ही मुझे संसार से विरक्त कराकर श्रीधाम वृन्दावन पहुँचा दिया। साधकों के लिये उपदेश रूप में इनकी चार बातें प्रमुख उल्लेखनीय हैं –

(१) नाम-स्मरण

(२) सतत नामस्मरण

(३) विश्वास-पूर्वक सतत नाम-स्मरण

(४) सर्वदा भगवद्-बुद्धि रखते हुए विश्वास पूर्वक सतत नामस्मरण, इनका मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा।

सन् १९४५ का श्रावण मास था। मैं अचानक वृन्दावन धाम पहुँच गया। यहाँ आकर गोपीनाथ बाजार की धर्मशाला में रहा। मैं गोविन्द बाग होता हुआ श्री बिहारीजी के दर्शनों के लिये नित्य जाता था। एक दिन श्री मोतीरामजी अचानक मिल गये। मेरे ही प्रान्त के निवासी होने से इनसे मेरा सामान्य परिचय था, परन्तु कहाँ रहते हैं, यह ज्ञात नहीं था और इसकी आवश्यकता भी महसूस नहीं हुई। मैं पूर्णतः भगवदीय योगक्षेम पर निर्भर होकर ही किसी सिद्ध सन्त की खोज में श्रीधाम आया था। उस समय क्या पता था कि इन्हीं को निमित्त बनाकर श्री महाराजजी के रूप में मेरे आराध्यदेव की कृपा-किरण मेरे तिमिराच्छन्न मानस को आलोकित करने वाली है।

एक दो दिन पश्चात् मैं इनके घर की ओर से बिहारीजी दर्शन के लिये जा रहा था कि देखा–गृह-द्वार के बाहर मार्ग पर ही दोनों हाथ जोड़े ये विनम्र भाव से एक सन्त से बातें कर रहे थे। मैंने भी निकट जाकर उन सन्त को प्रणाम किया। श्री मोतीरामजी ने धीरे से मेरे कान में कहा–"ये बहुत बड़े सन्त हैं, इनके चरण छुओ।" मैंने शीघ्रता से अपने दोनों हाथों से उनके चरण पकड़ लिये और मस्तक चरणों पर रख दिया। ये ही मेरे जीवनाश्रय श्री महाराजजी थे। वैसे आप किसी को चरण छूने नहीं देते थे और न किसी से परिचय बढ़ाने में ही आपकी रुचि थी। मेरे चरण छूते ही "यह क्या करते हो" कहते हुए दो कदम पीछे हट गये। मोतीरामजी ने मेरा परिचय दिया। "बहुत अच्छा, बहुत अच्छा" कहते हुए वे वहाँ से चले गये।

एक-दो दिनों के अन्तराल से मैं पुनः आपके दर्शन के लिए श्री मोतीरामजी के घर गया। आप अन्दर के कमरे में बैठे थे। मोतीरामजी ने मुझे दर्शन देने के लिये आपसे विनय की तो आपने कुछ नाराजी प्रदर्शित करते हुए यह कह दिया कि "मुझे किसी से नहीं मिलना है। श्रीधाम में मैं किसी से परिचय बढ़ाना नहीं चाहता।" उस दिन लौट आना पड़ा। फिर एक दिन दर्शनों की आशा लिये गया। मेरे आने की आहट पाकर आप शीघ्रता से दूसरी मंजिल के कमरे में छिपकर बैठ गये। नया-नया वैराग्य होने से हृदय में दैन्य तो था ही, अपने भाग्य पर दुःखी होकर वहीं बैठा-बैठा रोने लगा। सोचने लगा—मैं कितना पापी हूँ, जो सन्त मुझे दर्शन देना नहीं चाहते। मैं सिर नीचा किये पश्चात्ताप के अश्रु बहा रहा था, इतने में क्या देखता हूँ कि अन्तर्यामी महाराजजी ऊपर के कमरे से उतर कर मेरे सामने आकर बैठे हैं। आपके दर्शनों से हृदय शान्त हुआ। कुछ भगवत्-चर्चा सुनाकर आप अन्यत्र चले गये। धाम आते समय महू में एक परिचित परिवार में रुका था। उन्होंने पाथेय स्वरूप जो कुछ साथ में रख दिया था, उसी में से प्रतिदिन एक टुकड़ा खाकर यमुना जल पी लेता था। भिक्षा माँगने का अभ्यास नहीं था। कहीं कोई परिचित नहीं था। किसी प्रकार गोपीनाथ बाजार धर्मशाला में एक कमरे का प्रबन्ध हो गया था। वहीं आकर पड़ जाता था। नाम-स्मरण सतत करता रहता था। कुछ समय पश्चात् वंशीवट के सामने ग्वालियर वाली छोटी कुंज में, जहाँ श्री रामकृपालुजी महाराज ठहरे हुए थे, आकर रहने लगा। वे तो शीघ्र ही अन्यत्र चले गये। वहाँ के मंदिर के एक बालक पुजारी श्री बालगोविंदजी, जो वहीं रहते थे, मुझे ठाकुर भोग में से भिक्षा दे देते थे। उन दिनों वृन्दावन में साम्प्रदायिकता का भरपूर साम्राज्य था। साम्प्रदायिकता में मेरी आस्था नहीं थी। श्री महाराजजी के प्रति हृदय पूर्ण रूपेण आकर्षित हो चुका था, परन्तु वे मिलने का अवसर ही नहीं देते थे। मन अशान्त रहने लगा। कुछ दिन इसी प्रकार भटकता रहा, परन्तु कहीं भी मनोनुकूल सन्ताश्रय नहीं मिला, तो घबड़ा गया। एक दिन निराश होकर वृन्दावन छोड़ कर चले जाने का निश्चय किया। श्री मोतीरामजी के पास आकर कहा—"मैं कल सुबह वृन्दावन छोड़कर जा रहा हूँ। अब मुझे इहा

भी यहाँ नहीं रोक सकता"। मैं तो वहाँ से चला आया पर मोतीरामजी ने मेरा मंतव्य श्री–जी को सुना दिया। श्री–जी ने गम्भीर वाणी में उन्हें आदेश दिया–"अच्छा, आज शाम को उन्हें यहाँ बुला लेना"। मोतीरामजी के संकेतानुसार मैं जब शाम को वहाँ पहुँचा, तो देखा श्री महाराजजी पहले से ही वहाँ विराजमान हैं। चरण-स्पर्श कर समक्ष बैठ गया। मोतीरामजी भी पास ही बैठे थे। कुछ समय तक गृह-परिचय और वृन्दावन में कालयापन से सम्बन्धित बातें पूछते रहे।

रात्रि के आठ बजे बातों ही बातों में आपने सत्संग-चर्चा प्रारम्भ कर दी। मैं नया था ही। इस प्रकार की चर्चा सुनने का यह प्रथम अवसर था। ऐसा लगा मानो जन्मान्तरों से प्यासे जीव की प्यास बुझाने सन्त-मुख से सत्संग की गंगा स्वतः प्रवाहित हो रही थी। मस्ती में झूमते हुए आप केवल मुझे ही लक्ष्य करके चर्चा कर रहे थे। आपके नेत्र किसी मद में चूर से, आरक्त, रसीले हो रहे थे। कमरे में टिमटिमाने वाला एक छोटा सा दीपक संभवतः आपकी नेत्र-ज्योति से स्पर्धा करने में अपने को असमर्थ पा बुझ गया था। मैं मन्त्र-मुग्ध सा सुन रहा था। न आलस्य, न प्रमाद। मेरे मन से मानो संसार का अस्तित्व ही उठ गया था। यह कृपा, यह सत्संग सिर्फ मेरे लिए ही था। ऐसा इसलिये कह रहा हूँ कि पास बैठे हुए मोतीरामजी कभी के निद्राभिभूत हो चुके थे।

सम्पूर्ण रात्रि कब व्यतीत हो गई ज्ञात ही नहीं हो सका। ग्रीवा तक हिलाने का अवसर नहीं मिला। एक आसन से इतने घण्टे तन्मयता-पूर्वक बैठने का जीवन में यह पहला अवसर था। जब श्री महाराजजी ने चर्चा बन्द की तो सुमधुर वंशी-ध्वनि, जिसमें से सुन्दर राग निसृत हो रहा था, सुनकर मुझे बाह्य चेतना हुई। उस मधुर स्वर ने हृदय पर क्या जादू कर दिया, उसका वर्णन करना वाणी व लेखनी के वश का कार्य नहीं है। जब वंशी गान समाप्त हुआ तो कुछ समय श्री महाराजजी और मैं दोनों मौन बैठे रहे। मन प्रकृतिस्थ होने पर ही यह बात ज्ञात हो सकी कि वह मनोमुग्धकारिणी, प्राणों को खींचने वाली वंशी-ध्वनि, वह स्वर-लहरी, श्री महाराजजी के मुख

से उसी प्रकार सहज रूप से स्वतः निसृत हो रही थी, जिस प्रकार बालक सीटी बजाया करते हैं। रात्रि भर चलने वाले उस सत्संग या उनकी कृपा-कोर का ही चमत्कारिक प्रभाव है कि आज मैं श्रीधाम में श्रीचरणों के आश्रय में सदा-सदा के लिए बँधकर रह गया हूँ।

किसी ब्रज-रसिक संत की सामर्थ्य 'ब्रह्मा' से भी अधिक है, इसका परिचय श्री महाराजजी ने करा दिया। वह सत्संग क्या था ? मूर्तिमान् रस स्रोत था और आपकी पूर्णता का परिचय दे रहा था। यह सर्वथा सत्य है कि आपने अपनी कृपा एवं करुणा से एक अधम, दुर्गति से आये हुए जीव को त्राण दिया था।

''रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्।।

श्रीमद्भा. ५ स्कं., १२ अ., १२ श्लो.

उस रात्रि भर के सत्संग में आपने मानव जीवन की दुर्लभता, जीवन लक्ष्य की महत्ता व प्राप्ति, प्राप्ति में व्याकुलता की नितान्त आवश्यकता, धाम का महत्त्व, गोपीप्रेम एवं श्रीकृष्ण सौन्दर्य-माधुर्य की चर्चा अति ही गंभीरता एवं सरसता से की। श्रीकृष्ण-प्राप्ति के लिये वृन्दावन-वास की अनिवार्यता पर बल दिया। इस सत्संग ने जीवन में पूर्णतया आश्चर्यजनक परिवर्तन ला दिया, यह सत्य है। मेरे मन में धाम-वास का सुदृढ़ निश्चय हो गया। उस सत्संग की रात्रि के पश्चात् मेरे जीवन में श्री महाराजजी के रूप में नवीन सूर्योदय हुआ। उसी दिन से श्री–जी के अगाध स्नेह से सिंचित होता हुआ मैं श्रीधाम में रहने लगा।

वंशीवट के सामने वाली छोटी ग्वालियर कुञ्ज में रहते हुए मैं प्रतिदिन श्री महाराजजी के चरणों में आने लगा। अपने जीवन में भिक्षा आदि की कल्पना तो स्वप्न में भी नहीं की थी, न भिक्षा स्थानों का पता ही था। उस करुणा को याद कर हृदय द्रवीभूत होने लगता है। श्री महाराजजी स्वयं मुझे साथ ले जाकर भिक्षा कराते व स्वयं भी करते। आप कुछ दिनों तक मुझे भिक्षा में साथ ले जाते रहे; पश्चात् मैं स्वयं ही चला जाता था। कुछ

दिन बाद ग्वालियर वाली कुञ्ज छोड़कर मैं जगन्नाथ घाट पर एक कुटिया में रहने लगा। वहाँ से नित्य ही भिक्षा में जाता व श्रीबिहारीजी के दर्शन करते हुए श्री महाराजजी के चरणों में आ बैठता। मेरा अधिक समय श्री चरणों के सान्निध्य में ही व्यतीत होता था। जब तक बैठता तब तक मुझे श्रीमुख से निसृत सुन्दर श्रीकृष्ण-चर्चा सुनने का लाभ प्राप्त होता रहता और आपके असीम स्नेह से स्नपित हो वापस कुटिया चला जाता। श्री–जी जब वृन्दावन में रहते तो मोतीरामजी के यहाँ बहुधा आते रहते थे। वहाँ जमकर सत्संग-चर्चा होती थी। मैं भी अवश्य ही उपस्थित रहता था। इन दिनों श्री महाराजजी के द्वारा विनोद के आवरण में ही सहज रूप से कुछ चमत्कारी घटनायें घटित हो जाती थीं।

एक बार मोतीरामजी का दो माह का बालक गोपाल अचानक अस्वस्थ होकर मरणासन्न हो गया। डॉक्टर ने जवाब दे दिया। माँजी (मोतीरामजी की पत्नी) रोने लगीं। अचानक श्री महाराजजी वहाँ आ गए। उन्हें देख वे और जोरों से रोने लगीं। बालक को देखकर आपने हँसते हुए कहा–इसे कुछ नहीं हुआ है, केवल नजर लग गई है। हमने इसकी हस्त-रेखा देखी है। बहुत लम्बी आयु है। हमने अपनी माताजी को नजर उतारते हुए देखा है। एक झाड़ू ले आओ। हम नजर उतार दें। आपने झाड़ू हाथ में लेकर उसके अग्रभाग को दियासलाई से जलाया, जलती हुई झाड़ू बालक के ऊपर से नीचे तक इक्कीस बार उतारी और झाड़ दी। चमत्कार ! पाँच मिनिट में ही बालक ठीक हो गया। ऐसे विनोद में ही आप विचित्र चमत्कार कर जाते। दूसरों को पता भी नहीं चलता। ऐसी ही एक दूसरी घटना इस प्रकार है –

मोतीरामजी भट्ट गली में रहते थे। दूसरी मंजिल के कमरे में भगवानदास नामक एक सिन्धी व्यक्ति रहता था। वह श्री महाराजजी के रहन-सहन में दोष बुद्धि करके अकारण ही उनकी निन्दा करने में प्रवृत्त हो गया। परिणाम यही हुआ कि वह एक कठिन रोग से ग्रस्त हो गया। कोई भी उपचार सफल नहीं हुआ। रोग ने भयानक रूप धारण कर लिया। डॉक्टर होतीचन्दजी,

जिनसे उसने श्री–जी की निन्दा की थी, के पास आकर वह अपना दुःख प्रकट करने लगा। डॉक्टर साहब ने समझाया–"भैया, यह एक सिद्ध महात्मा के प्रति की गई निन्दा का फल है। इसमें औषधि लाभ नहीं पहुँचा सकती, तुम उन्हीं से क्षमा माँगो।" वह श्री महाराजजी के पास आकर चरण पकड़कर रोने लगा। श्री महाराजजी ने कहा–"भगवान् बड़े दयालु हैं। भगवान् की निर्हेतुक करुणा को याद करना चाहिए। कितने ही पतितों का उन्होंने उद्धार कर दिया है। एक सन्त मुझे मिले थे। उन्होंने एक जोरदार बात कही– भगवान् सर्वज्ञता से सबको देखते हैं, सब कुछ जानते हैं, परन्तु एक चीज उनकी सर्वज्ञता में नहीं है–"किसी का भी पातित्य"। बस, सभी पर कृपा करना उनका स्वभाव है। बस कृपा ही कृपा। उनकी करुणा पर यदि थोड़ा भी विचार कर लें तो सब काम बन जाय। भगवान् सबको क्षमा करते हैं, पर अपने किये कर्मों के लिये सच्चा पश्चात्ताप होना चाहिये।" श्री–जी की कृपा से वह कुछ ही दिनों में रोग मुक्त हो गया।

मेरा अधिकांश समय तो श्री चरणों में ही व्यतीत होता था। अचानक मुझे ज्वर आने लगा, जो धीरे-धीरे बढ़ता गया। अस्वस्थतावश छोटी ग्वालियर कुंज छोड़कर श्री मोतीरामजी के यहाँ रहना पड़ा। अकारण कृपावश श्री-जी भी प्राय यहीं रहकर मुझे सत्संग रूपी रसायन का सेवन कराते रहते। ज्वर बहुत तेज होता जा रहा था, परन्तु श्री–जी के सत्संगमय वातावरण में किसी प्रकार की वेदना का अनुभव ही नहीं होता था। शारीरिक क्षीणता तो बढ़ती ही जा रही थी। श्री मोतीरामजी ने मेरे अस्वस्थ होने की सूचना मुझे बिना बताये ही मेरे भाईसाहब श्री सख्याहरीजी को दे दी। पत्र मिलते ही वे श्रीधाम आ गये। पाँच-छह दिन यहाँ रहे। इन्हें भी श्री–जी के सत्संग का खूब लाभ मिला। एक दिन रात्रि में श्री–जी का सत्संग गम्भीरता-पूर्वक चल रहा था। मैं श्री महाराजजी के चरणों के पास सिर रखकर लेटे-लेटे सत्संग सुन रहा था। सामने बड़े भाईसाहब एवं अन्य सत्संगीजन बैठे हुए थे। सत्संग धारा प्रवाह चल रहा था। सहसा भाईसाहब (श्री सख्याहरीजी) शंका-समाधान हेतु उठकर बाहर गये। उन्हें गये बहुत विलम्ब हो गया तो श्री–जी ने श्री मोती-

रामजी को उन्हें देखने भेजा। देखा, वे बाहर की गली में स्तब्ध से खड़े हैं। मोतीरामजी ने आवाज दी तो चौंके और अपने को सम्हालते हुए सत्संग में आकर बैठ गये। सत्संग समाप्त हुआ। पूछने पर उन्होंने बताया–"मैं जैसे ही बाहर आया, देखा–गली में 'श्रीकृष्ण' खड़े हैं। यह स्फूर्ति एक क्षण के लिए हुई, परन्तु मुझे यह भान नहीं रहा कि मैं कहाँ हूँ ? कब से खड़ा हूँ ?" कहते-कहते उनके नेत्रों से अश्रु छलछला आये। वे आज भी यह कहते-कहते गद्गद हो जाते हैं–"मैं पहली बार वृन्दावन गया पर श्री महाराजजी की कृपा से खाली नहीं लौटा।"

मेरा स्वास्थ्य अधिक खराब होने से श्री–जी ने भाईसाहब के साथ महेश्वर जाने की आज्ञा दी। बाध्य होकर जाना ही पड़ा। श्री महाराजजी का सान्निध्य एवं धाम छोड़ने में मन अत्यन्त व्याकुल हो रहा था। जाते समय स्वाभाविक ही हृदय उमड़ गया। श्री–जी से मैंने वहीं दर्शन देने की पुनः-पुनः प्रार्थना की। महेश्वर पहुँचने पर एक मास में बुखार तो ठीक हो गया, परन्तु शरीर पीला पड़ गया था। क्षीणता के कारण उठने-बैठने की भी सामर्थ्य नहीं थी। श्री–जी की प्रगाढ़ स्मृति मन को व्याकुल करती रहती थी। मैंने पत्र लिख दिया–"मैं तो श्री चरणों के पास आने में असमर्थ हूँ, आपसे ही दर्शन देने के लिये भीख माँग रहा हूँ।" जब मेरा पत्र पहुँचा, श्री–जी मोतीरामजी के यहाँ बैठे हुए थे। माँजी श्री–जी के जलपान का उपक्रम कर रही थीं। श्री–जी ने पत्र पढ़ा और जैसे बैठे थे वैसे ही उठकर चुपचाप चल दिये। जलपान लेकर जब मोतीरामजी कमरे में आये तो देखा कि श्री महाराजजी वहाँ नहीं हैं। जलपान धरा का धरा रह गया। मोतीरामजी ढूँढने निकल पड़े, पर श्री महाराजजी न मिले।

आप वहाँ से उठकर सीधे पैदल ही मथुरा जंक्शन पहुँचे। आप पैसे तो पास में रखते ही नहीं थे, कुछ ही समय में देहरादून एक्सप्रेस आई तो उसमें बिना टिकिट बैठ गये। आपके पास टिकिट न होने से टी.टी. ने आपको सवाईमाधोपुर स्टेशन पर उतार दिया। अब आप वहाँ से पैदल ही चल पड़े और सतत तीन दिन, तीन रात चलकर इन्दौर पहुँच गये।

इन्दौर से महेश्वर के मध्य रास्ते में घना जंगल है। जहाँ हिंसक पशुओं का निवास रहता है। एक बहुत गहरी पहाड़ी घाटी भी पड़ती है; पर आप निर्भय रूप से चलते रहे। एक शेर आपके देखते-देखते सड़क पार कर चला गया। सतत नंगे पैर चलने से पैरों में से रक्त बहने लगा तो आप एक स्थान पर लेट गये। जब आँखें खुलीं तो आपने अपने को महेश्वर में ही पाया। जैसे सुदामाजी को एक ही रात्रि में द्वारका पहुँचा दिया था, उसी प्रकार भगवान् ने आपका भी योगक्षेम वहन किया।

इधर मैंने श्री महाराजजी को पत्र लिख तो दिया पर सोचने लगा– मुझ जैसे तुच्छ व्यक्ति को दर्शन देने के लिये वे श्रीधाम छोड़कर भला क्यों आने लगे ? मैं श्री चरणों की प्रगाढ़ स्मृति में इतना व्याकुल हो गया कि घर में रहना असह्य हो गया और परिवारजनों के बहुत रोकने पर भी श्रीधाम के लिये प्रस्थान कर दिया। दूसरे दिन श्रीधाम पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि श्री–जी यहाँ नहीं हैं। मन उदास हो गया। हतबुद्धि सा बैठा था कि महेश्वर से बड़े भाईसाहब का टेलिग्राम आया। लिखा था–"श्री महाराजजी महेश्वर आ गये हैं, तुम शीघ्र आ जाओ।" मैं उसी समय चल पड़ा और दूसरे दिन महेश्वर पहुँच गया। श्री महाराजजी के पहुँचने की घटना भाईसाहब ने इस प्रकार सुनाई–"श्री महाराजजी सीधे घर पर पहुँचे। मेरे गृह-त्याग के कारण पिताजी मुझपर बहुत अधिक रुष्ट थे ही, गृह-द्वार पर पहुँचकर जैसे ही श्री–जी ने मेरे नाम से आवाज दी, वे बाहर आये। श्री महाराजजी ने राधेश्याम कहते हुए पूछा–"मनोहरजी हैं ?" बस, मेरा नाम सुनते ही वे तमतमा कर बोले–"कौन मनोहर ? हम नहीं जानते। आप कौन हैं ? कहाँ से आये हैं ?" आदि-आदि। उन्होंने श्री महाराजजी से अन्दर आने के लिये भी नहीं कहा। आप तुरन्त ही लौट पड़े। महेश्वर बस स्टैण्ड पर खड़े थे कि वहीं के निवासी श्री बाबूलालजी व्रजवासी ने आपको देखा। वे आग्रहपूर्वक आपको अपने घर ले गये और यथोचित सेवा- सत्कार किया। उन्होंने मेरे बड़े भाईसाहब को भी सूचना दे दी। भाईसाहब ने श्रीधाम में श्री–जी के दर्शन किये ही थे। वे बाबूलालजी के घर आये, श्री–जी को प्रणाम किया और आदर पूर्वक ले जाकर

नर्मदा के राजराजेश्वर घाट पर एक कुटिया में ठहरा दिया। आपके तलवों से रक्त बह रहा था। भाईसाहब ने तीन दिन तक उन पर घी की मालिश की। भाईसाहब ने कहा था कि तलवे छूने से ऐसा लगता था मानो आग निकल रही हो। तीन दिन की मालिश के पश्चात् जलन शान्त हुई। कुछ दिनों के पश्चात् पिताजी की श्री–जी के प्रति बहुत श्रद्धा हो गई और अपने यहाँ बुलाकर आदर-सत्कार पूर्वक सेवा भी करते थे। श्री महाराजजी के दर्शन कर मुझे परम शान्ति मिली।

'महेश्वर' एक अति प्राचीन पुराण पुरी है। पुराणों में माहिष्मतीपुरी के नाम से इसका वर्णन है। यह कार्तवीर्यार्जुन (सहस्रबाहु) की राजधानी रही है। दो सौ वर्ष पूर्व यह जगत् विख्यात महारानी अहिल्याबाई होल्कर की भी राजधानी रही है। श्री अहिल्याबाई द्वारा निर्मित सुन्दर-सुन्दर घाट एवं शिवालय आज भी नर्मदा-तट की शोभा बढ़ा रहे हैं। ये घाट काशी के घाटों से भी अधिक सुन्दर हैं। इन्हीं में से एक राजराजेश्वर घाट पर स्थित कुटिया में श्री महाराजजी ठहरे हुए थे।

नर्मदा-तट पर एक मातंग घाट और मातंगेश्वर का एक विशाल मंदिर स्थित है। यहाँ मातंग ऋषि ने तपस्या की थी। इसी घाट की एक तिवारी में एक संत ठहरे हुए थे। संध्या समय श्री महाराजजी और मैं नर्मदा तट पर घूमते हुए उनके दर्शन करने चले गये। परस्पर दण्डवत्-प्रणाम के पश्चात् कुछ सत्संग चर्चा हुई। वे श्री–जी से बहुत प्रभावित हुए। दूसरे दिन अपने निवास पर ही कीर्तन एवं सत्संग करने की उन्होंने श्री–जी से प्रार्थना की। उनके स्नेह पूर्ण आग्रह को श्री–जी टाल नहीं सके और दूसरे दिन का निश्चय हो गया। महेश्वर निवासी श्री बाबूलालजी कन्डेक्टर ने घाट पर कीर्तन की सब व्यवस्था की। मंडलेश्वर, महेश्वर से पाँच मील दूर नर्मदा तट पर ही बसा हुआ कस्बा है। यहाँ भी कई ऋषि-मुनियों ने तपश्चर्या की थी। यह श्री मंडनमिश्र की, जिनका श्री आदि शंकराचार्य से शास्त्रार्थ हुआ था, निवास स्थली है। वहाँ कुछ सत्संग-कीर्तन प्रेमी भक्तजन मेरे परिचित थे। उन्हें भी सूचना दे दी गई। दूसरे दिन श्री माँगीलालजी, नारायणरावजी, हरिभाऊजी

पटवारी आदि भक्तजन यथासमय सत्संग में उपस्थित हो गये। महेश्वर के ही एक धनी, धर्मप्राण सेठ पन्नालालजी सराफ भी उपस्थित थे। रात्रि भर जमकर कीर्तन एवं सत्संग हुआ। उस प्रान्त में श्री महाराजजी के सत्संग का श्रीगणेश यहीं से हुआ। वे सन्त एवं उपस्थित सभी भक्तजन श्री महाराजजी से अत्यधिक प्रभावित हुए।

प्रातः चार बजे सत्संग समाप्त होने पर सभी श्री–जी के साथ ही साथ कुटिया पर आये। नारायणरावजी की मंडलेश्वर चलने की प्रार्थना आपने स्वीकार कर ली और श्री–जी के साथ ही हम सब ने भी उसी दिन मंडलेश्वर के लिये प्रस्थान कर दिया। श्री महाराजजी और मैं नारायणरावजी के घर ही ठहरे। उसी एक दिन के सत्संग से श्री–जी के चरणों में उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा हो गई। उनका पूरा परिवार ही बहुत भावुक था। धीरे-धीरे जिज्ञासु भक्तजनों की संख्या बढ़ती गई। उनमें प्रमुख थे मॉंगीलालजी, हरिभाऊजी, करुणाशंकर दुबे, चन्द्रशेखर जोशी, रामसजीवनजी। श्री नागेश्वर महाराज (धरगाँव वाले बाबा) तथा श्री आनन्ददासजी महाराज भी उस समय वहीं थे।

श्री आनन्ददासजी महाराज जनकपुरी के निवासी, रामानन्दी सम्प्रदाय में दीक्षित भगवत्-साक्षात्कारी महात्मा थे। श्री हनुमानजी इनके इष्ट थे। सदैव भक्तिरसामृत पानकर छके से रहते थे। अति ही सरल महापुरुष थे। वृन्दावन में इनका आश्रम है। कुछ वर्षों पूर्व यहीं पूर्ण स्वस्थ अवस्था में अपने शिष्यों से **मैं चित्रकूट जा रहा हूँ** यह कहते हुए शरीर छोड़ दिया। इन्होंने निमाड़ प्रान्त में संकीर्तन का बहुत प्रचार किया।

श्री महाराजजी संध्या समय अन्तरंग भक्तों को साथ लेकर नर्मदा तट पर घूमने जाया करते थे। उस समय भी सत्संग का वातावरण रहता था। आठ बजे घूमकर वापस आते। सर्दी का समय था। भोजनादि से निवृत्त हो बैठ जाते। धीरे-धीरे भक्त समुदाय एकत्रित हो जाता। विनोदमय वातावरण में सरस चर्चा होती रहती। रात्रि के दस-ग्यारह बज जाते। अधिक समय होने से अधिकांश सज्जन चले जाते, परन्तु कुछ भावुक, जिज्ञासु भक्तजन,

जिनका ऊपर उल्लेख किया है श्रीमुख से कुछ सुनने की आशा संजोये सजगता से बैठे रहते। इनकी जिज्ञासा देख आप सत्संग शुरू करते। ये सत्संगी जन देह सुधि से विस्मृत-से, मन्त्रमुग्ध होकर, एकाग्र मन से एकटक मुखारविन्द का अवलोकन करते हुए सत्संग सुनते रहते। एक अद्वितीय वातावरण छा जाता। निद्रा का सर्वथा अभाव हो जाता। कितना समय बीत गया इसका भी ज्ञान लुप्त हो जाता। एकासन से जड़-प्रतिमा के सदृश सम्पूर्ण रात्रि सब लोग बैठे रहते। यह सत्संग-सुधा-धारा ग्यारह बजे से सुबह पाँच बजे तक अखण्ड रूप से प्रवाहित होती रहती। सबको यह दुःख बना रहता कि निशा इतनी शीघ्र क्यों व्यतीत हो गई ! पाँच बजे श्री–जी सत्संग को विराम देते। भक्तवृन्द अपने-अपने घरों के लिये प्रस्थान करते। श्री–जी भी विश्राम हेतु लेट जाते। सात बजे बाद स्नानादि से निवृत्त होकर वे बैठ जाते।

श्री नारायणरावजी के पूरे परिवार की श्री–जी पर बहुत ही श्रद्धा एवं प्रेम था। सभी लोग श्री–जी की सेवा में उत्साहित तथा सजग रहते थे। ऊपर निर्दिष्ट भक्तजन पुनः एकत्रित होने लगते और सत्संग प्रारम्भ हो जाता। जो ग्यारह बजे तक और कभी-कभी अधिक समय तक भी चलता रहता। माँजी (नारायणरावजी की पत्नी) के बार-बार कहने पर नारायणराव जी श्री–जी को संकेत करते तब श्री–जी सत्संग को विराम देते और भोजनादि से निवृत्त होते। श्री आनन्ददास बाबा, श्री नागेश्वर बाबा और मैं श्री–जी के साथ ही प्रसाद पाते। भक्तजन भी अपने अपने घरों को चले जाते थे। सभी थोड़ा विश्राम करते। ठीक दो बजे श्री–जी उठकर बैठ जाते। सभी भक्तजन भी उपस्थित हो जाते और पुनः सत्संग प्रारम्भ हो जाता, जो चार बजे तक चलता। इन दिनों भक्तवृन्द का मन श्री–जी के सत्संग से इतना अधिक आकर्षित था कि वे खाने-पीने-सोने एवं अपने आवश्यक कार्यों की भी चिन्ता किये बिना ठीक समय पर सत्संग में उपस्थित हो जाते थे। इस सत्संग-मंदाकिनी का अविरत अखण्ड स्रोत डेढ़ मास तक चलता रहा, परन्तु किसी की उत्कण्ठा में रञ्चक मात्र भी कमी नहीं आई, वरन् बढ़ती गई। श्री नागेश्वर बाबा और श्री आनन्ददास बाबा निरन्तर डेढ़ मास तक श्री–जी के सान्निध्य में ही रहे।

नागा सम्प्रदाय के होने के कारण नागेश्वर बाबा का रहन-सहन भी नागाओं का सा ही था। शरीर पर भभूती, कमर में मोटी सी मूँज-मेखला, मात्र एक कोपीन, हाथ में चिमटा और बड़ी-बड़ी जटायें। यही इनकी वेषभूषा थी। नित्य व्यायाम का अभ्यास था। घृतादि का अधिक सेवन करते थे। शरीर हृष्ट-पुष्ट और जीवन परम सात्त्विक था। नित्य 'रामचरित मानस' के पाठ एवं संकीर्तन का नियम था। श्री महाराजजी के सत्संग के परिणाम स्वरूप आपके जीवन में कल्पनातीत परिवर्तन आया। वेष-भूषा में भी परिवर्तन आया। एक विरही, पिपासु के रूप में आप अति दैन्य भाव से रहने लगे। इसी डेढ़ मास के सत्संग के प्रभाव से श्री माँगीलालजी के जीवन में भी आशातीत परिवर्तन हुआ। ये जाति के क्षत्रिय एवं देवी-उपासक थे। श्री–जी के प्रति इनकी अनन्य श्रद्धा हो गई। देवी-उपासना छूट गई व इनमें कृष्णानुराग जाग गया। इस प्रकार श्री महाराजजी मंडलेश्वर भक्त मंडल के प्रिय एवं पूज्य बन गये। प्रायः यह परिकर अधिक समय तक श्री–जी के पास ही घिरा रहता। श्री–जी इनसे हास्य-विनोद भी खूब करते पर वह विनोद भी 'लक्ष्य' को छोड़कर नहीं होता था। विनोद के आवरण में भी आपकी चेष्टा भक्त जनों को प्रकृति से उठाकर भगवत्-भक्ति की ओर अग्रसर करने की ही होती थी। किसी भक्त को यदि प्राकृत-वार्ता में बहते हुए देखते तो विनोद में ही एक-आध शब्द ऐसा कह देते कि वह सजग हो जाता।

साधक भगवत्-विचारों से कभी खाली न रहे, सदा आपका यही प्रयास रहता। प्रकृति जब अपनी नहीं, तब उसके विचार में रहना क्यों ? वह कुछ है यह समझकर उसे मूल्य देना क्यों ? प्रायः सत्संग में आप इसी बात पर बल देते थे। व्यक्तिगत उपदेश तो आप कभी देते नहीं थे, जो कुछ कहना होता सार्वजनिक सत्संग में ही कह जाते। जिज्ञासुजन आपके कथन का आशय समझ जाते थे। जीवन में आपने किसी को शिष्य नहीं बनाया, न स्वयं को किसी का गुरु समझा। गुरु के विषय में आप कहते–"जिससे जिसको भगवत्-प्राप्ति हो, वही उसका गुरु है। हम सबको वहीं जाना है, कोई आगे, कोई पीछे, कौन किसका गुरु और कौन किसका शिष्य ? वैसे भगवत्-प्राप्त सभी सन्तों को गुरु-रूप में समझना चाहिये।"

'कृपा' पर आप बहुत बल देते थे। कहते–संत-कृपा के बिना भगवत्-प्रेम व भगवत्-प्राप्ति संभव नहीं है। "वस्तु-प्राप्ति" साधन-साध्य नहीं है। साधन तो केवल पात्रता लाने के लिये हैं। सन्त-कृपा का प्रतिपादन करते हुए आप रहूगण का उदाहरण देते।

'रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्जया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्।।

प्रेम प्रदान करने की सामर्थ्य केवल गोपीभाव-प्राप्त सन्तों में ही है, अन्यों में नहीं। नाम, रूप, लीला-चिन्तन करने के लिये ही आप साधक को संकेत करते रहते। कहते–"जीवन मृत्यून्मुखी है। मनुष्य जन्म अमूल्य रत्न के समान अकारण कृपा से प्राप्त हुआ है। अतः मानव-जीवन का चरम एवं परम लक्ष्य श्रीकृष्ण-प्राप्ति ही है।" इस प्रकार इस डेढ़ मास के सत्संग में आपने मंडलेश्वर के भक्तजनों को एक अपूर्व आनन्द एवं नव-जीवन ही प्रदान किया। यह काल कैसे एक क्षणवत् बीत गया, इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

मंडलेश्वर प्रवास काल में चलने वाले डेढ़ मासीय सत्संग की वह अन्तिम निशा थी। सम्पूर्ण रात्रि चलने वाले सत्संग को श्री महाराजजी ने सुबह ४ बजे विराम दिया और यह पद गाया –

अब मन चल वृन्दावन रहिये।
जहाँ बिहरत युगल माधुरी तिनके दर्शन पैये।।
भूख लगे तो ब्रजवासिन के टूक माँगकर खैये।
प्यास लगे तो यमुना तीरे अमिय सरस जल पीजे।।
'व्यास' स्वामिनी की छबि निरखत विमल विमल यश गैये।।

भक्तजनों को क्या पता था कि यह श्री–जी के जाने का ही संकेत है। सभी भक्त तो इस पद में अपने मन की कामना की कल्पना कर रहे थे। पद समाप्त होने पर श्री–जी विश्राम हेतु लेट गये। भक्तजन अपने-अपने घरों को चले गये।

प्रातः - क्रिया से निवृत्त हो कुछ जलपान आदि लेकर आप श्री नारायणरावजी से "किसी भक्त के यहाँ जा रहे हैं" कहकर उठ खड़े हुए।

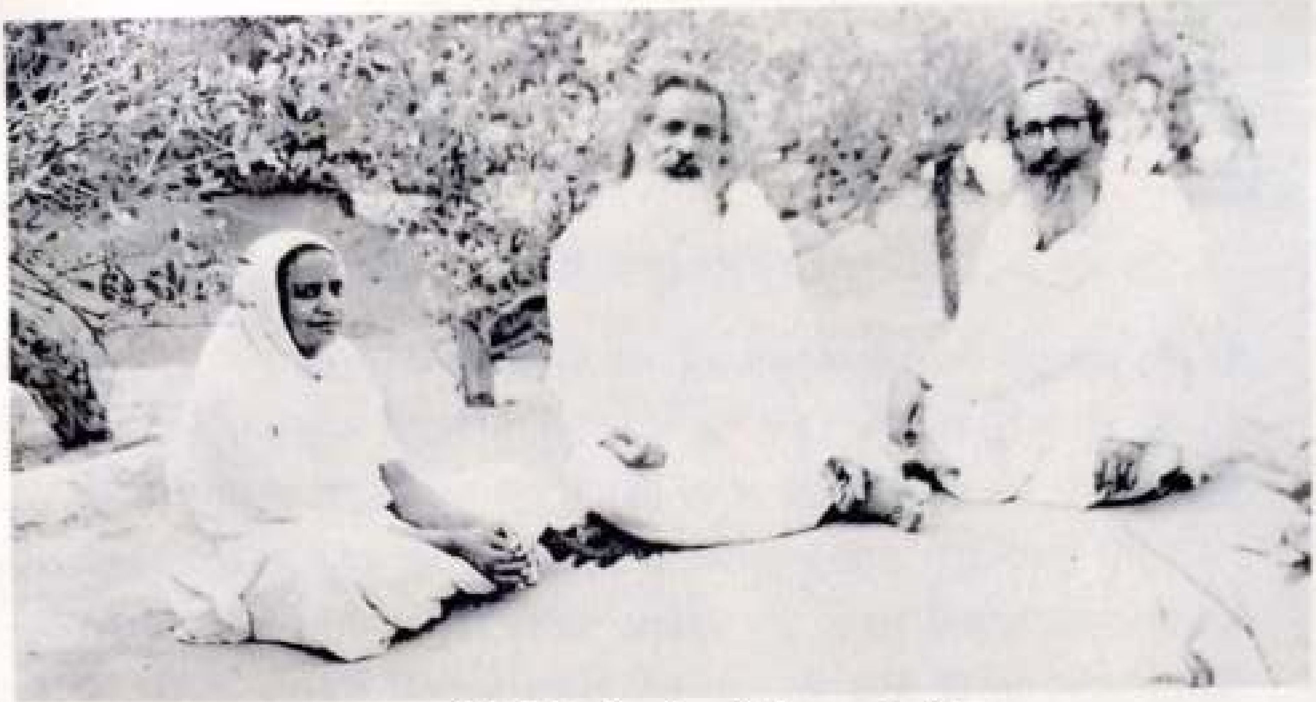
मुझे साथ चलने का संकेत किया। वहाँ से महेश्वर रोड पर करीब एक मील तक चलते हुए एक वृक्ष के नीचे जाकर खड़े हो गये। जैसे ही एक बस आई उसमें बैठकर वृन्दावन के लिये प्रस्थान कर दिया। एक काली कमली के अतिरिक्त न श्री–जी के पास कुछ सामान था, न मेरे पास ही। दूसरे दिन श्रीधाम पहुँचे। वृन्दावन के भक्तों में आनन्द की लहर छा गई। वहाँ मंडलेश्वर के भक्तों की क्या दशा हुई होगी, कल्पना करना कठिन है। बाद में पता चला कि कई दिनों तक उन्हें खाना-पीना, सोना-बोलना तक अच्छा नहीं लगता था। उनको ऐसा लगने लगा मानो उनकी कोई अमूल्य निधि खो गई है।

श्रीधाम आकर अपने तीन-चार भक्तों के साथ श्री–जी सानन्द रहने लगे। अभी तक वे क्वचित् ही किसी के घर ठहरते थे, परन्तु जब से मैं उनके साथ रहने लगा, तब से प्रायः वृन्दावन में वे मोतीरामजी के यहाँ ही रहते। श्री–जी नन्दगाँव, बरसाना, गोवर्धन आदि स्थानों पर विचरण करते रहते। मुझे भी साथ ही रखते थे। यह यात्रा (व्रजभ्रमण) प्रायः पैदल ही होती थी। नन्दगाँव से भिक्षा लेकर वे कभी कृष्ण-कुण्ड पर तो कभी नन्दबाबा के बगीचे में जाकर भिक्षा ग्रहण करते। इन दिनों श्री–जी के साथ व्रज-भ्रमण का जो एकान्तिक अवसर और अपूर्व सुख मुझे मिला, उसका वर्णन करने की सामर्थ्य लेखनी में नहीं है।

एक दिन श्री महाराजजी तथा मैं पैदल ही नन्दगाँव से कोसी और वहाँ से ट्रेन द्वारा भूतेश्वर (मथुरा) आये। संध्या समय हो गया था। पैदल चलकर बंगाली घाट पहुँचे, तो रात्रि हो चुकी थी। पैसा तो श्री–जी रखते ही नहीं थे। ओढ़ने-बिछाने के लिये भी पास में कुछ नहीं था। अपनी-अपनी ओढ़ी हुई चादर बिछाकर दोनों सो गये। गरमी का मौसम होने से फर्श बहुत गर्म हो रहा था। परन्तु श्री–जी के साथ रहने से इन बातों पर कभी ध्यान ही नहीं जाता था। दिन में नन्दगाँव में भिक्षा की थी, पैदल यात्रा काफी हो चुकी थी, अतः मुझे भूख लग गई थी। रात के दस बज गये थे। तितिक्षा का अवलम्बन कर चुपचाप लेटा था, परन्तु अन्तर्यामी श्री–जी से यह सब कैसे छिपा रहता। आप अचानक उठ बैठे, कहने लगे–सुबह मसानी स्टेशन से ट्रेन

बहुत जल्दी जाती है। यहाँ से जाने में विलम्ब होगा। अतः अभी चलकर मसानी स्टेशन पर ही विश्राम करें। मैं प्रायः श्री–जी की रुचि के अनुरूप ही रहने का प्रयत्न करता था, अतः कहते ही उठकर उनके साथ चल पड़ा।

बाजार से होते हुए हम द्वारकाधीश-मंदिर के पास आये। अधिकांश दुकानें बंद हो चुकी थीं। कुछ दुकानें खुली थीं और व्यापारी अपना हिसाब-किताब देख रहे थे। द्वारकाधीश-मंदिर से कुछ आगे जाकर श्री–जी ने मुझे एक बंद दुकान के तख्ते पर बैठने को कहा और "मैं अभी आता हूँ" कहकर चले गये। कुछ ही क्षणों में लौट आये, साथ में किसी सेठजी का मुनीम था। आप मुझे साग-पराँठे की दुकान पर ले गये। मुनीमजी ने दुकानदार से हम लोगों को साग-पराँठे देने के लिये कहा। मैं चकित रह गया। आपको मेरी भूख का पता चल गया था, इसीलिये आपने इस प्रकार चतुरता से कार्य किया। अपने लिये तो आप कभी न जाते। तीन-तीन दिन बिना खाये रहने का आपको अभ्यास था। श्री–जी की यह करुणा देख हृदय गद्‌गद हो गया, नेत्रों में अश्रु छलछला आये। मैंने पूछा–"आपने ऐसा क्यों किया ? "आपने कहा–"मैं समझ गया था कि तुम्हें भूख लगी है। पूछने से तुम मना कर देते, इसीलिये मसानी जाने का बहाना किया।" आज भी इस घटना को स्मरण कर मेरा मन गद्‌गद हो जाता है। आप छोटे बालक के समान मुझे अत्यन्त प्यार से सम्हालते रहे। स्वयं कष्ट सहकर भी आपने सदैव मेरी इच्छा रखी। आपके इस प्यार से मेरा भी मन ऐसा हो गया कि एक क्षण के लिये भी आपसे विलग होना असह्य हो जाता था। खाना, पीना, सोना, घूमना निरंतर आपके साथ ही होता।



निधिवन में देवीजी और मनोहरजी के मध्य विराजित



निधिवन में : (बाँयें से दाहिने) कुसुमजी, मीराजी, घनश्यामजी, देवीजी, लक्ष्मीनारायणजी, मनोरमाजी



श्रीगंगामंदिर में परिकर के मध्य : (बायें से दायें) कृष्णाजी, मनोहरजी, बालगोविन्दजी, घनश्यामजी, मोतीरामजी, मोतीरामजी की पत्नी, राधेश्यामजी एवं बनवारीशरणजी के मध्य

श्री गंगा-मंदिर

सन् १९४५ में ही गोविंद बाग का मकान छोड़कर हम सब श्री–जी के साथ सेवाकुंज स्थित गंगामंदिर में आ गये। श्री गंगामंदिर ही श्री–जी की सर्व प्रथम लीला-भूमि रही है। श्री यमुनाजी के पावन तट पर राणापति घाट से लगा हुआ यह एक छोटा सा परन्तु प्राचीन पूर्वाभिमुख मंदिर है। इसमें श्वेत संगमरमर की स्वच्छ चमकती हुई, वास्तु निर्माण कला-कौशल से भरपूर, सौन्दर्य बिखेरने वाली पाँच फुट की अति ही कमनीय गंगाजी की विशाल-मूर्ति प्रस्थापित की हुई है। प्रस्तर निर्मित इस मंदिर में एक छोटा आँगन, सामने दो छोटे कमरे, गंगाजी की बाईं ओर एक छोटी कोठरी, दाहिनी ओर ऊपर जाने के लिये जीना है। ऊपर भी एक छोटी सी कोठरी है, जिसमें मैं नाम-जप किया करता था। दाहिनी ओर के कमरे में एक ही दरवाजा होने से प्रायः अन्धकार ही रहता था। इस कमरे में श्री–जी की कृपापात्र श्री देवीजी (जिनका विस्तृत परिचय आगे के पृष्ठों में दिया गया है) ने वर्षों तीन लक्ष महामन्त्र का जप किया था। गर्भ-मंदिर के सामने एक बरामदा था। इसमें दाहिनी ओर की दीवार से लगा हुआ श्री–जी का आसन बिछा रहता था। अधिकतर श्री–जी यहीं बैठकर चार-चार घंटे सत्संग लिखते रहते थे। यहीं सत्संग होता था एवं दर्शनार्थीजन भी यहीं बैठा करते थे। आँगन में पूर्व के कोने में तुलसी की एक विशाल क्यारी लहलहाती रहती थी। बिलासपुर-रायपुर के श्री प्रतापचन्द चाणक नामक एक सम्पन्न भावुक सेठ, जो उन दिनों वृन्दावन-वास करते थे, नियम से एक मास तक श्री–जी के दर्शनार्थ आते रहे। मुख्यतः उन्हीं के लिये नित्य एक घंटा श्री–जी का सत्संग होता रहा, जिसे मैं परदे की ओट में बैठकर लिखता रहता था। वही एक मास का सत्संग **भगवत सार संकेत** के नाम से संगृहीत है।

एक बार इसी बरामदे में श्री–जी बैठे हुए थे। उसी समय श्री बाँके बिहारीजी वकील और श्री अयोध्याप्रसाद मास्टर साहब दर्शनार्थ आये। श्री वकीलसाहब ने अयोध्याप्रसादजी से श्री रूपगोस्वामी रचित "हंसदूत" काव्य, जिसमें विरहिणी श्रीराधाजी हंस को दूत बनाकर अपनी विरह-दशा का सन्देश

श्रीकृष्ण को भेज रही है, सुनाने के लिए कहा। श्री अयोध्याप्रसाद जी पढ़कर सुनाने लगे। सुनते-सुनते श्री–जी की दशा भावमग्न होती जा रही थी। वैसे तो श्री–जी का स्वभाव भाव गोपन करने का था, परन्तु भाव का आवेग संयम से बाहर हो गया। अश्रुओं की झड़ी लग गई और नाक से खून की धारा बह निकली। हम लोगों ने मास्टर साहब को पढ़ने से विरत किया। कुछ समय उपरान्त श्री–जी प्रकृतिस्थ हुए।

गर्मियों में कच्ची ईटों के आँगन में रात-रात भर अपने दो-चार अंतरंग भक्तों के साथ सत्संग होता था। सत्संग की नशीली धारा सबको बरबस अपने में डुबा देती थी। नीरव रजनी और कोलाहलशून्य गंगा मंदिर का इसमें पूरा सहयोग रहता था। इस एकान्तिक सत्संग में सबको विचित्र-विचित्र अनुभूतियाँ होती थीं। कभी अगणित तारों का समूह मध्य से प्रवाहित होकर निकल जाता। कभी कोई प्रकाश पुंज मध्य को उदभासित करता हुआ लुप्त हो जाता। सब के हृदय पिघल कर बह निकलते व सभी एक रस-वारिधि में डूब जाते। स्थिति अवर्णनीय, केवल अनुभवजन्य ही थी। इस सुख को वही जानता है, जिसने आस्वादन किया है।

इस गंगामंदिर का वातावरण पूर्व से ही दिव्य था। नवद्वीप-धाम के श्री बड़े बाबाजी महाराज श्री श्रीराधारमणचरणदासजी लगभग सौ वर्ष पूर्व जब वृन्दावन आये थे, तो इसी गंगामंदिर में बहुत समय तक रहे थे। ऐसे उच्च कोटि के महापुरुषों के दिव्य परमाणु यहाँ व्याप्त थे। संयोगवश श्री–जी भी यहीं आकर दस वर्षों तक रहे। यहीं पर श्री महाराजजी के विचित्र भावावेश, लीलावेश, अगाध विरह एवं मूर्च्छा आदि का विस्तृत वर्णन यथाप्रसंग पाठकगण पढ़ेंगे। वृन्दावन में ही वास करने वाली एक उच्च कोटि की सन्त बहिन सन्तोषजी गंगामंदिर के वातावरण की दिव्यता के विषय में कहा करती थीं–"यह गंगामंदिर नहीं, गंभीरामंदिर है। इसमें 'नाम' लिया नहीं जाता, खाया जाता है।"

यहाँ इनका संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है। श्री सन्तोष बहिनजी का जन्म पंजाब प्रान्तान्तर्गत झेलम शहर में एक सम्पन्न

सरदार परिवार में हुआ था। इनमें बचपन से ही भक्ति के संस्कार थे। सात वर्ष की अल्पावस्था में ही ये श्री राधाकृष्ण-मंदिर में घन्टों कीर्तन करती थीं। उस समय अपने शरीर का भान भूल जाती थीं। त्याग, वैराग्य, दया एवं सेवा-भाव इनके रोम-रोम में समाये हुए थे। बड़े से बड़े रोगी या कोढ़ी की सेवा भी ये बिना घृणा के सहृदयता से करती थीं। बचपन में इन्हें एकबार मंदिर में फूलों के निर्माल्य में एक शालिग्राम शिला प्राप्त हुई थी। ये शालिग्राम जी सदैव इनके सेव्य रहे।

सन् १६४७ में देश विभाजन की भीषण परिस्थिति में भगवद्-भक्ति की एक मात्र सम्पत्ति साथ लेकर ये वृन्दावन आ गई थीं। भगवद्-विरह में सतत अश्रुप्रवाह होने से इनकी पलकें गल गई थीं एवं सदैव सूजी हुई रहती थीं। रात भर यमुना-पुलिन पर पड़ी रहती थीं, अथवा वृन्दावन की गलियों में श्रीकृष्ण की खोज में घूमती रहती थीं। वृन्दावन की एक-एक गली इनके आँसुओं से सिक्त है। इनकी यह दशा मैंने अपनी आँखों से देखी है।

श्री महाराजजी के प्रति इनकी बहुत ही श्रद्धा एवं निष्ठा है। 'रसार्चन' में इन्हीं के शब्दों में लिखी गई एक घटना इस प्रकार है –

"एक बार ये स्वप्न में श्री बिहारीजी के दर्शन के लिये गईं। मंदिर में कोई नहीं था, केवल कठहरे पर ये और बिहारीजी के ही सेवक जयकिशोर भंडारी खड़े थे। दर्शन खुले थे। इसी समय श्री महाराजजी तेजी से बिना किसी ओर देखे इनके सामने से निकले। इन्होंने उन्हें प्रणाम नहीं किया और ऊपर जाकर श्री बिहारीजी के दर्शन करने लगीं, परन्तु श्री बिहारीजी की दाहिनी आँख में पट्टी बँधी देखकर चौंक गईं। घबड़ाकर पूछा–"आपकी आँख में क्या हुआ है ? "ठाकुर श्री बिहारीजी रोष में हाथ उठाकर बोले–"तूने ही तो मेरी आँख फोड़ी है। श्री महाराजजी तेरे सामने से निकल गये और तूने उन्हें प्रणाम नहीं किया। सन्त तो मेरे नेत्र हैं। उनका अनादर करना मेरे नेत्रों को फोड़ना ही है।"

तब से श्री–जी के प्रति इनकी निष्ठा और भी दृढ़ हो गई। श्री–जी भी इनसे अतीव स्नेह रखते थे। जब इनकी श्रीकृष्ण-विरह-अवस्था चरम सीमा

को छू रही थी, तब ये सतत तीन दिन तक श्रीकृष्ण दर्शन कराने हेतु श्री–जी के चरणों में बैठकर अरण्य-क्रन्दन करती रहीं, पर सहसा प्रारब्ध का कोई प्रबल अन्तराय आ उपस्थित हुआ। श्री–जी ने बाद में कहा था–"ये भगवद्-साक्षात्कार के इतने सन्निकट आ चुकी थीं कि बस एक ही बटन खुलने का विलम्ब था।" इनके जीवन में भक्ति की दिव्य अनुभूतियों की भरमार है। सिद्ध सन्त श्री राधाबाबा की कृपा भी प्रथम दर्शन में ही इन पर हो गई थी। उन्होंने श्री सन्तोष बहिनजी को लिखित आश्वासन दिया था कि "श्रीकृष्ण स्वयं प्रकट होकर आपको ले जायेंगे। आपको विश्वास न भी हो तो मेरे कहने से उन्हें यह काम करना पड़ेगा।"

इन्हीं के शहर में रहने वाली सरलाजी नाम की एक जन्मान्ध बालिका वृन्दावन आकर इनके पास रहने लगी। ये भी यथानाम अति सरल एवं साधु प्रकृति की थीं। इन्हें उच्चकोटि के भगवदीय अनुभव होते रहते थे। श्री सन्तोष बहिनजी वात्सल्य स्नेह से बालवत् इनकी सार-सम्हाल करती रहीं। सरलाजी को वृन्दावन में ही रज-प्राप्ति हुई।

गर्मियों की रात्रि में श्री–जी छत पर सत्संग व विश्राम करते। वे सत्संग के मध्य में ही अचानक कह उठते–"देखो, देखो, ये संत आकाश मार्ग से आकर सत्संग सुनने के लिये बैठे हैं।" किन्हीं-किन्हीं भाग्यवान् निजजनों को आभास रूप में एक-दो सन्तों के दर्शन भी हुए हैं। इन दिनों श्री–जी साक्षात् कल्पतरु बने हुए थे। सत्संग के उद्दाम प्रवाह में जब दो-एक निजजनों की भगवद्-प्राप्ति हेतु व्याकुलता अत्यन्त बढ़ जाती, तो वे श्री–जी की गोदी में सिर रखकर करुण-क्रन्दन कर उठते। श्री–जी का वात्सल्य उमड़ आता। श्री–जी ने अपनी अश्रुधाराओं से उनके मस्तक का अभिषेक करते हुए उन्हें भगवद्-प्राप्ति कराने का वचन भी दिया।

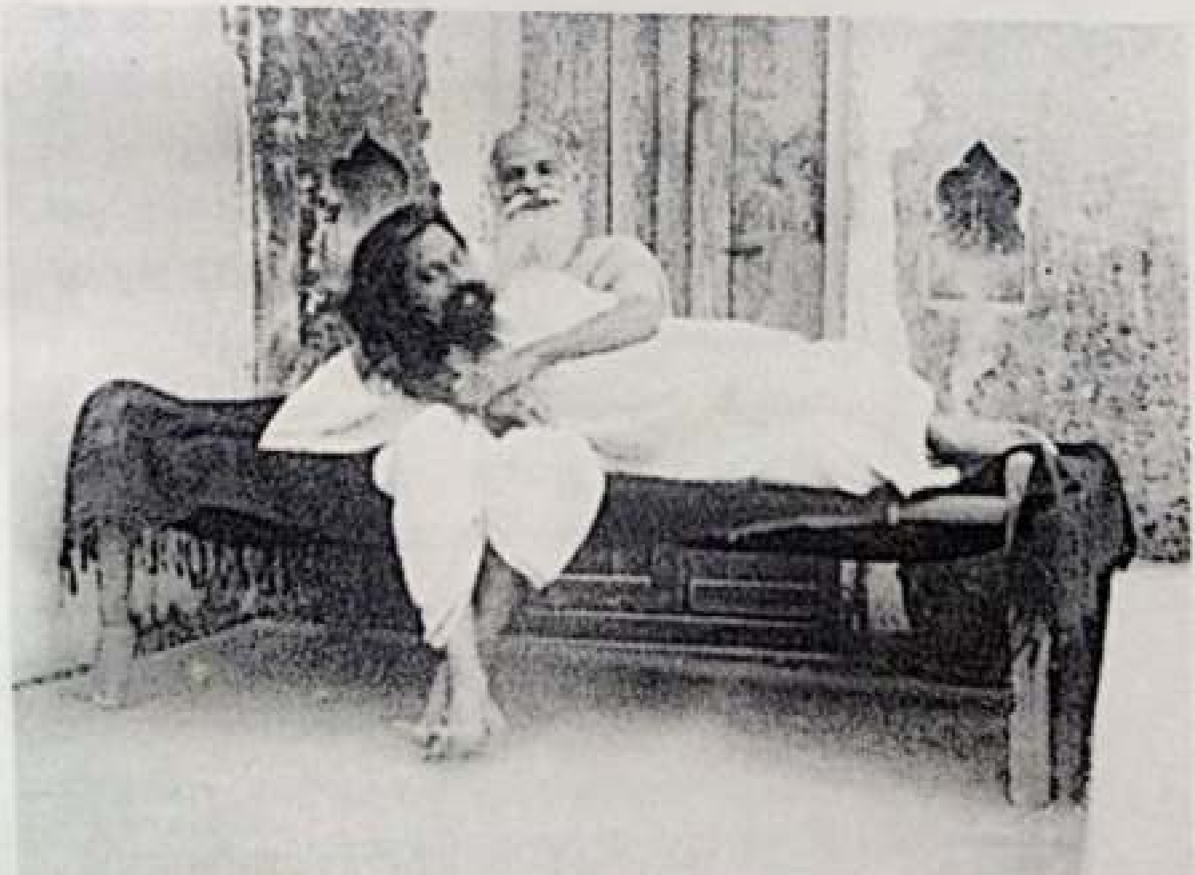
इसी गंगामंदिर में एक चमत्कार श्री–जी के द्वारा घटित हुआ। उनकी परम कृपापात्र श्री देवीजी दो-चार दिनों से तेज बुखार से पीड़ित थीं। इसी समय श्री–जी ने "खिचड़ी खाने की इच्छा प्रकट की। बनाने वाला कोई था नहीं। एक सौ चार डिग्री तेज बुखार में देवीजी श्री–जी की ऐसी इच्छा



गृहत्याग के २२ वर्ष पश्चात् सन् १९५५ में पिताजी से मिलन



२२ वर्ष पश्चात पुत्र से मिलकर माँ का वात्सल्य उमड़ पडा



२२ सालके बाद अपने पुत्र से लाड लड़ाते हुये श्रीमहाराजजीके पिताजी

सुनकर तड़प उठीं। लड़खड़ाते हुए उठकर उन्होंने खिचड़ी बनाई। श्री-जी ने उनके प्रेम को देखकर तृप्ति-पूर्वक खिचड़ी पाई। आश्चर्य ! परमाश्चर्य !! इधर श्री-जी का खिचड़ी पाना, उधर श्री देवीजी को गोपीभाव की प्राप्ति होना-**"मानों रचि खचि चन्द्रिका राखी सखियनि साथ"**। उसी समय से श्री देवीजी अपने इसी गोपी स्वरूप के दिव्य भाव में रहकर लीलानुभव करने लगीं। सन्तों का हृदय कब, कैसे किसी छोटी सी सेवा से रीझ जाये और वे क्या कृपा कर दें, यह घटना इसका एक जीवन्त उदाहरण है। जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिये बडे-बड़े ऋषि, मुनि, साधक, सन्त लालायित होकर दीर्घकाल तक भजन-साधन करते हैं, वही श्री-जी ने श्री देवीजी को उनकी अनन्य निष्ठा पर द्रवित होकर अमोघ कृपा से सहज प्रदान कर दी। सच ही तो कहा है –

"राई जितनी सेवा को फल मानत मेरु समान"

यह घटना सन् १९४७ की है। इसी कालखण्ड में सतत एक वर्ष तक श्री-जी की भावोन्मत्त दशा रहीं और उनके नयनाश्रुजल से गंगामंदिर का आँगन व कमरे भीजते रहे।

इस प्रकार एक ओर तो श्री गंगामंदिर श्री महाराजजी के उद्दाम भाव सौरभ से आठों याम महकता रहता था, दूसरी ओर यहाँ की विरक्ति का ठाट भी कम दर्शनीय नहीं था।

नित्य प्रातः श्री मोतीरामजी भिक्षा के लिये निकल जाते और बारह-एक बजे तक भिक्षा लेकर लौटते। तब माँजी (उनकी पत्नी) भोजन बनाने का उपक्रम करतीं। घर में एक तवा, एक भगोनी, श्री महाराजजी का ही एक लोटा, ओढ़ने व बिछाने के लिये फटे-पुराने गुदड़े बस, यही सामग्री थी। इसी भगोनी में दाल बनती, इसी में चाय बनती और कुएँ से पानी खींचना हो तो यही लोटा उपयोग में आता। भोजन या चाय बनाने के लिये भी लकड़ी की जगह कभी उपले, कभी कागज और कभी कपड़ों के चिथड़ों का प्रयोग किया जाता। तीन बजे तक भोजन बनकर तैयार होता, तब हम सब प्रसाद पाते। प्रसाद प्रायः एक बार ही पाते थे। श्री मोतीरामजी उतनी ही भिक्षा

लाते, जितनी एक समय के लिये पर्याप्त हो। दूसरे दिन के लिये कुछ भी बचाकर नहीं रखते थे। उस समय गंगामंदिर में श्री–जी का वातावरण इतना मद भरा रहता कि खान, पान, आराम की सुधि भी नहीं रहती थी। श्री–जी भगवद्-प्रेम के नशे में चूर रहते एवं अन्य सबको भी सराबोर करते रहते। उनका शरीर अत्यन्त कृश था, परन्तु मुख भरा हुआ, उज्ज्वल, तेजस्वी और प्रसन्न रहता था। मुख को देखने से कोई यह नहीं कह सकता था कि आप इतने दुर्बल होंगे। आप अपने शरीर को सदैव चादर से ढके रहते कि कोई शरीर की क्षीणता देख न ले। एक बार आप लेटे हुए थे। एक भक्त दम्पती वहीं उपस्थित थे। करवट बदलते समय असावधानीवश चादर हट गई। आपकी शारीरिक कृशता देख वे दम्पती तो अवाक् हतबुद्धि से हो गये। आपस में सलाह करते हुए कहने लगे–"ओह ! इनका शरीर कितना कृश है। छाती की एक-एक हड्डी दीख रही है। एक डिब्बा घी ले आयें। इन्हें कुछ खिलाकर ठीक करना चाहिए।" उनके ये शब्द आपके कानों में पड़ते ही जोर से हँसते हुए उठकर बैठ गये और बात को विनोद में ही उड़ा दिया।

रात को डॉ॰ होतीचन्दजी भी कभी-कभी श्री–जी की चरण-सेवा करते। मुझे जब कभी श्री–जी की चरण-सेवा का अवसर मिलता तो डर लगता था कि कहीं दबाने से आपको कष्ट न हो जाय। इतने दुर्बल होने पर भी स्फूर्ति आप में बिजली की तरह थी। मैंने आपको कभी गहरी नींद में सोते हुए नहीं देखा। घोर विरक्ति काल में आपने कभी दूध, घी का स्पर्श भी नहीं किया। बाद में कभी एक पाव भी दूध आग्रह पूर्वक देते तो पचता नहीं था। आप तो रूखी रोटी खाकर ही प्रसन्न रहते थे। मिठाई आदि का सेवन आपको रुचता नहीं था।

श्री–जी के साथ रहते हुए खाने-पीने की कभी इच्छा नहीं होती थी। कोई व्यावहारिक जगत् भी है, इसका विचार तक नहीं आता था। गंगामंदिर इन दिनों सत्संग का भवन था, या यदि यह कहें कि गंगामंदिर में इन दिनों भाव तथा आनन्द का साम्राज्य था, तो किंचित् भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। सारी रात आप कभी उठते, कभी बैठते, कभी मुझे और मोतीरामजी को

जगाकर बैठा देते, कहते–उठो, सुनो, जाओ अन्य सत्संगियों को भी बुला लाओ। मोतीरामजी जल्दी से जाते, दो-चार निजजनों को बुला लाते, सत्संग प्रारंभ हो जाता और सम्पूर्ण निशा अखण्ड धारा-प्रवाह चलता रहता। मध्य में कभी-कभी आप कह उठते–"सुनो, सुनो, यह मैं नहीं बोल रहा हूँ, यह वाणी कहीं से आ रही है।" कभी-कभी ऐसा भी होता कि अन्य लोग निद्राभिभूत हो जाते। केवल श्री–जी और मैं आमने-सामने बैठे होते। मध्य रात्रि दीपक भी नहीं, नीरव वातावरण, केवल श्री–जी की वाणी ही मन्द-मन्द मुखरित होती रहती थी।

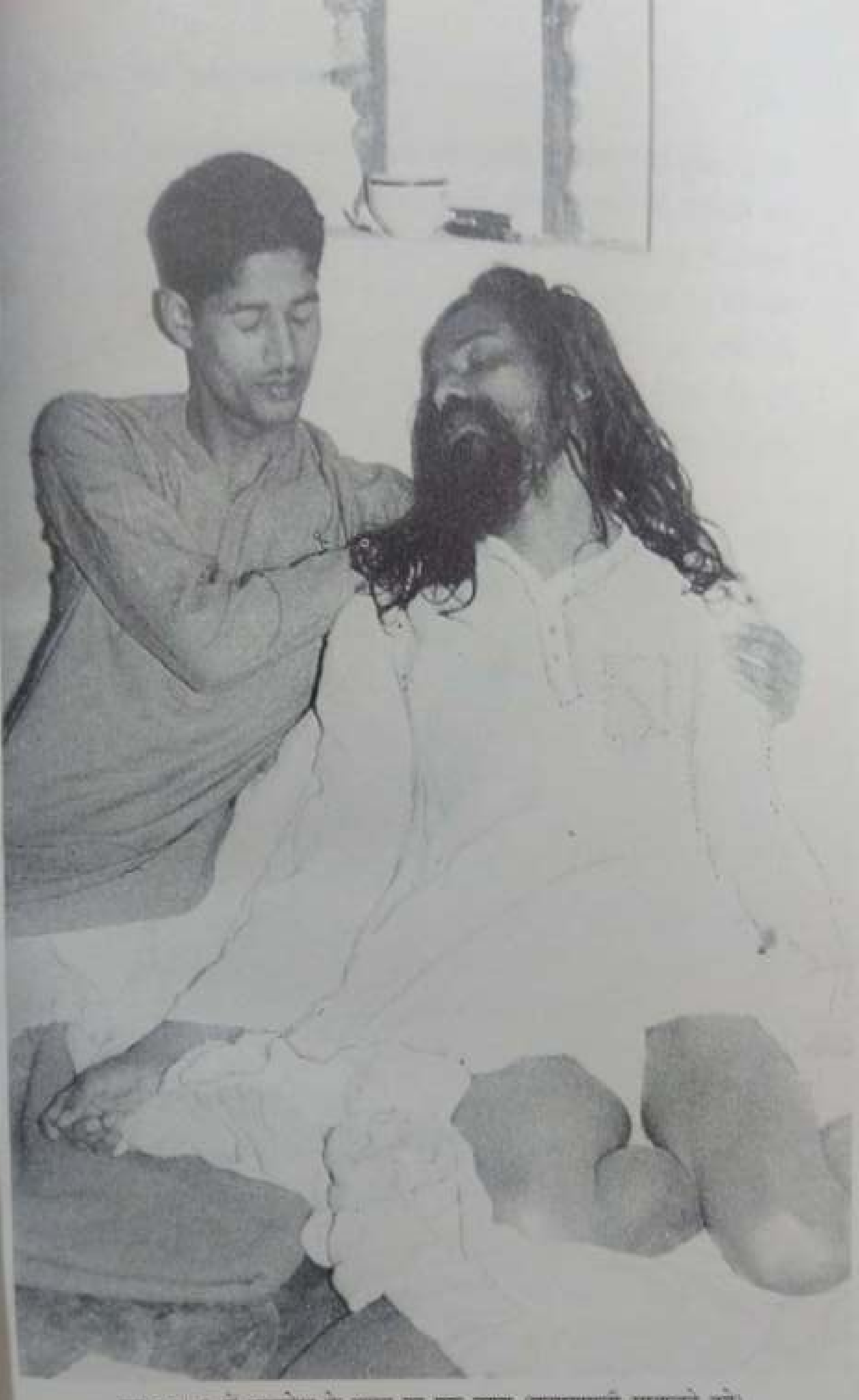
एक दिन श्री–जी गंगामंदिर के बरामदे में बैठे हुए थे। मैं व मोतीरामजी पास ही बैठे थे। इसी समय श्री–जी की पूर्व परिचित वयोवृद्धा दुर्गी माँ, जो रंगजी के बगीचे में रहती थीं, श्री–जी के दर्शन के लिये आईं। ये एक बहुत उच्चकोटि की सन्त एवं प्रेम-दीवानी थीं। प्रेम में घन्टों बेभान हो जाया करती थीं। इन्हें तीन बार दिव्य वृन्दावन के दर्शन हुए थे। इनकी श्री–जी के प्रति बहुत श्रद्धा थी। स्वाभाविक कुछ समय तक भगवत्-चर्चा चलती रही। जाते समय इन्होंने दूसरे दिन अपने यहाँ प्रसाद पाने के लिये श्री–जी को निमन्त्रण दिया। इनके प्रेममय आग्रह को मानकर श्री–जी ने स्वीकृति भी दे दी, पर दूसरे दिन इनके यहाँ जाना भूल गये। मुझे भी याद नहीं रहा। दोपहर को मोतीरामजी को स्मरण हुआ। श्री–जी ने कहा–"अरे ! मैं तो भूल ही गया। चलो, वह भी प्रेम-दीवानी है, उसे भी क्या याद होगी।" संध्या समय श्री मोतीरामजी दुर्गी माँ के यहाँ गये और श्री–जी के भूल जाने की बात कही। श्री दुर्गी माँ हँसकर कहने लगीं–"कैसी बात करते हो ? श्री–जी एक बजे यहाँ से प्रसाद पाकर गये हैं। जब बारह बजे तक नहीं आये तो मैं रोने लगी। अचानक एक बजे के आस-पास आये और तुरन्त प्रसाद पाकर चले गये। इन बैठी हुई स्त्रियों से पूछ लो। मैंने अपने हाथों से परोस कर प्रसाद पवाया। " उस दिन श्री–जी गंगामंदिर से बाहर कहीं गये ही नहीं थे, मैं निरन्तर श्री–जी के साथ ही था। ऐसी चमत्कारपूर्ण घटनाएँ प्रायः होती रहती थीं।

मण्डलेश्वर गमन तथा भावावेश प्रारम्भ

सन् १६४६; भक्तवृन्द के आग्रह से पुनश्च मंडलेश्वर जाने का अवसर प्राप्त हुआ। वहाँ से मार्ग-व्यय आ गया और श्री–जी मुझे साथ लेकर मंडलेश्वर पहुँच गये। भक्तवृन्द में आनन्द की लहर दौड़ गई। श्री–जी के आगमन का समाचार सुनकर ग्राम-ग्राम से भक्तवृन्द उनके दर्शनार्थ आने लगे। अब की बार श्री–जी का निवास श्री माँगीलालजी के घर पर ही रहा। नित्य रात्रि में संकीर्तन उच्चस्वर से होता था। यथासमय सत्संग भी होता ही था। श्री–जी का उद्‌देश्य कभी भी प्रचार-प्रसार का नहीं रहा। अतः नित्य प्रति होने वाले इस संकीर्तन व सत्संग में सरल, भावुक एवं जिज्ञासु भक्तजनों को ही प्रवेश प्राप्त था। श्री–जी के प्रति समर्पित दृढ़ भावना वाले भक्तवृन्द ही उपस्थित रहने से संकीर्तन व सत्संग में एक अपूर्व आनन्द छा जाता, कोई प्रेम-विभोर हो जाता और किसी-किसी सौभाग्यशाली को कुछ अनुभूति भी प्राप्त होती। इस दिव्य वातावरण में श्री–जी की कृपा से कईयों के जीवन में अपरिवर्तनीय मोड़ आया और कई जीवन लक्ष्य के पथ पर दृढ़व्रती हुए। कईयों ने अपने जीवन धन्य कर लिये।

श्री–जी कई भक्त परिवारों के परम आत्मीय बन चुके थे। वे सब बारी-बारी से उनको अपने यहाँ आमन्त्रित करते। उनके प्रेमाग्रह को स्वीकार कर श्री–जी उनके यहाँ जाते तो वे अपने आप को परम सौभाग्यशाली समझते और उनका घर आनन्द के वातावरण से भर जाता।

संध्या समय भक्तवृन्द सहित श्री–जी नर्मदा-तट के एकान्त स्थल पर जाकर बैठते। कुछ विनोद, हास-परिहासमय चर्चा चलती परन्तु वह भी लक्ष्य से हटकर कभी नहीं होती थी। आपकी प्रत्येक चेष्टा त्याग, वैराग्य व अनुराग से भरी हुई होती तथा साधक को लक्ष्य की प्रेरणा ही प्रदान करती थी। व्यावहारिक चर्चा आपको सहन ही नहीं होती थी। अपने संपर्कीजनों को सदा सांसारिक वृत्तियों से हटाने की ही चेष्टा आप करते रहते। इसीलिए इस परिकर को लेकर कुछ लोगों के मन में ईर्ष्या-भाव भी रहता। वे निन्दा का आश्रय ले समाज में कुछ उलटी-सीधी बातें फैलाते रहते, परन्तु श्री–जी



सन् १९५६ में भाववेश के समय का एक दृश्य (घनश्यामजी सम्हालते हुये)

के सामने आकर कुछ कहने का साहस इन लोगों का कभी नहीं हुआ। इनमें कुछ वकील लोग भी सम्मिलित थे, जो सदा परिकर को हानि पहुँचाने का प्रयास करते। 'सत्य' से टकराकर आज तक कौन विजयी हुआ है ? अपराध का परिणाम भोगना ही पड़ता है व इन्हें ही नीचा देखना पड़ता है। श्री–जी के दिव्य वातावरण के नशे में चूर रहने वाले भक्तों को न इन बातों की परवाह थी न ही उनकी ओर ध्यान देने के लिये समय ही था। वे तो श्री–जी के अनुरागमय एकछत्र साम्राज्य में मस्त रहते, निर्भय रहते। सदा सत्संग-कीर्तन की धूम रही आती।

एक दिन श्री–जी संध्या समय अपने कुछ भक्तों के साथ करुणा-शंकरजी दुबे के घर गये। उनके प्रति दुबेजी की तथा उनके परिवार की सराहनीय श्रद्धा थी। ग्रीष्म का मौसम होने से सब दूसरी मंजिल की छत पर बैठे हुए थे। वातावरण शान्त था। सहसा श्री–जी –

मुरली बाज रही मधुवन में,
आम की डारी कोयल एक बोले,
बावरी राधा वन-वन डोले,
गूँज उठी त्रिभुवन में , मुरली ....

इस पद को बार-बार गाने लगे। गाते-गाते श्री–जी की स्थिति गम्भीर हो गई। नेत्रों से अश्रुप्रवाह होने लगा। धीरे-धीरे कुछ स्वस्थ होकर जाने के लिये उठ खड़े हुए। जैसे-तैसे गृहद्वार तक ही पहुँचे होंगे कि भावाविष्ट हो गये। असमर्थतावश बाहरी चबूतरे पर बैठ गये। सहसा शरीर ढुलक पड़ा। कुछ समय उपरान्त प्रकृतिस्थ हुए और निवास स्थान पर लौट आये। नन्दगाँव से वृन्दावन आने के पश्चात् प्रथम भावावेश यहीं से प्रारम्भ हुआ।

एक दिन आप कुछ भक्तों सहित मेरे घर महेश्वर आये। वहाँ से भक्तजनों को साथ ले नर्मदा-तट पर घूमने गये। सुन्दर घाटों को देख अति ही प्रसन्न हुए। कहने लगे–"कुछ महीनों पूर्व इन घाटों को मैं स्वप्न में देख चुका था।" नर्मदा का विशाल पाट,अगाध जलराशि, घाटों की सीढ़ियों से टकराती हुई लहरें, भ्रमणार्थ जलराशि पर तैरती हुई नौकायें, यह सब देख

कर श्री–जी की इच्छा नौका-भ्रमण करने की हुई। तत्काल नौका आ गई और भक्तवृन्द सहित श्री महाराजजी नौकारूढ़ हुए। किनारे को छोड़ नाव नर्मदा के गहरे जल में मन्द-मन्द गमन करने लगी। श्री–जी नौका-मध्य से घाटों का सौन्दर्य देखते जा रहे थे। विशाल रमणीय अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे घाटों के सोपानों पर जल भरे घट सिर पर रखे मंद-मंथर गति से ऊपर चढ़कर जाने वाली पनिहारियाँ, उनके लहराते हुए रंग-बिरंगे वस्त्राभरण, पाँवों में मंद ध्वनि करती हुई पायलें, ऊपर से रिक्त घट लिए हुए द्रुत गति से उतरने वाली पनिहारियाँ, उनकी वह चंचल-चपल गति, इस सम्पूर्ण दृश्य को देखकर श्री–जी किसी अद्वितीय साम्राज्य में खो गये। आपके भाव-साम्राज्य में गोकुल ग्राम ही प्रकट हो गया, और एक दिव्य मत्तता में चूर दीखने लगे। शनैः- शनैः आपने गोकुल ग्राम का अनूठा वर्णन करना प्रारंभ कर दिया। नौका मंद गति से चल रही थी। भक्तवृन्द नीरवता में श्री–जी के मुख से निसृत उस पीयूष-वाणी का एकाग्रता से पान कर रहे थे। किसी को समय का भान न रहा। नाव कितनी दूर निकल गई है, इसका भी विचार नहीं आया।

श्री–जी वर्णन करने में तन्मय थे। मध्य-मध्य भावविभोर स्थिति हो जाती। कुछ देर चुप बैठे रहते, पुनः वर्णन करना प्रारंभ कर देते। वर्णन करते-करते आपने एक पद मन्द-मन्द स्वर में गाना प्रारंभ कर दिया। उस मधुर स्वर को समीपस्थ सभी एकाग्रचित्त से सुन रहे थे। पद गाते-गाते आप भावाविष्ट हो नौका में ही मूर्च्छित हो गये। मैंने धीरे से श्री–जी का मस्तक अपनी गोद में ले लिया। मातंगेश्वर घाट पर नौका लगा दी गई। हम लोगों ने धीरे से श्री–जी को उठाकर नर्मदा-तटवर्ती पुलिन पर लाकर लिटा दिया और बाह्य ज्ञान होने की प्रतीक्षा करने लगे।

संध्या हो चुकी थी। धीरे-धीरे अन्धकार प्रवेश कर रहा था। शरद ऋतु होने से हलका-हलका शीतल समीर कुछ शीत का बोध करा रहा था। सात बज चुके थे। अन्धकार बढ़ता जा रहा था। श्री–जी को बालुका पर मूर्च्छित पड़े हुए दो घण्टे व्यतीत हो चुके थे, परन्तु बाह्य ज्ञान होने के कोई चिह्न प्रतीत नहीं हो रहे थे। रात्रि के दस बज गये। शीत बढ़ रहा था। एक घण्टा और प्रतीक्षा की, परन्तु बाह्य ज्ञान होने के कोई लक्षण दिखाई

नहीं दिये। श्री बाबूलालजी व्रजवासी साथ में ही थे। वे अपने घर से चारपाई ले आये। घाट से बीस-पच्चीस सीढ़ियाँ चढ़ने पर एक तिवारी थी। श्री–जी को चारपाई पर लिटा कर तिवारी में ले आये। हम सब आस-पास बैठकर उनकी मूर्च्छा भंग होने की प्रतीक्षा करने लगे। यह वही स्थान था, जहाँ श्री–जी का प्रथम बार सत्संग हुआ था। रात अधिक होने पर सब लोग अपने अपने घरों के लिये बिदा हो गये। केवल मैं व माँगीलालजी पास बैठे रहे। धीरे-धीरे सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत हो गई, परन्तु उन्हें बाह्य ज्ञान नहीं हुआ, अतः अब चिन्ता होने लगी। श्री–जी की इतने दीर्घ समय की मूर्च्छा देखने का अवसर हमें पहले कभी नहीं आया था। प्रातःकाल के सात बजे। श्वास की गति में परिवर्तन आया। रुक-रुक कर दीर्घ-श्वास चलने लगा। नेत्रों की पलकें कुछ हिलने लगीं। हमें श्री–जी के बाह्य ज्ञान में आने की आशा होने लगी और एकटक श्री–जी की मुख-मुद्रा निहारने लगे।

धीरे-धीरे आपके अर्धोन्मीलित नेत्र खुले एवं नेत्र-कोण कुछ इधर-उधर झुकने लगे। धीरे से आपने हाथ उठाकर एक उँगली ठोड़ी पर रख ली व कुछ सोचते से रहे, फिर इशारे से मुझे पास बुलाया। मैं आपके मुख के सन्निकट कान लगाकर सुनने लगा। आपने धीरे से पूछा–"मैं कहाँ पर हूँ ? यह कौन सी जगह है ? " मैंने कहा–"यह मातंग घाट है। यह वही तिवारी है, जहाँ आपका सत्संग हुआ था। यहाँ आप कई बार घूमने आ चुके हैं।" कुछ समय तक सोचने के पश्चात् आपको सब स्मरण हो आया। आप धीरे से उठकर बैठ गये और कुछ समय तक ऐसे ही चुप बैठे रहे।

श्री–जी के मुख पर मत्तता दृष्टिगोचर हो रही थी। पन्द्रह घण्टे हो गये थे। कल से आपने न कुछ खाया था न पीया था। काष्ठवत् मूर्च्छित पड़े हुए थे। मैंने धीरे से आपको चलने के लिये कहा। शरीर बहुत शिथिल हो रहा था। आप धीरे-धीरे उठे और मंद-मंद पग रखते हुए चलने लगे। मैं एक ओर से आपकी बाँह पकड़े साथ-साथ चल रहा था और आपको श्री बाबूलालजी के घर ले गया। वहाँ कुछ अल्पाहार तैयार करवा कर आपको जलपान कराया तथा चाय पिलाई। रात्रिभर के भाव की खुमारी अभी तक बनी हुई थी। कुछ विश्राम के बाद हम श्री–जी को मंडलेश्वर ले आये।

ग्राम-ग्राम में संकीर्तन

इस बार श्री महाराजजी ने निमाड़ प्रान्त के गाँव-गाँव में संकीर्तन की धूम मचा दी, परन्तु केन्द्र स्थान तो मंडलेश्वर ही रहा। जैसा कि पहले लिख ही चुका हूँ, इस बार आपका निवास श्री माँगीलालजी के यहाँ ही रहा। भक्तों के आग्रह पर आप दो-चार दिनों के लिये कहीं भी जाते तो पुनः यहीं लौटकर आ जाते। जब तक श्री–जी यहाँ रहते परम श्रद्धालु माँगीलालजी अपने सारे लौकिक, व्यावहारिक कार्यों को छोड़कर उनके साथ ही साथ बने रहते थे। निर्भीकता आपका स्वाभाविक गुण था। श्री–जी के ये अत्यन्त कृपापात्र थे। इन्हें मुझसे भी एक विशेष आत्मीयता थी। नित्य किसी भक्त के यहाँ श्री–जी के संकीर्तन और सत्संग का आयोजन रहता ही था। प्रसन्नता तो मानो सदा श्री–जी तथा उनके परिकर के आश्रित होकर ही रहती थी, परन्तु यह आनन्दोल्लासमय वातावरण भगवत्-अभिनिवेश युक्त ही रहता था।

धीरे-धीरे निमाड़ प्रान्त के ग्राम-ग्राम में संकीर्तन की धूम मचने लगी। गाँव-गाँव से भक्तवृन्द आकर श्री–जी को सह परिकर अपने यहाँ ले जाते। गाँवों की यात्रा प्रायः बैलगाड़ियों में ही होती थी। कई-कई बैलगाड़ियों में भक्त-वृन्द साथ चलते। जिस बैलगाड़ी में श्री–जी बैठते उसके सारथी माँगीलालजी होते थे। किसान होने से वे इस कार्य में कुशल थे। श्री–जी की वर्तमान भाव-मत्त स्थिति को देखते हुए मैं सदैव उनके साथ ही बैठता था। माँगीलालजी बैलगाड़ी धीरे-धीरे चलाना तो जानते ही नहीं थे। परिणामतः गाँवों के ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर कई बार गाड़ी उलट जाती, कई बार टूट जाती, कभी गाड़ी का पहिया निकल जाता, कई बार लोग गाड़ियों से नीचे गिर जाते, परन्तु श्री–जी की कृपा से कभी किसी को चोट नहीं आयी। सब हँसते हुए उठकर पुनः गाड़ी में बैठ जाते। श्री–जी की कृपा से सब निर्भय रहते। किसी प्रकार के अनिष्ट की कल्पना भी किसी के मन को स्पर्श नहीं करती थी।

ग्रामीणों के कच्चे मकान, खिरक में बँधे हुए गाय-बछड़े, दधि-मन्थन का घोष आदि दृश्य देखकर श्री–जी को व्रज की स्फूर्ति हो जाया करती थी।

इन ग्रामीणों का शुद्ध निष्काम प्रेम देखकर वे द्रवित हो जाते। श्री-जी के घर आने पर सब परिवार आनन्दोल्लास से नाच उठता। श्री-जी भी इनके घरों में अपने परिकरजनों के सहित स्वच्छन्द रहते। उनकी प्रसन्नता के निमित्त उनसे दूध-दही माँग-माँगकर स्वयं खाते एवं परिजनों को भी खिलाते। यह हास्य-विनोद, खान-पान भगवद्-अभिनिवेशमय ही होता था और श्री-जी इसके माध्यम से ग्रामीणजनों में आत्मीयता की भावना भर देते थे। रात्रि में सत्संग एवं कीर्तन की धूम रहती थी। संकीर्तन में श्री-जी कई बार भावाविष्ट हो मूर्च्छित हो जाते और एक अद्वितीय आनन्द का स्रोत बह निकलता। उस वातावरण से परिकर को जो सुख प्राप्त होता था, उसका वर्णन करना असम्भव है। **"ज्यौं गूँगे मीठे गुड़ कौ रस अन्तर्मन ही भावै।"**

गाँव के सभी स्त्री-पुरुष बड़ी संख्या में उपस्थित होकर संकीर्तन में भाग लेते एवं सत्संग श्रवण करते। पुनः दूसरे दिन की श्रवण-उत्कण्ठा लिये अपने-अपने गृहों को लौट जाते। इस प्रकार एक-दो दिन एक ग्राम में व्यतीत कर श्री-जी मंडलेश्वर लौट आते। कभी-कभी ग्रामीण भक्त श्री-जी को अपने गाँव में अधिक रोकना चाहते तो आप सुबह उठकर अकेले ही चुपचाप भाग जाते। परिकरवृन्द पीछे से आपके पास पहुँचता। छोटी खरगोन में संकीर्तन व सत्संग का सुख अपूर्व रहा। श्री-जी भाव में उठ खड़े होते और पुनः मूर्च्छित हो जाते। कभी दोनो भुजाएँ ऊपर उठाकर भावस्थिति में ही कीर्तन करते। इस अभिनिवेश में आबाल-वृद्ध सभी तन्मय हो जाते।

हमेशा की तरह इस बार भी एक-दो माह इस प्रान्त में रहकर श्री-जी श्रीधाम लौट आए थे। श्रावण मास प्रारंभ हो गया था। जहाँ-तहाँ वृन्दावन के हजारों मंदिरों में झूलनोत्सव मनाया जा रहा था। बाहर से हजारों की संख्या में भक्तवृन्द दर्शनार्थ आये हुए थे। जहाँ-तहाँ संकीर्तन एवं झूलनोत्सव के पद-गान की चहल-पहल थी। प्रायः सभी रास मण्डलियाँ एकत्रित हो गई थीं एवं रासलीला की धूम थी। श्री वृन्दावनधाम का झूलनोत्सव भारत में विख्यात है। करीब-करीब दो लाख जनसमूह इस उत्सव को देखने एकत्रित होता है। श्री-जी भी स्वजनों के साथ इस आनन्दोत्सव में भाग ले रहे थे।

धाम में अपने कुछ गिने-चुने भक्तजनों के यहाँ श्री महाराजजी का सत्संग होता ही रहता था। वे नन्दगाँव, बरसाना, कभी गोवर्धन में विचरण करते रहते थे। नन्दगाँव तथा गोवर्धन की तरहटी में स्थित कई सिद्ध-सन्तों के दर्शन भी श्री–जी ने कराये। मार्ग में चलते हुए आप दिखा देते–"देखो, ये जो जा रहे हैं, बहुत अच्छे सन्त हैं।" कभी-कभी सन्तों की कुटिया में ले जाकर भी दर्शन कराते थे। श्री उड़ियाबाबाजी महाराज, श्री हरिबाबाजी महाराज, श्री सन्त कोकिलजी, श्रीनारायण स्वामी (जज साहेब), श्री मीराजी (रामप्यारी जी), श्री रंगनाथ बगीचे के श्री रघुनाथदासजी महाराज, गोवर्धन गोविंद कुण्ड के श्री मनोहरदासजी महाराज, पूँछरी के श्री गौरगोविंददासजी और माधव-दासजी, श्री राधाकुण्ड के सुबलदासजी, श्री सखीचरणदासजी आदि-आदि बहुत से सिद्ध-सन्तों के दर्शन आपने मुझे कराये और व्रज की कई लीला स्थलियों का महत्त्व समझाया।

इस प्रकार कुछ समय व्रज-स्थलियों में भ्रमण कर पुनः श्रीधाम आ जाते। यह तो नित्य रास-स्थली है। श्री उड़ियाबाबाजी महाराज के आश्रम में, ब्रह्मचारी-मंदिर (ग्वालियर-मंदिर) आदि स्थानों पर बारहों मास रासलीलाएँ होती रहती थीं। श्रीधाम में रहते हुए श्री–जी नित्य कहीं न कहीं रासलीला देखने अवश्य जाते थे। उत्सव के दिनों (श्रावण और होली) में तो वे दिन में तीन-तीन रासलीलाएँ देखते थे।

सन् १६४६, भाद्रपद मास, जन्माष्टमी का दिन था। संध्या के समय श्री–जी मुझे साथ लेकर श्री बिहारीजी के बगीचे के सामने बम्बई वाली कोठी में रास देखने गये। हम रास देख रहे थे। नृत्य-संगीत हो चुका था। लगभग सात बजे होंगे। लीला प्रारंभ होने ही वाली थी, सहसा श्री–जी उठे और अपनी काली 'कमली' मुझे देते हुए बोले– "अभी आता हूँ।" मैंने काली कमली ले ली और लीला देखता रहा। लगभग साढ़े आठ बजे रासलीला समाप्त हुई। बाहर आकर मैंने श्री–जी को चारों ओर खोजा परन्तु वे कहीं नहीं मिले। मैं गंगामंदिर लौट आया, वे वहाँ भी नहीं थे। निराश होकर हम सो गये। सुबह चार बजे किसी ने द्वार खटखटाया। खोलकर देखा सामने श्री–जी

खड़े हैं। देखते ही प्रसन्नता छा गई। आप अन्दर आकर बैठ गये। प्रसाद देते हुए बोले–"लो नन्दगाँव की जन्माष्टमी का प्रसाद। रास में बैठे हुए मुझे नन्दगाँव की जन्माष्टमी का स्मरण हो आया, मैं एकदम उठकर छटीकरा होते हुए नन्दगाँव पहुँच गया। उत्सव देखकर, प्रसाद लेकर वैसे ही वापस लौट आया।" हमें बहुत आश्चर्य हुआ, एक साथ इतनी पैदल यात्रा! वृन्दावन से नन्दगाँव पैदल जाना-आना करीब चवालीस मील की यात्रा है। आप बहुत थक गये थे, परन्तु एक दिव्य मस्ती नेत्रों में झलक रही थी।

कुछ दिन श्रीधाम में रह कर, श्री–जी ने मुझे साथ लेकर "डाकोर" के लिये प्रस्थान किया। यहाँ उनके पूर्व परिचित श्री हरिदासजी के पुत्र श्री रणछोड़दासजी सहकुटुम्ब रहते थे। ये वललभ-सम्प्रदाय में दीक्षित ब्राह्मण थे। बहुत ही सेवापरायण एवं वैष्णव भक्त थे। श्री–जी से इन्हें बहुत प्रेम था। यहाँ आकर गोमती-स्नान तथा श्रीरणछोड़राय के दर्शन किये। पश्चात् डाकोर से कुछ ही मील दूर उमरेठ नामक एक छोटा सा गाँव है, वहाँ चले गये। यहाँ भी श्री–जी के पूर्व परिचित कुछ भक्त थे। जब आप प्रथम बार यहाँ आये थे, तब आपकी अवस्था बहुत छोटी थी। आपकी बाल-अवस्था, तेजस्वी स्वरूप, पद-गायन का अद्वितीय माधुर्य, भाषण-प्रतिभा, यह सब देखकर यहाँ के लोग आपको **बालयोगी** कहने तथा आपसे प्रभावित हो बहुत ही श्रद्धा एवं प्रेम करने लगे थे। कई बार यहाँ के स्कूल एवं कालेज में आपके प्रवचनों का भी आयोजन किया गया था। कुछ लोग प्रेम से आपको **बाल-ध्रुव** भी कहते थे।

श्री–जी का आगमन सुनकर यहाँ अतीव प्रसन्नता छा गई। सम्पूर्ण रात्रि संकीर्तन हुआ। प्रातःकाल डाकोर लौट आये। दो-चार दिन डाकोर रहकर श्रीधाम लौट आये।

श्री–जी एक काली कमली सदैव ही ओढ़े रहते थे। डाकोर से लौटने के पश्चात् एकबार हम सब गंगामन्दिर में बैठे हुए थे। प्रसंगवशात् श्री–जी ने काली कमली से सम्बन्धित एक पुरानी घटना हमें सुनाई। श्री–जी ने कहा–"एक बार मैं डाकोर गया हुआ था। डाकोर तथा उमरेठ में कुछ दिन तक संकीर्तन तथा सत्संग-चर्चा होती रही। जब मैं श्रीधाम वृन्दावन जाने को

तैयार हुआ तो भक्तगण और कुछ दिन ठहरने का आग्रह करने लगे। जब मैं किसी तरह रुकने को तैयार नहीं हुआ तो उन्होंने प्रेमाग्रहपूर्वक मेरी काली कमली लेकर रख ली। उनका अनुमान था कि काली कमली ले ली है, अब तो महाराजजी रुक ही जायेंगे परन्तु मैं सीधा स्टेशन पहुँचा और ट्रेन में बैठकर वृन्दावन के लिये रवाना हो गया। मैं यह भूल ही गया कि मेरे पास काली कमली नहीं है। यही भान बना रहा कि वह सदैव की तरह मेरे कंधे पर ही है। ट्रेन में बैठने पर मैंने देखा—वास्तव में ही काली कमली सदैव की तरह मेरे कंधे पर थी।

तीन-चार मास पश्चात् मैं पुनः डाकोर गया। वहाँ भक्तों ने कहा—बापजी ! आप तो अपनी काली कमली बिना लिये ही चले गये। हम आपकी बाट जोहते रहे, जब आप नहीं लौटे तो हमने काली कमली पेटी में सुरक्षित रख दी। सुनकर मैं अवाक् रह गया। अब स्मरण हुआ कि इन्होंने मेरी काली कमली लेकर रख ली थी। मैंने कहा—अच्छा ! लाओ, काली कमली आपने कहाँ रखी है। उस भक्त ने पेटी खोलकर देखा तो काली कमली उसमें नहीं थी। सभी लोग आश्चर्यचकित हो गये कि वही काली कमली मेरे कंधे पर रखी हुई थी। ऐसे गाढ़ स्मरण से ही वह कमली मेरे कन्धे पर आ गई थी।"

यहाँ आए कुछ ही दिन हुए थे कि पुनः मध्य प्रदेश के निमाड़ प्रान्त, मंडलेश्वर के भक्तों के पत्र पर पत्र श्री—जी को बुलाने के लिये आने लगे। मार्ग व्यय भी आ गया। श्री—जी का मंडलेश्वर जाने का निश्चय भी हो गया। मेरे लिये किराये की व्यवस्था नहीं हो पाई थी, अतः श्री—जी ने कहा—"मैं महेश्वर जाकर तुम्हारे भाई से किराया भिजवा दूँगा। तुम पीछे आ जाना।"

सन् १९४६, श्री—जी ने मंडलेश्वर के लिये प्रस्थान किया। मैं मथुरा स्टेशन पर उन्हें पहुँचाने गया था। शाम के पाँच बजे का समय था। वे ट्रेन में खिड़की के पास बैठे थे। मैं प्लेटफार्म पर खड़ा-खड़ा उनसे बातें कर रहा था कि श्री—जी एकाएक स्तब्ध से हो गये, कहने लगे—'मनोहरजी ! मैं खुली आँखों से देख रहा हूँ, एक बालिका सामने स्फुरित हुई और कह रही है, **मुझे वृन्दावन-वास कराइये**, कौन होगी ? मेरा तो किसी के लिये कोई

संकल्प नहीं है। पता नहीं कौन बालिका आने वाली है।" मैं भी आश्चर्यचकित सा कुछ उत्तर नहीं दे सका। कुछ ही क्षणों में गाड़ी चल दी और मैं वृन्दावन लौट आया। आठ-दस दिनों के बाद ही मैं भी मंडलेश्वर जाकर श्रीचरणों में उपस्थित हो गया। जहाँ-तहाँ सत्संग-संकीर्तन की धूम धाम प्रारम्भ हो गई।

मंडलेश्वर से पाँच मील दूर धरगाँव में श्री नागेश्वर बाबा रहते थे। एक दिन इनके आग्रह पर धरगाँव के निकट ही शिव-मन्दिर में श्री–जी के सत्संग व संकीर्तन का आयोजन किया गया। आप प्रातःकाल ही सब भक्तों के साथ धरगाँव पहुँच गये। ग्राम के भावुक भक्त भी श्री–जी के दर्शनार्थ एकत्रित होने लगे। यह स्थान अति रमणीय है। एकान्त वनप्रान्त में एक छोटा सा सुन्दर शिवालय, समीप ही निर्मल जलपूरित बावड़ी एवं श्री नागेश्वर बाबा की सुन्दर सी कुटिया, सामने एक विशाल चबूतरा। श्री–जी परिकर सहित घूम-घूमकर इस दृश्य को देखते रहे, परस्पर हास्य-विनोद चलता रहा। मध्याह्न में सब भक्तों सहित प्रसाद ग्रहण किया। कुछ विश्राम के पश्चात् दोपहर दो बजे सब भक्त श्री–जी के निकट आकर बैठ गए। कुछ आध्यात्मिक चर्चा चल रही थी, सहसा श्री–जी भावस्थिति में आ गये। रोमांच, कम्प, स्वेद आदि सात्विक भावों की जागृति होने लगी। आपके नेत्र आरक्त हो रहे थे। आप एकदम खड़े हो गये और लड़खड़ाते हुए चलने लगे। मैंने एक ओर से बाँह पकड़ी हुई थी। भाव की मस्ती में झूमते हुए आप शिवालय में प्रवेश कर गये और कुछ ही क्षणों में मूर्च्छित अवस्था को प्राप्त हो गये। मैंने श्री–जी का मस्तक अपनी गोद में ले लिया तथा सभी को बाहर जाने का संकेत किया।

बहुत समय व्यतीत हो गया परन्तु बाह्य दशा में आने के कोई चिह्न दृष्टिगोचर नहीं हुए। मैंने नागेश्वर बाबा को अन्दर आने का संकेत किया और श्री–जी का मस्तक उनकी गोद में देकर कुछ समय के लिये बाहर चला आया। इसी बीच एक विचित्र घटना हुई, जो बाबा ने बाद में हमें इस प्रकार सुनाई– "श्री–जी का मस्तक गोद में था। मैं उनके मुखारविन्द के भाव देख रहा था, सहसा उनके मुखारविन्द पर एक कान्ति झलकने लगी, जो धीरे-धीरे बढ़ने लगी। उस प्रकाश में उनका बाह्य स्वरूप लोप हो गया

और मुखाकृति गोपी-स्वरूप में बदल गई। एक अति सुन्दरी-रमणी का स्वरूप हो गया। मुख की आभा चारों ओर फैल रही थी। शृंगार भी तदनुरूप धारण किया हुआ था। मेरी हिलने-डुलने की शक्ति का लोप हो गया। जड़िमा भाव हो गया था। शरीर रोमांचित हो रहा था। कुछ ही क्षणों में शनैः-शनैः वह कान्ति तिरोहित होती चली गई। मुखाकृति पूर्ववत् हो गई और श्री–जी की भावस्थिति भी जागृति में बदल गई।"

लगभग एक घण्टे पश्चात् स्वस्थ हो श्री–जी मंदिर से बाहर आकर सामने के विशाल चबूतरे पर बैठ गये। दिन भर भक्तों के आने-जाने एवं भोजनादि का कार्यक्रम चलता रहा। रात्रि में जमकर कीर्तन तथा सत्संग हुआ। गाँव के अधिकांश लोग उपस्थित थे। रात्रि अति आनन्दपूर्वक व्यतीत हुई। प्रातःकाल स्नानादि से निवृत्त हो श्री–जी व मैं ताँगे से मंडलेश्वर के लिये रवाना हुए। एक-दो मील ही गए होंगे कि वे सहसा चौंक गये। कहने लगे– "देखो, देखो, वह बालिका फिर स्फुरित हुई है और कह रही है–मुझे वृन्दावन-वास कराओ। पता नहीं कौन बालिका आने वाली है ?" मैं क्या कहता। न मैंने इस बात पर विशेष ध्यान दिया, न श्री–जी ने ही कोई चर्चा की।

मंडलेश्वर में नित्य ही किसी न किसी भक्त के यहाँ कीर्तन एवं सत्संग का आयोजन रहता था। सभी लोग अधिक से अधिक श्री–जी के साथ रहने का प्रयास करते। श्री–जी के संग में इन्हें एक विशेष आनन्द की अनुभूति होती थी। श्री माँगीलालजी तो प्रायः अपने सभी कार्य छोड़कर श्री–जी के सान्निध्य का पूरा-पूरा लाभ उठाते। उनके इधर-उधर आने-जाने का भार इन्होंने अपने ऊपर ही ले लिया था। कहते थे–सब कुछ श्री–जी का ही है। श्री–जी भी इनके घर में स्वतन्त्रता-पूर्वक रहते थे। दिन-रात भक्तों की चहल-पहल भी इनके घर में बनी रहती थी। ये अकेले ही इन सब का भार वहन करते थे। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि श्री–जी का हास्य-विनोद भी भगवद्-अभिनिवेश से रिक्त नहीं होता था। एक दिन एक व्यक्ति महाराजजी के सामने 'अनाज' को लेकर बातें करने लगा–यहाँ इस प्रकार का अनाज होता है। उसके खेत में इस जाति का इतना बड़ा गेहूँ होता है,

हमारे खेत में इतना बड़ा चना होता है इत्यादि-इत्यादि। कुछ क्षण तक तो श्री–जी सुनते रहे, फिर बोले–हम नेपाल गये थे, वहाँ 'बटमास' नाम का चना होता है। वह खेलने की गेंद के बराबर बड़ा होता है। सभी लोग हँस पड़े और यह चर्चा यहीं समाप्त हो गई। वह व्यक्ति भी अपनी भूल समझ गया।

श्रीधाम में रहते हुए भी अपने आपको जनसम्पर्क एवं प्रसिद्धि से बचाने के लिए श्री–जी विनोद का आश्रय लेकर चतुरता से बच जाते थे।

एक दिन मथुरा की एक पूर्व परिचित महिला संध्या समय श्री–जी के दर्शन के लिए आई। जैसे ही आपने उसकी आवाज सुनी, गद्दी से उतर एक बड़ी सी चादर ओढ़कर एक कोने में बैठ गये। वह महिला अन्दर आकर आपसे ही पूछने लगी–"महाराजजी कहाँ हैं ? मैं दर्शन करने आई हूँ। श्री–जी ने तुरन्त कहा अच्छा ! हाँ वे कभी-कभी यहाँ आते हैं। रहते नहीं। अभी तो यहाँ नहीं हैं। महिला ने कहा–"बाबा ! अभी वे यहीं हैं, सुनकर तो मैं दर्शन करने आई हूँ, कहीं आप ही तो नहीं हैं ?" उसकी बातें सुनकर हमें हँसी आ गई। हमें हँसते हुए देखकर उसे शक तो हो गया परन्तु इतने में ही श्री–जी शीघ्रता से उठकर श्री बिहारीजी के दर्शन करने चले गये। दूसरे दिन सुबह गरम दूध लेकर वह फिर आई। श्री–जी को देखकर बोली– " तो आप ही हो ? गरम दूध लाई हूँ। लो पी लो।"

एक दिन रात्रि आठ बजे के लगभग श्री–जी परिकरजनों के मध्य बैठ कर कुछ भगवद् चर्चा कर रहे थे, इतने में किसी ने दरवाजा खटखटाया। मैंने उठकर द्वार खोला। शुकभवन से कुछ सेठ लोग आए थे। कहने लगे– हमने सुना है यहाँ बहुत बड़े महात्मा रहते हैं, हम उनके दर्शन करने आये हैं। मैं उनसे बात कर ही रहा था कि श्री–जी झट से उठे और हम लोगों के मध्य में आकर बैठ गये। वे लोग अन्दर आकर बैठ गये, पूछने लगे–यहाँ कोई बालगोविंददासजी महाराज रहते हैं ? बेचारे श्री–जी का नाम भूल गये थे। श्री–जी ने झट जवाब दिया–यहाँ इस नाम के कोई महात्मा नहीं रहते। वे बोले–हमें तो किसी ने यही बताया है । श्री–जी ने कहा– अच्छा ! अच्छा !! समझ गया। मैं भी उनके दर्शन के लिये आया हूँ। वे तो गोवर्धन गये हुए हैं। वे सब लौट गए। पश्चात् हम लोग श्री–जी की चतुरता पर खूब हँसे।

आप कभी किसी को व्यक्तिगत रूप से उपदेश नहीं देते थे। सामूहिक वार्ता में ही संकेत कर देते थे। एक दिन एक व्यक्ति ने आपसे पूछा– हमने सुना है, मथुरा-वृन्दावन में दूध-दही बहुत होता है। श्री–जी विनोद में कहने लगे–वहाँ तो दूध-दही नालियों में बहता है, बिकता नहीं। जिनको आवश्यकता होती है, भर-भर कर ले जाते हैं। वहाँ के लोग रोटी खाते ही नहीं हैं, दूध-दही पीकर ही रहते हैं।" वह व्यक्ति सच ही समझ बैठा, परन्तु अन्य भक्त जो वहाँ बैठे हुए थे, हँस पड़े। इस प्रकार श्री–जी ने हास्य-विनोद के माध्यम से सबको सजग कर दिया। तात्पर्य यह कि श्रीधाम श्रीकृष्ण लीला-स्थली है, रास-स्थली है। साधक को यहाँ लीला-चर्चा जानने की जिज्ञासा होनी चाहिये न कि बाह्य प्रपंच की। कभी-कभी आप निज परिकर के साथ नौका-बिहार करते। कभी माँगीलालजी के खेत में घूमने निकल जाते। हास्य-विनोद में आनन्द की लहरें उठती रहतीं। इसी बीच किसी बात को लेकर सत्संग प्रारंभ हो जाता और वातावरण इतना गम्भीर हो जाता कि किसी को एक शब्द भी बोलने का साहस न होता। सभी मन्त्रमुग्ध से बैठे रहते। सत्संग के बाद भी वातावरण में एक मस्ती सी छायी रहती। इस वातावरण को देखकर कोई यह अनुमान भी नहीं लगा सकता था कि यह मंडली इतनी चंचल होगी। सत्संग के मध्य कई भक्तों में भी अश्रु, रोमांच, कम्प आदि सात्त्विक भाव दृष्टिगोचर होते। श्री–जी ही धीरे-धीरे बोलना प्रारंभ करते व कुछ विनोद-वार्ता करके परिकर को चेतना प्रदान करते। फिर पूर्ववत् वही वातावरण निर्मित हो जाता। कुछ भक्त तो उनके इस विनोदपूर्ण वातावरण में भी विचित्र-विचित्र अनुभवों का आस्वादन करते थे।

श्री देवीजी का चरणाश्रय में आना

इस बार निमाड़-प्रान्त में चार माह व्यतीत हो गये थे। इससे पूर्व श्री महाराजजी कभी इतने दीर्घ समय तक यहाँ नहीं रहे थे। यद्यपि ग्राम-ग्राम में सत्संग-संकीर्तन हो रहे थे, फिर भी लोगों में श्री–जी को अपने गाँव में ले जाने के लिये आतुरता बनी रहती, परन्तु एक-दो स्थानों को छोड़कर दुबारा किसी ग्राम में जाने का अवसर ही नहीं मिला।

महेश्वर में श्री अवन्तिका बाई नाम की वल्लभकुल में दीक्षित एक प्रौढ़ भावुक महिला रहती थीं। ये स्कूल में प्रधान-अध्यापिका थीं एवं महेश्वर निवासिनी होने से मेरा भी इनसे पूर्व परिचय था। ये मुझ पर वात्सल्य भाव रखती थीं। श्री–जी पर इनकी सराहनीय श्रद्धा थी। इनके विशेष आग्रह पर श्री–जी और मैं इनके घर पर आकर ठहरे। यहाँ भी श्री–जी का सत्संग और कीर्तन पूर्ववत् चलता ही था। भावुक भक्तजन भी जहाँ-तहाँ से नित्य उनके दर्शन के लिये आते रहते थे। एक दिन महेश्वरनिवासी श्री बाबूलालजी कंडेक्टर (जिनका परिचय पूर्व में दिया जा चुका है), अठारह-उन्नीस वर्ष की संन्यासी-वेष-धारिणी एक बालिका को साथ लेकर श्री–जी के दर्शन के लिये आये और प्रणाम कर सम्मुख बैठ गये। नवागन्तुका संन्यासी-वेष-धारिणी बालिका पर दृष्टि पड़ते ही श्री–जी ने मेरी ओर देखते हुए संकेत से कहा–"यह वही बालिका है, जो पहले दो बार मुझे स्फुरित हुई थी।" श्री–जी के पूछने पर श्री बाबूलालजी ने इनका संक्षिप्त परिचय देते हुए कहा–"दो वर्ष पूर्व ये भ्रमण करती हुई यहाँ आई थीं, तभी से इनसे मेरा परिचय है। अभी कुछ दिनों पूर्व से ये बड़वाह में एक सेठजी के बगीचे के शिव-मंदिर में ठहरी हुई थीं। मुझे अपने कार्य से इस रास्ते जाना ही पड़ता है। पता चलने पर मैं इनके दर्शन के लिये गया और इनको आपका परिचय देते हुए, इस समय आपके महेश्वर में ही विराजमान होने की चर्चा की, परन्तु इन्होंने उस समय कोई उत्सुकता नहीं दिखाई। अभी ये इन्दौर में फिर मिलीं। मेरी बस के सामने वाली बस से उतरकर रेलवे-स्टेशन जाने वाली थीं। मैंने तुरंत निकट जाकर पुष्पमाला धारण कराकर इनका अभिवादन किया। अबकी बार मैंने इनसे आपके दर्शन

के लिये महेश्वर चलने का विशेष आग्रह किया, जिसे स्वीकार कर ये मेरे साथ आपके दर्शन के लिये आई हैं।"

पाठकों को स्मरण होगा कि गंगामंदिर के प्रसंग में जिनको देवीजी के नाम से सम्बोधित किया गया है, वे यही बालिका हैं। इनके पूर्व से ही अति सुन्दर तपस्वी जीवन में श्री–जी के अमोघ सत्संग के प्रभाव से किस प्रकार एक नया मोड़ आया, "रसार्चन" से उद्धृत इन्हीं के शब्दों में पढ़िये–"मुझे, नर्मदा किनारे के बीहड़ जंगलों में भटकती हुई को, कैसे ढूँढ निकाल कर दर्शन दिया, बहुत आश्चर्य की बात है। खोज ही क्या लिया, खोजकर दर्शन भी दिया, वृन्दावन का आकर्षण भी दिया, अपने चरणों में अखण्ड आश्रय भी दिया और सदा-सदा के लिये वृन्दावन में नजरबन्द भी कर लिया।"

श्री देवीजी श्री अवन्तिकाजी के घर श्री–जी के सान्निध्य में पन्द्रह दिन रहीं। संस्कारी जीवों को समय-समय पर भगवत् योगक्षेम प्राप्त होता ही रहता है। फिर ये तो **होनहार बिरवान के होत चीकने पात** उक्ति के अनुसार बालपन से ही अतीव संस्कारी थीं। सरलता, भगवत्-विश्वास, तितिक्षा, प्राप्ति की उत्कण्ठा आदि गुण विधाता की देन स्वरूप इन्हें सहज प्राप्त थे। श्री देवीजी का श्री–जी के चरणाश्रय में आना भगवत् प्रेरित ही था। गृहत्याग के पूर्व ही उन्हें ईश्वरीय संकेत मिल चुका था। उसी प्रकार श्री–जी को भी श्री देवीजी दो बार स्फुरित हो चुकी थीं। यह एक अपूर्व संयोग था। श्री–जी ने समय की विपरीतता का संकेत करते हुए इन्हें श्रीधाम में वास करने और रसमयी उपासना की ओर प्रेरित किया। अवन्तिकाजी के यहाँ रहते हुए इन पन्द्रह दिनों में श्री–जी की भाव मूर्च्छा, कीर्तनावेश में नृत्य, (वसंत पंचमी, सन् १९४७), विचित्र भाव-स्थिति आदि का श्री देवीजी के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। ये हमारे साथ ही वृन्दावन आ गईं और श्री मोतीरामजी तथा माँजी के आश्रय में गंगामंदिर में ही रहने लगीं एवं श्री महाराजजी के निर्देशानुसार गंगामंदिर की अन्धेरी कोठरी में बैठकर अखण्ड नाम-जप, में संलग्न हो गईं। अब तो सत्संग एवं नाम-जप यही इनकी दैनिकचर्या हो गई। श्री–जी से मिलने के पूर्व श्री देवीजी का आध्यात्मिक क्षेत्र, घोर विरक्ति एवं तितिक्षा की आँच में तप कर पूरी तरह तैयार था। वह केवल एक सिद्ध महापुरुष की कृपा-

दृष्टि की प्रतीक्षा कर रहा था। श्री–जी के चरित्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग होने के नाते एवं पाठकों की जिज्ञासा को दृष्टिगत रखते हुए श्री देवीजी का कुछ पूर्व परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है।

उत्तर प्रदेश के जिला बुलन्दशहर के शिकारपुर ग्राम में एक सम्भ्रान्त जमींदार परिवार में श्री लक्ष्मीनारायणजी गोयल के यहाँ श्री देवीजी का जन्म हुआ। ये बचपन से ही अतीव संस्कारी थीं। घर में इन्हें विमला नाम से पुकारा जाता था। यहाँ पर इनका नाम रमादेवी हो गया। इनके भोलेभाले मन में भक्तिभाव के बीजारोपण करने का श्रेय इनके ताऊजी को है। वे इन्हें भागवत एवं भक्तगाथाएँ सुनाया करते थे। बालक-ध्रुव ने छह माह में भगवत्प्राप्ति कर ली, इस कथा ने इन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया। बालपन से ही इनमें धार्मिकता दृष्टिगोचर होती थी। द्वार पर आये साधु-महात्माओं को ये सबसे पहले दौड़कर भिक्षा देने जाती थीं। इनकी बाल बुद्धि में यह धारणा थी कि साधु यानी जिसे भगवत्-दर्शन हो चुके हैं। इसीलिये कोई भी साधु घर पर आता तो इनके मन में आता कि इसके साथ घर छोड़कर चली जाऊँ और खूब भजन करूँ। एक दिन एक संन्यासी सन्त इनके गृह-परिसर में पूर्वजों द्वारा निर्मित शिव-मंदिर के नीचे वाली गुफा में आकर ठहरे। घरके लोगों के साथ देवीजी भी उनके दर्शनों को जाती थीं। उनके सत्संग के प्रभाव से देवीजी की वैराग्य भावना और दृढ़ हो गई। इन्हें अपने आप ही रोदन आता था, जिसका कारण वे स्वयं नहीं समझ सकती थीं। ईश्वर प्राप्ति कैसे हो, कहाँ जायें, क्या करें ? यही ऊहापोह निरन्तर बनी रहती थी।

संन्यासी महात्मा ने तो इन्हें स्पष्ट निषेध किया, परन्तु इनकी गृहत्याग की लालसा तीव्रतर होती गई। इन्होंने अपने ताऊजी की पुत्री से, जिनका नाम 'प्रेम' था (अभी कुंज में जिन्हें कृष्णा माता कहकर पुकारते हैं) अपने मन का संकल्प कह दिया। एक सन्तों की जमात इनके ग्राम में आई, जिसे देखकर इनका संकल्प निश्चय में बदल गया। इसी समय श्री देवीजी के स्वप्न में अद्वितीय शुभ्र आभामय कैलाश के दर्शन हुए। वहाँ एक अति विशाल वट वृक्ष के नीचे दीर्घकाय, जटाजूट से अलंकृत, त्रिनेत्रधारी भगवान् आशुतोष को विराजमान देखा। उन्होंने अर्धोन्मीलित नेत्रों से निहारते हुए

अभय मुद्रा में देवीजी से कहा–"चली जाओ, निश्चित रहो।" अब क्या था! कुलमर्यादा, गुरुजनों का भय, पथ की कठिनाईयों का विचार आदि सभी प्रकार की लौकिक श्रृंखलाएँ, जो अब तक इन्हें बाँधे हुए थीं, टूट गईं। इनकी बहिन कृष्णाजी, जो लगभग इनकी ही उम्र की थीं, साथ जाने को प्रस्तुत हो गईं। दोनों ने सबसे छिपाकर गेरुए वस्त्र रंग कर रख लिये और समय की प्रतीक्षा करने लगीं। सन् १६४४ की चैती नवरात्रि में एक दिन रात के बारह बजे निबिड़ अन्धकार एवं घोर वर्षा में ये दोनों लक्ष्य-प्राप्ति हेतु गृहत्याग कर निकल पड़ीं। रास्ते का पता नहीं, कहाँ जाना है इसका विचार नहीं, घोर वर्षा, ओले एवं अन्धकार के कारण मार्ग दीख नहीं रहा था। पाँवों में काँटे चुभ रहे थे, खेतों में पानी भरा था, फिर भी किसी अज्ञात शक्ति की प्रेरणा से चलती जा रही थीं। प्रखर वैराग्य का नशा ऐसा ही होता है। इस नशे में साधक अपने लक्ष्य की ओर, अपने प्रिय श्रीकृष्ण के आह्वान की ओर तेजी से बढ़ता ही जाता है। इसी तरह पूरी रात्रि चलती हुई पच्चीस मील का रास्ता तय कर प्रातःकाल के हलके प्रकाश में ये गंगा-तट पर स्थित अनूपशहर पहुँच गईं।

बड़े घर में बड़े लाड़-चाव से हाथों-हाथों में पलीं, सुख में झिलीं ये सुकुमार बालिकाएँ भगवत्-दर्शन की तीव्र-लालसा में भूख-प्यास को भूलकर, सुख-दुःख से उपराम हो, गृह-प्रपंच एवं परिजनों की अकाट्य बंधन श्रृंखला को तोड़कर संसार की ओर से निश्चिंत हो जा बैठीं पतितपावनी श्री गंगाजी के तटपर। कुछ विश्राम के पश्चात् दोनों बहिनें कहीं पैदल, कहीं ट्रेन से घोर तितिक्षामय जीवन यापन करती हुई साथ-साथ भ्रमण करती रहीं। गृह-त्याग के पश्चात् कुछ समय व्रजस्थलियों में इतस्ततः विचरण करती रहीं। गोवर्धन में श्री देवीजी आठ दिन तक मानसीगंगा का केवल एक चुल्लू जल पीकर निराहार ही रहीं। अपना गृहस्थान व्रज-मण्डल के निकट होने से वहाँ अधिक समय तक रहना उचित न समझकर इन्होंने द्वारका धाम की यात्रा की। ये अयाचक वृत्ति से निर्भय-निःशंक जहाँ-तहाँ रह जाती थीं। दोनों तपस्विनी बालिकाओं के दर्शनों के लिये जनसमूह इकट्ठा हो जाता था। विभिन्न प्रकार की भेंट-सामग्री एवं रुपयों की थैलियाँ जहाँ की तहाँ छोड़कर ये आगे प्रस्थान

कर देती थीं। कोई श्रद्धालु यदि उसकी स्मृति दिलाता तो संकेत में उसे ही वह सामग्री ले लेने को कह देती थीं।

द्वारकाधाम का दर्शन कर राजकोट होती हुई ये 'मोरवी' में एकान्त स्थान में ठहरीं। यहाँ भी दर्शनों के लिये जन-समूह उमड़ पड़ा। मोरवी स्टेट के राजा भी श्रद्धापूर्वक दर्शनों के लिये आये। उन्हें जब ज्ञात हुआ कि कुछ असामाजिक तत्त्वों द्वारा तपस्वी बालिकाओं की साधना में विक्षेप डाला जा रहा है, तो उन्होंने एक सुरम्य शिवालय में इनके निवास की व्यवस्था की और पुलिस का पहरा लगा दिया। वहाँ के पुजारी ने निष्ठापूर्वक इनकी सेवा-शुश्रूषा की। एक दिन वहाँ से भी बिना किसी से कुछ कहे-सुने पैदल यात्रा करती हुई श्रीनाथद्वारा जा पहुँचीं। वहाँ से एकान्त स्थान की खोज में नर्मदा किनारे जाने का विचार किया और ओंकारेश्वर पहुँच गईं। द्वादश ज्योतिर्लिंगों में से एक "ममलेश्वर" महादेव ओंकारेश्वर क्षेत्र के अन्तर्गत होने से यह श्री नर्मदाजी के तट पर बसा हुआ एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है। श्री देवीजी को यहाँ भगवदीय योगक्षम के कई आश्चर्यजनक अनुभव हुए। किसी साधु के यह कहने पर कि चालीस दिन निराहार रहने से अवश्य भगवत्-दर्शन होता है, ये अनाहार का व्रत ले बैठ गईं। तीन दिन पश्चात् शिवजी ने स्वप्न में कहा– "इस तरह अनाहार रहने से मुझे कष्ट होता है, अतः अल्पाहार अवश्य लेना चाहिए।" भगवान् शिवजी के आदेशानुसार इन्होंने अल्पाहार लेना प्रारंभ किया। एकबार यह सुनकर कि श्री नर्मदाजी अपने तटवर्ती यात्रियों को कभी भूखा नहीं रहने देतीं, ये बिना किसी से कुछ कहे-सुने शिवमंदिर की तीसरी मंजिल की एक कुटिया में जाकर बैठ गईं। दूसरे दिन आठ वर्ष की एक मल्लाह बालिका दूध लेकर आई और यह कहकर कि "मेरी मैया ने आपके लिये दूध भेजा है" दूध पिलाकर चली गई। ओंकारेश्वर में रहने वाले एक सिद्ध लँगड़े बाबा ने देवीजी से इस घटना को सुनकर कहा–यहाँ आस-पास इस प्रकार की कोई बालिका नहीं रहती, निश्चय ही वे नर्मदाजी ही थीं।

ओंकारेश्वर के निकट ही नर्मदातट के बीहड़ जंगल में धावड़ी कुण्ड के दर्शन करने श्री देवीजी एवं कृष्णाजी पैदल गईं। लौटते समय वे रास्ता

भूल गईं। संध्या हो जाने से एक स्थान पर आठ-दस झोंपड़ियाँ देख, छोटा गाँव समझ वहीं रह गईं, परन्तु वह स्थान निर्जन था। हिंस्र पशुओं के भय से लोगों ने वह स्थान छोड़ दिया था। अर्ध रात्रि के लगभग अचानक पन्द्रह-बीस व्यक्ति जलती हुई मशालें लेकर वहाँ आये। उनमें से एक व्यक्ति ने कहा–आप लोग डरिये नहीं। मुझे स्वप्न में आदेश हुआ है कि निकट के जनशून्य जंगल में दो तपस्वी बालिकाएँ बैठी हैं, जाकर उन्हें जल पिलाओ। हिंस्र पशुओं के डर से यहाँ अकेले आने का साहस कोई नहीं करता। आप चाहें तो हमारे साथ चल सकती हैं अन्यथा यह जल पी लीजिये। दोनों बहिनें उन्हीं के साथ ओंकारेश्वर लौट आईं। इस तरह कुछ समय ओंकारेश्वर में निवास कर ये पैदल चोरल संगम होती हुई बड़वाह और वहाँ से बस द्वारा महेश्वर पहुँचीं। यहीं श्री बाबूलालजी ब्रजवासी से आपका परिचय हुआ। उन्होंने इन्हें श्रीजगन्नाथ सेठ की 'जीन' में ठहराया। वहाँ ये केवल थोड़ा सा दूध पीकर चौबीसों घण्टे साधना में लीन रहती थीं। कुछ समय यहाँ रह ये नर्मदा किनारे-किनारे पैदल चलती हुई मोरगढ़ी होते हुए खलघाट पहुँचीं। वहाँ श्री देवीजी को तेज बुखार हो गया, जो टायफायड में बदल गया। इसी समय जीनवाली सेठानी को स्वप्नादेश हुआ कि 'उनकी सेवा करो'। श्री बाबूलालजी को भेजकर इन्हें महेश्वर बुलाया गया और एक सद्गृहस्थ श्रीरामचन्द्रराव के परिवार में इनके रहने एवं सेवा शुश्रूषा की व्यवस्था की गई। इस एक माह के अस्वस्थता-काल में अत्यधिक कमजोरी के कारण इन्हें एक शब्द भी बोलना या हिलना-डुलना दूभर हो गया था। उस समय भी भगवद् योगक्षेम छाया की तरह साथ-साथ था। श्री देवीजी सदैव अपने सिरहाने एक दिव्य स्वरूपा स्त्री एवं एक बालिका को बैठी देखती थीं। पूछने पर उस महिला ने कहा–"तुम तो बोल नहीं सकती। हम समय-समय पर तुम्हें जल इत्यादि पिलाने के लिये घरके लोगों को प्रेरित करती रहती हैं। चिन्ता न करो, तुम्हारे सिवा हमें अन्य कोई देख नहीं सकता।" ये अपने पैरों के पास देवबालकों के सदृश्य दो अति सुन्दर सजे-धजे बालकों को लेटे हुए भी देखती थीं। उन्होंने बताया–"हम शक्ति रूप में तुम्हारे पास रहकर तुम्हारी सहायता करते हैं।"

स्वास्थ्य-लाभ करने पर ये पुनः लक्ष्य की खोज में चल पड़ीं। एक दिन श्री देवीजी को विचार आया कि नितान्त असंग रहकर ही भगवत्-प्राप्ति हेतु साधना में अग्रसर होना चाहिये। इन्होंने श्री कृष्णाजी के सम्मुख अपना मनोभाव प्रकट किया एवं दोनों बहिनें अलग-अलग रास्ते पर चल पड़ीं। इस तरह श्री देवीजी एक वर्ष तक घोर विरक्ति पूर्वक एकाकी विचरण करती रहीं। इस कठिन साधना के फलस्वरूप तीनवर्ष पश्चात् सन् १९४७ में देवीजी को महेश्वर में सिद्ध-सन्त श्री महाराजजी का चरणाश्रय प्राप्त हुआ और इनकी जीवनधारा में एक नया मोड़ आया, जिसका विवरण पाठकगण पूर्व में पढ़ ही चुके हैं।

श्रीधाम आने के पश्चात् श्री देवीजी पूज्य श्री—जी के चरणाश्रय में रहती हुईं, गंगा मंदिर की एकान्तिक कुटिया में तीन लक्ष महामन्त्र का जप नित्य करती थीं। श्री—जी का सत्संग भी चार-छह जिज्ञासु साधकों में ही होता था। अधिक परिचय बढ़ाने का आपका स्वभाव न होने से, व्रज में रहते हुए भी बहुत कम लोग आपको जानते थे। आपका कहना था कि धाम में चुपचाप पड़े रहकर भक्तिरस का आस्वादन करते रहना चाहिये। भीड- भाड़ जमा होने के डर से सत्संग का समय भी निश्चित नहीं रहता था। सामूहिक संकीर्तन भी प्रायः नहीं होता था। आप कहते थे—"मुझे लोक-संग्रह नहीं करना है, मेरे पास एक ही व्यक्ति आये, पर वह साधक हो।" इने-गिने जिज्ञासु साधकों के मध्य जो सत्संग होता व जैसा वातावरण तैयार होता, उसे वे ही जान सकते हैं, जिन्हें उसमें सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यों तो आपकी दिनचर्या में ही सत्संग ओत-प्रोत था। आपका व्यवहार सदा प्रकृति-बाह्य ही रहता। साधक आपके संग से प्रभावित हो स्वाभाविकतया ही प्रकृति-अतीतता का अनुभव करता। यह सब वर्णन करना लेखनी का विषय ही नहीं है। अस्तु।

सदा प्रसन्नता पूर्वक भगवद्-गुणानुवाद श्रवण करते हुए व्याकुलता पूर्वक नामजप में संलग्न रहने का ही आप निर्देश करते, क्योंकि कलि काल में यही मुख्य साधन है। इन दिनों कई महीनों से आपकी भावदशा चल रही थी, जो उत्तरोत्तर भावोन्माद में परिणत हो गई।

सन् १९४७, पौष-माघ के महीने में श्रीधाम में घोर सर्दी पड़ती है। रुई की बंडी, रुई का पायजामा, रुई की टोपी तथा ऊनी स्वेटर पहने कम्बल व शाल ओढ़े लोगों को रात दिन रहना पड़ता है। इस विचित्र वेष-भूषा के कारण इन्हें पहचानना भी कठिन होता है।

इधर श्री–जी हैं कि जो सारे संसार से अलग अपने ही दिव्य साम्राज्य में खोये हुए हैं। अगाध विरह-ताप से सन्तप्त, म्लान किन्तु तेज-पुञ्ज मुखाकृति, कभी अश्रु पोंछते हुए, कभी एक घुटने के बल पर वाम करतल पर वाम कपोल रखे बैठे हुए, शरीर पर महीन वस्त्र अस्तव्यस्त पड़ा हुआ है। इस कड़ाके की ठंड में किसी दिव्य राज्य में खोये से, सिर नीचे झुकाये हुए बैठे हैं। मैं व देवीजी निकट ही बैठे हुए हैं, परन्तु श्री–जी को इसका तनिक भी भान नहीं है। ऐसी स्थिति में कई घंटे व्यतीत हो जाते। कुछ ही प्रकृतिस्थ होने पर हम श्री–जी को एक हलका सा कम्बल ओढ़ाकर सुला देते। हम भी पास ही सो जाते। कुछ ही क्षणों पश्चात् देखते कि कम्बल उतरा हुआ है और केवल एक मलमल का उत्तरीय ओढ़े श्री–जी लेटे हुए हैं। आपके शरीर का स्पर्श करने पर तप्त तवे के समान मालूम होता। अति शीत के कारण हम पुनः कम्बल ओढ़ाने का प्रयास करते तो आप हमारा हाथ पकड़कर शरीर को स्पर्श कराते हुए कहते–"देखो, शरीर में बहुत गर्मी है।" सचमुच इतनी सर्दी में भी हमें स्पर्श सहन न होता। कभी सिर में गर्मी इतनी बढ़ जाती कि कष्ट असह्य हो जाता। मैं आँवले के तेल की मालिश करता परन्तु उष्णता शमन नहीं होती थी। विशेष थकान के कारण मुझे तो नींद आ जाती थी, परन्तु आपकी आँखें खुली रहतीं और इधर-उधर करवटें बदलते रहते। लेशमात्र भी निद्रा नहीं। दीर्घ श्वास लेते रहते। कभी व्याकुलता से नाम का उच्चारण करते। अश्रु प्रवाहित होते रहते।

कभी-कभी हम उठकर देखते तो श्री–जी शय्या पर नहीं होते। मैं धीरे से बाहर जाकर देखता तो आप एक पतली सी चादर ओढ़े, खुले आँगन में एक घुटना जमीन पर टिकाये व एक घुटना खड़ा किये हुए, उसपर वाम



सन १९५६ में श्रीमहाराजजी को एक माह तक सतत भावावेश के समय की एक मुद्रा

हस्त की कोहनी टिकाये, वाम हथेली पर कपोल रखे बैठे हुए हैं। सतत अश्रुधारा बह रही है मानो सावन की झड़ी हो। बूँदें टपक-टपक कर जमीन भिगो रही हैं। कभी-कभी तो इस घोर सर्दी में केवल एक कौपीन पहने प्रांगण में बैठे रहते। इन दिनों रात्रियाँ प्रायः इसी तरह व्यतीत हो रही थीं। मैं पास जाकर धीरे से बैठ जाता और साहस पूर्वक कहता–"यह क्या ? आप इतनी भयंकर सर्दी में खुले शरीर बैठे हैं।" तो आप बड़े दुःख भरे स्वर में कहते–"क्या करूँ ? शरीर में बहुत गर्मी है, सहन नहीं होती।" किसी प्रकार अनुनय-विनय कर आपको उठाकर अन्दर लाता व लिटा देता, परन्तु आपको निद्रा कहाँ ? आँखें खुली हुई हैं। पलक भी नहीं पड़ रहे हैं। अति उदास मुख-मुद्रा में लेटे हुए हैं। कभी बँद आँखें, कभी खुली, कभी बैठ जाते, बस, इसी प्रकार निशा व्यतीत होती। कभी-कभी शरीर विरह से इतना तप्त हो जाता कि आप रात्रि में ही उठकर इस कड़ाके के शीत में भरी रखी मटकी के जल से स्नान कर लेते। पानी की आवाज से मेरी नींद खुल जाती और मैं भाग कर आँगन में आता। इतनी सर्दी में आपको नहाते देखकर मैं काँप उठता। अत्यन्त कठिनाई से श्री–जी को स्नान से निवारण करते हुए कहता–"महाराजजी ! यह आप क्या कर रहे हैं ? छाती में ठंड लग जायेगी।" आप कहते–"क्या करूँ ? शरीर जला जा रहा है।" यह सब देख मन बहुत ही व्याकुल हो जाता। सोचता, क्या करूँ ? जिससे श्री–जी ठीक हो जायें, परन्तु यह व्याधि किसी भी चिकित्सा से तो ठीक होनी सम्भव नहीं थी। इसका उपाय तो किसी दिव्य साम्राज्य के ही हाथ में था। बस, मन मसोस कर रह जाता।

इन दिनों आपका मन किसीसे मिलने, जुलने, बोलने का नहीं था। खाना, पीना, घूमना नहीं के बराबर हो गया था। श्री बाँकेबिहारी वकील दिन में दो-तीन बार आते परन्तु आप कहते–"कह दो नहीं हैं," बस ! अकेले ही आँगन में बैठे हुए अश्रुविसर्जन करते रहते। चादर सब आँसुओं से भीग जाती। दूसरी ओढ़ा देते व उसे निचोड़ कर सूखने डाल देते।

एक दिन की बात है कि आप रात को आँगन में घुटनों के बल बैठे हुए थे। मैं और देवीजी चुपके से आपके पीछे आकर खड़े हो गये। देखा तो आपके सामने का गढ़ा आँसुओं से भर रहा है। बहुत समय तक खड़े रहे,

परन्तु आपको जरा भी पता नहीं लगा। आँखों से सावन-भादों की झड़ी लग रही थी। मुख से हलकी-हलकी सी हूक निकल रही थी। दीर्घ श्वास चल रहा था। हम से यह अधिक देखा नहीं गया। मैंने आपकी बाँह पकड़ कर अन्दर चलने को कहा। बहुत कहने पर आपने थोड़ी सी आँखें खोलीं। मुख मुद्रा अति म्लान थी। बहुत दुःखी से दीख रहे थे। रोते-रोते मुख मुरझा गया था। आपने अति क्षीण आवाज से कहा–"तुम जाओ, मैं आ जाऊँगा।" एक घण्टा बीत गया। देखा, दशा पूर्ववत् ही है। सर्दी पूर्ण जोरों पर थी। हमसे सहन नहीं हुआ। मैंने फिर कहा–"अब तो चलिये, एक घण्टा हो गया है।" परन्तु फिर आपने उसी क्षीण मन्द स्वर में कहा–"तुम चलो, मैं पाँच मिनिट में आ जाऊँगा।" अब की बार मैंने नहीं माना। आग्रह पूर्वक आपको अन्दर ले गया व शय्या पर लिटा दिया। सम्पूर्ण रात्रि यही दशा बनी रही। देख-देखकर हमारा मन दुःखी होता रहा, परन्तु ....?

गंगामंदिर का प्रशान्त वातावरण, नितान्त एकान्त। बाहरी व्यक्तियों से मिलना सर्वथा बंद है। मोतीरामजी, माँजी अपने-अपने कार्य में व्यस्त रहते हैं। श्री–जी के पास निरन्तर मैं और देवीजी ही हैं। सदा श्री–जी की सम्हाल में सावधानी से रह रहे हैं। दिनों-दिन उनकी दशा विचित्र सी होती जा रही है। सदा बेचैन, उदास, छटपटाते हुए, करवटें बदलते हुए, अश्रु बहाते हुए, विरह के पद बहुत मंद स्वर में गुन-गुनाते हुए या कभी प्रांगण में, कभी छत पर किसी भावराज्य में तन्मय मन्द-मन्द घूमते हुए, कभी ग्रीवा नीचे की ओर करके विरह-मुद्रा में बैठे हुए ही दिखाई देते हैं। कई दिन ऐसे ही व्यतीत हो गये।

एक दिन वसंत ऋतु का सरस वातावरण छाया हुआ, अर्ध रात्रि का समय, सभी प्रकृतिस्थ जन-मानस घोर निद्रा के आवरण में विलीन। एक ओर श्री–जी आकुल-व्याकुल आसन पर उदास मुद्रा में बैठे हैं। कितना समय बीत गया इसका भान नहीं। स्वच्छ नभोमंडल दमकते हुए तारामंडल से व्याप्त है। नीरव वातावरण के मध्य वसंत की शीतल, मन्द सुगन्धित वायु का झोंका आ-आकर चौंका देता है। आप सहसा उठे और आँगन में स्थित सघन तुलसी के पास आकर अपनी उसी विरह-मुद्रा में, वाम करतल पर कपोल रखकर बैठ गये। नेत्रों से वर्षा हो रही थी और अति दुःखित क्षीण स्वर में पद गा रहे थे–

कितेक दिन बीत गये बिन देखे।
तरुण किशोर रसिक नन्दनन्दन, कछुक उठत मुख रेखे।।
वह शोभा वह कान्ति वदन की, कोटिक चन्द्र विशेखे।
वह चितवन वह हास्य मनोहर, वह नटवर वपु वेखे।।
श्यामसुन्दर संग मिल खेलन की, आवत हिये अपेखे।
'कुम्भनदास' लाल गिरधर बिन, जीवन जन्म अलेखे।।

पद की ध्वनि सुनकर हम धीरे से पीछे आकर बैठ गये। एक-एक शब्द इतनी व्याकुलता से निकल रहा था कि सुनकर हृदय विदीर्ण हो रहा था। पद पूर्ण हुआ, आप स्तब्ध से नीचे मुख किये बैठे रहे। अश्रु-प्रवाह से उत्तरीय भीग रहा था।

एक बार आप ऐसे ही उठकर गंगा-मंदिर के बरामदे की ओर चले गये। कुछ समय बीत गया, नहीं आये। तब मैं श्री–जी को देखने कमरे से बाहर आया। सामने नहीं दीखे, सोचा ऊपर के छोटे कमरे में होंगे। जीने की सीढ़ी की ओर बढ़ा तो देखा एक महीन जल की धारा बहकर सात सीढ़ी नीचे तक आई हुई है। सोचा यह जलधारा कैसी ? ऊपर दृष्टि उठाकर देखा तो श्री–जी ऊपर वाली सीढ़ी पर एक घुटना जमीन पर टिकाए तथा एक खड़ा किए वाम हस्त पर वाम कपोल धरे बैठे हुए हैं और अश्रु सतत प्रवाहित हो रहे हैं। इतने आँसू देखकर आश्चर्य हुआ।

कलिपावन अवतार श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव के चरित्र में मैंने यह पढ़ा था कि उनके नेत्रों से अश्रुधारा की पिचकारी सी छूटकर निकटस्थ व्यक्तियों को भिगो देती थी। अश्रुजल से गढ़ा भर जाता था। तब सोचता था, नेत्र गोलक में इतना जल कहाँ से आ सकता है ? यह तो चरित्रकार ने कुछ अतिशयोक्ति की है। परन्तु महीनों से अविरत बहते हुए श्री–जी के आँसू और उनसे भीजने वाले वस्त्र, सामने का भरता हुआ गढ़ा और आज यह सात सीढ़ियों से नीचे तक बहकर आने वाली नेत्र-जल-प्रवाहिनी को देखकर विश्वास हो गया कि जब श्री–जी की ही यह स्थिति है, तब प्रेमावतार श्री महाप्रभु में अगाध अश्रुप्रवाह देखा गया हो तो आश्चर्य ही क्या है ? ऐसे

ही श्री मीराजी के पदों में **उर बिच बहत पनारे** इसकी भी सत्यता की प्रतीति हो गई। श्री–जी की स्थिति ने ये सब प्रश्न् हल कर दिये। अस्तु।

दिन-दिन श्री–जी की भावावस्था बढ़ती ही जा रही थी। निरन्तर भाव की गम्भीर स्थिति बनी रहती थी। सतत सजगता के साथ ही रहना पड़ता था, जिसमें समय-असमय का भी भान नहीं रहता। उन्हें कभी भी, कहीं भी भावावेश हो जाता था और मूर्च्छावस्था प्राप्त हो जाती। मार्ग में चलते-चलते ही मूर्च्छित होकर गिर जाते।

एक दिन श्री बिहारीजी के दर्शन कर बाहर आये। भावस्थिति हो गई और श्री बिहारीजी के चबूतरे से, जो करीब सात-आठ फुट ऊँचा है, धड़ाम से नीचे गिर पड़े। मेरे मनको धक्का सा लगा। सोचा, बहुत चोट आ गई होगी। मैं शीघ्रता से चबूतरे से कूदा और श्री–जी को सम्हाला। देखने लगा कहीं चोट तो नहीं लगी, परन्तु आश्चर्य, जरा सी खरोंच भी नहीं आई थी। कई बार देखने में आता कि मूर्च्छित होकर बहुत बुरी तरह से गिरते, परन्तु जरा सी भी चोट नहीं आती। श्री बिहारीजी के मंदिर में बहुत भीड़ सदा ही बनी रहती है। तब भी गली में बहुत लोग आ-जा रहे थे। अतः दो व्यक्तियों के सहारे से श्री–जी को उठाकर एक ओर लिटा दिया। हम बाह्यावस्था की बाट जोहते हुए पास बैठे रहे। आधे घण्टे बाद वे होश में आये। धीरे-धीरे बाँह पकड़कर उन्हें गंगामंदिर ले आए।

एक दिन रात्रि दस बजे टोपीकुंज रासमंडल से रास देखकर श्री–जी सहित हम लोग आ रहे थे। दान गली में प्रवेश करते ही श्री–जी को भावावेश हो गया। नेत्र अरुणवर्ण हो रहे थे। गति मंद हो गई। मंद-मंद चरण रखते हुए श्री–जी झूमते हुए चल रहे थे। मैंने एक ओर से बाँह थामी हुई थी। उनके चरण लड़खड़ाने लगे। दूसरी ओर से देवीजी ने बाँह थाम ली। जैसे-तैसे गंगामंदिर में आकर बैठ गये। दशा अर्द्ध-बाह्य थी। मन्द-मन्द वाणी स्फुरित हुई –

''श्री नागरीदासजी का समाधि स्थल प्रिया-प्रियतम का शृंगार भवन है'' ....

"यहाँ रात्रि दस बजे सखियाँ प्रिया-प्रियतम का शृंगार करती हैं"..............

"बारह बजे तक शृंगार पूर्ण होता है"

"बारह बजे सखियाँ कुञ्जगली से होती हुई प्रिया-प्रियतम को सेवाकुञ्ज में नित्य रास के लिये ले जाती हैं........."

इतना कहकर कुछ समय स्तब्ध बैठे रहे। पुनः धीरे से कहने लगे–

"दानगली में एक गाय है, जिसके द्वारा श्रीकृष्ण दर्शन हो सकता है............"

"वृन्दावन में एक व्रजवासी है, जो श्रीकृष्ण दर्शन करा सकता है..........."

"रमणरेती में एक वटवृक्ष है, जो श्रीकृष्ण दर्शन करा सकता है.............."

"राधाकुण्ड श्रीकृष्ण दर्शन करा सकता है......"

"राधाकुण्ड में एक गोपी है, जो श्रीकृष्ण दर्शन करा सकती है.........."

इतना कहकर आप चुप हो गये। यह वाणी बहुत ही मन्द स्वर में स्फुरित हुई थी। मुख के पास कान लगाकर सुनना पड़ रहा था। आप नेत्र बंद किये ऐसे ही बैठे रहे। कुछ समय पश्चात् प्रकृतिस्थ हुए। पूर्ण स्वस्थ होने पर हमने श्री–जी से कहा कि आपके मुख से यह वाणी स्फुरित हुई, बता सकते हैं ये कौन और कहाँ हैं ? श्री–जी चौंककर हमारी ओर देखने लगे। प्रश्नों का उत्तर तो कुछ भी नहीं दिया। कहने लगे–"हरे कृष्ण ! हरे कृष्ण !! ये रहस्यमय बातें बाहर प्रकट होती हैं, यह तो ठीक नहीं है।"

इन दिनों भाव का नशा चौबीसों घण्टे रहने लगा था। कभी प्रकृति बाह्य-अवस्था, कभी अर्धबाह्य, कभी मूर्च्छा। खान-पान की मात्रा अल्प व असमय हो गई थी। सम्हाल करने में बहुत सजगता रखनी पड़ रही थी।

इन्हीं दिनों श्री विट्ठलजी राजकोट से श्रीधाम आ गये थे। ये देवीजी से पूर्व परिचित थे। श्री देवीजी की कृपा से ही इन्हें वृन्दावन-वास की प्रेरणा मिली। ये नित्य ही गंगामंदिर आते रहते थे। मंडलेश्वर से श्री–जी के एक भक्त श्री राघूभाई गौरजी भी गंगामंदिर में आये हुए थे। ये यहाँ चार महीने रहे। इन्होंने श्री–जी की भावावस्था देखी है।

ऐसे तो नित्य ही विचित्र-विचित्र प्रकार से भावदशाएँ होती रहती थीं, परन्तु आज आपने हमसे कहा कि एक माह तक अखण्ड भावदशा रहने का वहाँ से (नित्यलीला स्थली से) कुछ संकेत प्राप्त हुआ है। इसके तीन-चार दिन बाद ही सतत प्रगाढ़ भावदशा रहने लगी। दिन ग्रीष्म के थे। कभी किसी क्षण अर्द्ध-बाह्य दशा होती तो श्री देवीजी कुछ खिलाने-पिलाने का प्रयास करतीं, परन्तु कठिनाई से एक आध ग्रास ही लेने पाते कि पुनः प्रकृति-बाह्य स्थिति हो जाती। वैशाख-ज्येष्ठ मास होने से श्री देवीजी लस्सी बनाकर रख लेतीं। श्री–जी जरा भी होश में आते तो पिलाने की चेष्टा करतीं। कभी तो पी लेते, कभी मुख के पास गिलास ले जाते; ले जाते ही भावाविष्ट हो जाते। हाथ में से गिलास ले लेना पड़ता, मन बहुत ही दुःखी होता। परन्तु क्या उपाय ! पूरा गिलास तो कभी पीने नहीं पाते थे। बस, खान-पान की यही स्थिति रह गई थी। खान-पान, निद्रा न होने से शरीर अत्यधिक क्षीण हो गया था। भाव का आवेग प्रबल हो रहा था। सदा सावधान रहना पड़ रहा था। आधी रात्रि मैं व आधी रात्रि श्री देवीजी जागकर पहरा देते थे। कभी धोखे से नींद लग जाती तो श्री–जी कहीं चौक में, कहीं बरामदे में, कहीं मोरी के पास मूर्च्छित पड़े हुए मिलते। वस्त्र निकालकर फेंक देते। एक मात्र कौपीन ही धारण किये हुए रह जाते। बाहरी दरवाजे में ताला लगाकर रखना पड़ता। कभी-कभी ताला लगाना भूल जाते तो आप बाहर निकल जाते और कहीं गलियों में बेहोश स्थिति में मिलते।

एक दिन सुबह ऐसे ही चुपके से निकल गये। हम कई स्थानों पर खोज चुके थे, परन्तु कहीं भी नहीं मिले। दोपहर तीन बजे केशीघाट, प्रेम-महाविद्यालय के कुछ विद्यार्थी श्री–जी को ताँगे में लाकर पहुँचा गये। उन्होंने

कहा—ये कई घण्टों से केशीघाट पर कभी नाचने लगते, कभी बेहोश हो जाते, कभी रोते, कभी हँसते। यह दशा देख, बच्चे इन्हें पागल समझकर छेड़-छाड़ करने लगे। कोई पत्थर भी मारने लगे। प्रेम-महाविद्यालय के अध्यापक ने जो श्री–जी को जानते थे, पहचान लिया और बच्चों को डाँटकर वहाँ से हटाया। जब श्री–जी कुछ बाह्य दशा में आये तब ताँगे में बैठाकर कुछ विद्यार्थियों के साथ गंगामंदिर पहुँचा दिया।

भाव-दशा की प्रगाढ़ स्थिति में मूर्च्छावस्था में ही आपके श्रीमुख से पद स्फुरित होते थे। पहले अष्ट सात्त्विक भावों का उदय होता, फिर मूर्च्छित हो जाते। कुछ समय पश्चात् एक आलाप मुख से प्रारंभ होता। इसी से हमें अनुमान हो जाता कि कुछ वाणी स्फुरित होने वाली है। मैं कागज-पैंसिल लेकर पास बैठ जाता और लिख लेता। गान बहुत ही मस्ती भरे अति मधुर स्वर में स्फुरित होता। रुक-रुक कर एक-एक पंक्ति मादकता लिये हुए लहराती। सुनकर संगीत की दृष्टि से भी किसी प्रकार की कमी नहीं प्रतीत होती थी। इसे काव्य न कहकर भाव-प्रलाप कहना अति उपयुक्त रहेगा। पद छोटे-बड़े दोनों ही प्रकार के स्फुरित हुए हैं। सब लिपि बद्ध हैं, और इनका संग्रह 'अलि भाव निर्झर' के नाम से प्रकाशित हो गया है, जिसमें २१० पद हैं। इनमें कई पद लीला के, कई दैन्य के हैं और कई सिद्धान्त के हैं। कई प्रकृतिस्थ स्थिति में भी लिखे हुए हैं। इन सभी पदों का भाव-गांभीर्य देखते ही बनता है। इनका आस्वाद भावुक-रसिक-भक्तजन ही ले सकते हैं।

यह भाव-मूर्च्छा कभी कभी आठ-आठ घण्टों तक रहती थी। इस भाव-मूर्च्छा में सत्ताईस पद स्फुरित हुए हैं। भाव-स्थिति में यह भाव-स्फुरित मधुर कंठ-स्वर लहरी लहराकर सम्पूर्ण वातावरण को मधुमय, भावमय बना देती थी। सन्निकट रहने वाले भावुकजन इसका आस्वादन लेते रहते। लेते क्या रहते, यह मदमत्त वातावरण ही उन्हें किसी दिव्य मस्ती में डुबो देता। इस वर्ष भर की भाव-स्थिति में सन्निकट रहने वालों को दूसरा भी कोई जगत् है, इसका भान भी नहीं रहा था। इस वातावरण का अनुभवजन्य सुख भी किसी-किसी को प्राप्त हुआ ही है। पद भी वर्णित दृश्य को मूर्तिमान् किये

बिना नहीं रहते थे। किस-किस को इस वातावरण ने कितने भाव में डुबाया, उसके तन, मन, प्राण इस मधुर अभिनिवेश में कैसे सींचे गये, इस भावमय स्थिति ने उनके नेत्रों के सामने किस-किस प्रकार के मधुर-सुन्दर दृश्यों को साकार किया और उसके हृदय में कितनी अपार आनन्द की लहरियाँ लहराईं, यह लेखनी का विषय नहीं है। हाँ, अपनी अपात्रता को भूलकर भाग्य को सराहे बिना नहीं रहा जा सकता।

ऐसा लिखना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सम्पूर्ण सृष्टि प्रेम मदिरा की मस्ती में झूम रही है, यही भान होता था। उस भाव-गम्भीर स्थिति का चित्रण करने को मन ललचा रहा है, श्री–जी के आनन्दोन्माद का भी कुछ उल्लेख करने की इच्छा होती है, परन्तु शब्दाभाव में मूक ही रहना उचित प्रतीत होता है। श्री नारदोक्ति–"मूकास्वादनवत् " की सत्यता की ही प्रतीति हो रही है। 'गूँगे का गुड़' भी कहा है किसी ने।

श्री–जी का शरीर बहुत ही कृश था, परन्तु इस उद्दाम आवेश की स्थिति में आप में न जाने कहाँ से एक अपूर्व शक्ति का संचार हो जाता था। भावस्थिति में आप भागने लगते तो दो-तीन व्यक्तियों की भी सम्हाल में नहीं आते थे। भावस्थिति में तीन-चार व्यक्ति आपको कसकर पकड़ रखते। आप हँसते हुए जरा मोड़ लेते तो सभी इधर-उधर जा गिरते। कभी-कभी उद्दाम भावस्थिति में आप एक-एक करके बारी-बारी से आठ-आठ व्यक्तियों को दोनों हाथों में उठा-उठा कर, घुमा-घुमा कर रख देते, परन्तु न तो आप में थकान दिखती न श्वास गति में कोई परिवर्तन। हाँ, यह सब होता आपकी प्रकृति बाह्य स्थिति में ही। प्रकृतिस्थ होने पर तो परमशान्त-गम्भीर रहते। जब भी भाव का नशा प्रारंभ होता तो आपके नेत्र अरुण वर्ण, दृष्टि प्रकृति से अतीत और उठना-बैठना असाधारण रहता। भावस्थिति में हाथों को कभी इतनी जोरों से पटकते कि आवाज सुनकर ऐसा लगता मानो बहुत चोट लग गई होगी। भाव के उन्माद में कभी हो-हो करके बहुत जोरों से हँसते व जमीन पर हाथ पटकते। प्रकृतिस्थ होने पर देखते तो कोई चोट नहीं होती। साधारण व्यक्ति यदि इतने जोर से हथेली जमीन पर मारे तो सूजे बिना नहीं रह सकती।

एक दिन हमें साथ लेकर श्री–जी यमुना पुलिन पर घूमने गये। वहाँ बैठे-बैठे ही भावस्थिति हो गई। आप दोनों मुट्ठियों में रज भर भरकर खाने लगे। हमने हाथ पकड़ लिये तो जोर से हँसते हुए हाथ छुड़ा लिये और फिर रज-भक्षण करने लगे। हमने फिर बलपूर्वक हाथ पकड़ लिये तो, जमीन पर मुख लगा कर रज खाने लगे। रोकते-रोकते बहुत सी रज खा गये। मुख में उँगली डालकर रज निकालने का प्रयास किया परन्तु निकालने नहीं दी। कुछ क्षणों पश्चात् अर्धबाह्य स्थिति होने पर हम लोग दोनों ओर से बाँहें पकड़कर गंगामंदिर ले आये। इन दिनों गंगामन्दिर में मानो गंभीरामंदिर ही उतर आया था। वृन्दावनवासी कुछ इने गिने कृपापात्र-जन इस वातावरण में आते और इस दिव्य सुख का आभास लेकर जाते। इस समय गंगामंदिर में माधुर्य का एक साम्राज्य था। श्रीकृष्ण-रस इस वातावरण में व्याप्त हो रहा था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह प्रसंग है जो स्वयं श्री देवीजी ने अनजान में ही अनुभव किया था।

एक दिन मैं और श्री देवीजी श्री–जी के निकट बैठे थे। अचानक श्री–जी का कोमल हाथ देखकर मैंने देवीजी से कहा–"देखो, श्री–जी का हाथ कितना अरुणवर्ण एवं कोमल है।" श्री देवीजी ने भी उत्सुकतावश जैसे ही हाथ को अपने हाथ में लेकर देखा, उन्हें अपना भान न रहा। उन्होंने दिव्य लीला में अपने को भी सघन वन-प्रान्त में सखियों के मध्य देखा। उनमें परस्पर चर्चा हो रही थी कि इस समय यदि श्रीकृष्ण आ जायें तो हम उन्हें पकड़ लेंगी और आज उनके हाथ अवश्य बाँधेंगी।" इतने में श्रीकृष्ण आ ही गये। श्री देवीजी ने देखा उनके अरुण-अरुण अति कोमल कर-कमल अपने हाथों में हैं। वे उन्हें देखकर अति आश्चर्य से कह रही हैं–"अरे ! इतने सुन्दर, कोमल-कोमल ये कर-कमल क्या बाँधने योग्य हैं ?" इसी समय उन्हें बाह्य ज्ञान हो जाता है तो देखती हैं कि उनके हाथ में श्रीकृष्ण की जगह श्री–जी का हाथ है। इस घटना से "सन्तः साक्षात् हरेर्तनु" की सत्यता के साथ-साथ यह स्पष्ट हो जाता है कि उन दिनों वह जगत् श्री–जी के भावराज्य से कितना अभिन्न हो रहा था, जिसका आस्वादन उनके निकट रहने वाले कुछ

भाग्यशाली जन अनायास कभी-कभी कर लेते थे। लीला-माधुरी इस गंगा मंदिर में प्रत्यक्ष उतर आई थी, ऐसा कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

एक दिन श्री–जी कुछ ही समय पूर्व भावदशा से प्रकृतिस्थ हो निश्चेष्ट लेटे हुए थे। दर्शनार्थ आये हुए डॉ. होतीचन्दजी, मैं और देवीजी पास ही बैठे हुए थे। श्री–जी की प्रकृतिस्थ स्थिति जानकर मैं बाजार से दूध व दही लाने चला गया। पीछे से डॉक्टर साहब भी चले गये। अकेली देवीजी बैठी हुई थीं। श्री–जी उठे और गम्भीर गति से बाहर जाने लगे। देवीजी ने पूछा–"आप कहाँ जा रहे हैं ?" भाव के नशे में ही श्री–जी ने उत्तर दिया–'नन्दगाँव' और चलने लगे। देवीजी ने रोकने की बहुत चेष्टा की परन्तु आप न रुके। सेवाकुञ्ज गली के पास नन्दभवन तक आप चले गये। पीछे-पीछे देवीजी चल रही थीं। मैं एक हाथ में दूध का कुल्हड़ व एक हाथ में दही का कुल्हड़ लिये सामने से आ रहा था। श्री–जी को आते हुए देखा तो नेत्र अरुणवर्ण हो रहे थे, दृष्टि प्रकृति में नहीं थी। मैंने रोककर पूछा–'कहाँ जा रहे हैं ?' मन्दस्वर में उत्तर दिया–'नन्दगाँव।' मैंने कहा–"अभी नहीं जाइए। गंगामंदिर चलिये। बाद में चले जाना।" आपने कहा–"नहीं, जाना है।" दशा गम्भीर देख मैंने जाने देना उचित न समझा। फिर कहा–"नहीं-नहीं, अभी न जायें" और मैं सामने खड़ा हो गया। भाव के नशे में ही आप बोले–"अच्छा, अच्छा, मुझे सेवाकुञ्ज तो दर्शन कर लेने दो।" मैंने कहा– अच्छा, चलिये। आप सेवाकुञ्ज के दरवाजे के सामने गये, झुककर सीढ़ी से हाथ लगाया और जोर से हँसकर तेजी से भागे। दोनों हाथों में कुल्हड़ लिये मैं उनके पीछे भागने का प्रयत्न करने लगा, परन्तु भरे कुल्हड़ लेकर तेजी से भागना सम्भव नहीं था। अतः कुल्हड़ फेंक दिये और श्री–जी के पीछे तेजी से भागा। आप भागते हुए कुञ्जगली तक गये और ऊपर उछलकर मूर्च्छित होकर गिर गये। हमने उठाकर लाने की चेष्टा की परन्तु उठा न सके। मैं श्री–जी का सिर गोदी में लेकर वहीं बैठ गया। उन्हें मूर्च्छित पड़े देख लोगों की भीड़ इकट्ठी होने लगी। पूछने लगे इन्हें क्या हो गया है ? लोगों को टालने के लक्ष्य से मैंने कहा–"मिरगी का रोग है।" वे लोग सच समझकर

उपाय बतलाने लगे। आधे घण्टे बाद श्री–जी प्रकृतिस्थ हुए। धीरे से उन्हें सम्हालकर हम गंगामंदिर ले आये।

एक दिन श्री–जी रात्रि में निजजनों सहित बैठे हुए थे। कहने लगे–"कल सुबह आठ बजे बुलावा है।" बात कुछ हमारी समझ में नहीं आई। रात व्यतीत हुई। प्रातःकाल उठते ही आप में गम्भीर भाव दिखाई देने लगा। जैसे-तैसे प्रातर्विधि से निवृत्त हो आप बैठे हुए थे। हम भी आस-पास बैठ गये। कभी-कभी एक-आध शब्द बोलते फिर चुप बैठ जाते–आँखों में खुमारी छा रही थी, भावदशा बढ़ती हुई दीख रही थी। इन दिनों आपके नेत्र प्रायः अश्रुपूर्ण ही रहा करते थे, परन्तु आज कुछ विस्फारित तथा आनन्दित दीख रहे थे। हम सब आपकी मुखाकृति को देख रहे थे। वातावरण मादकता से भरा हुआ था। उषःकालीन अरुणिमा को लिये हुए सद्य उदित रवि की बाल किरणें आँगन में बिखरती हुई आपकी अलकावली से अठखेलियाँ कर रही थीं। श्री–जी अपनी मदभरी तिरछी चितवन से बार-बार द्वार की ओर देख रहे थे। आपके देखने के भाव से प्रतीत हो रहा था कि आपके नेत्रों में किसी की प्रतीक्षा है। आपके अधरद्वय प्रकम्पित हुए और मंद स्वर में बोले–"अभी तक क्यों नहीं आये ?" कहते हुए द्वार की ओर देखने लगे, फिर निकट रखे हुए उत्तरीय को ले ग्वालों के समान सिर पर लपेट लिया तथा लाठी हाथ में लेकर खड़े हो गये। इस समय देखने से आप बिल्कुल ग्वाल ही प्रतीत होते थे।

मंद स्वर में वाणी स्फुरित हुई–"श्रीकृष्ण ने बारह सखाओं को लेने भेज दिया है......... अरे ! दरवाजा क्यों बन्द कर रक्खा है.............? खोल दो......... उन्हें आने दो............." कुछ क्षण चुप रहे, फिर बोले–"अच्छा ! चार सखाओं को लेकर श्रीकृष्ण भी आ गये ....अरे ! उनके लिये दही लाओ ....।" इन दिनों रींवा के एक सन्त निर्विकारानन्दजी गंगामंदिर में ठहरे हुए थे। इनकी श्री–जी के प्रति बहुत श्रद्धा थी। इनके लिये हमने दही लाकर रक्खा हुआ था। श्री–जी ने शीघ्रता से दही का वही कुल्हड़ हाथ में उठा लिया और भागकर सामने वाले कमरे में जाकर अन्दर से दरवाजा बन्द कर लिया। हम सब बाहर ही थे। अन्दर से कुछ धूम-धाम की सी, धम-धम की सी आवाज आ रही थी। श्री–जी भाव में कभी दरवाजे

से टकराते तो कभी दीवार से। कभी मूर्च्छित हो धड़ाम से गिर जाते, फिर उठते और अट्टहास करने लगते। कभी चिल्लाते। यह सब आवाजों से हमें बाहर पता लग रहा था। इतने में दही का कुल्हड़ फूटने की आवाज आई। कमरे का छोटासा जंगला भी श्री–जी ने बन्द कर लिया था, परन्तु उसकी सूक्ष्म सन्धि से हम कुछ देख लेते थे। गिरना, उठना, हँसना तथा नेत्रों से आनन्दाश्रु का प्रवाह चल रहा था। बार-बार उठना-गिरना देखकर हमें बहुत कष्ट हो रहा था, परन्तु क्या करते ? दरवाजा अन्दर से बन्द था। जब गिरते-पड़ते बहुत समय हो गया तो हमसे अधिक सहन नहीं हुआ। कहीं चोट न लग जाय इसका भय होने लगा। एक लोहे की सलाख दरवाजे की सन्धि में डालकर आखिर मैंने द्वार खोल ही लिया। भीतर जाकर श्री–जी को सम्हालने लगा। कुछ समय आप ऐसे ही उठते-गिरते रहे। बाद में चार-पाँच घण्टे मूर्च्छावस्था में पड़े रहे। आपकी भावस्थिति को देखकर ऐसा अनुमान हो रहा था कि श्रीकृष्ण के साथ आप गोचारण हेतु वन में चले गये हैं। भावस्थिति की गम्भीरता वातावरण में छाई रही। हम स्तब्ध रूप से पास बैठे हुए जिस सुख का अनुभव कर रहे थे वह वर्णनातीत है। मध्याह्न दो बजे श्री–जी के मुखारविन्द पर एक प्रसन्नता की रेखा दिखाई दी और एक सुधा संगीत की मधुर ध्वनि उच्चस्वर से प्रस्फुटित हुई। स्वर लहरी समीपस्थ जनों के मन को मथती हुई गंगामंदिर प्रांगण में गूँज उठी और एक आनन्द का स्रोत बहने लगा। हम समझ गये कि कोई लीला-लहरी लहरायेगी। मैंने पैन कागज सम्हाला। स्वर-आलाप शान्त हुआ और पद स्फुरित हुआ –

"नाचे नन्दनन्दन मेरे नयन अञ्जन"[1]

मधुर स्वर में यह पद पूर्ण हुआ, परन्तु इसकी प्रथम पंक्ति महीनों वातावरण में गूँजती रही। प्रकृतिस्थ स्थिति में भी आप रसिकों के पद अति सुमधुर कंठ से गाते थे, परन्तु भावावेश में जो वाणी स्फुरित होती, उसकी गान-मधुरिमा अति ही विचित्र होती थी, जिन्होंने उसे सुना है, उनके हृदय मात्र ही प्रमाण हैं।

---

१. यह पद 'अलिभाव निर्झर' में प्रकाशित है, पृष्ठ सं. १२४, पद सं. १६४

श्री–जी मौन हुए परन्तु आपका मुखकमल अपार आनन्द को प्रकट कर रहा था। आप धीरे से उठकर बैठ गये, परन्तु निमीलित नेत्रों से आनन्दाश्रु धारा प्रवाहित हो रही थी। गोष्ठलीला में मन तन्मय था। धीरे-धीरे मुख पर हास्य प्रकट हुआ। नेत्र कुछ खुले। स्थिति बाह्यज्ञानशून्य थी। पास में जो चार-पाँच भक्त बैठे हुए थे, उनके साथ चञ्चल चेष्टा प्रारंभ हुई। मानो वनप्रान्त में सखाओं के साथ क्रीड़ा कर रहे हों। हँसते हुए किसी को हाथ पकड़ कर खींच लेते तो किसी को पैर पकड़कर। किसी की पीठ पर घूँसा मारते और हँसने लगते। कभी हँसते हुए दीवार पर, कभी जमीन पर हाथ पटकते। किसी को पाँव पकड़कर पटक देते, किसी को हाथ पकड़कर गोल-गोल घुमा देते। ऐसी ही उन्मत्त चेष्टाएँ करने लगे। प्रतीत हो रहा था कि मध्याह्न वनप्रान्त में श्रीकृष्ण के साथ एवं सखाओं के साथ क्रीड़ा-विनोद हो रहा है। ऐसे ही बहुत समय व्यतीत हो गया। गोधूलि-वेला का आरम्भ हुआ। आपकी चेष्टाओं से ज्ञात हुआ कि आप श्रीकृष्ण के साथ, गौ-ग्वाल मंडल सहित वन गोचारण से गोकुलग्राम की ओर आ रहे हैं। श्री–जी की भावस्थिति में पुनः अस्फुट वाणी स्फुरित हुई–

"वन में....... श्री राधा जू की हरिणी दिखाई दी...... "

"श्रीदामा ने कहा– वह देखो राधा जू की हरिणी ..."

"दूसरे सखा ने कहा–"श्रीकृष्ण को याद मत कराओ नहीं तो ये अभी श्रीराधा जू के समीप बरसाने भाग जायेंगे, देखो, देखो, हरिणी को देखते-देखते ये भाव में आ ही गए, देखो ,भाग ही गये।" इतना कहकर श्री–जी की वाणी मौन हो गई। नेत्र मूँदे हुए चुप से बैठे रहे।

कुछ क्षण बाद पुनः कहने लगे – "देखो ये आ गये........अरे, इनकी आँखों में ये काजल किसने लगा दिया है......? यह अंजन किसने आँज दिया है........? "हाँ, श्रीराधा जू ने ही लगा दिया है।" आप फिर कुछ समय चुप रहे। भावदशा की चेष्टाओं से ऐसा ज्ञात हुआ कि गोचारण से वे गोकुल ग्राम के निकट आ चुके हैं........। श्रीकृष्ण श्री–जी को पहुँचाने के लिये साथ-साथ जा रहे हैं। पुनः वाणी स्फुरित हुई–"तुम पहुँचाने आओगे तो मैं

फिर कभी नहीं आऊँगा।" पुनः भावस्थिति से अनुमान हुआ कि श्रीकृष्ण ने सखाओं से पहुँचाने के लिये कहा। पुनः वाणी स्फुरित हुई—"नहीं-नहीं, मैं अकेला ही जाऊँगा.... ।" इतना कहकर आपकी निचेष्ट अवस्था हो गई। आठ घण्टे पश्चात् पुनःचेतना लौटी और आप शनैः-शनैः पूर्ण प्रकृतिस्थ होकर बैठ गए। यह लीला आवेश ठीक बारह घण्टे तक रहा। इस अवधि में समीपस्थ जनों को एक अपूर्व एवं वर्णनातीत सुख की प्रतीति होती रही।

विषूचिका का आक्रमण

सन् १९४७ वैशाख मास, पूरे माह दिवा-रात्रि श्री—जी की भावस्थिति बनी रहती थी। कुछ क्षणों के लिये प्रकृतिस्थ होते न होते, दिन में कई बार मूर्च्छावस्था को प्राप्त हो जाते थे। इसी भाँति इस माह के बीस दिन व्यतीत हो गये थे। इन दिनों एक गृहस्थ भक्त श्री राधूभाई गौर, मंडलेश्वर से श्री—जी के सान्निध्य में श्री धाम आये हुए थे। सभी निकटस्थ परिजन अपूर्व आनन्द का लाभ ले रहे थे कि एक बड़ा विघ्न उपस्थित हो गया। एक दिन प्रातःकाल अपने चार-पाँच भक्तों सहित श्री—जी कल-कल निनाद करती हुई लहरान्वित, श्यामवर्णा यमुना के जन-संपर्कशून्य एकान्त पुलिन पर जाकर विराजमान हुए। सबके मन भी यमुना-लहरियों के साथ तरंगायित हो आनन्द में झूम रहे थे। श्री—जी अपने भावराज्य में खोये हुए मदभरी गम्भीर दृष्टि से यमुना को निहार रहे थे। नव वसंत वैशाख मास के सुप्रभात का त्रिविध समीर अपनी शीतलता से नव-नव उमंगों की सृष्टि कर रहा था। यमुना भी उमंग भरी अपने वीचि-विलास से वसन्त को सहयोग प्रदान कर रही थी। हरित द्रुम-लता परिवेष्टित तट की शोभा अपूर्व थी। प्रभात-सूर्य की बाल-किरणों से सम्पूर्ण तटवर्ती कुञ्ज-निकुञ्जें प्रतिभासित हो रही थीं। स्वच्छ बालुका अपनी चम-चमाहट से अलग ही तट की शोभा बढ़ा रही थी। यह अनुपम शोभा श्री—जी में किन-किन भावों का उदय कर रही थी, कौन जाने ? वे गम्भीर भाव-मुद्रा में ऐसे ही स्थिर बैठे हुए थे। एकाएक श्री—जी को मिचलाहट होने लगी। तुरंत ही वमन हुआ। वातावरण की गम्भीरता छिन्न-भिन्न हो गई। हम सब घबड़ा गये। सोचा कुछ पित्त बढ़ गया होगा। इतने में ही दूसरी उलटी और

दस्त भी हो गया। पुनः एक के पीछे एक उलटी-दस्त होने लगे। हैजे के ही लक्षणों को देखकर, मैं भागकर डॉ॰ होतीचन्दजी के यहाँ गया और औषधि लाकर दी, परन्तु कोई लाभ नहीं। धूप बढ़ती जा रही थी। अत्यन्त क्षीणता आ जाने से श्री–जी में चलने का सामर्थ्य नहीं था। इसलिये निकटवर्ती एक फूस की झोंपड़ी में आपको लिटा दिया। एक-दो व्यक्ति भागकर एक चारपाई ले आये। श्री–जी को चारपाई पर लिटा कर गंगामंदिर ले आये। बदल-बदल कर कई प्रकार की औषधियाँ देने पर कुछ समय पश्चात् उलटी-दस्त तो बन्द हो गये परन्तु कॉलरा क्रॅम्प्स शुरू हो गये। शरीर की एक-एक नस में ऐंठन शुरू हो गई। भयंकर पीड़ा होने लगी। आठ-दस भक्त जगह-जगह नस दबाये बैठे थे। ज्ञान-गुदड़ी में बम्बई वाले डॉ॰ नारायणदासजी 'प्राण-जीवनदास' श्रीधाम-वास के उद्देश्य से कुछ समय से रहते थे। मैं भागकर उन्हें बुला लाया। उनके द्वारा इलाज शुरू हुआ। मैं फिर भागता हुआ गया और डॉ॰ होतीचन्दजी को भी ले आया। वे आकर पास बैठ गये। श्री–जी का मस्तक मेरी गोद में था। मोतीरामजी, देवीजी, गौरजी, विट्ठलजी सभी नसें दबाये बैठे हुए थे। डॉ॰ श्रीनारायणदासजी पूर्ण प्रयत्न से उपचार कर रहे थे, परन्तु निर्बलता के साथ-साथ वेदना बढ़ती जा रही थी। वे जोर-जोर से नसें दबाने के लिये कह रहे थे। एक क्षण के लिये भी वेदना शान्त नहीं हो रही थी। उस दिन एकादशी का व्रत तो था ही सभी अत्यन्त चिन्ताग्रस्त से बैठे थे। दिनभर की थकान भी थी। चरणों के पास विट्ठलजी नस दबाये बैठे थे। जब उन्होंने कहा–एकादशी होने से शरीर शिथिल है, अतः ताकत नहीं लग रही है; तो उनसे कहा–"जाओ कुछ खालो"। इस प्रकार संध्या के छह बज गये। डॉक्टर साहब इन्जेक्शन पर इन्जेक्शन दे रहे थे, परन्तु रंचकमात्र भी लाभ दिखाई नहीं दे रहा था। वे इलाज कर-करके हार गये। उन्होंने मुझसे कहा– अब श्री–जी का शरीर आधे घण्टे से अधिक नहीं रहेगा। श्री–जी से भी प्रणाम करते हुए उन्होंने कहा–आप तो अब जा रहे हैं। शरीर अब नहीं रहेगा। उस स्थिति में भी श्री–जी ने गम्भीर स्वर में कहा–"मुझे जाने की कोई भी चिन्ता नहीं है, परन्तु जीवन का उद्देश्य और कार्य पूरा करके जाता तो अच्छा होता"। डॉ॰ साहब ने अपना बैग उठाया तो डॉ॰

होतीचन्दजी ने उनसे पूछा—आपका इलाज हो चुका ? तो अब मैं अपना इलाज करूँ ? उन्होंने उदासीन भाव से स्वीकृति दी और चले गये।

वृन्दावनवासी परिचित भक्तजनों को जैसे-जैसे पता चलता गया, श्री—जी को देखने आने लगे। श्री बाँकेबिहारी वकीलसाहब आये और श्री—जी की शोचनीय स्थिति को देखकर हम सबको कीर्तन करने का संकेत करने लगे, परन्तु अत्यन्त दुःख से भरे हुए सब चुप ही बैठे रहे। कीर्तन करने का सामर्थ्य था किस में ? श्री कृष्णाजी के पिताजी रायसाहब भी देखने आये और उदासीन भाव से लौट गये। मैंने डॉ॰ होतीचन्दजी को अलग ले जाकर पूछा—"डॉ॰ साहब ! श्री प्राणजीवनदासजी तो कह गये हैं कि श्री—जी का शरीर अब आधे घण्टे से अधिक नहीं रहेगा। मैंने भी नाड़ी देखी है, ठण्डा पसीना आ रहा है। अब आपकी क्या राय है ?" डॉ॰ होतीचन्द आवेश में बोले—क्या कहते हो मनोहरजी ! आपने श्री—जी को कोई साधारण व्यक्ति समझा है ? ये एक असाधारण महापुरुष हैं। घड़ी लगाकर देख लो। यदि श्री—जी का शरीर छूट गया तो एक की जगह आठ महाराजजी दूँगा आपको। जाओ, मेरे औषधालय की अलमारी के बीच के खाने में रखी सभी शीशियाँ उठा लाओ। मैंने उनसे चाबी ले ली। रास्ते चलते हुए मस्तिष्क में एक बवंडर सा उठ रहा था। विचारों की उथल-पुथल मच रही थी। सोच रहा था—श्री—जी जैसे इतने बड़े सन्त को अन्तिम समय में इतना कष्ट, इतनी वेदना ! इतने कष्ट में भगवत्-स्मरण कैसे हो सकता है ? श्री—जी हमें कुछ निर्देश देकर भी नहीं जा रहे हैं कि आगे हमारे जीवन का क्या साधन है ? क्षण-क्षण में बहुत व्याकुलता से, जोर-जोर से नसें दबाने के लिये कह रहे हैं—इस दशा में चिन्तन कैसे सम्भव है ? श्री—जी के समान महापुरुष को इतना कष्ट है, तो हम जैसे तुच्छ जीव तो कर ही क्या सकेंगे ! यदि श्री—जी पधार गये तो मैं नास्तिक हो जाऊँगा। इसी प्रकार के कितने ही विचारों ने मस्तिष्क में बवंडर सा मचा रखा था। अस्तु।

औषधालय से शीशियाँ लाकर मैंने डॉ॰ साहब को दे दीं। डॉ॰ साहब ने उनमें से एक शीशी (होमियोपैथिक—कूपरम ३० ए) उठाकर पाँच-पाँच

मिनिट के अन्तराल से एक-एक खुराक देना प्रारंभ किया। कुछ ही समय में क्रॅम्प्स कम होने लगे और श्री–जी स्वस्थ हो गये। थोड़ी देर पश्चात् डॉ. साहब चले गये। रात के लगभग दस बज रहे थे। श्री–जी लेटे-लेटे ही मधुर मंद स्वर में पद गाने लगे –

अँखियाँ श्याम रूप अनुरागी।
श्याम वरण मन हरण माधुरी, मूरति अति प्रिय लागी।।
लोक लाज कुल कान न मानत, नूतन नेह रंगीली।
कोटि काम अभिराम श्याम घन, निरखि भई लौ लीनी।।
सुन्दर वदन मदन की शोभा, निरखि-निरखि रस पागी।
'रत्नहरी' पल टरत न टारी, परम प्रेम रंग रागी।।
अखियाँ श्याम रूप अनुरागी।।

सुबह चार बजे आप उठकर बैठ गये और मधुर स्वर से पद गाने लगे–

भ्रमत भूमि व्रज सगरी डगरी, अलि वन कुंज गलिन मन अटकी।[1]

उधर श्री वकीलसाहब ने सोचा कि श्री महाराजजी का शरीर निश्चित ही छूट गया होगा। गंगामंदिर में उन विरक्तों के पास क्या रक्खा है, अतः आगे की व्यवस्था करने के उद्देश्य से वे चार बजे ही आ गये, परन्तु मंदिर में श्री–जी को मस्ती में पद गाते हुए देखकर अवाक् रह गये और प्रणाम करके चले गये।

उधर श्री रायसाहब रात्रि को श्री–जी की शोचनीय अवस्था देखकर अपने घर चले गये थे। घर जाकर उन्होंने अपनी पुत्री श्री कृष्णाजी को श्री–जी की दशा के विषय में बताया। सुनकर वे ऊपर अपने साधना कक्ष में चली गईं। आधे घण्टे पश्चात् नीचे उतर कर संकेत से (उन दिनों वे मौन थीं) उन्होंने अपने पिता श्री रायसाहब से कहा–कि श्री–जी पधारेंगे नहीं। प्रातःकाल होते ही श्री रायसाहब कृष्णाजी को साथ लेकर ही मंदिर आये

१. 'अलिभाव निर्झर' पृष्ठ सं. ११८, पद सं. १६०

और उन्हें स्वस्थ बैठे देखकर आश्चर्य मिश्रित आनन्द हुआ। कहने लगे-कृष्णाजी को उनके ठाकुर ने रात्रि को ही बता दिया था कि श्री-जी नहीं पधारेंगे। कुछ समय पश्चात् डॉ. प्राणजीवनदासजी श्री-जी के समाचार जानने आये, उन्हें भी बहुत आश्चर्य हुआ। कहने लगे कि रात्रि को लौटते समय उनके साथ भी एक आश्चर्यजनक घटना घटी। नन्दभवन से कुछ आगे जाने पर उनको सिर पर एक पीला सा प्रकाश घूमता हुआ दृष्टिगत हुआ। दस-बीस कदम चलने पर ही वे चक्कर खाकर गिर पड़े और अचेत हो गये। चेत आने पर घर गये। सबेरे उन्होंने मोतीरामजी को पाँच रुपये देते हुए कहा-मैंने संकल्प किया था यदि श्री-जी ठीक हो गये तो श्री बिहारीजी को भोग लगाऊँगा; सो आप भोग लगा देना।

कल दिन भर में श्री-जी को सौ-पचास उलटी-दस्त हो चुके थे। क्रैम्प्स से शरीर शिथिल हो चुका था। अत्यधिक क्षीणता आ गई थी। इसलिये मैं सुबह ही श्री होतीचन्दजी से दवा लाने चला गया। आकर देखता हूँ-चूल्हे पर चने छौंके जा रहे हैं। मैंने क्रोध में माँजी से कहा-यह क्या ? रात इतनी भयंकर स्थिति थी, कालरा हो चुका है। श्री-जी को चने खिलाकर पुनः तबियत बिगाड़नी है क्या ? माँजी ने कहा-"श्री-जी ने ही कहा है।" मेरा क्रोध और बढ़ गया। मैंने गरम तवा हाथ से ही चूल्हे पर से उतारकर फेंक दिया। उँगलियाँ जल गईं। फिर कुछ कार्यवश बाजार चला गया। पुनः आकर देखता हूँ कि श्री-जी छुँके हुए चने खा रहे हैं। मैं धक् से रह गया। वैसा ही भागा-भागा डॉ.साहब के पास गया और जाकर यह बात उन्हें सुनाई। डॉ. साहब ने मुस्कराकर कहा-श्री महाराजजी कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हैं। यह सब उनकी लीला है। वे जो करें, उन्हें करने दीजिए। चिन्ता की कोई बात नहीं है। वापस आकर दोपहर श्री-जी के पास बैठकर मैंने प्रश्न कर दिया-"इतनी भयंकर पीड़ा में भगवत्-स्मरण कैसे रहता होगा ? आपने हमें कोई आदेश भी नहीं दिया, यदि शरीर छूट जाता तो हम क्या करते ?"

श्री-जी मुस्कराते हुए बोले-"शरीर छूटेगा नहीं, यह मुझे ज्ञात था। कष्ट अवश्य ही भयंकर था, परन्तु इस स्थिति में भी मेरे सम्मुख एक सुन्दर

दृश्य था। आकाश-मंडल में ही एक विशाल रास-मंडल में अगणित गोपियाँ मंडलाकार में थीं। मध्य में श्री प्रिया-प्रियतम विराजित थे। असह्य शारीरिक पीड़ा से यदि शरीर छूट भी जाता तो मैं उसी मंडल में सम्मिलित हो जाता।" सुनकर मेरे मन में उदित हुए नास्तिकता के विचारों का शमन हुआ और विचार करने पर ज्ञात हुआ कि यह तो प्रेमोन्माद की उच्च दशा है। लालसा, उद्वेग, जागरण आदि दशाओं में यह व्याधि भी एक दशा है। यह दुर्लभ दशा क्वचित् पात्रों में ही उदित होती है। जैसा कि निम्न श्लोकों से प्रकट होता है—

लालसोद्वेगजागर्यास्तानवं जड़िमात्र तु।
वैयग्र्यं व्याधिरुन्मादो मोहो मृत्युर्दशा दश।।
अभीष्टालाभतोव्याधिः पाण्डिमोत्तापलक्षणः।
अत्र शीतस्पृहा मोहनिश्वासपतनादयः।।

(उज्ज्वलनीलमणि)

इतनी भयंकर बीमारी के पश्चात् एक ही दिन विश्राम करके आपने मंडलेश्वर जाने का निश्चय कर लिया। कुछ दिन और विश्राम करके जाने का हमारा प्रस्ताव आपने बहुत अनुनय-विनय और अनुरोध करने पर भी स्वीकार नहीं किया। फलतः दूसरे ही दिन श्री—जी, मैं, गौरजी और देवीजी ने मंडलेश्वर के लिये प्रस्थान किया। श्री—जी के स्थान पर अन्य कोई होता तो पन्द्रह दिनों तक बिस्तर से उठ भी नहीं सकता था, परन्तु आपके सभी कार्य लोकोत्तर होते थे। शरीर से सदा उठे हुए, अपनी मस्ती में झूमते हुए किसी दिव्य नशे में चूर रहते थे। मंडलेश्वर पहुँचकर, इस प्रकार की बीमारी हुई थी और क्षीणता आ गई है इत्यादि कोई चर्चा भी आपने किसी से नहीं की।

पुनश्च ग्राम-ग्राम में संकीर्तन तथा भावोन्मत्तदशा

मंडलेश्वर में श्री महाराजजी के पहुँचने पर पुनः सत्संग-कीर्तन की धूम प्रारंभ हो गई। श्री–जी निरन्तर भाव की मस्ती में ही झूमते रहते थे। संकीर्तन में भी अष्टसात्त्विक भावों के साथ विचित्र-विचित्र भावों की जागृति हो जाती थी। अभी तक तो आप समाज में बैठकर शान्ति से कीर्तन करते थे, परन्तु जब से यह भाव-दशा प्रारंभ हुई आप भावोन्मत्त दशा में खड़े हो जाते तथा कीर्तन करने लगते थे। दोनों नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होती रहती थी। कभी कीर्तन करते हुए नृत्य करने लगते थे। कीर्तन के मध्य में ही अचेतनावस्था को प्राप्त हो जाते और आधे-आधे घण्टे तक मूर्च्छित पड़े रहते थे। फिर उठकर कीर्तन करने लगते। नृत्य-गति बहुत भाव-भंगिमा युक्त होती थी। रोमांच-कम्प आदि के वेग से सम्पूर्ण शरीर उछल पड़ता था। जब ऊर्ध्व बाहु किए हुए कीर्तन करने लगते तो ऐसा लगता था मानो साक्षात् श्रीमन्महाप्रभु ही नृत्य कर रहे हैं। समस्त परिजन और दर्शकवृन्द भी इस वातावरण एवं कीर्तनानन्द में भाव-विभोर हो जाते थे। भाव-तन्मय दशा में इसी प्रकार का कीर्तन ग्राम-ग्राम में होता था।

अलिराजपुर में श्री महाराजजी

इस बार श्री–जी मंडलेश्वर में श्री राधूभाई गौरजी के यहाँ ठहरे हुए थे। मंडलेश्वर के आस-पास के ग्रामों में श्री–जी की कीर्ति फैली हुई थी। दूर-दूर से भक्तजन श्री–जी के दर्शनार्थ आते रहते थे। श्री गौरजी का गृह सदा भक्तों से भरा हुआ रहता था। इनका सम्पूर्ण परिवार भी बहुत आनन्द एवं उत्साह से सबकी सेवा का सुख प्राप्त कर अपने को कृतकृत्य समझता था। इसी समय इनके एक निकट सम्बन्धी डॉ. श्री बलवन्तराव मंडलोई भी अलिराजपुर से इनके यहाँ आये हुए थे। श्री–जी के दर्शन एवं सत्संग-संकीर्तन से ये बहुत ही प्रभावित हुए। इनके हृदय में श्री–जी को अपने निवास स्थान अलिराजपुर ले जाने की इच्छा जाग्रत हुई और श्री राधूभाई से परामर्श कर इन्होंने अपने गृह को पवित्र करने की प्रार्थना श्री–जी के श्रीचरणों में की। इनकी भाव भरी प्रार्थना से द्रवित होकर जब श्री–जी ने अनुमति प्रदान

की तो इनका मन आनन्द से भर उठा और दूसरे ही दिन ये अत्यन्त उत्साह से श्री–जी को सपरिकर अलिराजपुर ले गये।

इनके घर में आनन्द की लहर लहरा गई और सारा परिवार अतीव उत्साह से श्री–जी की सेवा में संलग्न हो गया। घर के एक कमरे में झूला लगा हुआ था। उस पर सुन्दर वस्त्र बिछाकर अति आदरपूर्वक श्री–जी को विराजमान कराया गया और सब परिकर एवं गृह-परिजन श्री–जी को घेर कर बैठ गए। बलवन्तरावजी की गृहिणी ने शुद्ध जल से एक सुन्दर पात्र में श्री–जी के चरण प्रक्षालन किये। सभी ने बारी-बारी से श्री–जी के चरण अपने मस्तक पर रख नयनाश्रुओं से भी उनका अभिषेक किया तथा चरणोदक लिया। तदन्तर नये तौलिये से चरणों को पोंछा और भावविमोर होकर श्री–जी का दर्शन करते रहे। आज उनके हृदय में आनन्द समा नहीं रहा था।

इधर श्री महाराजजी की दशा अति विचित्र होती जा रही थी। स्वभाव से ही अत्यन्त संकोचशील श्री–जी ने उनकी भावना एवं प्रेम को देखकर यह सब स्वागत-सत्कार स्वीकार तो कर लिया परन्तु अत्यन्त ही दैन्य से उनका हृदय पिघलता जा रहा था। चेतना विलीन होती जा रही थी। नेत्र अरुणवर्ण, आर्द्र और एक खुमारी लिये हुए थे। सभी तृषित लोचनों से श्री–जी की भावमय दशा का दर्शन मुग्ध भाव से कर रहे थे। एकाएक श्री–जी का शरीर रोमांचित, कम्पित हुआ और झूले पर ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े। कुछ ही क्षणोपरान्त आपके मुख से एक आलाप निकला। मैंने सजग होकर कागज-पेन्सिल सम्हाली और यह पद स्फुरित हुआ –

सकल अपराध क्षमहु माधव, नित नव-नव रस धार।
कल्प-कल्प युग भक्त जहाँ-तहाँ, कहत उदार उदार।
माधव क्षमहु मम अपराध।।
पापी जो अजामिल, भिलनी, ताहि नहीं संभार।
कलयुगी दोष निर्दोष जीव सब ताहि कृत साकार।
श्याम तब ताहि कृत साकार।।

त्रेता युग तट गंग केवट, शीतल चरण पखार।
चरण सुपात्र विदुर घर तन्मय श्याम अपार।
दोऊ लीन अमृत सार।। श्याम।।
सोई चरण पग धोवत यमुना, गोकुल पुरी मझार।
सो श्याम सुनहु मम वाणी, पात्र कहाँ यह चरण पखार।।
जड़ पाषाण परसि युग अम्बुज, तर गई गौतम नार।
सोई चरण हृदयामृत रस मधु, युवति लेत बलिहार।।
क्षीरसागर जहाँ शयन सेवन, तहँ हिय ताड़न भृगुहि सँभार।
कहाँ लौं कहुँ श्याम उदार उदार।।
केशवगात्र पग वामन धृत बटु, श्रम जल आनन चारु।
सोई नयनाश्रु उदार अमित द्वार विदुर पखार।
नेति नेति श्रुति अलभ वेद मुख काली सिर पर धार।
चरण ताण्डव जहाँ काली शीश विचार विचार।।
जो मुख शेष महेश सोई चाटत गौवन बार बार।
(चाटत चरण ग्वार, चरण चाटत वन ग्वार ग्वार।।)
कब वह चरण धावन जहँ तहँ की ....।।
तब अलि लाज उदार उदार।।
क्षमहु कृपा नव शोभागार, अजहूँ जहाँ शृंगार सार।
अजहूँ कण शृंगार सार।।
निज दास्य रति सख्य वात्सल्यहु हिय विरहाम्बुधि ललना धार।
योग तीर्थ व्रत साधन नाना, व्रज रज मुक्ति चार बुहार।
कहँ लौं कहुँ श्याम उदार उदार।।[1]

इस दैन्य भाव दशा को देखकर सभी की दशा विचित्र होती जा रही थी। सबके हृदय विदीर्ण हो रहे थे एवं नेत्रों से अश्रुवर्षा हो रही थी। वातावरण करुणापूर्ण हो गया था।

---

१. यह पद 'अलिभाव निर्झर' में प्रकाशित है, पृष्ठ ११३, पद १८३

पद समाप्त हुआ। कुछ समय तक श्री–जी ऐसे ही निःश्चेष्ट पड़े रहे, फिर बाह्य ज्ञान में आकर नेत्र खोले और धीरे से उठकर बैठ गये। सभी मूर्तिवत् मौन बैठे हुए थे। धीरे-धीरे वातावरण सामान्य हुआ। पास के कमरे में श्री–जी के बैठने की सुन्दर व्यवस्था की गई थी। परिवारीजनों के अनुरोध पर श्री–जी अपने को सम्हालते हुए धीरे से उठे और कुछ समय के लिए वहाँ जाकर बिछी हुई गद्दी पर लेट गये। मध्याह्न हो आया था। श्री–जी अब पूर्ण स्वस्थ होकर बैठ गये थे।

आज श्री बलवन्तरावजी के परिवार के उत्साह एवं आनन्द की सीमा नही थी। उनके अनुरोध पर श्री–जी ने सपरिकर अत्यन्त प्रसन्नता से हास्य-विनोद के वातावरण में प्रसाद ग्रहण किया। श्री–जी को सुन्दर आसन पर बैठाया और अनेकानेक व्यंजनों एवं मिष्टान्नों से सजाया हुआ थाल उनके सम्मुख प्रस्तुत किया गया। भोजन के थाल के आसपास रंगवल्ली भी सजाई गई। भोजनोपरान्त सभी ने कुछ समय विश्राम किया। श्री–जी परम प्रसन्न मुद्रा में उठकर बैठ गये। पुनः सभी परिकर एवं परिवारीजन श्री–जी को घेर कर बैठ गये। श्री–जी ने चर्चा-चर्चा में ही सबकी मनोवृत्ति का सूक्ष्म रूप से निरीक्षण कर लिया और तदनुकूल उपयुक्त सत्संग चर्चा धीरे-धीरे प्रारंभ की। इन लोगों के लिये इस प्रकार का अद्वितीय सत्संग सुनने का यह प्रथम ही अवसर था। सभी आश्चर्यान्वित एवं प्रभावित थे।

संध्या समय श्री–जी कुछ भक्तों सहित घूमने गये। इसी अवधि में घर के लोगों ने एक बड़े कक्ष में रात्रि-संकीर्तन की सुन्दर व्यवस्था कर दी। करताल, झाँझ, मृदंग आदि वाद्य प्रस्तुत कर दिये गये। सम्पूर्ण कक्ष भक्तवृन्दों से भर गया। श्री–जी आकर विराजमान हुए। गृहजनों ने एक सुगन्धित पुष्प-माला श्री–जी को धारण करायी। श्री–जी ने मन्द-मधुर स्वर में कीर्तन प्रारंभ किया –

हरि हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः,
यादवाय माधवाय केशवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्री मधुसूदन,
गिरिधारी गोपीनाथ मदनमोहन।।

भक्तवृन्द श्री–जी की पंक्ति को दोहराते हुए तन्मयता-पूर्वक कीर्तन कर रहे थे। धीरे-धीरे कीर्तन उच्च-स्वर से होने लगा और सम्पूर्ण वातावरण नामध्वनि से गूँज उठा। श्री–जी मत्तभाव से कीर्तन कर रहे थे। मध्य-मध्य में रोमांच-कम्प हो रहा था। नेत्र एक अद्वितीय मद से मत्त अरुणवर्ण हो रहे थे। श्री–जी भावमत्तता में एकाएक उठकर खड़े हो गये और अपने दोनों विशाल बाहु ऊपर उठाकर, वर्तुलाकार में घूम-घूमकर कीर्तन करने लगे। नेत्रद्वय गंगा-यमुना के उद्गम स्थल से लग रहे थे। उनसे प्रवाहित अविरत अश्रुधारा कपोलों पर होती हुई वक्षःस्थल को भिगोती जा रही थी। पाषाण को भी पिघलाने वाले आज के इस हृदयद्रावक कीर्तन में मानो श्रीमन्महाप्रभु फिर अवतरित हो गये हैं। श्रीमन्महाप्रभु की दशा का यह श्लोक मानो आज श्री–जी में मूर्त हो उठा है –

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्‌गद रुद्धयागिरा।
पुलकैः निचितैः वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति।।

कीर्तनानन्द के अनुरूप नर्तन गति से हस्तविन्यास स्वयमेव हो रहा था। कीर्तन करते हुए वे भूमि पर मूर्च्छित होकर गिर जाते थे। शरीर धूल धूसरित हो रहा था। प्रेम का साम्राज्य छाया हुआ था। सभी में एक अद्वितीय आनन्द की लहर व्याप्त थी। बाह्य ज्ञान किसी को नहीं था। इस प्रेम–सरिता में स्नपित होते हुए सभी आर्त स्वर में कीर्तन कर रहे थे। कुछ क्षणोपरान्त मूर्च्छा भंग होने पर श्री महाराजजी पुनश्च उठकर खड़े हो जाते और पूर्ववत् उद्दाम कीर्तन करने लगते। इस प्रकार लगभग चार घण्टे पश्चात् कीर्तन का विराम हुआ। दूसरे एवं तीसरे दिन भी इसी प्रकार तुमुलध्वनि से उद्दाम कीर्तन हुआ। भक्तों की संख्या प्रतिदिन उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी।

वह अलिराजपुर आये चौथा दिन था। प्रातःकाल से ही श्री–जी कुछ गम्भीर भावस्थिति में दीख रहे थे। श्रीमाँगीलालजी ने प्रातः उठते ही मुझसे कहा–आज कीर्तन में श्री–जी द्वारा किसी का उद्धार होने वाला है। संभवतः उन्हें कुछ स्वप्नादेश प्राप्त हुआ था। श्री–जी की प्रसन्न मुद्रा, तेजःपुंज मुखारविन्द, कीर्तन की प्रेममय मधुर स्वर-लहरी और सात्विक भावमय नृत्य

देखने के लिये सभी तरसते रहते थे। कब संध्या हो और कब कीर्तनानन्द प्राप्त हो, इस त्वरा में उन्हें दिन व्यतीत करना कठिन हो जाता था।

उस दिन तो कई गुना अधिक जनसमूह एकत्रित था। नियत समय पर श्री–जी सपरिकर अपने निश्चित स्थान पर आ विराजे। जय-जय ध्वनि से आकाश गूँज उठा। सबने नतमस्तक हो श्री–जी के चरणों में प्रणाम किया। श्री–जी अपने किसी दिव्य जगत् में खोये हुए, गम्भीर मुद्रा में सिर नीचे को झुकाये हुए, अर्धोन्मिलित नेत्रों से मौन बैठे हुए थे। भक्तों ने कीर्तन प्रारंभ करने की अनुमति माँगी तो ग्रीवा की डुलन ने ही स्वीकृति दे दी।

कीर्तन प्रारंभ हुआ। भक्तों से हॉल खचाखच भरा हुआ था। अचानक श्री–जी खड़े हो गये और उर्ध्वबाहु किये हुए उच्च स्वर से कीर्तन करने लगे। श्री–जी की कीर्तन-ध्वनि कानों में गूँजते ही कीर्तन ने दुगुना जोर पकड़ लिया मानो कीर्तन का उन्माद छा गया हो। श्री–जी की भावोन्मत्त दशा दर्शनीय थी। वे नृत्यगति में घूमते हुए उद्दाम कीर्तन कर रहे थे। कीर्तन मध्य बाहुयुगल इस प्रकार प्रकंपित होते मानो किसी वृक्ष की दो शाखाएँ वायुवेग से हिल रही हों। कीर्तन की तुमुलध्वनि सम्पूर्ण ग्राम को प्रतिध्वनित कर रही थी। घुटने के बल बैठकर कीर्तन करते हुए श्री–जी का शरीर तीन-तीन हाथ ऊपर उछल जाता था। कभी मूर्च्छित हो धरती पर गिर जाते, फिर उठते, फिर कीर्तन करने लगते। अष्ट सात्त्विक भावों की बाढ़ सी आई हुई थी। श्री महाप्रभु चैतन्य का पूर्ण आवेश मानो आज श्री–जी में समाया हुआ था।

इस प्रकार उद्दाम कीर्तन चल ही रहा था कि एक आश्चर्यजनक घटना घटित हुई। श्री–जी कीर्तन करते हुए उछल कर धरती पर गिर कर मूर्च्छित हो गये। सहसा स्त्रियों के झुंड से एक स्त्री (श्री बलवन्तरावजी की विधवा बहिन) उठ खड़ी हुई। उर्ध्व बाहु, निमीलित लोचनों में अश्रुप्रवाह, कम्पित स्वर में मुख से अस्पष्ट कीर्तन-शब्दों का उच्चारण करती हुई धीरे-धीरे रुक-रुक कर एक-एक पाँव रखती हुई, भीड़ के मध्य से होकर वह संकीर्तन के मध्य में (जहाँ श्री–जी अचेतावस्था में पड़े हुए थे) आ गई। साड़ी का छोर सिर पर से उतर गया था। वस्त्र अस्त-व्यस्त हो रहे थे। एक सम्पन्न कुल की

सनातन मर्यादा में रहने वाली साध्वी नारी को इस प्रकार जनसमूह के मध्य खड़ी देख कर लोग आश्चर्य चकित हो गये, परन्तु उसे तो भान ही कहाँ था ! वह अधिक समय तक खड़ी नहीं रह सकी और श्री–जी के चरणों में मूर्छित होकर गिर गई। उसका मस्तक श्री–जी के चरणों पर था। उसका सम्पूर्ण शरीर एवं नेत्रों की पलकें काँप रही थीं। हाथ इस प्रकार हिल रहे थे मानो करताल बजा रही हो। मुख से कुछ कीर्तन के शब्द अस्पष्ट उच्चरित हो रहे थे। पन्द्रह-बीस मिनटों के बाद श्री–जी कुछ सचेत हुए और भावावेग में ही खड़े होकर कीर्तन करते रहे। अचेत पड़ी उस बहिन को उसके परिवारी-जनों ने कीर्तन मध्य से एक ओर सरका दिया। कुछ समय पश्चात् कीर्तन समाप्त होने पर आरती व प्रसाद वितरण हुआ। सभी अपने-अपने घरों को चले गये। कीर्तनानन्द की मत्तता में श्री–जी भी निकट के कक्ष में जाकर लेट गये। वह बहिन वैसे ही पड़ी हुई थी। परिजनों ने उसे चेत में लाने का बहुत प्रयास किया, परन्तु सफलता नहीं मिली। डॉ. बलवन्तरावजी ने श्री–जी से जाकर उसकी स्थिति के विषय में कहा। श्री–जी ने लेटे-लेटे ही उसे खुले आँगन में चारपाई पर लिटा देने के लिये कहा। ऐसा ही किया गया। रात भर उसके भाई उसके निकट बैठे रहे। प्रातःकाल छह बजे चेत आने पर जब उससे पूछा गया कि क्या हो गया था तो उसने नेत्र खोल कर केवल इतना ही कहा–"काई कऊँ भाई ! इत्तो सुन्दर छै !" (क्या कहूँ भाई ! इतना सुन्दर है) बस, इतना कहकर मौन हो गई। कुछ दिनों पश्चात् बार-बार पूछने पर उसने अपने भाई को बताया–"कीर्तन करते-करते श्री–जी के पास गोलाकार में एक प्रकाश दीखा। उसमें शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए चतुर्भुज नारायण के मुझे दर्शन हुए। कंठ में वैजयन्ती माला, कर्णों में दिव्य रत्न जटित कुण्डल थे। वे अभय-मुद्रा में मन्द-मन्द मुस्कराते हुए करुणा पूरित दृष्टि से मुझे निहार कर कुछ आश्वासन सा दे रहे थे। बस, फिर मुझे बाह्य ज्ञान नहीं रहा।"

इस घटना के बाद उस बहिन का जीवन ही बदल गया। वह आजीवन निकटस्थ 'बोरलाय' ग्राम के एककृष्णमंदिर में नये नये अनुभव प्राप्त करती हुई भगवान की सेवा में निरत रही। इस प्रकार अलिराजपुर में आठ दिनों

तक भक्तों को संकीर्तनानन्द प्रदान कर श्री महाराजजी मंडलेश्वर लौट आये। एक दिन श्री–जी श्री माँगीलालजी के यहाँ कमरे में बैठे हुए थे। सम्मुख मैं, श्रीदेवीजी और माँगीलालजी बैठे थे। कुछ चर्चा चल रही थी कि अचानक श्री–जी में अष्ट सात्त्विक भावों का उदय हुआ और भावाविष्ट हो वे मूर्च्छित हो गये। मूर्च्छावस्था में आपके मुख से सेव, सेव......कुण्ड.......कुण्ड......श्रीकृष्ण. .... मूर्च्छित........ इस प्रकार के अस्पष्ट शब्द स्फुरित हुए। आधे घण्टे पश्चात् आप प्रकृतिस्थ हुए। समय पाकर दोपहर मैंने श्री महाराजजी से पूछा–भाव दशा में आपके मुख से इस प्रकार के शब्द स्फुरित हुए। कृपाकर बतायँगे कौन सी लीला थी ? पहले तो आपने टालने का प्रयत्न किया परन्तु विशेष आग्रह करने पर इस प्रकार लीला वर्णन की –

"सेव का एक विशाल वन था। श्रीराधाजी सखी-परिकर सहित उस वन में विहार कर रही थीं। श्री ललिताजी ने एक पका हुआ सेव तोड़ कर श्रीराधाजी के हाथ में दिया। श्रीराधाजी ने उस सेव को हाथ में लेकर यों ही दाँतों से काटकर खाना शुरू कर दिया। श्रीराधाजी को इस तरह सेव खाते देख श्रीकृष्ण ने उच्छिष्ट लेने की इच्छा से उनके हाथों से सेव फल छुड़ाने की चपल चेष्टा की। श्रीकृष्ण का भाव जानकर श्रीराधाजी ने उस फल को शीघ्रता से समीप के निर्मलजल पूरित कुण्ड में फेंक दिया। श्रीकृष्ण को तो और अवसर हाथ लग गया। वे भी शीघ्रता से छलाँग लगाकर उस कुण्ड में कूद पड़े। परन्तु कुण्ड में कूदते ही उच्छिष्ट लेने की भावना में मूर्च्छित हो गये। उच्छिष्ट लेने की भावना से कई सखियाँ भी श्रीकृष्ण के साथ कुण्ड में कूद पड़ी थीं। कुछ सखियों ने मूर्च्छित श्रीकृष्ण को सम्हाला। वह फल सखियों के हाथ लगा और उन्होंने बाँट कर खा लिया। इन सखियों में श्री महाराजजी भी सम्मिलित थे। "

श्री–जी की भाव तन्मय दशा का यह सुख सन्निकटस्थ भक्तों के भाग्य में ही था, जो निरन्तर उनके आस-पास मँडराते हुए अपूर्व सुखानुभव कर रसमत्त रहते थे। यह मंडल सदा प्रसन्न, आनन्द में मत्त और हँसता खिलखिलाता हुआ रहता था।

करोंद्या ग्राम में श्री महाराजजी -

एक बार करोंद्या ग्राम के भावुक भक्त श्री महाराजजी को सपरिकर आग्रह-पूर्वक अपने ग्राम में ले गये। यह यात्रा बैलगाड़ियों से ही हुई। स्वागतार्थ ग्रामवासी स्त्री-पुरुष बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित थे। वे बहुत ही प्रेम एवं श्रद्धा पूर्वक श्री–जी को यथास्थान ले गये। कुछ सत्संग-चर्चा चलती रही। पश्चात् प्रसाद ग्रहण कर कुछ समय विश्राम किया। ग्रामवासी भक्त फिर एकत्रित हो गये। संध्या समय भक्त मंडली सहित श्री–जी एक भावुक किसान भक्त के खेत में घूमने चले गये। उस भक्त ने सभी को गन्ने का रस पिलाया। गोधूलि वेला में ग्राम की ओर लौटते समय मार्ग में ही श्री–जी की भावस्थिति होने लगी। नेत्र अरुणवर्ण घूर्णायमान हो गये, भृकुटि उन्नत हो गई, शरीर अस्थिर हो गया एवं पाँव लड़खड़ाने लगे। झूमते हुए रुक-रुक कर चल रहे थे। भाव-दशा की गम्भीरता को देखते हुए एक ओर से मैंने और दूसरी ओर से श्री माँगीलालजी ने बाँह पकड़ रखी थी। श्री–जी मंद-मंद चल रहे थे, परन्तु बाह्य ज्ञान किंचित् भी नहीं था। चलते-चलते ही अति गम्भीर मंद-मंद वाणी स्फुरित हुई –

''ब्रज मंडल की सब गौवों को एक ही ग्वाला अपनी लाठी से रोक लेता है............''

''वहाँ की प्याऊ बहुत ही विशाल है.......... करीब-करीब एक मील लम्बी चौड़ी होगी...........''

''अकेला एक ही ग्वाला सबको पानी पिलाता है..........

वन में चरने वाली गौवें चरते-चरते यदि कहीं दूर निकल जाती हैं तो उन्हें ढूँढने केलिये उनके पीछे नहीं जाना पड़ता। श्रीगिरि गोवर्धन बहुत ऊँचा है। गोवर्धन की विशाल-विशाल शिलाएँ बहुत ही चिक्कण तथा नीलवर्ण की हैं। गौवों को ढूँढना हो तो ग्वाले गिरिराज की चिक्कण शिलाओं में प्रतिबिम्ब देखकर पता लगा लेते हैं कि गौवें कितनी दूर निकल गई हैं और कहाँ हैं............

व्रज की गौवें अति हृष्ट-पुष्ट उन्नत एवं देखने में अति सुन्दर है ....ग्वाले भी हृष्ट-पुष्ट विशाल नेत्र वाले, विशाल कर्ण वाले, अति सुन्दर गौरवर्ण एवं किशोर अवस्था के हैं............"

इस प्रकार वाणी स्फुरित हुई। फिर आप मौन हो गये। इसी स्थिति में धीरे-धीरे ग्राम पहुँचे। भावमत्त दशा होने से श्री–जी को लिटा दिया गया। कुछ समय पश्चात् आप प्रकृतिस्थ हुए। रात्रि दस बजे बड़ी धूम-धाम से संकीर्तन हुआ। बाद में सत्संग भी हुआ। प्रातः चार बजे सत्संग समाप्त होने पर आपने विश्राम किया एवं दूसरे दिन मंडलेश्वर लौट आये।

महेश्वर में कुछ दिन श्री अवन्तिकाजी के यहाँ और श्री बाबूलालजी के यहाँ भी सत्संग एवं संकीर्तन हुआ।

पीपलगुन में श्री महाराजजी -

मंडलेश्वर में रहते हुए सुनने में आया कि पीपलगुन ग्राम में एक तेली के लड़के को भगवत्-दर्शन हुआ है। श्री–जी के पूछने पर लोगों ने बताया कि सोलह-सत्रह वर्ष का यह तेली का बालक साधारण पढ़ा-लिखा है। बचपन से ही आध्यात्मिक रुचि होने से गीताप्रेस की धार्मिक पुस्तकें पढ़ता रहता था। 'कल्याण' में श्रीकृष्ण का वर्णन पढ़ते-पढ़ते इसकी वृत्ति श्रीकृष्ण के नाम-रूप में तन्मय रहने लगी। निरन्तर इसे श्रीकृष्ण का ध्यान रहने लगा। श्रीकृष्ण में मन की एकाग्रता हो गई। एक दिन इसने देखा कि श्रीकृष्ण चले जा रहे हैं। यह भी उनके पीछे-पीछे चलने लगा। कुछ दूर जाने पर देखा कि श्रीकृष्ण एक वृक्ष पर चढ़ रहे हैं। यह बालक भी उनके पीछे-पीछे वृक्ष पर चढ़ गया। श्रीकृष्ण वृक्ष की ऊँची शाखा पर चढ़कर नीचे कूद गये। यह भी उनके पीछे-पीछे उसी शाखा से नीचे कूद गया और मूर्च्छित हो गया। पैर में चोट आ गई। श्रीकृष्ण अदृश्य हो गये। यह बालक तभी से निरन्तर इसी मस्ती में रहने लगा। यह बात सब जगह फैल गई।

मंडलेश्वर के भक्तों को भी इस बालक को देखने की इच्छा हुई। निवेदन करने पर श्री–जी ने पीपलगुन चलने की स्वीकृति दे दी। दूसरे

ही दिन हम सब तीन बैलगाड़ियों में श्री–जी सहित पीपलगुन पहुँचे। वहाँ के एक धनी भावुक सेठ श्री गुलाबचन्दजी ने आदर-सत्कार सहित श्री–जी को सपरिकर अपने यहाँ ठहराया। ये प्रतिवर्ष वृन्दावन आते थे और सन्तों के प्रति इन्हें बहुत श्रद्धा थी। मध्याह्न में इन्हीं के यहाँ प्रसाद ग्रहण कर सबने विश्राम किया। सेठजी का संतरे का एक विशाल बगीचा था। संध्या समय श्री–जी सहित सब बगीचे में घूमने गये। बगीचा बहुत सुन्दर रूप से सजा हुआ था। उसमें एक छोटा सा मकान और एक झूला भी लगा हुआ था। झूले पर वस्त्र बिछाकर श्री–जी को बैठाया। सेठजी ने सुन्दर पके-पके सन्तरे तोड़कर मँगवाये एवं श्री–जी को समर्पित किये। श्री–जी ने अपने हाथों से सबको बाँटे। तदुपरान्त वहीं रहने वाले एक साधुवेषी गायक ने बाजे पर श्री–जी को एक पद सुनाया। श्री–जी ने भी दो पद गाये। कुछ समय पश्चात् श्री–जी की भावमय स्थिति दीखने लगी। अष्टसात्त्विक भाव जाग्रत हो गये। श्री–जी मूर्च्छित हो गये और इसी स्थिति में एक पद स्फुरित हुआ, जिसे तत्काल लिपि-बद्ध कर लिया गया। बाह्य दशा में आने पर हम पुनः सेठजी के घर आ गये।

रात्रि संकीर्तनका आयोजन रखा गया था। श्री–जी अकेले ही भाव-स्थिति में छत पर टहल रहे थे। नेत्र अरुणवर्ण व मत्त हो रहे थे। इसी समय वह तेली का बालक भी श्री–जी के दर्शनों के लिये आया। उसने श्री–जी के चरणों में मस्तक रखकर साष्टांग प्रणाम किया। श्री–जी ने उसे उठाकर हृदय से लगाया एवं दोनों बाहुओं से बाँध लिया। उनके नेत्रों से सतत अश्रु-प्रवाह उस बालक के मस्तक को अभिषिक्त कर रहा था। बालक के नेत्रों से भी अश्रु बह रहे थे। कुछ ही क्षणों में श्री–जी और वह बालक दोनों ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े। श्री–जी तो पन्द्रह मिनिट में बाह्यज्ञान में आ गये। बालक लगभग एक घण्टा मूर्च्छित पड़ा रहा। इस दृश्य को देखने के लिए कई लोग इकट्ठे हो गये थे। इस प्रेम-मिलन तथा श्री–जी के कृपा संचारमय वातावरण से एक अलौकिक मत्तता छा गयी थी। सभी आबालवृद्ध प्रेम में झूम रहे थे। श्री–जी स्तब्ध से लेटे हुए थे। उनमें अभी बोलने का सामर्थ्य नहीं था। संकीर्तन का समय हो चुका था। काफी विलम्ब होता जा रहा था, अतः कुछ

अन्तरंग भक्तों ने स्मरण दिलाया तो श्री–जी ने आँखें बंद किये हुए ही कागज-पेंसिल लाने का संकेत किया। कागज-पेंसिल उनके हाथ में दे दी गई। आपने बंद आँखें किये ही लिख दिया–"सामर्थ्य नहीं है।" सभी भक्तों को सूचना दे दी गई। सभी लौट गये। दूसरे दिन बड़े उत्साह से संकीर्तन एवं सत्संग हुआ। तीन दिन पश्चात् श्री–जी निज परिकर सहित मंडलेश्वर लौट आये। मंडलेश्वर में तो नित्य ही श्री–जी का सत्संग संकीर्तन होता रहता था। बीच-बीच में आस-पास के रमणीय स्थलों के दर्शनार्थ आप सपरिकर जाया करते थे। महेश्वर एवं मंडलेश्वर के आस-पास कई दर्शनीय स्थल हैं। नर्मदाजी के दोनों तट रमणीय स्थलों से सुशोभित हैं। महेश्वर से कुछ ही दूरी पर कमल-सरोवर से सुशोभित 'बारहद्वारी' नामक एक दर्शनीय स्थल है। यहाँ एक छोटा सा राममन्दिर भी है। श्री–जी सपरिकर यहाँ गये थे। कमल-सरोवर देखकर आपको बहुत प्रसन्नता हुई। एक रात्रि यहाँ ठहर कर सत्संग-संकीर्तन एवं वन भोजन भी हुआ।

ऐसे ही मंडलेश्वर से नर्मदा नदी के दक्षिण तट पर "मर्कटीसंगम" नामक एक स्थान है। यहाँ वेदा (वेत्रवती) नदी का नर्मदा नदी से संगम हुआ है। इसकी रमणीयता देखते ही बनती है। यह स्थान प्राचीन ऋषियों की तपोभूमि भी रहा है। मर्कटीसंगम के पास पहाड़ी के एक ऊँचे शिखर पर एक देवालय और उससे लगा हुआ एक भवन बना हुआ है, जिसे लगभग दो सौ वर्ष पूर्व श्रीमती अहिल्याबाई होल्कर ने बनवाया। श्री–जी को यह स्थान देखने की इच्छा हुई। एक दिन कुछ परिजनों के साथ नौका द्वारा श्री–जी इस स्थान के दर्शनार्थ गए और एक रात्रि रुककर लौट आए। परन्तु उनकी इच्छा फिर वहाँ जाकर कुछ दिन रहने की हुई। अतः परिकर के कुछ जनों के साथ वे पुनः मर्कटीसंगम गये। वहाँ दिन में भी पूर्ण एकान्त रहता था। भोजन इत्यादि वहीं बनवाने की व्यवस्था मंडलेश्वर के भक्त-मंडल ने कर दी थी। रात्रि में आस-पास के ग्रामों से कुछ लोग आ जाते और संकीर्तन होता था।

एक दिन साथ में जो दो-चार भक्त थे, रसोई इत्यादि बनाने एवं अन्य कार्य में लगे हुए थे। श्री–जी सबकी आँखें बचाकर पहाड़ी से उतर कर नीचे नर्मदा तट पर आ गये। बहुत विलम्ब हो गया पर आप नहीं लौटे तो एक-

दो व्यक्ति आपको देखने नीचे उतरे। आप सामने से आते हुए दीख गये। हम ने विलम्ब का कारण पूछा तो कहा–धोती सुखा रहा था। हमने कहा–स्नान तो आप सुबह ही कर चुके थे, फिर धोती गीली कैसे हो गई ? आप मुस्कराये और कहने लगे "मैं तट पर खड़ा कल-कल ध्वनि से बहने वाले नर्मदा जल की ओर देख रहा था कि जल में किनारे से दो-चार कदम आगे चमकती हुई कोई वस्तु दीखी। उसे उठाने के लिये कुतूहलवश मैं घुटने-घुटने जल में उतरा परन्तु आगे अपार जलराशि थी। मैं ज्यौं ही झुक कर वस्तु उठाने लगा, मेरा पाँव फिसल गया और मैं गहरे जल में डूब गया। मुझे तैरना तो आता ही नहीं था। डूबते ही विचित्र बात बनी। देखा–दिव्य वृन्दावन-स्थली है। सन्निकट ही सखा-मंडल सहित श्रीकृष्ण गोचारण कर रहे हैं। यत्र तत्र गौवें, ग्वाल विचर रहे हैं। श्रीकृष्ण एक कदम्ब-द्रुम की शाखा पर पैर लटकाये हुए आराम से बैठे सखावृन्द को सुख पहुँचा रहे हैं। निकट विचरने वाले सखाओं ने मुझे डूबते हुए देख लिया परन्तु वे मुझे निकालने न आकर जोर-जोर से श्रीकृष्ण को टेरने लगे। टेर सुनते ही श्रीकृष्ण डाली से कूद पड़े, नूपुरध्वनि संचरित करते हुए वहाँ पहुँचे एवं अविलम्ब जल में प्रवेश कर, हाथ पकड़ कर मुझे बाहर निकाल लिया। जैसे ही मैं जल से बाहर आया यह दृश्य मेरी दृष्टि से ओझल हो गया। मैंने अपने वस्त्र निचोड़े, सुखाये और पहनकर ऊपर आ रहा हूँ।"

मर्कटीसंगम क्षेत्र में श्री–जी निज परिकर-जनों सहित पन्द्रह दिन रहे। यहाँ आपने 'सुप्रभात' नाम से एक सत्संग लेखन भी सम्पन्न किया।

आश्विन मास–धीरे-धीरे वर्षा ऋतु ने अपना आँचल समेटा और विदा ली। आकाश निर्मल हो गया। सरितायें अपनी गति को संयमित कर स्थिरता पूर्वक बहने लगीं। जल स्वच्छ हो गया। स्वच्छ जलाशयों में कमल कलिकाएँ मुस्कराने लगीं। हरित परिधान परिवेष्टित प्रकृति सुन्दरी चन्द्र-तारिकाओं के ब्याज से अपना मन्दहास बिखेरने लगी। सूर्य की सुनहरी किरण मालाओं ने उसे परिवेष्टित कर उसके सौन्दर्य में और भी निखार ला दिया। इस प्रकार शरदऋतु ने सम्पूर्ण कलाकौशल से प्रकृति-सुन्दरी को नानाविध शृंगारों से सजा दिया।

श्रीधाम वृन्दावन तो सदा ही अपनी अपूर्व शोभा से रसिकों के मन को लुभाता रहता है। शरदागमन से वह और भी अधिक शोभा को धारण किये हुए था। श्रीकृष्ण ने इसी ऋतु को स्वीकार कर महारास करने का निश्चय किया था, अस्तु।

श्री–जी भी इस ऋतु की सुसमय की स्मृति से ही सपरिकर श्रीधाम लौट आये और रास-विलास दर्शन का सुख लेने लगे।

श्री–जी के आगमन से, सदा से ही एक दिव्यता से व्याप्त गंगामंदिर में उनकी भावमत्त दशा का सुगन्धित वातावरण छा गया। कुछ दिनों से राधनपुर (उत्तर गुजरात) से अमीचन्द नामक एक भावुक भक्त गंगामंदिर में रहने लगा था। गृहस्थ था, पर बड़ा भोला-भाला और सहृदय था। बढ़ई का काम कर अपनी जीविका निर्वाह करता था। इसने एक दिन बताया कि इस गंगामंदिर में मुझे प्रायः प्रतिदिन ही इधर से उधर घूमते हुए श्रीकृष्ण की स्फूर्ति होती है। उस समय वृन्दावन के कुछ भावुकजन जो श्री–जी के दर्शनार्थ आते थे, आज भी गंगामंदिर के उस वातावरण की स्मृति करके तड़प उठते हैं। श्री–जी सदा ही अपने परिकर जनों में आहार-विहार करते हुए भी भगवत् नाम-रूप-लीला के वातावरण को मधुर चर्चा के रूप से बनाये रखते थे।

महारास दर्शन

एक दिन संध्या समय श्री वंशीवट पर महारास का आयोजन था। श्री–जी, मैं और और भी एक-दो भक्त रास-दर्शनार्थ वंशीवट गये। प्रिया-प्रियतम रासमंडल में सिंहासन पर विराज रहे थे। सखी-परिकर द्वारा आरती होने पर समाजियों ने पद गान प्रारंभ किया –

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः।।

श्रीकृष्ण ने कक्ष से वंशी निकाली। अधरों पर रखी। उस मनोमोहिनी मुरली से मधुर आह्वान स्वर लहरी निसृत हुई। सुनते ही अनन्त व्रजवनिताएँ जहाँ-तहाँ से धावित होकर क्षणार्ध में श्रीकृष्ण के निकट उपस्थित हो गईं। इधर शरदपूर्णिमा का पूर्णचन्द्र रास-आनन्द दर्शन के लिये लालायित हो आकाश में ऊपर की ओर बढ़ता आ रहा था। उसे भी इस षडमासीय रात्रि के महारास का सुख आस्वादन करना था। सम्पूर्ण वनराज्य एक अद्वितीय उन्माद से भरा हुआ था। पूर्ण चन्द्र की किरण-मालिकाएँ वृन्दावन के कुञ्ज-निकुञ्जों को उद्भासित कर रही थीं। अद्भुत शोभा थी श्रीधाम वृन्दावन की। उस अधर-सुधापानमत्ता वंशी ने चहक-चहक कर व्रजबालाओं के हृदयों को मथना प्रारम्भ कर दिया था। तब भला कैसे रुक सकती थीं वे कृष्णप्रियायें ! उनके मानस को पूरी तरह झकझोर दिया था इस उन्मादिनी वंशी ने और अब अपने सामर्थ्य पर इठला रही थी। प्रियाओं को बलात् आकृष्ट कर श्रीकृष्ण से पुरस्कृत होने लगी यह बाँसुरी।

प्रियतम भी आज –

"शृंगारः सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति।।"

"साक्षात् मन्मथमन्मथः" अपनी माधुरी लुटाने को सम्मुख खड़े थे। गृह, बन्धु, बान्धव, लोकलाज आदि को विस्मृत करा, मुकुन्द गृहीतमानसा इन बावरियों को वंशी इस प्रकार उड़ा लाई थी, जैसे चक्रवात वृक्ष से गिरे हुए सूखे पत्तों को उड़ाकर ले जाता है।

"वंशी ध्वनि चक्रवात, उड़ाय लियो शुष्क पात।"

प्राणप्रियतम द्वारा ली गई परीक्षा में व्रज-गोपियाँ पूर्ण रूपसे उत्तीर्ण हुईं। श्रीकृष्ण प्रसन्न हो चिरऋणी हो गये और महारास प्रारंभ हुआ।

श्री महाराजजी एकाग्र चित्त और अपलक दृष्टि से रास-दर्शन कर रहे थे। नयनकोण अश्रुपूरित थे। कभी-कभी नेत्र निमीलित हो जाते और अश्रु-धारा दोनों नेत्रों से प्रवाहित हो कपोलों पर होती हुई वक्षःस्थल को सींचने लगती। आप साहस बटोर रास देखने का प्रयास कर रहे थे।

अनन्त स्वरूप प्रकट कर व्रजेन्द्रनन्दन अनन्त गोपियों के साथ रास कर रहे थे। अभी तक तो श्री–जी जैसे-तैसे अपने को सम्हाले हुए थे, परन्तु अब शक्ति के बाहर की बात हो गई। सहसा वे भावावेश में आ गये और अपना भान भूल कर खड़े हो गये। उठकर मैंने सम्हालने का प्रयास किया, परन्तु आप मूर्च्छित होकर गिर गये। दर्शकों में कोलाहल मच गया। जिसकिस भाँति कुछ कहकर मैंने लोगों को शान्त किया और श्री–जी का मस्तक गोद में लिये बैठा रहा। आधा घण्टे पश्चात् आप धीरे-धीरे प्रकृतिस्थ हुए। परन्तु अभी भी अर्धबाह्य दशा थी। आँखें मस्ती से भरी तथा अरुणवर्ण की हो रहीं थीं। मैंने धीरे से कान में पूछा–चलेंगे ? आपने संकेत से स्वीकृति दी। सावधानी पूर्वक पकड़कर उन्हें खड़ा किया और धीरे-धीरे अर्धबाह्य स्थिति में ही चलकर गंगामंदिर आ गए। कुछ समय वे निश्चेष्ट लेटे रहे, तत्पश्चात् प्रकृतिस्थ हुए।

श्री कृष्णाजी पर कृपा

श्री महाराजजी पूर्ण अभीष्ट प्राप्ति के पश्चात् भगवत् आदेशानुसार जगत् कल्याणार्थ नन्दगाँव छोड़कर श्रीधाम में रहने लगे थे। भगवद्-विधानानुकूल श्री देवीजी श्री–जी के चरणाश्रय में आ चुकी थीं। इनके पश्चात् कौन-कौन किस प्रकार शरणापन्न हुए यह जानने के लिये आपका मन उत्सुक होगा ही।

श्रीदेवीजी को धाम में आये कुछ माह व्यतीत हो चुके थे। एक दिन बातों के मध्य यह पता चला कि जब ये गृहत्याग कर निकली थीं, उस समय इनके ताऊजी की लड़की (बड़ी बहिन) श्री कृष्णाजी भी विरक्त रूप में इनके साथ थीं। वह अभी भी कहीं अकेली घूम रही हैं। दो वर्ष से दोनों पृथक्–पृथक् विचरने लगी थीं। तब से किसी को एक-दूसरे का पता नहीं था। श्री देवीजी की यह बात सुनकर मेरे मन में विचार आया कि एक बहिन पर तो कृपा कर श्री–जी ने वृन्दावन वास करा दिया, तब दूसरी बहिन श्री–जी की कृपा से वंचित रहकर देशान्तर में क्यों भटकती रहे ? यह विचार कई दिनों तक मेरे मन में चलता रहा। एक दिन अवसर पाकर मैंने श्री–जी से प्रार्थना की कि दूसरी बहिन कहीं भटक रही है, उस पर भी कृपा कीजिए और वृन्दावन वास कराइये। मेरी बात सुनकर श्री–जी एकदम उत्तेजित स्वर में बोले–"मुझे किसी को नहीं बुलाना है, मेरे मन में किसी के लिये संकल्प नहीं है। देवीजी तो भगवत्-विधान से आई हैं।" श्री–जी की बात सुनकर मैं चुप रह गया परन्तु रह-रहकर मन को यह बात कुरेदती रही कि क्या वह वंचित ही रहेंगी ! उन पर कृपा नहीं होगी !

कुछ दिन मन में ऐसी ही उथल-पुथल चलती रही। मैंने फिर एक दिन अवसर पाकर साहस बटोरकर द्रवित हृदय से श्री–जी से प्रार्थना की। सुनकर श्री–जी मौन ही रहे परन्तु जब भी मेरे मन में यह स्मृति आती, मन दुःखी हो जाता। अवसर पाकर श्री–जी से मैंने फिर प्रार्थना की। इस बार वे रुष्ट नहीं हुए, न चुप ही रहे। शान्ति पूर्वक आपने कहा–अच्छा, तुम्हारी ऐसी इच्छा है तो पत्र व्यवहार कर पता लगाओ, वह कहाँ है ? श्री–जी से इस प्रकार का उत्तर पाकर मेरा मन प्रसन्न हो उठा। परन्तु श्री कृष्णाजी का पता

तो श्री देवीजी को भी ज्ञात नहीं था। भ्रमणकाल में जिनसे कुछ परिचय हो गया था, श्री देवीजी ने अनुमान से ही उन एक-दो स्थानों पर पत्र-व्यवहार किया। आगरे के एक भक्त (जो दोनों ही बहिनों को जानते थे) के द्वारा श्री कृष्णाजी का पता लग गया। वे उस समय अहमदाबाद में थीं। इन्हीं के द्वारा तार दिलवाया गया कि श्री देवीजी इस समय वृन्दावन में हैं, आप इनसे मिलने वृन्दावन आ जाइये। तार पाकर श्री कृष्णाजी श्रीधाम वृन्दावन आकर सर्वप्रथम श्रीराधावल्लभजी की धर्मशाला में ठहरीं। कई वर्ष पूर्व दोनों बहिनें (श्रीदेवीजी और श्री कृष्णाजी) अपने चाचा (जो वकील थे) के साथ वृन्दावन आई थीं और इसी धर्मशाला में ठहरी थीं। श्री कृष्णाजी प्रातःकाल श्री देवीजी से मिलने गंगामंदिर आईं।

जैसा कि आप पूर्व में पढ़ चुके हैं श्री कृष्णाजी के पिताजी भी बहुत धार्मिक थे। अतः बचपन से इनमें भी धार्मिक संस्कार थे ही। श्री देवीजी के साथ ही घोर विरक्ति में जहाँ-तहाँ सभी कष्ट सहर्ष सहती हुई वन प्रान्त एवं ग्राम-ग्राम में भ्रमण करती रहीं। जब दोनों बहिनों ने गिरनार पर्वत की यात्रा की तो कृष्णाजी गिरनार पर्वत के घोर जंगल में एकान्त स्थान पर दिन-दिन भर बैठकर भजन करती रहती थीं। गिरनार पर बड़े-बड़े सिंह तथा हिंसक पशु रहते हैं। परन्तु इन्हें जरा भी भय नहीं लगता था। एक बार ये गिरनार के ऊपरी शिखर पर दत्त पादुका के पास जाकर, छिपकर तीन दिन तक निराहार बैठी भजन करती रहीं। गिरनार के मध्य मार्ग में रामानन्दी सन्तों का एक आश्रम है। उन्हें जब पता लगा तो इन्हे ढूँढकर आश्रम ले आये। ये, ऐसे ही कृशकाय एवं अयाचक रूप से श्री देवीजी के साथ रहीं। असंग रहने के उद्देश्य से जब दोनों बहिनें अलग हो गईं, तब भी ये अकेली ही निर्भय विचरण करती रहीं। जब ये गुजरात में भ्रमण कर रही थीं , तब इनका अल्प वय, त्याग, तितिक्षा और तेजस्विता देखकर अहमदाबाद के भक्तों का इनकी ओर स्वाभाविक ही आकर्षण हुआ। भक्तों में इनका सत्संग होता था। वे इनकी प्रतिभा, भाषण शैली तथा भक्ति का रहस्य प्रतिपादन करने के कौशल से अत्यन्त प्रभावित हुए और जहाँ-तहाँ धार्मिक आयोजनों में इन्हें निमन्त्रित करने लगे। विशाल धार्मिक आयोजनों में जिस मंच पर बड़े-बड़े विद्वान,

दण्डधारी संन्यासीगण बैठकर प्रवचन करते थे, वहाँ इनका भी स्थान रहता था। ये बहुसंख्यक जनों में भक्ति पर धाराप्रवाह, दो-दो घण्टे प्रवचन देती थीं, जिसे सुनकर विद्वान् तथा संन्यासी वर्ग भी चकित रह जाते थे। अस्तु।

जब ये श्री देवीजी से मिलने गंगामंदिर आईं तो पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुकी थीं। इनके अपने स्वतन्त्र विचार थे और वैराग्य, तितिक्षा,एवं ऐकान्तिक साधना की ओर ही इनका झुकाव था। उस समय तक एक प्रकार से ये वृन्दावन की रसमयी साधना पद्धति से अनभिज्ञ ही थीं। ये आकर सिर झुकाये बैठी रहीं और श्री देवीजी से बातें करती रहीं। श्री देवीजी ने इन्हें श्री–जी का परिचय दिया और धाम महिमा तथा निष्ठा सम्बन्धित चर्चा की, परन्तु इन्हें एक भी बात नहीं जँची। श्री–जी ने भी धाम एवं यहाँ की अनन्य श्रीकृष्ण-उपासना का सत्संग देते हुए कहा–इस कलियुगीय वातावरण में स्त्रियों को अकेले नहीं घूमना चाहिये। इस युग में सच्चे सन्त भी कठिनता से मिलते हैं। अतः आपको धाम में अनन्यतया रहकर भजन करना चाहिए। श्री–जी ने कई प्रकार से कृष्णाजी को समझाने की चेष्टा की, परन्तु इन पर तो दूसरा ही रंग चढ़ा हुआ था। ये किसी प्रकार भी इन बातों से सहमत नहीं हो सकीं और आवेग में अपना बैग उठाकर चलने लगीं। हठ एवं आवेश से इन्हें इस प्रकार जाते हुए देखकर श्री–जी को कष्ट हुआ। श्री–जी ने भी आवेश भरे स्वर में कहा–"अच्छा, जाओ, हमारा नन्द का छलिया यदि सच्चा होगा तो आज से पन्द्रह दिनों के अन्दर तुम्हें यहीं आना पड़ेगा।" कृष्णाजी इन शब्दों को भी अनसुना करती हुई चली ही गईं। कृष्णाजी को गए तेरह दिन हो गये थे। अचानक अहमदाबाद से एक तार आया कि वे वृन्दावन के लिये रवाना हो गई हैं। हमें विश्वास नहीं हो रहा था कि इतने आवेग में गई हुई इतनी जल्दी वापस आ सकती हैं।

सन् १६४८, कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी, दोपहर का समय था। गंगामंदिर में बैठे हुए श्री–जी कुछ सत्संग लिख रहे थे। मैं और देवीजी श्री–जी के समीप ही बैठे हुए थे। मैंने किसी कार्यवश उठकर बाहर का दरवाजा खोला तो क्या देखता हूँ कि कृष्णाजी सीढ़ियों पर खड़ी हैं, नेत्रों से अश्रुप्रवाह हो रहा है; पास में ही सूटकेस रखा हुआ है। मैंने वहीं से श्री–जी को पुकार कर

कहा–कृष्णाजी आ गई हैं और उन्हें श्री–जी के पास ले आया। आज ठीक पन्द्रहवाँ दिन था। कृष्णाजी श्री–जी के चरण पकड़कर फूट-फूटकर रोने लगीं। जब वे शान्त हुईं, तब श्री–जी ने पूछा–तुम तो आने वाली नहीं थीं, कैसे आ गईं ?

श्रीकृष्णाजी ने कहा–मैं आपके पास से रवाना होकर सीधी अहमदाबाद गई, वहाँ आठ दिन भी नहीं हुए होंगे कि मेरे दिमाग में एक चक्कर सा घूमने लगा, बलात् मन वृन्दावन के लिये खिंचने लगा। मैंने पूरे प्रयत्न से मन को समझाने की चेष्टा की, परन्तु सब निरर्थक हुईं। किसी भी कार्य में मन नहीं लगा। अभी वृन्दावन चली जाऊँ, ऐसा मन में लगने लगा। एक-एक क्षण व्यतीत करना भारी हो गया। रामायण की रामशलाका में प्रश्न देखा, उसमें भी 'सुनु सिय सत्य असीस हमारी' अर्धाली आई। दुबारा फिर देखा तो 'प्रविसि नगर कीजे सब काजा' यह अर्धाली निकली। फिर एक मंदिर में गई और वृन्दावन जाने के प्रश्न को लेकर ठाकुर विग्रह के सामने चिट्ठियाँ डालीं। उसमें भी यही आया कि जाना चाहिये। बस, फिर मैंने तत्काल तार दिलवाया और ट्रेन से रवाना हो गई। आपके श्री चरणों में पहुँच गई, अब मेरा मन शान्त हो गया।

श्री कृष्णाजी के श्री धाम आ जाने से श्री देवीजी को बहुत प्रसन्नता हुई। मुझे भी अच्छा लगा । ये भी श्री मोतीरामजी के आश्रय में रहने लगीं। इस प्रकार दोनों बहिनों का वृन्दावन-निवास हो गया।

श्री कृष्णाजी की स्मरण शक्ति बहुत तीव्र थी। श्री–जी का सत्संग सुनकर ये पूर्ण धारणा से ज्यों का त्यों लिख लेती थीं तथा श्री–जी के सत्संग-संग्रह में कौन सा सत्संग कौन से पृष्ठ पर है, यह बता देती थीं। श्री–जी के प्रति इनकी अद्वितीय निष्ठा है। कालान्तर में इनके स्वास्थ्य में बहुत गिरावट आई, वर्षों उपचार चलता रहा। अब तो ये प्रायः एकान्त में ही रह रही हैं।

❀

एक बहिन पर कृपा और मोद ग्राम में संकीर्तन

सन् १९४८, मार्गशीर्ष द्वादशी के दिन भक्तों के अति प्रेमाग्रह के कारण श्री–जी ने पुनः मुझे साथ लेकर मंडलेश्वर के लिये प्रस्थान किया। दूसरे दिन वहाँ पहुँचने पर श्री–जी के दर्शनों से भक्तों में फिर से आनन्द की लहर छा गई। ग्राम-ग्राम से भक्तवृन्द श्री–जी के दर्शनों के लिये एकत्र होने लगे एवं पुनः सत्संग और संकीर्तन की धूम मच गई। भक्तगण आग्रह पूर्वक श्री–जी को सपरिकर अपने-अपने ग्राम ले जाते और रात्रि सत्संग एवं संकीर्तन में व्यतीत होती। श्री महाराजजी सत्संग के साथ-साथ सरस मधुर हास-विनोद से उनके मन को मोहित कर लेते। उन्हें वे केवल महात्मा ही नहीं वरन् परम आत्मीय लगते।

इन दिनों मंडलेश्वर के पुराने राममंदिर में श्री रामकृपालुजी के भक्तों ने नित्य रात्रि संकीर्तन रखा हुआ था। भक्तों के निमन्त्रण पर श्री रामकृपालुजी की अनुयायी एक वृद्धा "जानी माँ" भी मंडलेश्वर आई थीं। इनके साथ महू के एक स्वर्णकार श्री मिश्रीलालजी की तीस-पैंतीस वर्षीया धर्मपत्नी भी आई थी। जानी माँ के साथ यह भी नित्य राममंदिर संकीर्तन में जाती थी। यह बहिन प्रति दिन सुन्दर-सुन्दर श्रृंगार कर, हाथ में करताल ले संकीर्तन के मध्य में खड़ी होकर नृत्य-कीर्तन और बीच-बीच में प्रेम-भावाविष्ट होकर रोने का अभिनय करती थी। अतः स्वाभाविक ही चर्चा का विषय बन गई। कुछ कुचेष्टित लोग कीर्तन के बहाने वहाँ जाने लगे। मंडलेश्वर के सभ्य समाज के द्वारा यह चर्चा श्री–जी के कानों में भी आई। उस बहिन का यह अमर्यादित व्यवहार श्री–जी तथा परिकर को भी नहीं रुचा। जब जानी माँ के साथ यह श्री–जी के दर्शनों के लिये आती तो श्री–जी सत्संग की भाषा में इसे समझाने की चेष्टा भी करते थे। परिणाम स्वरूप इसमें कुछ परिवर्तन भी प्रारंभ हुआ।

एक दिन मंडलेश्वर से चार-पाँच कोस की दूरी पर स्थित 'मोगाँव' के भक्त श्री–जी को सपरिकर अपने यहाँ ले गये। 'धरगाँव' के श्री नागेश्वर बाबा भी साथ गये। श्री जानी माँजी और यह सुनार पत्नी भी साथ हो गईं। भोले-भाले बहुसंख्यक ग्रामवासियों ने सपरिवार श्री–जी का परिकर सहित स्वागत

सत्कार किया। मध्याह्न भोजन के पश्चात् कुछ समय सभी ने विश्राम किया। ग्राम के विशाल प्रांगण में रात्रि संकीर्तन एवं सत्संग का आयोजन था। सभी ग्रामवासी स्त्री-पुरुष बड़ी संख्या में उपस्थित थे। प्रथम दो घण्टे जमकर कीर्तन हुआ। सभी तन्मयता पूर्वक कीर्तन करते हुए आनन्द विभोर हो रहे थे। इसके पश्चात् सत्संग होना था, अतः अनिच्छा पूर्वक संकीर्तन को विराम देना पड़ा।

मंगलाचरण के दो श्लोक गान करने के पश्चात् श्री–जी ने सत्संग प्रारंभ किया। लगभग चार सौ भक्तजन एकत्रित थे। सभी शान्ति एवं एकाग्रता से श्रवण कर रहे थे। श्री मांगीलालजी और मैं श्री–जी के पास ही बैठे थे। एक ओर श्री नागेश्वर बाबा थे तथा दूसरी ओर श्री जानी माँजी और वह सुनार पत्नी भी बैठी थीं। सत्संग पूर्ण गंभीरता से चल रहा था। श्री–जी भावाविष्ट हो अपनी मस्ती में बोलते जा रहे थे। सहसा वह बहिन उठी और मेरा उद्धार करो, मेरा उद्धार करो कहते हुए श्री–जी के चरणों में मस्तक रख कर फूट-फूट कर रोने लगी। श्री–जी ने धीरे से मुझसे कहा–इसे हटा लो। सत्संग में विघ्न होगा। परन्तु इस कृपा की लीला को मैं तटस्थ रूप से ही देखता रहा। उस बहिन का आज का व्यवहार अभिनय नहीं था, वह तो अपने आप से भी बेभान थी। श्री–जी ने जानी माँजी से पुनः उसे हटाने को कहा, पर वह भी अभिभूत सी बैठी रहीं। हटाओ, हटाओ कहते-कहते श्री–जी को भावावेश हो आया, सात्त्विक भाव जाग्रत होने लगे, जोरों से कम्प हुआ और उनका शरीर जमीन से चार हाथ ऊपर उछल गया तथा मूर्च्छावस्था प्राप्त हो गई। वह बहिन उछल कर दूर जा गिरी और फूट-फूट कर रोती रही। मैंने श्री–जी को सम्हाला। श्री–जी के इस भाव उन्मेष का प्रभाव भी पात्रतानुरूप कइयों पर पड़ा। श्री नागेश्वर- बाबा और श्री मांगीलालजी भाव संवरण नहीं कर सके। मांगीलालजी अपने को सम्हाल कर जाने लगे परन्तु द्वार तक जाकर ही मूर्च्छित होकर गिर गये। श्री नागेश्वर बाबा क्षण-क्षण में रोमांचित हो रहे थे। बड़ी कठिनाई से अपने को सम्हाल कर उठे और एकान्त में जाकर लेट गये।

इधर मेरी गोद में श्री–जी मूर्च्छावस्था में पड़े हुए थे। भक्तजन श्री–जी की भावस्थिति का दर्शनकर रहे थे। सहसा श्री–जी के मुख से एक मधुर आलाप लहराया। मैंने जल्दी से कागज पेंसिल सम्हाली। पद प्रारंभ

हुआ। यहाँ केवल प्रथम पंक्ति का ही संकेत कर रहा हूँ। सम्पूर्ण पद 'अलिभाव निर्झर' में संगृहीत है।[1]

"हंस पंक्ति मणि मुक्ता लड़ि लखि, लुब्ध वधू नित नव अनुराग।"

उधर उस बहिन की दशा विचित्र हो रही थी। वह अभी भी 'उद्धार करो' कहती हुई पड़ी-पड़ी रो रही थी। इसी दशा में उसने अपने कई श्रृंगार उतार कर फेंक दिये। जैसे-तैसे रात बीती। दूसरे दिन सपरिकर श्री–जी ने मंडलेश्वर के लिये प्रस्थान किया। इस बहिन को भी समझा-बुझाकर जानी माँजी के साथ गाड़ी में बैठाया। इसने शेष बचे हुए श्रृंगार, रुपयों का पर्स आदि गाड़ी के बाहर फेंकना आरंभ कर दिया। इसे अपने वस्त्रादि का भी भान नहीं था। अस्त-व्यस्त हो रहे थे। जिस-किसी प्रकार इसे सम्हालकर मंडलेश्वर लाये। इसका खान-पान बिल्कुल छूट गया। इसी स्थिति में इसे इसके पति श्री मिश्रीलालजी के पास महू पहुँचाया। कई लोगों ने सोचा इसे भूत लगा है। उन्हें क्या पता था कि इसे भूत लगा है या "नन्द का पूत" लगा है। बाद में सुना कि वह इसी स्थिति में बिना खाये-पीये घर में ही एकान्त में मग्न रही और चार मास पश्चात् प्रकृतिस्थ हुई। उसका शेष जीवन भी भक्तिमय हो गया।

श्री मोतीरामजी से पाठकगण अच्छी तरह परिचित ही हैं। मंडलेश्वर के निकट ही इनकी जन्मभूमि मोदग्राम है। श्री मोतीरामजी तो सन् १९५४ से ही पत्नी सहित वृन्दावनवास कर रहे थे, परन्तु इनके भाई महादेव पटवारी अपने परिवार सहित यहीं रहते थे। ग्राम के कुछ भक्त श्री–जी को प्रार्थना पूर्वक सपरिकर यहाँ ले आये। साथ में श्री नागेश्वर बाबा और श्री आनन्ददास बाबा भी गये। मिथिला-निवासी श्री आनन्ददास बाबा उच्च ब्राह्मण कुलोत्पन्न, सम्पन्न जमींदार परिवार के थे। कुछ वर्ष गृहस्थ जीवन यापन कर आप रामानन्दी सम्प्रदाय में दीक्षित हो, विरक्त रूप से इतस्ततः संकीर्तन प्रचार करते हुए भ्रमण करते रहते थे। मध्यप्रदेश में भी आपने संकीर्तन का बहुत प्रचार किया था, अतः यहाँ के लोग आपसे अच्छी तरह परिचित थे। कुछ दिनों से आप यहाँ आये हुए थे।

---

१ पद सं. २०३, पृष्ठ सं.१३७

उसी रात्रि को श्री महादेव भाई के यहाँ संकीर्तन एवं सत्संग हुआ। इसकी चर्चा आस-पास के ग्रामों में बिजली की तरह फैल गई और ग्राम-ग्राम से भक्तवृन्द दर्शनों के लिये आने लगे। संध्या समय श्री–जी महादेव भाई के यहाँ श्री आनन्ददास बाबा, श्री नागेश्वर बाबा, माँगीलालजी, मैं और और भी दो-चार भक्तों सहित बैठे हुए कुछ भगवत चर्चा में संलग्न थे। इसी समय करोंद्याग्राम से आने वाली भक्तमंडली की घड़ी,घण्टाल, शंख तथा कीर्तन की सुमधुर ध्वनि कानों में पड़ी। सुदूर से सुनाई देने वाली कीर्तन-ध्वनि सुनकर श्री–जी बार-बार रोमांचित होने लगे। वे आनन्दित तथा द्रवित हो गये और प्रेमपूर्वक उनका स्वागत करने के लिये आतुर हो उठे। **अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः** के मूर्तिमान स्वरूप श्री महाराजजी के हृदय को तो "मैं सन्त हूँ" यह भावना स्पर्श भी नहीं करती थी। सरलता ही आपका भूषण एवं प्रेम ही आपका वैभव था। आप तो सुदूर श्रवणगोचर होने वाली उस संकीर्तन ध्वनि से श्रीमन्महाप्रभु की कीर्तन भावना में तन्मय हो गये। हृदय में प्रेम का समुद्र उमड़ रहा था, आप उनके स्वागतार्थ अपनी भाव लहरियों का संयम कर रहे थे। जैसे ही संकीर्तन करते हुए करौंद्याग्रामवासी बहुसंख्यक लोग द्वार पर आये, श्री–जी सहसा खड़े होकर उनके स्वागतार्थ आगे बढ़े। दोनों ओर प्रेम की तरंगें उठने लगीं। प्रेमोपहार से श्री–जी ने उनका स्वागत किया। श्री आनन्द-दास बाबा तथा श्री नागेश्वरबाबा इन अमानी सन्त के इस अलौकिक प्रेम व्यवहार को आश्चर्यपूर्वक अवाक् से निहारते हुए खड़े हो गये। उनके लिये यह सर्वथा नया ही अनुभव था। सच ही कहा है–महापुरुषों का आचरण ही शिक्षा तथा प्रेरणाप्रद होता है। इन दोनों की श्रद्धा भी श्री महाराजजी के आज के इस स्वरूप को देखकर कई गुना बढ़ गई एवं ये कई दिनों तक श्री–जी के सान्निध्य का लाभ लेते रहे।

उज्जैन में श्री महाराजजी

एक बार सन् १९४६ में भक्तवृन्द के आग्रह पर श्री महाराजजी मंडलेश्वर आये हुए थे। मैं और श्री देवीजी भी साथ थे। श्री–जी के यहाँ आते ही भक्तों के घर संकीर्तन तरंगिणी का अजस्र प्रवाह बह निकलता। श्री हरिभाऊ पटवारी (श्री–जी के परम कृपापात्र भक्त) के यहाँ भी प्रायः संकीर्तन होता रहता था। ये सन् १९४६ में ही विरक्त होकर श्रीधाम वृन्दावन चले आये और अपना शेष जीवन श्री–जी के चरणाश्रय में ही व्यतीत किया। प्रसंगानुसार इनके विषय में विस्तृत विवरण पाठकगण पढ़ेंगे ही। महेश्वर की श्री अवन्तिकाजी (प्रधानाध्यापिका) इन दिनों उज्जैन में अपने भाई के पास गई हुई थीं। श्री–जी के मंडलेश्वर आगमन की सूचना पाकर इन्होंने पत्र द्वारा उनसे उज्जैन आने की प्रार्थना की। श्री–जी ने भी इन्हें स्वीकृति प्रदान की और कुछ दिन मंडलेश्वर में रहकर, हमें साथ ले उज्जैन चले गये। श्री अवन्तिकाजी बहुत प्रसन्न हुईं। इनके भाई सम्पन्न थे। उज्जैन में इनकी विशाल कोठी थी। इन्होंने परम आदर से श्री–जी का स्वागत किया।

उज्जयिनी की गणना सप्त पुण्य पुरियों में है। भारत के प्रसिद्ध द्वादश ज्योतिर्लिंगों में एक श्री महांकालेश्वर भगवान् यहाँ विराज रहे हैं। इनका नित्य चिता-भस्म का लेपन होता है। यह विशाल शिवालय क्षिप्रा नदी के तट पर विराजित है। श्री अवन्तिकाजी ने श्री–जी को श्री महांकालेश्वर ज्यातिर्लिंग के दर्शन कराये। उनके दर्शन कर श्री–जी बहुत ही प्रसन्न हुए।

अवन्तिकाजी के भाई की कोठी में उनके साधुवेषी चाचा, जो पच्चीस वर्षों से विरक्त होकर घूमते रहते थे और उनके एक फकीर मित्र श्री–जी के सामने वाले कमरे में ही ठहरे हुए थे। ये दोनों यहाँ सिद्ध रूप से पूजित थे। पास वाले एक कमरे में एक हस्तरेखा शास्त्री पंडित, जो अंग्रेजी भाषा के भी विद्वान् थे, ठहरे हुए थे। श्री–जी को देखकर उनके मन में श्री–जी की हस्तरेखा देखने की इच्छा हुई। श्री–जी अपने कमरे में लगे हुए झूले पर विराजित थे। पंडितजी उनके दर्शनार्थ कमरे में आये। वे प्रणाम कर सामने बैठ गये और अपनी अभिलाषा प्रगट की। श्री–जी ने मुस्कराते हुए अपना दाहिना हाथ आगे कर दिया। हाथ देखते ही वे चौंककर बोले–आप तो

उच्चकोटि के महापुरुष हैं। ऐसा हाथ मेरे देखने में कभी नहीं आया। और भी बहुत सी बातें कहकर वे प्रणाम करके चले गये। इन ज्योतिषीजी ने जाकर उन महात्मा और फकीर के समक्ष श्री—जी की भूरि-भूरि प्रशंसा की। वे दोनों भी कुतूहलवश श्री—जी के दर्शनों के लिये आये और परीक्षा की दृष्टि से गीता के आधार पर कुछ प्रश्न किये। श्री—जी ने गम्भीरता पूर्वक उन्हें उत्तर दिये। कुछ समय बैठ कर वे अपने कमरे में चले गये।

श्री महाराजजी कुछ समय तक गम्भीर मुद्रा में ही बैठे रहे। कुछ ही क्षणों में उन में भावावेश के लक्षण दीखने लगे। नेत्र अरुणिम हो गये और भावमत्तता दृष्टिगोचर होने लगी। भावावेश में ही वे सहसा उठकर खड़े हो गये और लड़खड़ाते चरण रखते हुए दरवाजे से बाहर की ओर जाने लगे। मैंने एक ओर से बाँह थाम ली थी। मस्ती भरे, झूमते हुए आपने उस साधु तथा फकीर वाले कमरे में प्रवेश किया और भावोन्मत्त स्थिति में ही उनसे कहने लगे—उत्तर, उत्तर चाहते हो, सुनो—उत्तर सुनो। श्री—जी की भाव-गम्भीर स्थिति को देखकर वे दोनों घबड़ा गये और भयभीत हो जड़वत् कुछ क्षण श्री—जी के मुख की ओर देखते रहे, परन्तु अधिक समय तक भाव को सहन न कर सके और डरते-काँपते जल्दी से कमरे से बाहर भाग गये। वास्तविकता यह थी कि इन दोनों का जीवन अन्दर से ठीक नहीं था। ये मदिरापान, अभक्ष्य-भक्षण तथा अनाचार में प्रवृत्त थे। श्री—जी अपनी अन्तर्दृष्टि से इनको समझ गये थे। मैं बाँह पकड़ कर श्री—जी को अपने कमरे में ले आया, परन्तु आपको भाव-मूर्च्छा हो गई। इस स्थिति में आपके मुख से यह पद स्फुरित हुआ जो 'अलिभाव निर्झर' में संगृहीत है।[1]

विषय ग्राह भवाम्बुधि भँवरी, बहत तृषित बेचैंन,
माधव बहत तृषित बेचैंन।
अरुण सुन्दर सुश्यामल शीतल, मोहन कर मम सैंन।। माधव।
श्रवण दिशि दिशि पल पल वंशी, अमिय मधुर रस बैंन,
श्याम तव अमिय मधुर रस बैंन।
दमन दारुण दुख करुणा नलिनी दल निज नव रस नैन।। माधव।

१. पद सं. १८२, पृष्ठ सं.११३

गिरिधर मदन गोपाल लाल यश, रसना नित दिन रैन।
कब वह समय मनोरथ पूरण, मंगल अलि पद दैन।
माधव तृषित बहत बेचैन।। माधव।।

इसके पश्चात् वे दो तीन दिन वहाँ रहकर पुनश्च मंडलेश्वर आ गये।

श्री गिरिजादेवी को भगवत् संकेत

श्री गिरिजादेवी का जीवन-चरित बहुत ही विचित्र है। यदि संक्षेप में भी लिखें तो हजार पृष्ठ सहज ही लिखे जा सकते हैं। इनके जीवन-चरित का सम्बन्ध द्वापर युग से जुड़ता है। यहाँ तो जितना अपेक्षित है, उतना ही अंश देने की चेष्टा की जा रही है।

बिहार प्रान्त में जिला आरा के अन्तर्गत जमीरा नामक ग्राम है। श्री गिरिजादेवी के पति श्री मृत्युंजयप्रसादसिंह इस गाँव के जमींदार थे। बहुत बड़ी जमींदारी होने से वे वहाँ के राजा ही कहलाते थे। वे उच्च क्षत्रिय कुल के थे और चित्तौड़ के श्री मीरा के परिवार से इनका सम्बन्ध था। श्री गिरिजा देवी में जन्मतः ही भक्ति का अंकुर था। बचपन से ही अनजाने में ये किसी अज्ञात वस्तु के लिये व्याकुल हो जाती थीं। पति का इन पर अगाध प्रेम था। सेवा में दास-दासियाँ भी बहुत थीं। इन्हें कभी एक गिलास पानी भी अपने हाथ से लेने का अवसर नहीं आया। इतना ऐश्वर्य होने पर भी इन्हें किसी अज्ञात के लिये फूट-फूट कर रोना आता था। ये कहती थीं—"हमें घर की कोई भी सुख-सुविधा सुहाती नहीं थी। दास-दासियों तथा परिवार जनों से घिरी रहने के कारण रोने का भी अवसर नहीं मिलता था। इससे मैं शौचालय या स्नानघर में जाकर खूब रो लेती थी। सोचने पर भी पता नहीं चलता था कि मुझे रोदन क्यों आ रहा है ? "

इनके दो पुत्र और दो कन्यायें थीं। छोटा पुत्र पाँच वर्ष का होकर पधार गया। गिरिजाजी कहती थीं कि इनका यह पुत्र गौरांग महाप्रभु के सदृश सुन्दर एवं गौर वर्ण का था। दूसरा बड़ा पुत्र भी विवाह के एक वर्ष पश्चात् पधार गया। इनके वियोग में इन्हें ऐसा विरह व्याप्त हुआ कि [illegible]

दो वर्षों तक रोती रहीं। इन दिनों इन्हें खान-पान तथा संसार की सुधि भी नहीं रहती थी। बस, दोनों पुत्र मूर्तिमान से सामने दीखते रहते थे। इनके कुलगुरु में किसी अज्ञात शक्ति का प्रवेश हुआ और वे इन्हें प्रतिदिन श्रीमद् भागवत सुनाने लगे, परन्तु ये पुत्र-वियोग में खोई हुई जड़वत् बैठी रहती थीं। श्रीमद्भागवत के शब्द कानों में प्रवेश नहीं कर पाते थे, फिर भी गुरुजी नियम पूर्वक कथा सुनाते ही रहे। इस प्रकार दो वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन कथा में गुरुजी श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-माधुर्य का वर्णन कर रहे थे कि उसी मध्य इन्हें श्रीकृष्ण के दर्शन हुए। उस दिन से इनका पुत्रशोक तो दूर हो गया परन्तु श्रीकृष्ण के लिये विरह जाग्रत हो गया। पूर्व के अज्ञात विरह का प्रत्यक्ष रूप प्रकट हो गया। यह भेद इनसे भी छिपा न रहा और इस स्थिति में इन्हें जमीरा में रहना असह्य हो गया। कुछ काल पश्चात् ये श्रीधाम वृन्दावन चली आईं। इस समय इनकी अवस्था पचास साल की थी और इनमें एक अद्भुत भगवदीय तेज झलकता था। ये श्रीराधारमण घेरे में किराये पर मकान लेकर रहने लगीं। श्रीधाम आने पर इन्हें अपने पूर्व के अठारह जन्मों का भान हो गया।

अब श्री गिरिजादेवी की स्थिति इस प्रकार की थी कि श्रीकृष्ण इनके पास निरन्तर ही रहने लगे। खाते, पीते, सोते, बैठते, घूमते हुए हर समय श्रीकृष्ण के साथ रहने का इन्हें अनुभव होता था। तीन वर्ष तक इनकी यह स्थिति रही। इसके पश्चात् न जाने क्या खेल करना था उस छलिया को, वही जाने ! अब वे इनके निकट तो आते पर कुछ दिन रहकर फिर अदृश्य हो जाते। ये पुनः अगाध विरह में मग्न हो जातीं। वे पुनः प्रगट हो जाते। बीच-बीच में दो-तीन दिनों के लिये भी श्रीकृष्ण का अदृश्य हो जाना इन्हें असह्य हो जाता था। पूरी रात्रि रोते-रोते इनका तकिया भीग जाता। इनकी यह स्थिति हमने अपनी आँखों से देखी है। एकबार इनके दुःखी मन में विचार आया कि–"सुना है, ये अपने प्रिय भक्त के पास सदा रहते हैं। यदि मुझे वृन्दावन में इनका सबसे प्रिय भक्त मिल जाये तो मैं उनसे श्रीकृष्ण को सदा के लिये माँग लूँ, कारण श्रीकृष्ण ऐसे भक्तों के अधीन रहते हैं।"

इनके भोले मन में यह विचार आया ही था कि श्रीकृष्ण को इनके साथ कुछ कौतुक करने की सूझी। श्रीकृष्ण ने उसी रात्रि इन्हें स्वप्न में बताया

कि सेवाकुञ्जमें श्री बालकृष्णदासजी नाम के मेरे सबसे अधिक प्रिय प्रेमी भक्त रहते हैं। तुम वहाँ जाओ। बस! श्री गिरिजाजी के आनन्द की सीमा नहीं रही। वे सोचने लगीं कि अब तो मैं श्रीकृष्ण को सदा के लिये उनसे माँग लूँगी। सुबह होते ही ये निकल पड़ीं खोज में। सेवाकुञ्ज में आकर कई घण्टे घूमकर ये पता लगाती रहीं परन्तु कुछ भी पता न लगा।

श्री–जी श्रीधाम में सदा अव्यक्त रूप से ही रहते थे। जनसम्पर्क से सदा अलग रहने से बहुत ही कम इने-गिने लोग ही आपको जानते थे। प्रसिद्धि तथा मान-सम्मान से आप सदा कोसों दूर रहे तथा इसी भय से आपने किसी सम्प्रदाय से, स्थानधारी महन्तों से तथा धनियों से सम्पर्क भी नहीं रखा। श्री महाराजजी सदा एकान्त में ही रहना पसन्द करते थे, इसीलिये ढूँढने पर भी श्री गिरिजाजी को उनका पता नहीं चला और वे निराश होकर घर लौट आईं। दूसरे दिन इसी दुःख में अपने कमरे में बैठी रो रही थीं कि एक महिला इनसे मिलने आईं। श्री गिरिजाजी ने अपने स्वप्न की बात उन्हें सुनाई। सुनते ही वे बोलीं–इन महात्मा को तो मैं अच्छी तरह जानती हूँ। बड़े उच्च-कोटि के छिपे हुए सरल कृष्णानुरागी सन्त हैं। उन महिला का नाम रामायणी था और श्री–जी के प्रति उनकी बहुत श्रद्धा थी। वह बहुत वर्षों से श्री–जी से परिचित थीं। उन्होंने कहा–मेरे साथ चलो, मैं तुम्हें उनके दर्शन करा दूँगी। अब तो गिरिजाजी के प्राण में प्राण आ गये और एकदम उठकर खड़ी हो गईं। वह इन्हें गंगामंदिर ले आईं। श्री–जी मंडलेश्वर गये हुए थे। अतः श्री मोती-रामजी, माँजी और देवीजी से ही इनका मिलन हुआ। बेचारी गिरिजाजी फिर निराश होकर लौट गईं। यह लगभग १६४६ की बात है।

आठ दिन पश्चात् फिर इस छलिया ठाकुर ने इनसे स्वप्न में कहा कि वे सन्त अब आ गये हैं। ये प्रातःकाल पुनः आतुरता से गंगामंदिर पहुँचीं। श्री–जी बैठे हुए थे। ये भी प्रणाम करके सामने बैठ गईं। श्री–जी ने इनसे आने का कारण पूछा। इन्होंने सभी घटित घटना सुनाई। श्री–जी ने हँसते हुए कहा–"मुझे तो श्रीकृष्ण ने कोई आदेश नहीं दिया।"

श्री गिरिजाजी अब नित्य ही श्री–जी के दर्शनों के लिये आने लगीं। ये दूर से ही श्री–जी को प्रणाम करके बैठ जातीं। इनका नियम था पति के

अतिरिक्त किसी परपुरुष का चरणस्पर्श न करना। अतः इनके मन में संकोच बना रहता।

एक दिन श्रीकृष्ण ने स्वप्न में इनसे कहा—तू उन्हें पुरुष समझती है ? देख तो...........इन्होंने देखा............यमुना पुलिन पर सघन वनस्थली से घिरी हुई एक विशाल सुन्दर रास-स्थली है। बाहरी द्वार पर एक वृद्ध द्वारपाल बैठा हुआ है। रास-स्थली के पीछे लता-भवन में एक सुन्दर शृंगार कक्ष है। उसके बाहर श्री—जी बैठे हुए हैं। श्री गिरिजाजी ने द्वारपाल से पूछा—यहाँ क्या है ? द्वारपाल ने कहा—मुझे क्या मालूम ! ललिताजी से क्यों नहीं पूछती हो ? गिरिजाजी ने कहा—कौन ललिताजी ? कहाँ है ललिताजी ? द्वारपाल ने कहा—आज क्या वृन्दावन में नई आई हो और श्री—जी की ओर संकेत करके बोला—ये कौन हैं ? देखती नहीं हो ? गिरिजाजी ने कहा—ये तो महाराजजी हैं। द्वारपाल बोला—कौन महाराजजी ? इतने में ही श्री—जी शृंगार कक्ष में जाकर क्षणार्ध में ही बाहर आ गये और गिरिजाजी ने ज्यों ही दृष्टि उठाई तो देखा—सुन्दर किशोरी अवस्था में श्रीललिताजी के स्वरूप में श्री—जी ही नख शिख शृंगार से सजे हुए खड़े हैं। द्वारपाल ने श्री ललिताजी की ओर देखा। श्री ललिताजी ने द्वारपाल से कहा—मैं रास में जा रही हूँ और चली गईं। श्री गिरिजाजी ने श्री—जी को ललिता-स्वरूप में देखा और वही स्वरूप इनके नेत्रों में बस गया।

प्रातःकाल जब ये गंगामंदिर आईं तो इन्होंने प्रत्यक्षतः श्री—जी को ललिता-स्वरूप में देखा। अब तो इनकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। सोचने लगीं—ललिता श्रीकृष्ण की सबसे प्रधान और प्रियसखी है। अब तो श्रीकृष्ण मुझे सदा के लिये मिल ही जायेंगे। बस, इनका सब संकोच दूर हो गया। अब ये निःसंकोच श्री—जी के चरण-स्पर्श करने लगीं। चरण-स्पर्श ही नहीं—ये अब नित्य गंगामंदिर आतीं तो श्री—जी के केशों में तेल डालतीं, कंघा करतीं। ये अब श्री—जी को सदा ही ललिता रूप में ही देखती थीं। इसी प्रकार तीन-चार मास बीत गये।

एक दिन श्री गिरिजाजी श्री राधारमणजी मंदिर के परिक्रमा मार्ग में जा रही थीं कि सामने से एक अपरिचित व्यक्ति आकर कहने लगा—आपको

कहीं बाहर जाना पड़ेगा। गिरिजाजी ने पूछा—कहाँ ? उसने कहा—समय पर ही ज्ञात हो जायेगा। ये सोचने लगीं—बाबा-रे-बाबा ! हमें बाहर कहाँ जाना पड़ेगा ! हम तो वृन्दावन से बाहर कहीं जाना नहीं चाहतीं।

इस घटना के आठ दिन पश्चात् ही श्री—जी का विचार अचानक मंडलेश्वर जाने का बन गया। श्री देवीजी ने भी साथ चलने की इच्छा प्रगट की। जब सुबह श्री गिरिजाजी नित्य के अनुसार गंगामंदिर आईं तो श्री—जी ने इनसे कहा—आज ही आपको हमारे साथ मंडलेश्वर चलना है। गिरिजाजी ने पूछा—कब चलना है ? श्री—जी ने कहा—दो घण्टे में तैयार हो जाइये। गिरिजा जी ने कहा—मेरे पास खर्चा समाप्त हो चुका है। अभी घर से आया नहीं है। मात्र पाँच-दस रुपये पड़े होंगे। श्री—जी ने कहा जितने हों उतने ही लेकर आ जाइये। तुरंत गिरिजाजी घर गईं। चिन्ता में खड़ी थीं कि श्रीराधारमणजी (ठाकुरजी) ने इनका हाथ झटक कर कहा—"पेटी खोल तो सही।" इन्होंने पेटी खोली तो क्या देखती हैं कि कपड़ों के ऊपर ही नये-नये दस-दस के अस्सी रुपये के नोट बिछे रखे हैं। इन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। यह श्री—जी की ही लीला है, समझकर ये रुपये और पहनने के कपड़े लेकर गंगामंदिर आ गईं। उस समय मंडलेश्वर का किराया मात्र नौ रुपये लगता था। बस, हम चारों उसी दिन श्रीधाम से रवाना हो गये और दूसरे दिन मंडलेश्वर पहुँच गये। भक्त-वृन्द में आनन्द छा गया और सत्संग-कीर्तन पूर्ववत् ही धूम से होने लगा।

मंडलेश्वर से लगभग दस-बारह कोस पर बलकवाड़ा नामक एक ग्राम है। इन दिनों श्री नारायणरावजी, जिनसे आप श्री—जी की प्रथम मंडलेश्वर यात्रा के समय से ही परिचित हैं, यहीं मुन्सरिम थे। ये श्री—जी के अनन्य भक्त और प्रधान श्रोता थे। भक्तों ने इन्हें परीक्षित की उपाधि दी थी। इनसे ही ग्रामवासियों ने श्री—जी के कीर्तन एवं सत्संग की महिमा सुनी थी। तभी से ग्रामवासियों को श्री—जी के दर्शनों की इच्छा थी। अब श्री—जी मंडलेश्वर आये हैं, पता लगते ही इन्होंने उन्हें अपने ग्राम में ले जाने का विचार किया। नारायणरावजी को आगे करके वे श्री—जी के पास गये और बलकवाड़ा चलने की प्रार्थना की। स्वीकृति मिलते ही उन्होंने श्री—जी को ले जाने की तैयारी की। नर्मदा के दक्षिण तट से कुछ कोस बस द्वारा गये। आगे कच्चा रास्ता

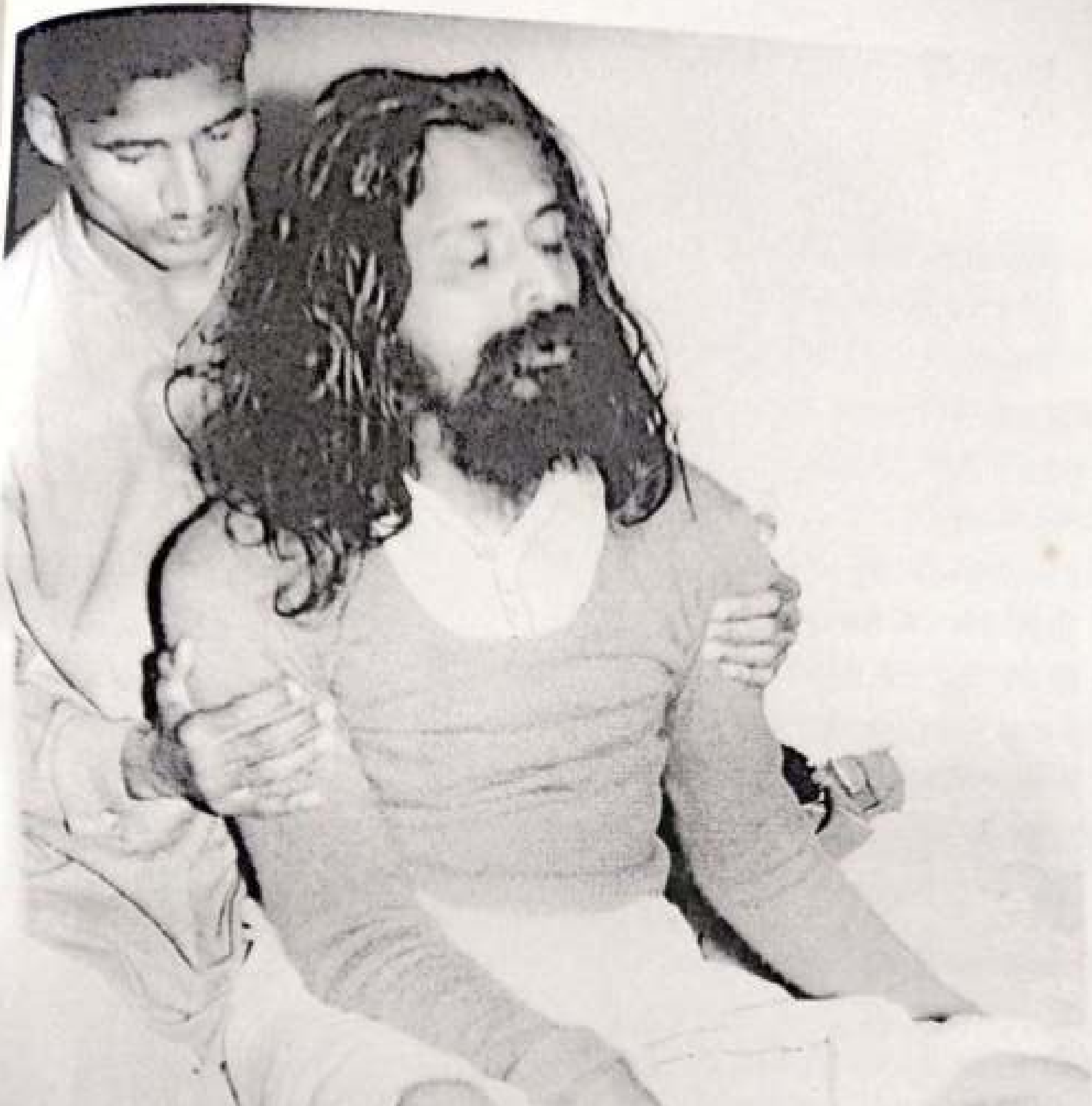
होने से ग्रामवासियों ने चार बैलगाड़ियाँ सजाकर तैयार कर रखी थीं। उन्हीं में यात्रा की। मंडलेश्वर के कुछ भक्त भी साथ थे। बैलगाड़ियाँ श्री–जी को लेकर जैसे ही ग्राम की सीमा पर पहुँची, वहाँ पहले से ही उपस्थित जनों ने सामूहिक रूप से जय-जयकार की तुमुल ध्वनि से श्री–जी का स्वागत किया और कीर्तन करते हुए निवासस्थान पर ले गये। दिन में प्रसाद का विशाल आयोजन था और रात्रि में बड़ी धूम से कीर्तन हुआ। दूसरे दिन एक भक्त ने अपने यहाँ श्री–जी को आमन्त्रित किया। उसके यहाँ श्री–जी का सत्संग हो रहा था। श्रोतागण मन्त्रमुग्ध से बैठे थे। गिरिजाजी भी सामने ही बैठी हुई थीं। सत्संग मानव जन्म की सफलता को लेकर हो रहा था–"श्रीकृष्ण मिलन के लिये सम्पूर्ण सृष्टि की सुव्यवस्था है। हमें श्रीकृष्णमिलनार्थ ही सुरमुनि दुर्लभ सर्वोत्तम मानव-जन्म सुलभतया प्राप्त है। वे सर्वदा सम्मुख, मिलन के लिये प्रतीक्षा करते रहते हैं। ऐसा सुअवसर है हमारे लिये, हम उन्हें अवकाश ही नहीं देते। वे अनादि काल से भुजा फैलाये हुए हमारे अति निकट, नेत्रों के सम्मुख खड़े हैं, पर हम देखते ही नहीं उनकी ओर।" जैसे ही श्री–जी ने कहा–"नेत्रों के सामने भुजा फैलाये खड़े हैं कि गिरिजाजी को श्री–जी में ही श्रीकृष्ण-रूप दीखने लगा। वह चौंक गईं और सोचने लगीं कि अभी तक तो मैं ललिता-स्वरूप में इन्हें देखती थी। इससे मुझे आशा हो गई थी कि ललिताजी की कृपा से शीघ्र ही श्रीकृष्ण मेरे अधीन हो जायेंगे, परन्तु अब इस श्रीकृष्ण रूप से मैं क्या आशा करूँ ? यह विचार आते ही श्री गिरिजाजी व्याकुल हो गईं।

इसी प्रकार एक दूसरे भक्त के यहाँ सत्संग हो रहा था। गिरिजाजी सम्मुख बैठी हुई थीं। सहसा इनके मन में विचार आया कि मेरे एक कुल-गुरु तो आरा में हैं, दूसरे गुरु रूप ये भी हैं, दोनों में से किसको मानूँ ? यदि दोनों में अभिन्नता हो तो वे गुरुजी 'भज गोविन्दं, भज गोविन्दं' कीर्तन गाते थे। वही कीर्तन इनके मुख से अभी निकले तो समझूँगी कि दोनों एक ही हैं। गिरिजाजी ने इतना सोचा ही था कि श्री–जी के मुख से यही कीर्तन प्रारंभ हुआ। श्री गिरिजाजी अति आश्चर्य-पूर्वक श्री–जी की ओर देखने लगीं। एक बार वृन्दावन में भी वे श्री बिहारीजी के दर्शन कर रही थीं, सहसा क्या देखती

है कि श्री बिहारीजी के मुखारविन्द में श्री–जी का मुख दीख रहा है। गिरिजाजी के मुख से बड़ी जोर से चीख निकली और बोलीं–अरे बाप रे! कई लोग जो पास खड़े थे सोचने लगे–इन्हें क्या हो गया है? इस प्रकार इनके साथ कई घटनायें हुईं। एक माह मण्डलेश्वर रहकर पुनश्च श्रीधाम लौट आये।

एकदिन श्री गिरिजाजी वृन्दावन में अपने घर में ही आँखें बन्द किये बैठी हुई थीं। उनके नेत्रों से अश्रुप्रवाह हो रहा था। उस समय श्री–जी मण्डलेश्वर में थे। इसी स्थिति में इन्होंने देखा कि श्री–जी आये हैं। इनके पास आकर वे इनके नेत्रों पर फूँक मारने लगे। श्री गिरिजाजी चौंककर श्री–जी के हाथ पकड़ने को हुईं पर आँखें खुलते ही देखा कि वहाँ पर कोई नहीं है, परन्तु सारे कमरे में एक सुगन्ध महक गई, जिसमें उनके सारे वस्त्र और शरीर भी सुगन्धित हो गये हैं। संध्या समय जब वह श्री राधारमणजी के दर्शन करने गईं तो वहाँ के गोस्वामीजी ने कहा–माताजी! आप इतनी वृद्धा होकर, इतना ऊँचा इत्र लगाती हैं? ये क्या उत्तर देतीं, मुस्कराकर चुप रह गईं। यह सुगन्ध इनके वस्त्रों में तीन दिन रही।

गिरिजाजी के मकान के पास एक प्रौढ़ा, भावुक हृदय की महिला रहती थीं। इनके पास ठाकुर-सेवा थी। सेवा में अत्यधिक रुचि होने से महीने में चार दिन अस्पृश्य स्थिति में सेवा से वंचित रहने का इन्हें बहुत दुःख होता था। कई बार श्री गिरिजाजी के पास अपनी वेदना प्रकट कर बहुत दुःखी होती थीं। एक दिन श्री–जी गिरजाजी के यहाँ प्रसाद पाने आये हुये थे। प्रसाद पाने के पश्चात् गिरिजाजी ने श्री–जी की थाली से उच्छिष्ट प्रसाद लेकर उसको दिया और कहा–जो भी इच्छा हो, स्मरण करके प्रसाद पा लो। उसे तो बस यही सेवा से वंचित रहने का दुःख था, उसने उसी बात को स्मरण कर प्रसाद पा लिया। उस समय से वह इस बन्धन से सदा के लिये मुक्त हो गईं। इस प्रकार श्री गिरिजाजी के साथ कई घटनाएँ घटित हुईं।



भावावेश (सन् १९५६) : घनश्यामजी सम्हालते हुए

भावस्थिति की कुछ घटनाएँ

व्रज की प्रसिद्ध होली जगत् विदित ही है। इसमें भी श्री हरिदासजी के लाड़िले श्री बिहारीजी तो एकादशी से पूर्णिमा तक सतत पाँच दिन बड़ी धूम से होली खेलते हैं। बरसाने की लट्ठमार होली तथा वृन्दावन में श्री बिहारीजी की रंगीली होली देखने और उसके रंग में भीगने के लिए प्रतिवर्ष हजारों भावुक-भक्त भारतवर्ष के कोने-कोने से यहाँ आते रहते हैं। इस वर्ष भी बहुत यात्री आये हुए थे। श्री महाराजजी को इस रंग बौछार से भीगने में बहुत आनन्द आता। आप पाँचों ही दिन दोनों समय श्री बिहारीजी के दर्शन के लिए जाते थे और रंग से खूब भीगकर गंगामंदिर आते थे। यदि किसी दिन आप पर रंग कम पड़ता था तो आप उदास हो जाते थे। इस वर्ष भी यही स्थिति रही परन्तु कई महीनों से भावावेश चल रहा था, इससे कुछ अन्तर अवश्य आता था। अन्तर्जगत् में तो आप स्वयं ही लीला-निमग्न रह रहे थे, इस बात को पृथक् कहने की आवश्यकता नहीं। होली के अवसर पर श्री–जी के जो भी परिचित आते, वे उनके दर्शनार्थ भी गंगामंदिर में आते थे।

आगरा के डॉ. सरीन भी श्रीधाम आये हुये थे। इनकी श्री–जी में बहुत निष्ठा थी। ये श्री–जी के दर्शनार्थ गंगामंदिर में आये। उस समय श्री–जी भावस्थिति में ऊपर वाले कमरे में बैठे हुए थे, इसलिये मैंने डॉ. साहब को नीचे ही बैठा लिया। श्री–जी कमरे की ऊपर वाली सीढ़ी पर एक घुटना जमीन पर टिकाये तथा दूसरा खड़ा किये, वाम करतल पर कपोल रखे हुए बैठे हुए थे। नेत्रों से सावन-भादों की झड़ी सी अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। मैं डॉ. साहब से बातें कर रहा था कि इतने में धड़ाम से आवाज आई। एक दम उठकर देखा तो श्री–जी सात सीढ़ी लुढ़ककर अन्तिम सीढ़ी पर दोनों कपाटों के बीच में फँसे हुए मूर्च्छित पड़े हैं। दरवाजे में शरीर टेढ़ा-मेढ़ा होकर ऐसा फँस गया था कि दो व्यक्तियों ने बड़ी कठिनाई से निकाला और उठाकर श्री–जी को गद्दी पर लिटा दिया। यह मूर्च्छा लगभग एक घण्टा रही।

यहाँ एक बात स्मरणीय है कि लगभग सौ वर्ष पूर्व श्री राधारमण चरणदासजी महाराज जो श्री रामदासजी बाबा के गुरु और श्री गौरांगदास

बाबा के दादा गुरु थे, राणापति घाट के निकट स्थित इसी गंगामंदिर में ठहरे थे, यह वर्णन उनके जीवन चरित (चरित सुधा) में लिखित है। श्री नवद्वीप धाम में ही आपका निवास रहा। सम्पूर्ण बंगाल तथा वृन्दावन आपके चरित्र से परिचित है। ऐसे महापुरुष के परमाणु गंगामंदिर में व्याप्त थे।

जैसा कि आप पढ़ चुके हैं श्री–जी को सदा बाहरी व्यक्तियों से न मिलने में ही प्रसन्नता रहती। परिचय बढ़ाना आपकी रुचि के विरुद्ध था। यदि कोई प्रसंगवशात् आ ही गया तो आप इधर-उधर की एक-दो बातें करके उसे टालने की ही चेष्टा करते या किसी बहाने स्वयं ही वहाँ से चले जाते। आपका कहना था कि–"मुझे बहुजन-सम्पर्क की आवश्यकता नहीं है। मेरे पास एक ही व्यक्ति आये, पर हो जिज्ञासु, पथ में चलने का प्यासा। मैं कौतूहलवश दर्शन करने आने वालों से परिचय बढ़ाना नहीं चाहता। मुझे प्रसिद्धि की कामना लेश मात्र भी नहीं है। मैं भगवत्-प्राप्त संत की पूर्णता की विशेषता तभी मानता हूँ, जब किसी एक जीव को भी भगवत्-चरणों में पहुँचा दें।" आप सतत ही अपने अन्तर्जगत् की स्थिति में ही रहा करते थे। किसी से वार्ता कर रहे हों, किसी से हँसी-विनोद कर रहे हों, तो भी आपकी तन्मय स्थिति स्पष्ट ही देखने में आती थी। कभी-कभी हास्य-विनोद करते-करते ही आपकी भावाविष्ट स्थिति हो जाती। कभी किसी से वार्ता कर रहे होते तो एकदम कहते–'पेंसिल देना' और पेन्सिल लेकर दीवार पर ही स्वरचित पद लिख डालते। नवीन व्यक्ति के लिये यह बात समझना अति कठिन है। आपकी प्रकृति-बाह्य स्थिति सदा ही देखने में आती थी।

ऐसे ही एक दिन आप दोपहर के समय गंगामंदिर के प्रांगण में टहल रहे थे, सहसा भावावस्था के चिह्न दीखने लगे, नेत्र अरुणिम हो गये, कुछ क्षण स्थिर खड़े हो गये और एकदम सबको बड़ी जोर से डाँटने लगे। पास में पड़ी हुई लाठी उठा ली और मारने को उद्यत हो गये। आप यह सब भाव की स्थिति में ही कर रहे थे, कारण कि डाँटने में या लाठी उठाने में क्रोध नहीं दीख रहा था। आज इस भाव की यह नवीन अटपटी स्थिति देखकर हमें तो हँसी आ रही थी। आपने सब वस्त्र उतार दिये, एक टाट का टुकड़ा कमर में लपेट लिया और एक टुकड़ा उठाकर ओढ़ लिया। केशों की जटा सी सिर पर बाँध ली और

एक बड़ा सा लोटा लेकर, अत्यधिक क्रोध का भाव प्रकट करते हुए "मैं चला जाता हूँ" कहकर द्वार से बाहर निकल गये और यमुना तट की ओर जाने लगे। हमने रोकने का प्रयत्न किया तो बड़ी नाराजी से कहने लगे–चले जाओ, नहीं तो मेरे हाथ का थप्पड़ लग जायेगा। हमें भय तो नहीं लगा, कारण हम आपकी भावस्थिति से परिचित थे, आपका मनोभाव देखकर लौट आये। कुछ ही क्षणों में आप लौट आये और ऐसे ही घूर्णायमान नेत्रों से देखते हुए गंगामंदिर के एक छोटे से अँधेरे कमरे में चले गये और अन्दर से साँकल बंद कर ली। ठीक एक घण्टे बाद आप बाहर आये। हमने देखा आप पूर्ण प्रकृतिस्थ हैं, मुद्रा शान्त एवं प्रसन्न है। कुछ लिखा हुआ कागज आपके हाथ में था। हमने कागज आपके हाथ से लेकर देखा तो उसमें एक सौ आठ पंक्तियों का एक पद लिखा हुआ था। कोठरी में इतना अन्धकार था कि हाथ को हाथ नहीं दीख सकता। हमें यह सोचकर आश्चर्य हुआ कि इस अन्धकार में इतनी बड़ी रचना कैसे लिखी होगी ! इस पद में श्रीकृष्ण का सुन्दर वर्णन है। इसकी प्रथम पंक्ति है –

" कुन्द मालती मल्लि पुष्प दल कमल विविध गण पक्षी सुलोभित"[१]

आप सदा भाव को गोपनीय रखने की चेष्टा करते। अधिक भाव का वेग जब बाँध तोड़कर बाहर छलकता तभी देखने में आता था। आप तो जहाँ तक हो सकता, संवरण करने के लिये कोई न कोई बहाना ढूँढा ही करते थे, परन्तु यह कब तक !

आपका सदा यह कहना था कि प्रेमाश्रु की एक बूँद भी प्रदर्शन में आना अनमोल धन खो देना है। **लोचन जल रहु लोचन कोना। जैसे परम कृपण कर सोना।।** प्रेमाश्रु को देखने एक मात्र श्रीकृष्ण ही उपस्थित हों, वे ही अपने पीत-पट के छोर से अश्रु पौंछने आ जायें। एक दिन श्री–जी परिकर सहित कलाधारी बगीचे में महारास देखने गये हुए थे। महारास लीला के दर्शन करते-करते ही आपको भावावेश होने लगा। बहुत जनसमुदाय रास देखने एकत्रित था। आप संकोचवश अपने को बहुत सम्हालते रहे। सिर नीचे झुकाए बैठे रहे, परन्तु भाव की स्थिति बढ़ती गई। धीरे-धीरे सिर झुकाकर जमीन पर

---

१ पूरा पद 'अलिभाव निर्झर' में है; पृष्ठ सं.८३, पद सं.१४३

टिका दिया। मैंने पीछे से श्री–जी को सम्हाल रखा था। रास समाप्त हो गया। सब जनसमूह चला गया। आप वैसे ही मूर्च्छावस्था में पड़े रहे। मैंने धीरे से सीधा करके लिटा दिया। वहाँ रहने वाले दो-चार महात्मा एकत्र हो गये। कोई पंखा करने लगे, कोई जल दे गये। एक घण्टे पश्चात् जब कुछ बाह्य ज्ञान हुआ तो धीरे से आपको सम्हालकर गंगामंदिर ले आये। यहाँ भी आप ऐसी ही अर्धबाह्य स्थिति मे पड़े रहे। सुबह चार बजे फिर आपको भावावेश हो गया। मूर्च्छावस्था प्राप्त हो गई। उसी अवस्था में एक पद स्फुरित हुआ–प्रथम पंक्ति है–

"कपोल चन्द्रमुख श्री परिमण्डित, कुण्डल द्युति परछाई"

पूरा पद 'अलिभाव निर्झर' में संगृहीत है। पृष्ठ सं. १४३, पद सं. २०७।

इस प्रकार श्री गंगामंदिर में नित्यप्रति ही श्री–जी का भावोदधि उफनता रहता था, जिसकी उत्ताल उर्मियों से मणिमुक्ताओं के समान निक्षेपित पद आज उनके निजजनों की बहुमूल्य सम्पत्ति बने हुए हैं।

नाथद्वारा यात्रा तथा राजकोट गमन

इन दिनों श्री कृष्णाजी का शरीर कुछ रुग्ण रहने लगा था। गंगा-मंदिर में श्री–जी अपने दो-चार निजजनों के साथ परम विरक्ति से रहते थे। निर्वाह नित्य की भिक्षा पर ही अवलम्बित था। मध्याह्न में रूखी-सूखी रोटी मिर्च से या नमक से ही खाई जाती थी। साग या दाल के दर्शन कभी-कभी ही संभव थे, परन्तु श्री–जी की छत्रछाया में सब आनन्दमग्न रहते थे। भक्ति-मय वातावरण सतत बना ही रहता था। माँजी के हाथ की वह रूखी रोटी कितनी स्वादिष्ट होती थी, कुछ कह नहीं सकते। प्रसंगवशात् बाहर से आने वाले किन्हीं-किन्हीं भक्तों ने इसे पाया है, वे इस रोटी के लिये तरसते थे और प्रशंसा करते थकते नहीं थे। परन्तु ऐसी परिस्थिति में श्री कृष्णाजी की समुचित उपचार व्यवस्था लब्ध होना संभव नहीं था। अतः अपने इलाज के लिये वे अपने एक पूर्व परिचित भक्त के यहाँ अहमदाबाद, फिर वहाँ से भी श्री काँजीभाई नामक एक पूर्व परिचित गृहस्थ भक्त के यहाँ राजकोट चली गईं। वे सम्पन्न थे। उन्होंने पर्याप्त धन व्यय करके दो मास तक इलाज कराया, परन्तु इनका स्वास्थ्य गिरता ही चला गया।

इस समय श्री महाराजजी मंडलेश्वर में थे। वहाँ इनके स्वास्थ्य के समाचार प्राप्त होने पर श्री–जी ने इन्हें मंडलेश्वर चले आने के लिये लिख दिया। श्री काँजीभाई के सुपुत्र धीरजलाल श्री कृष्णाजी को लेकर मंडलेश्वर आये और इलाज के लिये पाँच सौ रुपये देकर राजकोट लौट गये। वे एक माह के पश्चात् फिर इन्हें देखने वृन्दावन आये। धीरजलालजी को आगे नाथद्वारा भी जाना था। इन्होंने श्री–जी से भी नाथद्वारा चलने की प्रार्थना की। श्री–जी ने स्वीकृति दे दी। तब वृन्दावन से श्री–जी, मैं और एक दो भक्त भी नाथद्वारा गये। वहाँ एक-दो दिन रहकर श्रीनाथजी एवं उनकी समस्त ऐश्वर्यमयी सेवा के दर्शन किये। श्रीनाथजी का वैभव तो जगत्-विख्यात है। दो दिन वहाँ दर्शन सुख प्राप्त कर हम सब श्रीधाम वृन्दावन लौट आये। श्री धीरजलाल राजकोट चले गये। वे श्री–जी के दर्शन एवं सत्संग से बहुत ही प्रभावित हुए थे। उन्होंने राजकोट जाकर अपने पिता श्री काँजीभाई से

श्री–जी की प्रशंसा की, जिससे उन्हें श्री–जी के दर्शनों की उत्कंठा हुई। उन्होंने कुछ दिन बाद श्री–जी को ले आने के लिये धीरजलाल को श्रीधाम भेज दिया। पहले राजकोट से तार द्वारा सूचना भी दे दी थी।

सन् १९५०, फाल्गुन मास में धीरजलाल श्री–जी को लेकर राजकोट गये। साथ में मैं, श्रीदेवीजी और विट्ठलजी थे। यह राजकोट की प्रथम यात्रा थी। यहाँ से तार दे दिया गया था। श्री काँजीभाई और वहाँ के बहुत से भक्त फूलमाला लिये स्टेशन पर उपस्थित थे । माला-अर्पण तथा प्रणामादि सत्कार के पश्चात् वे श्री–जी को अपने निवास स्थान पर ले गये।

काँजीभाई के यहाँ सतत एक मास तक नियमित रूप से सत्संग होता रहा। लगभग तीन सौ श्रोता सत्संग में उपस्थित रहते थे। जहाँ श्री–जी देखते कि भीड़ बढ़ने लगी है तो आप सपरिकर दो-चार दिनों के लिये आस-पास के स्थानों जैसे द्वारका, जूनागढ़, जड़ेश्वर महादेव, गिरिनार आदि में भ्रमणार्थ चले जाते। जो प्यासे होते वे नित्य ही पता लगाते रहते। श्री–जी यही चाहते थे कि जिज्ञासु श्रोता ही सत्संग में आयें, अकारण भीड़ होने से क्या लाभ ?

राजकोट में श्री–जी द्वारा अँग्रेजी में लिखित सत्संग के दो पैम्फलेट भी छापकर श्री मगनभाई ने श्रोताओं को बाँटे थे। काँजीभाई के मकान की दूसरी मंजिल पर श्री–जी के रहने की व्यवस्था की गई थी। उसके पीछे की ओर एक छोटा सा आँगन था। कमरे के दक्षिण के वातायन से नीचे का आँगन दीखता था। एक दिन काँजीभाई की आठ-नौ वर्ष की पुत्री पड़ौस की लड़कियों को लेकर इस आँगन में मंडलाकार नृत्य करती हुई गीत गा रही थी। श्री–जी वातायन से झाँककर देख रहे थे। उसके मधुर कंठ से गीत और मंडलाकार नृत्य देखकर श्री–जी भावावेश में मूर्च्छित हो गये। इसी स्थिति में आपके मुख से पद स्फुरित हुआ, जिसकी प्रथम पंक्ति है–

"नित मुख चन्द्र छटा स्मित छाई" [१]

---

१. अलिभाव निर्झर, पद सं. २०८, पृष्ठ सं. १४४

इस प्रकार एक मास तक वहाँ के भावुक भक्तों को कीर्तन-सत्संग का अपूर्व लाभ प्रदानकर श्री–जी निज परिकर सहित श्रीधाम वृन्दावन लौट आये। यहाँ आकर परिकरजन पूर्ववत् अपने साधन-भजन में तत्पर हो गये। श्री–जी तो सदा रसमत्त रहते ही थे। साधक परिकर से भी साधनोपयोगी चर्चा करते रहते थे। श्रीधाम में लोक-संग्रह के भय से आपने कभी सत्संग-कीर्तन का समय निर्धारित नहीं किया था। जब भी अनुकूल वातावरण बना आप चर्चा करते। कभी-कभी दिन में तीन-तीन बार चर्चा हो जाती।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि आपका हास्य-विनोद भी सत्संगमय ही होता था। आपकी इस ढंग की रहनी से निकट रहने वाले परिजनों का मन स्वाभाविक रूपसे ही बिना प्रयास अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर रहता था। आहार-व्यवस्था आदि को श्री–जी ने कभी महत्त्व नहीं दिया। आपका कहना था कि आकाशवृत्ति का अवलम्बन करना चाहिये। उदाहरण स्वरूप आप प्रायः यह श्लोक बोला करते थे –

भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः।
योऽसौ विश्वम्भरो देवो स किं भक्तान् उपेक्षते।।

बस, तुम तो खूब भजन करो। बाकी व्यवस्था तो अपने आप ही होती रहेगी। प्रत्येक साधक को आप कम से कम सवालाख महामन्त्र का जप नित्य करने को कहा करते थे। कहते थे कि एकमात्र विचार श्रीकृष्ण का ही होना चाहिए। पूर्ण समर्पण की चिन्ता हो। श्रीकृष्ण-प्राप्ति की लालसा जाग्रत हो। पूर्व परिचितों से भी अपरिचित जैसे रहने का आपका उपदेश रहता था। इस दोहे को भी आप अधिकतर बोला करते थे–

वारि मथे बरु होय घृत, सिकता ते बरु तेल।
बिन हरि भजन न भव तरहिं, यह सिद्धान्त अपेल।।

विभिन्न सम्प्रदाय और सम्प्रदायाचार्यों में आपकी पूर्ण निष्ठा थी, परन्तु वर्तमान में कलह, आपसी रागद्वेष, ईर्ष्या और परस्पर विरोध के कारण आप सबसे तटस्थ ही रहते थे। आप कहते थे–आद्य सम्प्रदाय प्रवर्तक चारों आचार्य भगवत्-अंशावतार थे। उन्होंने जीवों के उद्धारार्थ सम्प्रदायों की

स्थापना की और असंख्य लोगों का उद्धार किया। आचार्यों का पथ वेद-शास्त्र संमत है, वंदनीय है, यह आपका ठोस विश्वास सहित कहना था।

इसी काल में श्रीधाम में एक महान् सन्त श्री प्रियाशरणजी महाराज जिन्हें संत लोग 'रसिक जहाज' कहते थे, रहते थे। इनका उदाहरण देते हुए श्री–जी कहते थे–मैं एक दिन श्री बिहारीजी के बगीचे में श्री प्रियाशरणजी महाराज का सत्संग सुनने गया था। वे कहते थे कि संसार के बंधन से तो जीव मुक्त हो सकता है, परन्तु सम्प्रदाय के बंधन से जन्मजन्मान्तरों में भी मुक्त नहीं हो सकता।

इसीलिये श्री–जी का कहना था कि जिसको इसी जन्म में भगवत्-प्राप्ति करनी हो, वह सबसे अलग एकान्त में रहकर व्याकुलता पूर्वक खूब नाम ले। साधक को भगवान् तथा व्यक्त-अव्यक्त सिद्ध-सन्त सदा देखते रहते हैं। वे समय-समय पर कृपा करते रहते हैं और अपनाते हैं। हमारी सीमित, मायाच्छन्न बुद्धि से सन्त की खोज तथा पहचान संभव नहीं है। तुम्हारी व्याकुलता देखकर श्रीकृष्ण स्वयं किसी संत को प्रेरणा देकर तुम्हारे पास भेज देंगे, जो हाथ पकड़कर श्रीकृष्ण के पास ले जायेंगे। कृपामय सिद्ध-सन्त ही साधक को खोजते रहते हैं और प्रेम दान करते हैं। बस, तुम तो दीनता पूर्वक नाम लेते रहो, यत्र-तत्र भगवत् गुण, लीला वर्णन-श्रवण करते हुए दीनता पूर्वक नाम लेते रहो। भगवान् किसी बाह्य वेश-भूषा से प्रसन्न नहीं होते। वे हृदय की निर्मल चाह को ही देखते हैं।

राजकोट की द्वितीय यात्रा

सन् १९५०, माघमास में भक्तों के विशेष आग्रह से श्री महाराजजी पुनः राजकोट गये। साथ में मैं और श्री विट्ठलजी थे। पूर्ववत् ही स्टेशन पर भक्तसमूह ने श्री–जी का भव्य स्वागत किया। अब की बार बिलखा स्टेट के दीवान श्री जटूभाई जानी ने आग्रह-पूर्वक श्री–जी को अपनी कोठी पर ठहराया। श्री जटूभाई बहुत ही भावुक व्यक्ति थे। उन्होने टाट वाले श्री नारायणस्वामी (पूर्व हाईकोर्ट जज) से, जो एक बहुत बड़े सन्त थे, दीक्षा ग्रहण की थी। श्री नारायणस्वामी को सर्वत्र सभी जानते थे। इनकी 'एक सन्त का अनुभव' नामक पुस्तक गीताप्रेस से प्रकाशित हो चुकी है।

श्री जटूभाई ने श्री–जी के स्वतन्त्र निवास तथा सेवा इत्यादि की विशेष व्यवस्था की थी। नित्य दो घण्टे श्री–जी का सत्संग होता था। आठ-दस दिनों में, जब जनसमूह बहुत बढ़ जाता तो श्री–जी पूर्ववत् ही दो-चार दिनों के लिये किसी स्थान विशेष के दर्शनार्थ चले जाते थे। जो लोग प्रशंसा सुनकर सत्संग श्रवण करने आते, वे तो श्री–जी के चले जाने पर निश्चिंत होकर घर जाकर बैठ जाते। जो जिज्ञासु, पिपासु, भावुक भक्त होते वे श्री–जी के आने की प्रतीक्षा में रहते। श्री–जी के आने पर फिर सत्संग प्रारंभ हो जाता। सत्संग की प्रशंसा पूरे राजकोट में फैल चुकी थी। वहाँ के स्टेट सर्जन भी श्री–जी के दर्शनार्थ आये। प्रायः प्रतिदिन नियमित दो घण्टे सत्संग होता। सभी मन्त्रमुग्ध होकर एकाग्रता से उसका श्रवण करते। सत्संग समाप्त होने पर सभी को श्री–जी के चरण-स्पर्श की कामना रहती थी, किन्तु श्री महाराज जी श्री जयदेवजी कृत अष्टपदी **'श्रित कमला कुच मण्डल''** गायन के साथ आरती समाप्त होते ही शीघ्रतापूर्वक पिछले द्वार से निकल जाते थे। वे किसीको चरण-स्पर्श का अवसर ही नहीं देते थे।

सिन्ध प्रान्त का रहने वाला एक बहुत बड़ा कस्टोडियन ऑफिसर भी प्रतिदिन सत्संग में आता था। शरीर बहुत भारी होने से उसे दो घण्टे जमीन पर बैठना बहुत कठिन मालूम होता था, परन्तु जिज्ञासु होने के कारण वह कष्ट सहकर भी उत्कंठा से सत्संग सुनता था। उसे श्री–जी के चरण-स्पर्श करने

की बहुत इच्छा थी। उसने इसके लिये श्री जदूभाई से प्रार्थना की और समय माँगा। श्री–जी की स्वीकृति पाकर वह बहुत ही प्रसन्नता से बहुत सी मिठाई लेकर श्री–जी के चरणों में उपस्थित हुआ और उनसे अश्रु गद्गद कंठ से स्वीकार करने की प्रार्थना की। उसका भाव देखकर श्री–जी मुस्कराये। इतने बड़े ऑफिसर का इतना दैन्य देखकर उनको प्रसन्नता हुई। श्री–जी के पास बैठने का उसे केवल पाँच मिनिट अवसर मिला। इतने में ही वह अपने को कृतार्थ समझता हुआ बहुत ही प्रसन्न हुआ।

श्री–जी के सत्संग की प्रशंसा राजकोट के कलेक्टर साहब के कानों तक पहुँची। एक दिन वे भी कौतूहलवश सत्संग में आए। पाँच ही मिनिट सत्संग सुन पाये होंगे कि श्री–जी ने समयानुसार सत्संग समाप्त कर दिया। बाद में कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने श्री–जी से कहा–कलेक्टर साहब आये थे, और कुछ समय सत्संग चलता तो अच्छा था। आप हँसते हुए बोले–मेरा सत्संग कलेक्टर के लिये नहीं, जिज्ञासुओं के लिये है। यदि जिज्ञासा है तो समय पर आने की चेष्टा करें।

एक बार एक दन्तचिकित्सक दो-तीन दिन सत्संग में आते रहे। उन्होंने एकान्त में कुछ प्रश्न पूछने की इच्छा प्रकट की। श्री–जी ने कहा–पन्द्रह दिन सतत सत्संग सुनें, तत्पश्चात् यदि कोई प्रश्न रह जाये तो पूछ लेना। वह सतत पन्द्रह दिन सत्संग में आते रहे, उन्होंने श्री–जी से कहा–'मेरे सभी प्रश्न हल हो चुके हैं।'

एक दिन जदूभाई (जिनकी कोठी में श्री–जी ठहरे थे) श्री–जी के पास आकर प्रार्थना करने लगे कि इतने सुन्दर सत्संग का लाभ अधिक से अधिक लोगों को मिलना चाहिए। आप यदि आज्ञा दें तो मैं परचे छपवाकर बँटवा दूँ और यहाँ आँगन में विशाल शामियाना लगवा दूँ। श्री–जी ने हँसते हुए कहा–"मैं तो कहता हूँ, आप भी सुनकर दूसरे को मत कहिये। इसमें तो स्वार्थी बनना चाहिये, नहीं तो आप प्रचार में और मैं सुनाने में, यों ही रह जायेंगे। कुछ भी लाभ नहीं होगा।" बेचारे चुप लगाकर चले गये।

पूर्व यात्रा में श्री महाराजजी जब राजकोट आये थे, तो सतत काँजीभाई के यहाँ ही रहे, किसी के घर जाने का अवसर ही नहीं मिला।

बहुत से भक्तों के मन में यह बात रह गई थी। अब की बार श्री–जी ने जटूभाई के अत्यधिक आग्रह को भी न मानकर प्रायः सभी भक्तों को बारी-बारी से नित्य ही अवसर दिया। इससे श्री–जी को प्रसाद पवाने की, भक्तों की बहुत दिनों की कामना पूर्ण हुई और वे बहुत प्रसन्न हुए। पूरे डेढ़ मास में श्री जटूभाई को केवल दो ही दिन श्री–जी को प्रसाद पवाने का अवसर मिला। जटूभाई ने भ्रमण करने के लिये एक कार सतत श्री–जी के कमरे के सामने लगा रखी थी और उसका उपयोग करने के लिये कई बार प्रार्थना भी की, परन्तु आप कार में बैठे ही नहीं। बहुत आग्रह करने पर केवल एक बार कार से जूनागढ़ गये थे। राजकोट में भक्तों के यहाँ पैदल ही जाया करते थे। स्वयं जटूभाई भी सत्संग के अतिरिक्त अलग से श्री–जी से मिलने प्रतिदिन नहीं आ सकते थे।

श्री जटूभाई की कोठी की तीसरी मंजिल के एक कमरे में उनका एक भतीजा टायफायड ज्वर में पड़ा हुआ था। बड़े-बड़े डॉक्टरों से उपचार कराया, परन्तु ठीक नहीं हुआ। शरीर सूखकर लकड़ी के समान हो गया था। इस समय जटूभाई के यहाँ सत्संग चल रहा था। उसके कमरे में माइक लगा दिया गया था, जिससे वह पलंग पर लेट-लेटे ही सुन सके। एक दिन जटूभाई ने ऊपर चलकर उसे दर्शन देने की श्री–जी से प्रार्थना की। श्री–जी जटूभाई के साथ उसके कमरे में गये और उसके पास ही कुर्सी पर बैठ गये। उसने पड़े-पड़े ही झुककर श्री–जी के चरणस्पर्श किये और आँखों में आँसू भर लाया। श्री–जी ने अपना हाथ उसके शरीर पर फेरते हुए कहा–भगवान् का नाम लीजिये, वे ही अच्छा करने वाले हैं। जटूभाई ने उसके हाथ से नारियल, कुछ मिठाई और रुपये श्री–जी को भेंट करवाये। पाँच-दस मिनिट कुछ उपदेशात्मक शब्द कहकर आप नीचे आ गये। आश्चर्य की बात यह हुई की उसी दिन संध्या को उसका सत्तर दिन पुराना ज्वर नार्मल हो गया और वह धीरे-धीरे ठीक हो गया।

इस प्रकार डेढ़ मास तक वहाँ के भक्तों को सत्संग का अपूर्व लाभ प्रदान कर श्री–जी श्रीधाम लौट आये।

एकाएक मंडलेश्वर गमन

एक बार आप एक माह मंडलेश्वर रहकर श्रीधाम लौट आये थे। धाम आकर आठ दिन भी नहीं हुए थे कि आपने फिर मंडलेश्वर जाने की रट लगाई। मैंने कहा–अभी तो आये हैं, वहाँ जाने का कोई कारण भी नहीं है। वहाँ के लोग क्या कहेंगे? परन्तु आपने मेरी एक न सुनी। आखिर झुँझलाकर बोले–तुम्हें चलना हो तो चलो, मुझे तो जाना ही है। कह कर चलने लगे। मैं साथ हो लिया। मथुरा स्टेशन पर पहुँचने पर मैंने पुनः एक बार प्रार्थना की परन्तु आप अपने निश्चय पर अटल रहे।

मैं अपने मन में सोचने लगा–श्री–जी के इस प्रकार गमन में अवश्य ही कुछ विशेष कारण है। दूसरे दिन हम इन्दौर पहुँचे, बाजार से जा रहे थे कि सामने से श्री माँगीलालजी आते हुए दिखाई दिये। श्री–जी को देखकर उन्होंने शीघ्रता से आगे बढ़कर उनके चरण पकड़ लिये। इन पाँच वर्षों में आजतक उन्होंने न तो कभी श्री–जी के चरण ही छुए और न कभी अंग स्पर्श ही किया था। श्री–जी पर इतनी श्रद्धा होते हुए भी उनके इस प्रकार के व्यवहार से हम सबको बड़ा आश्चर्य होता था। चरण-स्पर्श करने का यह उनका प्रथम अवसर था। (बाद में उन्होंने बताया था कि चरणस्पर्श करने के बाद तीन दिन लगातार उन्हें रोमाञ्च और कम्प होता रहा।) उनके साथ हम मंडलेश्वर गये। वहाँ उन्होंने बताया कि जब से श्री–जी गये, तब से मन उनकी स्मृति में बहुत बेचैन हो रहा था। आँखों के समक्ष कभी श्री–जी स्फुरित होते तो कभी उनके स्थान पर श्रीकृष्ण। ऐसा भास होता कि श्रीकृष्ण कह रहे हैं–और लेना है संसार का आनन्द! आठ दिनों तक ऐसा ही होता रहा। आठ दिन की इस बेचैनी में माँगीलालजी का भी स्वाभाविक ही श्री–जी को स्मरण आता रहा और वे किसी अज्ञात प्रेरणा से आकर्षित होकर इन्दौर पहुँच गये थे। अब आठ दिन पश्चात् ही श्री–जी के श्रीधाम से वापस मंडलेश्वर आने का कारण मेरी समझ में आ गया। यहाँ मात्र तीन दिन रहकर श्री–जी श्रीधाम लौट आये।

अनजान में ही कई बार श्री–जी से ऐसे कार्य हो जाया करते कि जिनका अनुमान उस समय लगाना संभव नहीं होता था। परिणाम में ही पता लगता था। जैसे आप स्वयं को अव्यक्त रखने का प्रयत्न करते, वैसे ही

प्रासंगिक चमत्कारों को भी अव्यक्त रखने की आपकी चेष्टा रहती। कभी कोई भविष्यवाणी अचानक आपके मुख से निकल जाती तो शीघ्र ही इधर-उधर की बातें करके उसे भुलाने की चेष्टा करते। कार्य-पूर्ति पर ही ज्ञात होता कि श्री–जी ने पहले ही ऐसा कहा था। जब हम रींवा में रामेश्वरजी की धर्मशाला में ठहरे हुए थे और रात्रि में श्री–जी के पास बैठे थे कि चर्चा के मध्य अचानक वे बोले–"महात्मा गांधी मारे जाने वाले हैं।" बात का कोई प्रसंग नहीं था। चार माह पश्चात् ऐसा ही घटित हुआ। इसी प्रकार श्री देवीजी जब वृन्दावन आईं तो श्री–जी को यह ज्ञात नहीं था कि इनके घर में कौन-कौन हैं। एक दिन ऐसे ही बैठे हुए श्री–जी ने श्री देवीजी से पूछा–तुम्हारा कोई भाई था? श्री देवीजी ने कहा–हाँ, मैं जब घर से निकली वह चार-पाँच साल का था। श्री–जी ने कहा–वह पधार गया है। भविष्य में जब पिताजी वृन्दावन आये तो उनसे ज्ञात हुआ कि ठीक उसी समय वह पधार गया था।

राधारमण-घेरे में निमाई गुसाँई रहते थे। उनकी तथा उनकी पत्नी की श्री–जी पर बहुत श्रद्धा थी। श्री–जी कभी-कभी उनके घर जाया करते थे। एकदिन वे और मैं उनके घर गये। जंगले से निमाईजी ने श्री–जी को आते हुए देख पत्नी से, जो तखत पर सो रही थीं, कहा–महाराजजी आ रहे हैं। सुनकर वह हिली भी नहीं। श्री–जी ने जैसे ही जय राधे कहकर टेरा, आवाज सुनकर हड़बड़ाकर उठीं और श्री–जी के चरण-स्पर्श करके बोलीं–इनके पास बहुत से महात्मा आते हैं, मैं समझी कोई आये होंगे और शीघ्रता से अन्दर गईं, गाय का दूध दुहा एवं गरम करके श्री–जी को पिलाया। निमाई जी आश्चर्य से देख रहे थे। श्री–जी से कहने लगे–महाराजजी ! इसकी पीठ पर इतना बड़ा फोड़ा हो गया है कि दो दिन से यह हिल भी नहीं सकती। मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि एकदम उठकर कैसे सेवा में लग गई। देखिए, आपके सामने ऐसे बैठी है मानो कुछ हुआ ही नहीं है। वह बोलीं–महाराजजी पता नहीं, आपके आते ही दर्द कहाँ चला गया ! उस दिन से उनका फोड़ा ठीक ही हो गया।

एक बार मेरी माताजी श्रीधाम आई थीं। उन्हें पहुँचाने मैं महेश्वर गया हुआ था। उसी समय मंडलेश्वर के भक्तों ने श्री–जी को वहाँ आने के लिये प्रार्थनापत्र लिखा और श्री–जी ने भी जाने का विचार कर लिया। श्री मोती-

रामजी श्री—जी को पहुँचाने मथुरा स्टेशन पर गये। गाड़ी आ चुकी थी और चलने ही वाली थी। आप बैठने के लिये भागे इतने में गाड़ी चल दी। जल्दी में आप लेडीज़ कम्पार्टमेंट में चढ़ गये। टी.टी. ने आपको तुरन्त उतरने को कहा। आप उतरकर दूसरे डिब्बे में चढ़ने लगे परन्तु धक्के से प्लेटफार्म पर ही गिर गये। कमर से ऊपर का हिस्सा आपका प्लेटफार्म पर था और पैर रेलकी पटरी पर लटक रहे थे। गाड़ी के पहिए आपके पैरों से टकरा रहे थे। श्री—जी कुछ बेहोशी की स्थिति में पड़े हुए थे। श्री मोतीरामजी जोर-जोर से रोने लगे। इतने में किसी अज्ञात धक्के से श्री—जी के चरण ऊपर प्लेटफार्म पर आ गये।

गार्ड ने झण्डी दिखाकर गाड़ी रोक दी। सब रेलवे कर्मचारी इकट्ठे हो गये। श्री—जी के शरीर पर काफी चोट आई थी। घुटने, पैर सब छिल गये थे। उनसे रक्त बह रहा था। इतने में आप सावधान होकर उठे और कुछ न कहते हुए फिर गाड़ी में बैठने के लिये जाने लगे। मोतीरामजी ने श्री—जी के चरण पकड़ लिये और रोते हुए कहा—ऐसी हालत में मैं आपको नहीं जाने दूँगा। इनको दुःखी देखकर श्री—जी रुक गये। स्टेशन मास्टर तथा कुछ कर्मचारी जो श्री—जी के पास खड़े थे, कहने लगे—"बड़े आश्चर्य की बात है कि आप वापस प्लेटफार्म पर फेंके गये। गाड़ी के पहिये तो व्यक्ति को अन्दर की ओर खींच लेते हैं। समझ में नहीं आता कि यह उलटी बात कैसे हुई ? आप टी.टी. पर कार्यवाही कीजिए, हम गवाही देंगे। जो खर्च लगेगा वह भी हम देंगे।" आप मुस्कराकर बोले—मुझे लगना था सो लग गया, उसका नुकसान कर मुझे क्या लाभ ! और आप मोतीरामजी के साथ वृन्दावन लौट आये। यहाँ आने पर मोतीरामजी ने कुछ उपचार किया। एक दिन रहकर आप दूसरे ही दिन फिर मंडलेश्वर के लिये रवाना हो गये। मंडलेश्वर में लगभग पन्द्रह दिन उपचार होने के पश्चात् आपके घाव ठीक हुए। एक दिन प्रसंगवश बात चलने पर आपने बताया, जिस समय पहियों से मेरे पैर टकरा रहे थे, उस समय अचानक किसी ने मुझे प्लेटफार्म पर सरका दिया। किसी के हाथों का स्पर्श मुझे स्पष्ट महसूस हुआ। यह अज्ञात स्पर्श किसका हो सकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

कुसुमजी का पिताजी सहित श्रीधाम आना

सन् १९५०, में श्री देवीजी के बहिन-बहनोई ब्रह्मा एवं हरप्रसादजी श्रीधाम आये थे। उन्होंने लौटकर श्री देवीजी के पिताजी को श्री–जी के विषय में एवं दोनों बहिनों के श्री धाम वास के सम्बन्ध में समाचार दिये। उन्हें अभी तक दोनों बहिनों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं था। 'सात वर्ष पश्चात् भेंट हो सकेगी' इस आशय का पत्र, जो गृहत्याग के समय श्री देवीजी घर पर रख आई थीं, उसी एक आशा के सूत्र को पिताजी थामे हुए थे। इसी बीच देवीजी की पूज्या माताजी का दुःखाघात से रोगाक्रान्त हो निधन हो चुका था। एक भाई भी माता-पिता को बिलखता छोड़ परलोक सिधार गया था। और दो बड़ी बहिनों का विवाह हो चुका था, अब घर में देवीजी की छोटी बहिनें कुसुमजी, शशि एवं भाई शिवकुमार, ये ही थे। बड़ी होने के नाते इस विषम परिस्थिति में श्री कुसुमजी ने अपने छोटे भाई-बहिनों की सम्हाल तथा दुःखी पिताजी की सहायिका बनने के दायित्व का निर्वाह कुशलता-पूर्वक किया,साथ ही विद्याध्ययन भी करती रहीं। इनके पिताजी इनपर पुत्रवत् प्यार एवं विश्वास करते थे। अस्तु, ठीक सात वर्ष पश्चात् जब पिताजी को दोनों पुत्रियों के श्रीधाम-वास के विषय में पता लगा तो वे सर्वप्रथम अकेले ही श्रीधाम आये एवं श्री–जी के दर्शन कर, कुछ दिन रहकर चले गये। कुछ महीनों के पश्चात् वे पूरे परिवार के साथ पुनः श्रीधाम आये, जिसमें कुसुम जी भी थीं। कुसुमजी पर घर के धार्मिक संस्कार तो थे ही। धामीय वातावरण एवं श्री–जी के अमोघ सत्संग के प्रभाव से भला ये अछूती कैसे रहतीं !

सन् १९५२, में पिताजी, श्री–जी सहित हम सबको अपने यहाँ शिकारपुर ले गये। वहाँ पन्द्रह दिन श्री–जी का सत्संग हुआ। पूरा परिवार बहुत ही प्रभावित हुआ, परन्तु इस सत्संग का कुसुमजी पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। भक्तिपथ का आकर्षण एवं श्री–जी के प्रति विशेष श्रद्धा का उदय हुआ। मन ने मोड़ लिया। पन्द्रह दिन वहाँ रहकर पुनः हम सब पिताजी एवं कुसुमजी सहित श्री धाम आ गये। यहाँ श्री कुसुमजी को गंगामंदिर का दिव्य वातावरण एवं श्री–जी और परिकर का स्नेह दुलार मिला। श्री देवीजी के साधनामय

जीवन से भी ये बहुत प्रभावित हुईं तथा धाम में ही रहकर जीवन यापन करने की लालसा इनमें जाग उठी।

संत-कृपा ने इन्हें अपने अंक में ले लिया। श्री–जी ने इन्हें नित्य एक लक्ष महामन्त्र के जाप का नियम दिया। स्वयं सामने बैठाकर सिखाया कि माला कैसे जपनी चाहिए, कैसे नामोच्चारण करना चाहिए।

गंगामंदिर में ही श्री–जी ने इन्हें एक आभासानुभूति के द्वारा अपने स्वयं के स्वरूप का दर्शन कराकर कृतकृत्य किया, जिसका संकेतमात्र किया जा रहा है–इन्होंने देखा कि लता-कुंजों से आवृत सरोवरीय सोपान के ऊपर एक निकुंज में विराजित प्रिया-प्रियतम के निकट एक सखी खड़ी है। अनेक सखियाँ कुंजों से निकल कर आ रही हैं। जैसे ही इनके मन में विचार आया कि 'इनमें श्री महाराजजी कौन होंगे ?' तो सहसा वह निकटस्थ सखी इनकी ओर देखकर मुस्कराई और उसके मुख में श्री महाराजजी का मुख प्रतिबिम्बित हो उठा। इस घटना के पश्चात् इनका निश्चय श्री–जी के चरणों में समर्पित होने के पावन निर्णय में बदलते विलम्ब नहीं लगा।

जब कुसुमजी ने अविवाहित रहकर धाम-निवास एवं भजन करने का अपना निर्णय पिताजी को सुनाया तो वे धक् से रह गये, परन्तु क्या करते ! पिताजी की सान्त्वना के लिये कुछ समय तक कुसुमजी घर आती-जाती रहीं। अपनी बहिन एवं भाई के विवाह के अवसर पर भी इन्होंने घर जाकर सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर कार्य सम्पन्न कराया। उसके पश्चात् ही स्थायी रूप से धामवास के लिये आ गईं। परिवारजनों का कहना है कि जिस दिन कुसुमजी ने घर से अन्तिम बिदा ली, उस दिन पिताजी का रोदन पत्थर को भी पिघलाने वाला था। वे अपने पुत्र की मृत्यु पर भी इस प्रकार नहीं रोये थे। पूज्य श्री महाराजजी सदैव उन्हें सान्त्वना दिया करते थे–"पुत्री तो आपकी ही है, यहाँ रहे या वहाँ। आप निराश क्यों होते हैं ! यही पुत्री आपकी सेवा करेगी। इस प्रकार श्री कुसुमजी का श्रीधाम में निवास हो गया। ये सदैव ही श्री–जी की परम कृपापात्र एवं स्नेह-भाजन होकर रहीं।

एक बार गंगामंदिर में कुसुमजी तुलसी के समीप बैठी माला कर रहीं थीं। श्री–जी यह कहते हुए तेजी से पास से निकल गये–"तुलसी के निकट

नाम लेने से श्रीकृष्ण अवश्य आते हैं।'' सहसा इनके निकट नीलाभा कौंध गई, जिसके मध्य इन्हें श्रीकृष्ण–स्फूर्ति हुई और इनका शरीर कम्पित हो गया।

इस प्रकार श्री–जी ने अपनी कृपा से इन्हें नहला दिया। इन्हें सदैव ही उनकी सेवा एवं सान्निध्य का अवसर प्राप्त होता रहा।

श्री घनश्यामजी का चरणाश्रय में आना

श्री घनश्यामजी व्रज के ही घाँघोली ग्राम के निवासी हैं। इनके पिता श्री लक्ष्मीनारायणजी ब्राह्मण कुल के बहुत ही साधु पुरुष एवं अच्छे ज्योतिषी भी थे। उन्होंने घनश्यामजी के बचपन में ही कह दिया था कि इस बालक में महात्मा के लक्षण हैं। इनसे दो बड़े भाई (श्री नवलकिशोरजी शास्त्री तथा श्रीरामजी) हैं। घनश्यामजी में प्रारंभ से ही भक्ति के संस्कार थे। सन्तों के प्रति इनके मन में सहज प्रेम था। इन्हें सदा एकान्त में बैठना अच्छा लगता था। ये दीखने में भी बहुत सुन्दर और सुडौल थे। तीनों भाई छोटे ही थे कि इनके पिताजी का देहावसान हो गया। घर की परिस्थिति बहुत नाजुक हो गई। अतः इनकी माताजी ने इन्हें और इनसे बड़े भाई श्रीरामजी को इनके मामा श्री चेतरामजी की रासमंडली में रख दिया। स्वरूप बनते हुए भी ये गोपालजी की सेवा करते थे। सुन्दर छोटे से चाँदी के सिंहासन पर गोपालजी को विराजित करते थे। उनकी सेवा करते-करते इनको कई अनुभव भी होते थे। रास में ये क्रमशः सखी स्वरूप, मनसुखा, श्रीजी स्वरूप एवं पश्चात् ठाकुर स्वरूप बनने लगे। ठकुराई में श्रृंगार धारण किये हुए हों या न हों इन्हें सदा लीला के अनुरूप आवेश बना रहता था। विरह-लीला में रोदन आरंभ हो जाने पर लीला की समाप्ति के पश्चात् भी इनके आँसू नहीं रुकते थे। कई बार लीला के मध्य में ही अन्तर्यामित्व से कई बातें बता जाते थे।

एकबार रासमंडली गोरखपुर में श्री ठकुरी बाबू के यहाँ ठहरी हुई थी। श्री राधा बाबा एवं श्री हनुमान प्रसादजी पोद्दार (भाईजी) को भी लीला में आमन्त्रित किया गया था। श्री भाईजी श्री बाबा को लेकर रास में गये। इस समय तक बाबा के मन में रासलीला के प्रति विशेष आकर्षण नहीं था, परन्तु इनका रास देखकर बाबा का मन आकर्षित हुआ। एकबार रास-स्वरूप बगीचे

(मोती वाटिका) में आये हुए थे। वहाँ से अपने निवास स्थान पर जाने के लिए श्री ठाकुरजी (घनश्यामजी) कार के पास पहुँच गये, पर श्रीजी-स्वरूप को बाबा ने रोक लिया और उनसे बातें करते रहे। किसी ने ठाकुरजी को कह दिया कि श्रीजी को बाबा ने रोक रखा है। ठाकुरजी ने कहा—"श्रीजी क्या बाबा के बाप की है?" श्रीजी-स्वरूप के जाने के पश्चात् यह बात किसी ने बाबा से कह दी। पूज्य बाबा ने कहा—"अच्छा! ठाकुर ऐसा कहता है! श्रीजी तो पहले हमारी ही है, ठाकुर की तो पीछे है। मिलने दो ठाकुर को।" इसके साथ ही पूज्य बाबा ने अपने मन में ही सोचा "मिलने दो ठाकुर को दो चपत लगाऊँगा"।

किसी भाव से भावित होकर पूज्य बाबा ने भाईजी से तुरन्त ठाकुरी बाबू के यहाँ, जहाँ रास मण्डली ठहरी हुई थी, जाने की इच्छा प्रकट की। भाईजी ने पूज्य बाबा की रुचि के अनुसार कार तैयार करवा दी। जैसे ही पूज्य बाबा को लेकर कार ठाकुरी बाबू के यहाँ पहुँची, ठाकुरजी ने, जो बाहर चबूतरे पर अकेले ही टहल रहे थे, स्वयं आगे बढ़कर कार का दरवाजा खोला। पूज्य बाबा जैसे ही कार से बाहर निकले ठाकुरजी उनके दोनों हाथों को पकड़कर झुलाने लगे। पूज्य बाबा आगे बढ़े तो ठाकुरजी ने उन्हें रोककर कहा—"पहले मुझे दो चपत लगाइये तब आगे जाइये।" श्री ठाकुरजी का अन्तर्यामित्व देखकर बाबा आश्चर्यचकित से रह गये। अभी तक पूज्य बाबा ठाकुरजी को बालक मात्र ही समझते थे। परन्तु अब समझ गये कि इनमें तो ठाकुर का अधिष्ठान है। वे भावाविष्ट एवं शिथिल हो वहीं सीढ़ी पर बैठ गये। आगे चलने का सामर्थ्य ही नहीं रहा। अश्रुधारा सतत बहती रही। बहुत कठिनता से संयत हो वे बगीचे लौट आये। इसके पश्चात् तीन दिन तक भावस्थिति में कुटिया में बंद रहे। पूज्य बाबा की यह भावदशा देखकर श्री भाईजी ने कहा—"भैया, यह ठाकुर तो बड़ा गड़बड़ है।" एक बार श्री बाबा ने परीक्षा की दृष्टि से सोचा—आज रास में मेरे जाते ही यदि स्वामीजी "बन्यौ मोर मुकुट" इस पद को गाकर रास प्रारम्भ करें तो समझूँगा कि यह सच्चा ठाकुर है। ठीक ऐसा ही हुआ।

एक बार बाबा ने सोचा—'आज रास में ठाकुर स्वयं मुझे बुलवायें, तभी कुटिया से जाऊँगा' और हुआ भी ऐसे ही। रास में नृत्य करते-करते ठाकुरजी ने कहा—जाओ बाबा को बुला लाओ। इससे बाबा भावविभोर हो गये।

(गीता वाटिका) में आये हुए थे । वहाँ से अपने निवास स्थान पर जाने के लिये श्री ठाकुरजी (घनश्यामजी) कार के पास पहुँच गये, पर श्रीजी-स्वरूप को बाबा ने रोक लिया और उनसे बातें करते रहे। किसी ने ठाकुरजी को कह दिया कि श्रीजी को बाबा ने रोक रखा है। ठाकुरजी ने कहा–"श्रीजी क्या बाबा के बाप की हैं ?" श्रीजी-स्वरूप के जाने के पश्चात् यह बात किसी ने बाबा से कह दी। पूज्य बाबा ने कहा–"अच्छा ! ठाकुर ऐसा कहता है ! श्रीजी तो पहले हमारी ही हैं, ठाकुर की तो पीछे हैं। मिलने दो ठाकुर को।" इसके साथ ही पूज्य बाबा ने अपने मन में ही सोचा "मिलने दो ठाकुर को दो चपत लगाऊँगा"।

किसी भाव में भावित होकर पूज्य बाबा ने भाईजी से तुरन्त ठकुरी बाबू के यहाँ, जहाँ रास मण्डली ठहरी हुई थी, जाने की इच्छा प्रकट की। भाईजी ने पूज्य बाबा की रुचि के अनुसार कार तैयार करवा दी। जैसे ही पूज्य बाबा को लेकर कार ठकुरी बाबू के यहाँ पहुँची, ठाकुरजी ने, जो बाहर चबूतरे पर अकेले ही टहल रहे थे, स्वयं आगे बढ़कर कार का दरवाजा खोला। पूज्य बाबा जैसे ही कार से बाहर निकले ठाकुरजी उनके दोनों हाथों को पकड़कर झुलाने लगे। पूज्य बाबा आगे बढ़े तो ठाकुरजी ने उन्हें रोककर कहा–"पहले मुझे दो चपत लगाइये तब आगे जाइये।" श्री ठाकुरजी का अन्तर्यामित्व देखकर बाबा आश्चर्यचकित से रह गये। अभी तक पूज्य बाबा ठाकुरजी को बालक मात्र ही समझते थे। परन्तु अब समझ गये कि इनमें तो ठाकुर का अधिष्ठान है। वे भावाविष्ट एवं शिथिल हो वहीं सीढ़ी पर बैठ गये। आगे चलने का सामर्थ्य ही नहीं रहा। अश्रुधारा सतत बहती रही। बहुत कठिनता से संयत हो वे बगीचे लौट आये। इसके पश्चात् तीन दिन तक भावस्थिति में कुटिया में बंद रहे। पूज्य बाबा की यह भावदशा देखकर श्री भाईजी ने कहा–"भैया, यह ठाकुर तो बड़ा गड़बड़ है।"एक बार श्री बाबा ने परीक्षा की दृष्टि से सोचा– आज रास में मेरे जाते ही यदि समाजी "बन्यौ मोर मुकुट" इस पद को गाकर रास प्रारंभ करें तो समझूँगा कि यह सच्चा ठाकुर है। ठीक ऐसा ही हुआ।

एक बार बाबा ने सोचा–"आज रास में ठाकुर स्वयं मुझे बुलवायें, तभी कुटिया से जाऊँगा" और हुआ भी ऐसे ही। रास में नृत्य करते-करते ठाकुरजी ने कहा–जाओ बाबा को बुला लाओ। इससे बाबा भावविभोर हो गये।

कुछ दिनों बाद रास-मंडली हरिद्वार में सप्तसरोवर नामक स्थान पर चली गई। वहाँ संन्यासियों के आश्रम हैं। कुछ दिनों तक वहाँ रास होते रहे। वहीं पर श्रीघनश्यामजी की मनःस्थिति में परिवर्तन आया। इनको रास से अरुचि हो गई। मन में विरक्ति आ गई। संसार के वातावरण से उपराम हो मन एकान्त में रहने के लिये आकुल हो गया। रास के पश्चात् ये गंगातट पर या कहीं वन-प्रान्त में एकान्त में जा बैठते। श्री घनश्यामजी में यह विरक्ति एवं उपरामता के भाव देखकर बनवारीशरणजी को बहुत वेदना होती, परन्तु करते भी क्या ? घनश्यामजी को संसार से घृणा हो गई। किसी सुन्दर व्यक्ति को गौर से देखते तो उसकी सुन्दरता लुप्त हो जाती और उसके स्थान पर अस्थि-पंजर दीखने लगता। ऋषिकेश में तो ये प्रायः गरुड़ चट्टी पर चले जाते और घण्टों तक एकान्त में बैठे रहते। बनवारीशरणजी साथ ही रहते। एक-दो बार तो ये ऊपर पहाड़ों में भाग गये और बहुत समझा-बुझाकर लाना पड़ा।

उधर गोरखपुर में अन्तर्यामित्व से बाबा को इनकी इस स्थिति का पता लग गया। उन्होंने श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी द्वारा इनके बड़े भाई श्री-रामजी को लिखवा दिया कि गोरखपुर में घनश्यामजी की ठाकुर भावभावित स्थिति को देखकर बाबा के मन में यह संकल्प आया कि इतना संस्कारी यह बालक संसार में क्यों जाये ? भगवत्-पथ में ही लगे। बस, उन्हीं के संकल्प का यह परिणाम था कि इनकी यह स्थिति हुई।

कुछ महीनों बाद मंडली रीवाँ गई और श्री रामेश्वरजी की धर्मशाला में ही ठहरी। सेठ रामेश्वरजी अग्रवाल से पाठकगण पूर्व परिचित हैं ही। रास में श्री घनश्यामजी की भावस्थिति देखकर इनके मन में भी यह विचार आया कि ये भगवत्-पथ में ही जायें। नित्य रास के पश्चात् श्री घनश्यामजी ऊपरी मंजिल के कमरे में अकेले ही जा बैठते एवं वहीं शयन भी करते। रात्रि में शयन के पूर्व श्री रामेश्वरजी नित्य ही ऊपर कमरे में इनकी चरण-सेवा के लिये जाते। उस समय उनके पास श्री महाराजजी के अनुभव की एवं लिखित सत्संग की कापी भी होती थी। घनश्यामजी ने एक दिन उनसे सत्संग की कापी लेकर कुछ उपदेश वाक्य पढ़े तो बहुत प्रभावित हुए। ऐसे ही श्री–जी की भावस्थिति में घटित गोचारण का अनुभव पढ़कर तो इन्हें जिज्ञासा जाग्रत

हो गई कि ये महापुरुष कौन होंगे ? क्या अभी धराधाम पर विराजमान हैं ? इन्होंने पूर्व में हुए ऐसे कई सिद्ध महापुरुषों के लीलानुभव पढ़े एवं सुने थे। श्री रामेश्वरजी से इन्होंने श्री महाराजजी का परिचय पूछा और उनसे यह जानकर कि ये महापुरुष अभी वृन्दावन में ही विराजित हैं, अपने मन में उसी समय निश्चय कर लिया कि ये ही मेरे गुरु हैं और मुझे इन्हीं के पास रहना है। जब रामेश्वरजी ने कहा कि मैं वृन्दावन में इन्हीं महापुरुष के पास रहता हूँ तो इनकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। सन् १९५० में ये स्वरूपाई से उतर गये थे, परन्तु मंडली में ही रहकर संगीत एवं सारंगी-वादन में निष्णात हो गए। मंडली गोरखपुर जाती ही रहती थी। भाईजी श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार के मन में आया कि इन्हें किसी विद्वान् गृहस्थ भक्त के पास रखकर विद्याध्ययन करवाना चाहिये। उन्होंने इन्हें कलकत्ते में श्री लक्ष्मीनारायणजी राजवैद्य के यहाँ अध्ययन के लिये रख दिया। उनकी वहाँ बहुत बड़ी आयुर्वेदिक फार्मेसी थी। वे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् और वैद्यक में अद्वितीय थे। श्री भाईजी के प्रति बहुत श्रद्धा रखते थे। वैद्यजी धन-सम्पन्न होने के साथ ही अच्छे भक्त भी थे।

पूज्य भाईजी का उद्देश्य श्री घनश्यामजी को पढ़ा-लिखाकर एक सद्गृहस्थ बनाने का था। उन्होंने इनके भविष्य के लिये कुछ राशि भी जमा करवाई थी, परन्तु विधि का विधान कुछ और ही था। इन्हें कलकत्ता में श्री वैद्यजी के पास रहते हुए छह माह ही हुए थे कि वैद्यजी को जागतिक व्यवहार से उपरति होकर वृन्दावन-वास की इच्छा हो गई। ये श्री घनश्यामजी सहित श्रीधाम-वास करने आ गये। संयोग की बात यह कि वैद्यजी गंगामंदिर के पास ही किराये पर मकान लेकर रहने लगे और यहाँ किसी से श्री–जी का नाम सुनकर दर्शन के लिये आने लगे। कभी-कभी घनश्यामजी भी इनके साथ आ जाते। इनको पता चल गया था कि रींवा में श्री रामेश्वरजी से पुस्तक लेकर जिन सन्त के अनुभव पढ़े थे एवं प्रशंसा सुनी थी, वे ये ही सन्त हैं। धीरे-धीरे श्री–जी के प्रति इनका आकर्षण बढ़ता ही गया। अब तो वैद्यजी के औषधालय में पढ़ने एवं काम करने से इन्हें अरुचि हो गई। श्री–जी को भी इनका वैद्यक सीखना अच्छा नहीं लगा।

हो गई कि ये महापुरुष कौन होंगे ? क्या अभी धराधाम पर विराजमान हैं ? इन्होंने पूर्व में हुए ऐसे कई सिद्ध महापुरुषों के लीलानुभव पढ़े एवं सुने थे। श्री रामेश्वरजी से इन्होंने श्री महाराजजी का परिचय पूछा और उनसे यह जानकर कि ये महापुरुष अभी वृन्दावन में ही विराजित हैं, अपने मन में उसी समय निश्चय कर लिया कि ये ही मेरे गुरु हैं और मुझे इन्हीं के पास रहना है। जब रामेश्वरजी ने कहा कि मैं वृन्दावन में इन्हीं महापुरुष के पास रहता हूँ तो इनकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। सन् १९५० में ये स्वरूपाई से उतर गये थे, परन्तु मंडली में ही रहकर संगीत एवं सारंगी-वादन में निष्णात हो गए। मंडली गोरखपुर जाती ही रहती थी। भाईजी श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार के मन में आया कि इन्हें किसी विद्वान् गृहस्थ भक्त के पास रखकर विद्याध्ययन करवाना चाहिये। उन्होंने इन्हें कलकत्ते में श्री लक्ष्मीनारायणजी राजवैद्य के यहाँ अध्ययन के लिये रख दिया। उनकी वहाँ बहुत बड़ी आयुर्वेदिक फार्मेसी थी। वे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् और वैद्यक में अद्वितीय थे। श्री भाईजी के प्रति बहुत श्रद्धा रखते थे। वैद्यजी धन-सम्पन्न होने के साथ ही अच्छे भक्त भी थे।

पूज्य भाईजी का उद्देश्य श्री घनश्यामजी को पढ़ा-लिखाकर एक सद्गृहस्थ बनाने का था। उन्होंने इनके भविष्य के लिये कुछ राशि भी जमा करवाई थी, परन्तु विधि का विधान कुछ और ही था। इन्हें कलकत्ता में श्री वैद्यजी के पास रहते हुए छह माह ही हुए थे कि वैद्यजी को जागतिक व्यवहार से उपरति होकर वृन्दावन-वास की इच्छा हो गई। ये श्री घनश्यामजी सहित श्रीधाम-वास करने आ गये। संयोग की बात यह कि वैद्यजी गंगामंदिर के पास ही किराये पर मकान लेकर रहने लगे और यहाँ किसी से श्री–जी का नाम सुनकर दर्शन के लिये आने लगे। कभी-कभी घनश्यामजी भी इनके साथ आ जाते। इनको पता चल गया था कि रींवा में श्री रामेश्वरजी से पुस्तक लेकर जिन सन्त के अनुभव पढ़े थे एवं प्रशंसा सुनी थी, वे ये ही सन्त हैं। धीरे-धीरे श्री–जी के प्रति इनका आकर्षण बढ़ता ही गया। अब तो वैद्यजी के औषधालय में पढ़ने एवं काम करने से इन्हें अरुचि हो गई। श्री–जी को भी इनका वैद्यक सीखना अच्छा नहीं लगा।

इन दिनों दैववशात् श्री रामेश्वरजी वृन्दावन-वास कर रहे थे। वे भी चाहते थे कि इतने संस्कारी बालक होते हुए भी ये इन प्रपंचों में क्यों पड़ें? ये वैद्यजी से छिपकर इनसे मिलते रहते और श्री महाराजजी के सत्संग की चर्चा करते रहते थे। श्री घनश्यामजी भी वैद्यजी को बिना बताये श्रीरामेश्वरजी के साथ श्री–जी के पास आते रहते थे एवं १९५२ में पूर्णरूपेण श्रीमहाराजजी के शरणापन्न हो गये। अब तो इन्हें वैद्यजी के पास रहना भार स्वरूप हो गया। एक दिन ये हमारे साथ वैद्यजी को बिना बताये "नरसी मेहता चरित" देखने चले गये। नरसी मेहता चरित देखकर तो ठाकुर घनश्यामजी का मन मचल उठा। कुछ दिन पश्चात् ही ये वैद्यजी के यहाँ से भाग गये। कुछ दिन अपने गाँव में रहकर पुनः वृन्दावन आ गये और श्री–जी की आज्ञा से दो वर्ष तक श्री रामेश्वरजी के पास रहे। उनके पास रहते हुए बहुत तितिक्षामय समय बिताया। नित्य तीन लक्ष नाम लेते थे। आटे की भूसी की रोटी, कभी केवल उबली सब्जी, कभी काशीफल के छिलके उबालकर उसका पानी ही आहार के नाम पर लेते थे। एकदिन में गिरिराजजी की दो-दो परिक्रमाएँ कर लेते थे। श्री रामेश्वरजी की रहनी भी इसी प्रकार त्याग-तितिक्षामय थी। दस वर्ष तक ये अलग कुटिया में ही रहे। इस समय तक तो श्री–जी के परिकर में कई व्यक्ति बढ़ चुके थे। श्री घनश्यामजी के आने के पश्चात् इनकी स्वजनाई के समय के भी कई भक्त श्री–जी के चरणाश्रय में आ गये।

कुछ विशेष प्रसंग–

सन् १९४५ से १९५० तक का समय बहुत ही एकान्त रूप से व्यतीत हुआ था। बस, श्री–जी के पास मैं और देवीजी ही साधक रूप से रहते थे। निरन्तर सत्संग, सतत श्री–जी का सान्निध्य और अगाध प्यार मिलता रहा। मैं और देवीजी नित्य दस-बारह घण्टे महामन्त्र का जप करते। भगवत्-प्राप्ति के लिये श्री–जी के पास बालक के समान मचलते रहते। श्री–जी भी इन्हें अपने पूर्ण स्नेह से अभिषिक्त करते। तीन-चार वर्षों तक ऐसी ही दिनचर्या रही। एक दिन मैं और देवीजी भगवत्-प्राप्ति के लिये श्री–जी के चरणों में अत्यधिक व्याकुलता से रो-रोकर कातर प्रार्थना कर रहे थे कि श्री–जी भी उमड़ पड़े। उन्होंने हमें अश्रुधारा से सिक्त कर दिया। वचन दिया कि पहले

तुम्हारा ही कार्य करूँगा, फिर किसी का। श्री–जी की इस वाणी को लेकर ही हम निश्चिंत हैं।

इसी बीच ही कुछ ऐसा पट परिवर्तन हुआ कि सबको चकाचौंध में डाल दिया। यह सब क्यों ? किसलिये ? दीर्घकाल तक इसका पता नहीं चला। सन्त-चरित्र क्या है, वे ही जानें। कुछ भी हो , पर मैं तो उनकी उसी वाणी पर ही निर्भर बैठा हुआ था। सन् १९५३ तक श्री–जी का स्नेह और सान्निध्य अनवरत रूप से मिलता रहा, परन्तु भविष्य में विधि कुछ विचित्र विधान रचने वाला है और कुछ समय के लिये श्री–जी से अलग भी होना पड़ेगा, यह क्या पता था ? उस समय मेरी अनन्यता पूर्ण-रूपेण श्री महाराजजी के प्रति इतनी थी कि उनके निरन्तर संग की तुलना में भगवत-प्राप्ति को भी मन में गौण स्थान दिया हुआ था। श्री–जी जैसे सच्चे भगवदानुरागी संत यह कैसे सह सकते थे। संभवतः इसीलिये उन्होंने यह कृपाविधान किया था।

सन् १९५३ के जेष्ठ मास में गुजरात के एक बहुत उच्चकोटि के योगी संत श्री रणछोड़दासजी महाराज, जिनकी अवस्था डेढ़ सौ साल की बताई जाती थी, भक्तसमूह सहित बदरीनाथ यात्रा के लिये जाने वाले थे। श्रीधाम से श्री विट्ठलजी भी इनके साथ जाने वाले थे। उन दिनों मेरा मन कुछ म्लान होने से मैंने भी विट्ठलजी के साथ यात्रा में जाने का विचार किया। सोचा कि वहाँ के बरफीले सात्त्विक वातावरण में मन कुछ ठीक हो जायेगा। जीवन में प्रथम बार श्री–जी को छोड़कर यात्रा में जाने की कुप्रेरणा मन में आई। यहीं से श्री–जी से पृथक् होने का सूत्रपात हो गया। तब तक तो स्वयं श्री–जी को भी यह कल्पना नहीं थी कि यह मुझसे अलग रह सकता है और यह बात सत्य भी थी। श्री–जी को गंगामंदिर में छोड़कर बाजार तक जाना भी मुझे भारी लगता था। एक माह का यह बिछोह सहन करना पड़ा। किसी को भी यह विश्वास नहीं था कि मैं श्री–जी के बिना रह सकता हूँ।

मैं यात्रा में चला गया। जाने में मन पर क्या गुजरी इस वेदना को श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और कोई नहीं जान सकता। मेरा जाना श्री महाराजजी को भी अच्छा नहीं लगा और उन्होंने पीछे से यह बात कही भी–"मुझे यह

कल्पना नहीं थी कि मनोहरजी मेरे बिना रह सकते हैं, अब तो मैं भी अकेला विचर सकता हूँ।" मैं यथासमय यात्रा से लौट आया।

सन् १६५४, आषाढ़ मास में श्री महाराजजी किसी को बिना बताये श्री रसिकभूषणजी के साथ बीकानेर चले गये। ढाई माह बाद लौटने पर बताया कि मैं श्री रामसुखदासजी के दर्शन करने चला गया था। वहाँ कुछ दिनों तक पूर्व परिचित भक्तों के यहाँ श्री-जी का सत्संग भी हुआ था। उन भक्तों में एक श्री जमुनालाल बजाज भी थे। बाद में सन् १६८५ में वे सपत्नीक श्रीधाम आये थे। उन्होंने स्वयं अपने मुख से उनके साथ जो घटनायें घटीं, वेणुविनोदकुंज में आकर हमें सुनाईं। उन्हें ज्यौं की त्यौं लिख रहा हूँ।

जमुनालालजी ने कहा–सन् १६५४ में जब श्री-जी बीकानेर आये थे और बगीचे में ठहरे हुए थे, तब रोज दूध गरम करके पिलाने की सेवा उन्होंने मुझे प्रदान की थी और कहा था कि भगवत्-नाम जपते हुए दूध गरम किया करें। श्री-जी के आदेशानुसार नामजप करते हुए मैं दूध गरम करता और ले जाकर उन्हें पिलाता। श्री-जी प्रसन्नता पूर्वक दूध पीते। एक दिन मन में आया कि दूध गरम करते हुए एकाग्रता से नाम नहीं होता। नाम लेना होगा तो बाद में ले लेंगे। ऐसा सोचकर मैं बिना नामजप किये ही दूध गरम करके ले गया। श्री महाराजजी ने एक ही घूँट पीकर कहा–आज दूध में रोज जैसा स्वाद नहीं है। मैं मन में चौंक गया। क्या उत्तर देता ? मन का भाव मन में छिपाते हुए बोला–दूध तो रोज जैसा ही है। श्री महाराजजी अन्तर्यामित्व से मेरे मन की बात समझ गये, बोले–देखो, कल से हम धारोष्ण कच्चा ही दूध पीयेंगे। कल से गरम नहीं करना और जब तक वहाँ रहे, धारोष्ण दूध ही लेते रहे। मैं मन ही मन बहुत लज्जित हुआ।

दूसरी घटना–एक बार जब मैं वृन्दावन आया था तो सबको लेकर चार बजे वेणुविनोदकुंज गया। श्री-जी से कुछ देर वार्तालाप हुआ। मैंने कहा–परसों हमें जाना है। एकान्त में हमें आपसे कुछ प्रार्थना करनी है। श्री-जी ने "अच्छा, अच्छा" कहकर हमें विदा किया। दूसरे दिन मैं व मेरी पत्नी वेणुविनोदकुंज गये और राधेश्याम कहकर दरवाजा खटखटाया। श्री ठाकुरजी ने द्वार खोलते हुए कहा–"श्री-जी जब विश्राम करने गये तब मुझसे कह गये

कि दो व्यक्ति आयेंगे, उनके आने पर मेरा दरवाज़ा खुलवा लेना। वे जाने वाले हैं, उन्हें विदा करना है।" मैंने कहा–दो के लिये कहा है ? ठाकुरजी ने कहा–हाँ। मेरा हृदय यह सोचकर भर आया कि श्री–जी को पहले ही पता चल गया। हम दोनों श्री–जी को प्रणाम करके बैठ गये। मैंने श्री–जी से प्रार्थना की कि मेरे घर में प्रेत-बाधा है, जो आपकी कृपा से ही निकल सकती है। श्री–जी ने कहा–कोई चिन्ता न करो। सब निकल जायेगी। मैंने कहा–हमको तो आपका ही भरोसा है। श्री–जी ने कहा–"मेरा भरोसा है न! तो बस, जाओ सब ठीक हो जायेगा।"

बीकानेर आने के कुछ दिन बाद मैं सालासर गया। वहाँ एक व्यक्ति को हनुमानजी का आवेश आता था। मैंने उससे प्रार्थना की कि मेरे घर में प्रेत-बाधा है, दूर कैसे हो ? मेरी बात सुनते ही वह हनुमानजी के सामने बैठ गया। उसे आवेश हो गया और बोलना प्रारंभ किया–तुम्हारे घर एक संत आये थे, उनका स्वरूप ऐसा था। ऐसा वर्णन करते हुए कहा–उन्होंने तुम्हें जो बताया उस पर तुमने ध्यान नहीं दिया। सन्तों की बात पर ध्यान देना चाहिये। मैं मन में समझ चुका था कि कौन सन्त है, परन्तु उनकी परीक्षा की दृष्टि से मैंने कहा–"मेरे घर तो बहुत सन्त आते रहते हैं, मुझे क्या मालूम किस सन्त ने क्या कहा था ? आप उनका नाम बतायें।" इतना सुनते ही उन्हें क्रोध आ गया और लाल-लाल आँखें करके बोले–तुम हमारी परीक्षा ले रहे हो, मालूम होते हुए भी ? तो सुनो, उनका नाम श्री बालकृष्णदासजी है। उनका गोपीभाव है और वृन्दावन में रहते हैं। और कुछ चाहते हो ? भविष्य में हमारी या किसी की परीक्षा ली तो तुम्हारा बहुत अनिष्ट होगा। तुम्हारा यह अपराध हुआ है। मैंने हाथ जोड़कर क्षमा करने की प्रार्थना की। उनका क्रोध शान्त हुआ और उन्होंने कहा–"तुम भोले हो, सरल हो, इससे मैं क्षमा करता हूँ।" कुछ दिन पश्चात् मेरे घर की बाधा जाती रही।

तीसरी घटना–बीकानेर में बगीचे में रहते हुए श्री महाराजजी को दो माह हो गये थे। श्रीराधाष्टमी उत्सव निकट होने से उन्हें वृन्दावन जाना था। श्रीजी के आज्ञानुसार उनकी पूरी तैयारी मैंने कर दी थी। जाने का समय हो गया था, इतने में कुछ सत्संगी भक्त आ गये और श्री–जी मस्ती में उनके साथ

सत्संग चर्चा करने लगे। उन्हें जाने का भान ही न रहा। मैंने कहा– "महाराजजी ! गाड़ी का समय हो चुका है और श्रीनाथजी राठी के यहाँ अभी आपको प्रसाद भी पाना है।" श्री–जी ने कहा–"नहीं जी, अपने को ट्रेन अवश्य मिलेगी। आप निश्चिंत रहें।" ऐसा कहकर वे श्रीनाथजी राठी के यहाँ प्रसाद पाने के लिये चल दिये। हम लोग भी साथ ही थे। श्री–जी वहाँ से इतनी तेज गति से चले कि हम को पीछे-पीछे भागते हुए चलना पड़ रहा था। मैं तो पसीने से लथपथ हो रहा था। वहाँ पहुँचकर निश्चिन्तता-पूर्वक भिक्षा करने लगे। गाड़ी का समय हो चुका था; मेरे मन में चिन्ता हो रही थी। सोचा एक बार स्टेशन पर फोन करके तो पूछ लूँ। मैंने रेलवे इन्क्वायरी फोन लगाया, उन्होंने बताया गाड़ी तो सही समय पर ही स्टेशन पर आ चुकी है परन्तु इन्जन जहाँ से आता है, अभी तक नहीं आया है। मैंने यह सूचना श्री महाराजजी को सुनाई। सुनते ही ठहाका मारकर जोर से हँसे, बोले–"अजी, हमको लिये बिना ट्रेन कैसे जायेगी !" भोजन करके स्टेशन पहुँचे। श्री महाराजजी आगे बढ़कर थ्री टायर में चढ़कर एक सीट पर बैठ गये। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि इस सीट का रिजर्वेशन खाली है। इतने में कण्डक्टर गाड़ी में चढ़ गया। श्री–जी को देखते ही आदरपूर्वक प्रणाम करके बोला–"आनन्द पूर्वक विराजें।" हमने बिना मन के श्री महाराजजी को बिदाई दी।

श्री जमुनालालजी से इन चमत्कारपूर्ण घटनाओं को सुनकर बहुत ही आश्चर्य बना रहा। अस्तु। इसके पश्चात् फिर सन् १९५४ में ही माघ मास में आप किसी को बिना बताये राधनपुर (उत्तर गुजरात) में कुछ परिचित भक्तों के पास चले गये। वहाँ से आपके सत्संग के पत्र आते रहते थे। उनमें से एक पत्र ज्यौं का त्यौं दिया जा रहा है –

राधनपुर

परम प्रिय जनवृन्द, जय श्री राधे, राधे।

यदि हरिस्मरणे सरसं मनः यदि विलास कलासु कुतूहलम्।
मधुर कोमल कान्त पदावलीं शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्।।

सर्वथा निरभिमान होकर, निरावरण होकर पूर्ण समर्पण भाव से चिरवांछित, चिरचिन्तित श्रीकृष्ण-मिलन की अभिलाषा पूर्ण करने के लिए

पुनः यह सुर-मुनि दुर्लभ मनुष्य जन्म उन्हीं करुणामय की अकारण करुणा से मिला हुआ है।

जब तक मनुष्य इस अमोघ, अद्भुत, अनुपम, नित्य नूतन, प्रतिक्षण वर्धनीय श्रीकृष्ण मिलन-विलास में नहीं होगा, तब तक इस प्रकृति मूल रहस्य ज्ञान से वह अज्ञात, भगवत् संग से निसंग, प्रकृति वासना साम्राज्य का ही तुच्छ कीट बना रह जायगा।

मानव को मनमूल निजस्वरूप से प्रकृति रहस्य को समझ लेना चाहिए। बिना निज धर्म के, निज यथार्थ स्वभाव के ही वह अपने आपको केवल अज्ञानावरण में ही देखता है, सुनता है, सूँघता है, स्पर्श करता है एवं चखता रहता है। अब उसे इस अपने आपको ही आनन्द लेने के परिश्रम को त्यागकर प्रभु-पादपद्म में अपने आपको पूर्णरूपेण समर्पण कर मधुर सन्निधि के सेवा-परायणों में एक होकर किलोल करना चाहिए। तभी तक अपूर्ण कामनायें हैं, मान-अभिमान है, कामाग्नि है, जब तक अपनी अनादि कालीन जन्मसिद्ध श्रीकृष्ण मिलन की योग्यता में पूर्णाधिकार में नहीं आ जाता। प्रकृति से उन्हें अलग रखकर, अपने से भी उन्हें अलग समझ कर संसार से ही सिर्फ लगते रहने की उसकी असंगत वार्ता है।

श्रीकृष्ण को पाने के लिये, श्रीकृष्ण की पूर्ति के लिये, पूर्ण सुन्दर मधुर नित्य कृष्णांगसंग से पूर्ण होने के लिए कृपया दत्त यह मनुष्य जन्म है। उन्हीं को दे दो, बस उन्हीं का पुनः उन्हीं के माधुर्य रूप सरोवर में डुबा दो, नित्य नूतन रमणीय रूप में न्यौछावर कर दो, अजी ! और करना ही क्या है ?

मन में देह की ही बात भरी हुई हैं, इन्द्रिय-जनित आनन्द की कामना ही कामना हैं। स्थूल भाव से स्थूल भोग-विलासी यह मन बना हुआ है। विषयों के पीछे पागल बना फिरता है जन्म-जन्मान्तरों से केवल स्त्री, पुत्र, परिजनों की चिन्ता से व्याकुल निज का कारण, करुणा-वरुणालय श्रीकृष्ण के अनन्य शरण होने व्याकुल नहीं हो रहा है, तो कितना अभागा है यह।

मनुष्य को श्रीकृष्ण विमुखता में दुःख ही दुःख, भीषण नरकयातना, पुनः जन्म मृत्यु, जराव्याधि, हाय ! हाय ही का तो अनुभव पूर्ण रूप से हुआ।

पुनः इस भयंकर ज्वाला से छुटकारा पाने के लिए व्याकुल भी तो इसे होना चाहिए। फिर क्यों नहीं होती व्याकुलता ?

इसका एकमात्र उत्तर यही कि व्याकुलता तो अवश्य ही होती है, सूक्ष्म रूप से किंचित् मात्रा में, वह परिणाम में या दूसरे क्षण में फिर महादारुण विषयवासनाओं में ही पहले की भाँति आ जाता है। विषय-वासनाओं का बीज ही न रहे, ऐसी तीव्र-सतत व्याकुलता (भगवत् प्राप्ति अर्थ) भगवान् को पाने के लिए ही सिर्फ जब रह जाती है, तब भगवदभिमुख उसको श्रीकृष्ण रूप-लीला का सुभग, सुखद, सुशीतल माधुर्य मंगल पूर्ण अभिनिवेश का स्पर्श मिलता जायेगा। साथ-साथ संसार का अभाव होता जायगा।

जैसे-जैसे श्रीकृष्ण से मिलने की व्याकुलता अधिक से अधिक मात्रा बढ़ती जायगी, वैसे-वैसे संसारी कामवासनायें घटती जायेंगी। जैसे मरु-भूमि मार्ग में ज्येष्ठ मास में थका हुआ पसीने से लथपथ भूखा-प्यासा पथिक, सुशीतल वृक्ष की छाया में विश्राम की तथा जल-फल की इच्छा से व्याकुल रहता है; उसे कोई फल, पुष्प वृक्षों से आवृत सुन्दर बगीचे की तरफ से शीतल वायु का संकेत मिल जाता है, वैसे ही भवाटवी में भूले भटके व्याकुल मानव के लिए श्रीकृष्ण की कृपा संतों में होकर विश्राम के लिए, चिर विश्रान्ति के लिए आवाहन करने लगती है।

सन्तों को पाकर, भगवत्-संगी सन्तों के अंग-संग को पाकर, सन्त युक्त श्रीकृष्ण प्रकृति को तथा अपने को भी भगवद्-संयोग में पाकर संसारी भीषणता स्वप्नवत् ही शून्य सी हो जाती है। मानो बिल्कुल प्रभुमिलनमध्य में आवरण कुछ भी नहीं था, ऐसा अनुभव हो जाता है।

श्रीकृष्ण की संकल्प सृष्टि में, मानव मात्र के मन के मूल में, उन्हीं से मिलन संकल्प है, उन्हीं की इच्छा है, उन्हीं के मिलन विचार भरे हुए हैं। **उन्हीं से मिल पूर्ण प्रसन्न होने, सुखी होने, पूर्ण तृप्त होने, आनन्दित होने की व्याकुलता अन्तर्हित है।**

यह मन मूल की व्याकुलता, इच्छा का घनीभूत स्वरूप बाहर प्रगट होने पर प्रकृति, भगवत्-मिलन विलास स्थली ही तो रह जायगी उस विमल निर्मल, सरस, उज्ज्वल वासना शून्य दृष्टि में।

जिस मनसे संसार का संसर्ग नहीं रहा, संसार ही जिस मलिनता का कारण था, उपाधि रूप में था, प्रभु मिलन में घूँघट का रूप धारण किये हुए था, वह अब नहीं रहा। ऐसा मालूम हुआ उसे कि अकारण ही कृपादृष्टि से स्वयं अपने कर-कमल से घूँघट को हटाकर पूर्णालिंगन किया हो।

वे मिलने, मिलकर विलास करने, अनादिकाल से सामने खड़े हुए हैं। पर मनुष्य, मनुष्यत्व को भूलकर उनकी ही दासी माया से लिपटा पड़ा है। उसे यह होश ही नहीं कि यह माया श्रीकृष्ण की ही किंकरी है, दासी है। उसे यह ज्ञान ही नहीं कि **जो कदापि माधव भजे तो माया चेरी होय।**

यह उज्ज्वल शारदीय रात्रि किसके लिए ? यह नील निर्मल तारागणों से आवृत, चन्द्रबिम्ब से अलंकृत नभोमण्डल, रम्य पुष्प-फल वृक्षों से, पक्षियों के कलरव से, यमुना त्रिविध समीर में गुंजित वंशीरव से संपूर्ण वन, यह किसके लिये निर्मित है ? ये सब व्यवस्था श्रीकृष्ण ने मानव के लिए की है। वह उनसे मिलकर रास रंग के उमंग में आ जाय, इसीलिए की है ऐसी रचना।

हम इस वृन्दावन के रहस्य, श्री ब्रजगोपीजनों के स्वरूप के विचार से ही अपने स्वरूप को समझ सकते हैं, जो कि श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्ण गतचित्ता, श्रीकृष्ण-प्रेम-रसभावितामति हैं।

श्रीकृष्ण की लीला पात्रों को लेकर ही हो सकती है, अन्यथा नहीं। वैसे ही हम भी उन पात्रों में एक होकर ही लीला के आनन्द में मग्न हो सकते हैं।

उनकी पात्रा प्रेमास्पदाओं के जीवन-प्रेम सौन्दर्य पूर्ण व्यवहार, गृह कृत्य तथा वनीयलीला का चिन्तन करते रहने से ही अपनी वास्तविक पात्रता या योग्यता स्मृति में आ सकती है।

निरन्तर श्रीकृष्ण का स्मरण, कीर्तन, श्रवण, मनन करते हुए श्री ब्रजगोपियों के इन्द्रियधर्म का चिन्तन करते हुए चित्त सरस बन जाता है, जो कि चित्त का स्वरूप ही है। सरस मन में सत्त्व गुण बढ़ता जाता है, श्रीकृष्ण मिलनोत्कण्ठा उदित हो जाती है। सरस मन रसिक है श्रीकृष्ण शृंगार रसास्वादन में, वह और कुछ भी नहीं चाहता। इसीलिए तो कहा है –

यदि हरि स्मरणे सरसं मनः यदि विलास कलासु कुतूहलम्।
मधुर कोमल कान्त पदावलीं, शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्।।

आप लोगों का शुभचिन्तक—
बालकृष्णदास

छह मास पश्चात् आप राधनपुर से वृन्दावन आ गये।

फिर कुछ दिन यहाँ रहकर आप हम सबको लेकर राधनपुर गये। ठाकुरजी, देवीजी, कृष्णाजी, मैं और रसिकभूषणजी इतने व्यक्ति साथ गये थे। वहाँ एक मास तक सत्संग का सुख प्रदान कर और नारायणदासजी खूटेटा के आग्रह से एक दिन जयपुर ठहरकर श्रीगोविंददेवजी के दर्शन करते हुए श्रीधाम आ गये।

वहाँ से आने के कुछ समय पश्चात् (सन् १९५४ में ही) श्री—जी के छोटे भाई श्री राजगोपालजी कई वर्षो से श्री—जी की खोज में थे, पता लगाते हुए श्रीधाम आ गये। श्री—जी को गृहत्याग किये तब उन्नीस वर्ष हो चुके थे। न परिवार वालों को महाराजजी का पता था, न श्री महाराजजी को परिवार जनों का। वर्षों के पश्चात् भाई राजगोपाल से मिलन हुआ था।

श्री—जी के पूर्व परिचित श्री जवाहरलालजी जड़िया मथुरा सोने चाँदी के बहुत बड़े व्यापारी थे। ये कुछ वर्षों से अहमदाबाद रहने लगे थे। वहीं राजगोपाल का इनसे परिचय हो गया। बातों-बातों में श्री—जी की चर्चा चल पड़ी। सेठजी ने उन्हें बताया—वे तो हमारे गुरु रूप हैं। हमारे यहाँ मथुरा में कभी-कभी आते रहते हैं और श्रीधाम वृन्दावन में ही रहते हैं। बस, वह इनसे पता लेकर श्रीधाम आकर श्री—जी से मिले। इतने वर्षों में आपको यह भी पता नहीं था कि घर में अब कौन-कौन हैं। गृहत्याग के समय इनके माता-पिता मैसूर में रहते थे। राजगोपाल से पता चला कि अब वे परिवार सहित मद्रास में रह रहे हैं। राजगोपाल से वहाँ की सब बातें सुनकर हमें श्री—जी के परिवार के दर्शन करने की इच्छा हो गई। हमने रामेश्वर-यात्रा के बहाने वहाँ जाने का प्रस्ताव श्री—जी के सम्मुख रखा और उनकी आज्ञा पाकर उनके सहित वहाँ जाने की तैयारी में लग गये।

इसी समय की एक विचित्र घटना है। श्री महाराजजी के गले में एक गाँठ हो गई थी। कई महीनों से ठीक नहीं हो रही थी। डॉ. होतीचन्दजी से यह बात श्री गंगारामजी को पता लगी। एक दिन बहुत सुबह डॉ. साहब को लेकर वे आये और श्री–जी की गाँठ देखकर कहने लगे–'आपके पेशाब में कोई खराबी है। मैं पहले दवाखाने में ही काम करता था, सो मुझे इसकी पहचान है। आप एक ग्लास में लघुशंका करके बतायें। मैं देखकर बता दूँगा।' सरल स्वभाव श्री–जी ने ऐसा ही किया। श्री गंगारामजी ने ग्लास हाथ में लिया और आँगन में खड़े-खड़े वह पी गये। कुछ बचा, वह डॉ. साहब को दे दिया, वे भी पी गए। श्री–जी "ये क्या कर रहे हैं ? यह क्या कर रहे हैं ?" कहते ही रह गये। वे तो पीकर सीधे बिना बोले जल्दी से चले ही गये। डॉ. साहब ने बताया कि उस दिन से श्री गंगारामजी पर कई दिनों तक मस्ती चढ़ी रही। श्री–जी पर इनकी बहुत श्रद्धा थी। भावना की भी हद हो गई। ये गृहस्थ थे और कुछ वर्षों से वृन्दावन रह रहे थे। डॉ. होतीचन्दजी से इनकी घनिष्ट मित्रता थी। कुछ समय पश्चात् ये विरक्त रूप से संन्यास लेकर रहने लगे।



बड़ी बहन यदुगिरि के साथ श्रीमहाराजजी



छोटे भाई बहन (मोहन, ज्योति एवं इन्दिरानी) के साथ श्रीमहाराजजी

श्री रामेश्वर यात्रा तथा परिवार से मिलन

पूर्व में हम लिख ही चुके हैं कि हमने मद्रास जाकर श्री–जी के परिवार का दर्शन करने की अनुमति प्राप्त कर ही ली थी। तदनुसार सन् १९५५ में रामेश्वर जाने का निश्चय करके हमने श्री–जी के परिवार के लोगों को मद्रास आने की सूचना पत्र द्वारा दे दी थी। पहचान के लिये श्री–जी के भाई श्रीमोहनजी ने छोटे भाई ज्योती, बहिन इन्द्राणी तथा अपने फोटो भेजे, जिससे हम मद्रास स्टेशन पर उन्हें पहचान सकें। हमने श्री–जी का फोटो भेज दिया था। इन दिनों सन्त श्री गंगारामजी, जिनसे पाठक पूर्व परिचित है ही, मद्रास में ही रह रहे थे। वहाँ इनका बहुत बड़ा शिष्य मंडल था। हमने इनको भी मद्रास पहुँचने का तार दे दिया था। यहाँ से श्री–जी के साथ मैं, देवीजी, घनश्यामजी, देवीजी के पिताजी, कृष्णाजी, कुसुमजी और रसिक-भूषणजी, इतने व्यक्ति रामेश्वर-यात्रा के लिये रवाना हो गये। इस समय गंगा-मन्दिर परिकर की रहनी विरक्ति एवं त्यागमयी ही थी। पास में तो कुछ अर्थ-व्यवस्था थी नहीं। किसी प्रकार जाने का प्रबन्ध करके ही चल पड़े और तीसरे दिन मद्रास स्टेशन पर पहुँचे। प्लेटफार्म पर संत श्री गंगारामजी अपने बहुत से भक्तों के साथ हाथ में फूलमाला लिये श्री–जी के स्वागतार्थ पहले से ही तैयार खड़े थे। श्रीमोहनजी (श्री–जी के भाई) को भी तार दिया था, परन्तु तार में तारीख गलत पढ़ लेने से वे स्टेशन पर नहीं आ पाये।

श्री–जी के ट्रेन से उतरते ही श्री गंगारामजी ने पुष्पमाला पहनाई और उन्हें लेकर प्लेटफार्म के बाहर आये। वे दो कारें साथ में लाये थे। उन्हीं में बैठकर श्री–जी सहित हम सब श्री गंगारामजी के निवासस्थान पर पहुँचे। पहले से ही कालीन इत्यादि बिछाकर सब व्यवस्था की हुई थी। बहुत से स्त्री पुरुष श्री–जी के दर्शनार्थ वहाँ उपस्थित थे। जलपान के पश्चात् श्री–जी ने कुछ समय विश्राम किया। मैंने श्री गंगारामजी से श्रीमोहनजी का पता लगवाने के लिये कहा। उन्होंने तुरंत अपने एक शिष्य को मेरे साथ जाने की आज्ञा दी। मोटर सायकिल द्वारा हम 'एगमोर' पहुँचे। कुछ ही समय तक ढूँढने पर घर का पता लग गया। श्रीमोहनजी उसी समय शीघ्रता से हमारे साथ ही श्री महाराजजी से मिलने चल पड़े।

मेरे पास कैमरा तो था ही। ट्रेन से उतरने के समय से ही प्रसंगानुसार श्री–जी के सभी फोटो लेता रहा। श्री–जी के साथ श्रीमोहनजी के प्रथम मिलन का भी फोटो लिया। वे श्री–जी सहित हम सबको अपने घर ले गये। वहाँ की यह प्रथा है कि बारह वर्ष पश्चात् यदि पुत्र-मिलन का अवसर आये तो माँ सर्वप्रथम दर्पण में उसके मुख का प्रतिबिम्ब देखने के पश्चात् ही पुत्र का मुख देखती है। उसी प्रथा के अनुसार माताजी हाथ में दर्पण लेकर एक कमरे में बैठ गईं। श्री–जी ने पीछे से आकर उसमें देखा। दर्पण में उनके मुख का प्रतिबिम्ब देखने के पश्चात् माताजी ने पलटकर सम्मुख से पुत्र-मुख दर्शन किया और दीर्घकाल से बिछुड़े अपने पुत्र को आतुरतापूर्वक दोनों हाथों से पकड कर हृदय से चिपटा लिया। वह मिलन अद्भुत था। इतने वर्षों के पश्चात् श्री–जी को देखते ही पूज्या माँ कमलम्मा का हृदय उमड़ पड़ा। उनके वात्सल्य-समुद्र में उफान आना स्वाभाविक ही था।

श्री–जी तो सन्त थे। गम्भीरता धारण किये हुए माँ को सान्त्वना देते रहे। सभी भाई-बहिन श्री–जी को घेरकर बैठ गये। माता ने पुत्र वात्सल्य के आवेग में अपनी तमिल भाषा में क्या-क्या बातें की यह अवर्णनीय है। वह लगातार बोलती जा रहीं थीं। इस भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण हम कुछ समझ तो नहीं पा रहे थे, परन्तु इतना तो अनुमान लगा ही रहे थे कि माँ अपने स्नेह-सलिल से पुत्र को सिंचित कर रही हैं। कुछ समय तक यह वात्सल्य-उदधि हिलोरें लेता रहा। धीरे-धीरे वातावरण संतुलित हुआ और पुत्र को खिलाने-पिलाने की व्यवस्था में माता एवं परिवारजन व्यस्त हो गये। इस समय श्री–जी के पिताजी कुछ महीनों से तीर्थाटन के लिये गये हुए थे। अतः उनका दर्शन नहीं हो सका। हमने भी कुछ पत्र-पुष्प माँ की सेवा में भेंट करके उनके चरण स्पर्श किये।

श्री महाराजजी की बड़ी बहिन 'यदुगिरि' भी घर पर ही थीं। इनके पति रामअय्यंगार समुद्री जहाज पर डॉक्टर थे और मद्रास में ही रहते थे। वे प्रतिदिन श्री–जी के दर्शनार्थ आते थे। उन्होंने श्री–जी के गाये सभी पद टेप कर लिये। वे एकदिन अपनी कार द्वारा श्री–जी और हम सबको अपनी कोठी पर ले गये। कोठी, बगीचा, देवगृह सब श्री–जी को दिखाया। बहिन

यदुगिरि के पति ने चन्दन-तिलक और फूलमाला धारण कराके श्री–जी की अर्चा की एवं सपरिकर श्री–जी को भोजन कराया। भोजन में उस प्रान्तके बहुत से व्यंजन बनाये थे। व्यंजनों के नामों की एक-एक सूची हमारे पास रख दी और परोसते समय उनकी जानकारी करवायी।

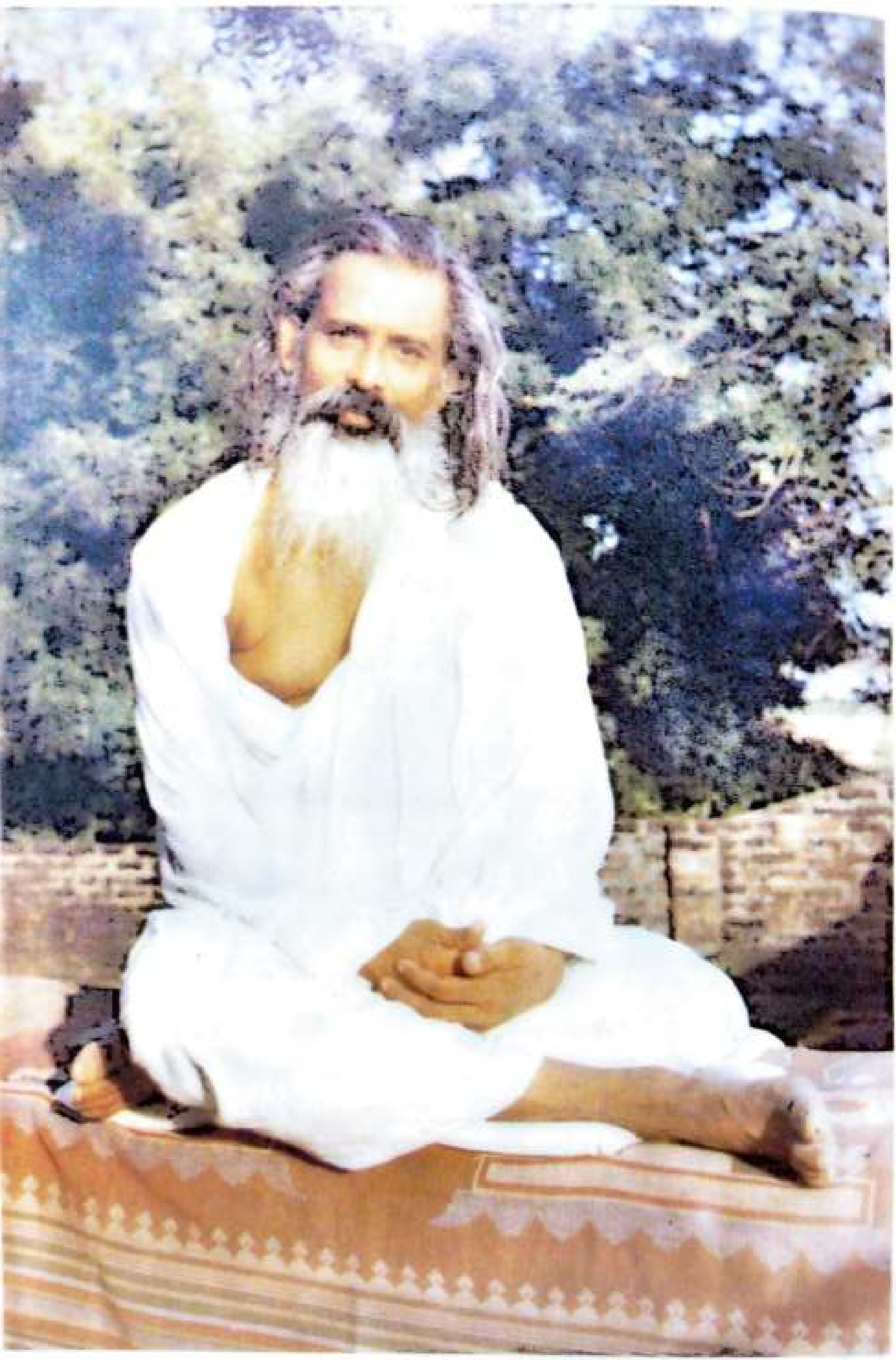
पन्द्रह दिन तक माँ ने जी भरकर पुत्र को लाड़ लड़ाया, उबटन लगाकर अपने हाथ से नहलाया, केशों में तेल डाल कर कंघा किया, स्वयं हाथों से भोजन बनाकर परोसा। सब प्रकार से जो भी लाड़-लड़ा सकती थीं, लड़ाया। पन्द्रह दिन यहाँ रहकर हम श्री–जी की छोटी बहिन वेदवल्ली के यहाँ बंगलौर चले गये। वह भी बहुत ही प्यार से श्री–जी से मिलीं। जिस दिन इनको सोते हुए छोड़ कर श्री महाराजजी गृहत्याग कर चले गये थे, वे सब बातें अश्रु बहाते हुए याद कराईं। उनके पति बाहर गये हुए थे, इसलिये नहीं मिल सके। उनके यहाँ आठ दिन रहकर हम आगे रामेश्वर-यात्रा के लिये रवाना हो गये। आठ दिन में रामेश्वरम्, श्रीरंगम्, तिरुपति बालाजी, मीनाक्षी इत्यादि तीर्थस्थानों के दर्शन कर हम फिर मद्रास आ गये और यहाँ दो दिन रहकर वृन्दावन के लिये बिदाई ली।

स्टेशन पर घर के सभी लोग आये थे। श्री गंगारामजी भी अपने शिष्य-मंडल सहित पहुँचाने आये थे। श्री–जी जैसे ही ट्रेन में बैठे, बस, फिर माँ का वात्सल्य फूट पड़ा। दोनों नेत्रों से गंगा-यमुना की धारा बह निकली। गद्गद कंठ से मुझसे कहने लगीं–"संपतकुमार को सम्हालना भला।" दृश्य बड़ा ही करुण था। सब बहिन-भाईयों के नेत्रों से अश्रु बह रहे थे। श्री गंगारामजी ने परिकरजनों सहित श्री–जी को मालायें धारण कराईं। गाड़ी रवाना हो गई। सभी अश्रु-विमोचन करते हुए चित्र लिखे से खड़े-खड़े देखते ही रह गये। हम सभी यथासमय श्रीधाम पहुँच गये।

घर के लोगों ने श्री–जी के पिताजी को जहाँ वे यात्रा में थे, पत्र द्वारा श्री–जी के आने और श्रीधाम लौट जाने की सूचना दे दी थी। वे तीर्थाटन करते हुए एक माह पश्चात् श्री धाम पहुँचे। उनके आने की सूचना श्री–जी को मिल चुकी थी। उनके आते ही श्री–जी एकदम उनसे मिलना नहीं चाहते थे। यहाँ आने पर उनके प्रेम का आवेग जरा कम हो जाये तभी मिला जाये–

ऐसा श्री–जी का विचार था। अतः श्री महाराजजी तीन-चार दिन तक अव्यक्त रूप से श्रीधाम मे ही रहे। पिताजी आते ही श्री–जी को न देखकर व्याकुल हो गये। जैसे-तैसे उन्हें सान्त्वना देते-देते किसी प्रकार चार दिन बिताये। पिताजी की इस सारी स्थिति से प्रतिदिन श्री–जी को अवगत कराते रहे। घर में रहते हुए भी पिताजी का रहन-सहन साधु का सा ही था। देखने में श्री–जी के समान ही ऊँचे तथा पंचकेश रखे हुए थे। हाँ, ये गौर वर्ण के थे। हाथों में करताल लेकर कीर्तन करते हुए वृन्दावन में घूमते रहते थे। चौथे दिन सुबह संकेतानुसार श्री–जी आये। उस समय ये एक कोपीन मात्र पहने हुए शरीर मे तेल लगाकर स्नान के लिये बैठ ही रहे थे। श्री–जी को देखते ही सब कुछ भूलकर दौड़े और उसी अवस्था में उनसे लिपट गये और रोते हुए गद्‌गद कंठ से न जाने क्या-क्या अपनी भाषा में बोलते रहे। श्री–जी गंभीर बैठे हुए थे। बीच-बीच में एक-दो शब्द सान्त्वना के कहते जाते थे। पिताजी कई-कई प्रकार से श्री–जी से लिपटते जा रहे थे। उनकी स्थिति देखकर ऐसा लग रहा था मानों ये पागल हो गये हैं। श्री–जी पलंग पर जाकर बैठ गये तो ये भी पलंग पर बैठ गये। दोनों पैर उनकी कटि से लपेट लिये और घन-घन चुम्बन लेने लगे। पाठकगण यदि वे सब फोटो देखेंगे तो गद्‌गद हुए बिना नहीं रहेंगे। अस्तु। यह सब वात्सल्य-प्रेम का अनुपम दृश्य हम लोग देखते रहे। बड़ी कठिनाई से श्री–जी ने उन्हें शान्त किया। इतने वर्षों के अनभ्यास से श्री–जी अपनी मातृभाषा भूल चुके थे। बड़ी कठिनाई से याद कर-करके बोलते थे।

पिताजी के आने के आठ दिन पश्चात् हम गंगामंदिर छोड़कर श्रीबिहारीजी के गोस्वामी श्री लालूजी के गोपाल-मंदिर (जुगलघाट) में रहने चले गये। यहाँ पिताजी एक माह श्री–जी के सान्निध्य में रहे। परिकरजनों ने अच्छी तरह सब प्रकार से उनकी सेवा की और जाते समय कुछ पत्र-पुष्प देकर सत्कार भी किया। वे यहाँ से ऋषीकेश चले गये। इसके पश्चात् लगभग पाँच-छह माह श्री–जी श्रीधाम में रहे।



सुखासीन श्रीमहाराजजी

चौदह माह का अज्ञातवास

सन् १९५५, एकदिन श्री महाराजजी अचानक कहीं चले गये। माह पर माह बीतने लगे, परन्तु न कोई पत्र आया न कोई सूचना ही मिली। सारा परिकर श्री–जी के बिना दुःखी था, साधन में संलग्न रहते हुए भी सभी को यही एक चिन्ता सदैव बनी रहती थी। श्री–जी की प्रतीक्षा करते हुए लगभग छह माह बीत गये, परन्तु कोई पता नहीं। तब हम सबने उन्हें खोजने का निश्चय किया। सर्वत्र पत्र भेजे, किन्तु कहीं से कोई सूचना नहीं मिली। श्री–जी कभी-कभी विनोद में कहा करते थे–"मुझे दो वर्ष अज्ञातवास के लिये जाना है।" सोचा, कहीं ऐसा ही तो नहीं? सर्वसम्मति से मैं और घनश्यामजी खोज के लिये निकल पड़े। यहाँ से डाकोर, राजकोट, द्वारका तथा जूनागढ़ गये, परन्तु श्री–जी का कुछ भी पता न लगने से निराश श्री धाम लौट आये। कभी-कभी श्री–जी श्री जगन्नाथ धाम में रहने की भी कहा करते थे। अतः पुनः मैं और श्री घनश्यामजी जगन्नाथजी के लिये रवाना हो गये। आठ दिन तक श्री जगन्नाथ-धाम में घूमकर पता लगाया, परन्तु संकेत तक नहीं मिला। इन्हीं दिनों गीताप्रेस गोरखपुर की स्पेशल तीर्थयात्रा ट्रेन भी श्री जगन्नाथजी पहुँची हुई थी। श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार (भाईजी) तथा श्री चक्रधर स्वामीजी महाराज (राधा बाबा) के संचालन में यह यात्रा निकली थी। श्री घनश्यामजी का इनसे घनिष्ट सम्बन्ध था ही। श्री राधा बाबा के आग्रह से हम इनके साथ हो लिये। कलकत्ता, बनारस होते हुए गोरखपुर चले गये, परन्तु वहाँ भी मन नहीं लगा। इसमें श्री–जी की स्मृति ही कारण थी। हम निराश पुनः श्रीधाम लौट आये।

तव कथामृतम्–

सब लोग अत्यन्त ही दुःखी हो रहे थे। वियोग का समय स्वभावतः ही प्रिय की स्मृति में उन्हीं की चर्चा में व्यतीत होता है। अतः हम सब अपने साधन समयोपरान्त श्री–जी की चर्चा में ही कालयापन करते थे। हम सब उन के बिना अनाथ से हो रहे थे। बाहरी लोगों से मिलना-जुलना प्रायः बन्द कर दिया था। इस वियोग स्थिति में 'तव कथामृतम्' का ही एकमात्र अवलम्बन था। श्री–जी के कुछ पूर्व अनुभवों की स्मृतियाँ आ रही थीं।

१–वर्षा का सुहावना मौसम था। आकाश में बादल छा रहे थे। यमुना अपने भरपूर वेग से बह रही थी। श्रावण मास, कृष्णपक्ष तृतीया (सन्१६५०) का दिन श्री–जी सहित हम सब संध्या समय टटिया स्थान के पास पुलिन पर श्री यमुनाजी की शोभा निहारते हुए बैठे थे। कुछ दूरी पर एक सन्त वंशी बजा रहे थे। वंशी स्वर सुनकर श्री–जी को भावावेश हो गया और मूर्च्छित हो गये। लगभग आधे घण्टे पश्चात् मूर्च्छा टूटी और शनैः-शनैः मस्ती भरी स्थिति में ही हम आपको गंगामंदिर ले आये। दूसरे दिन हमारे विशेष आग्रह से आपने स्वानुभव लिखकर दिया–"गोधूली वेला से अधिक समय हो चुका था। संध्या समय बीत जाने पर सर्वत्र काली घटा छाई हुई होने पर भी वहाँ की भूमि प्रकाशमान थी। तनिक-तनिक वर्षा हो रही थी। इसमें आश्चर्य की बात यह थी कि वन से ब्रज ग्राम की ओर ग्वाल-मंडली एवं सखा-शिरोमणि श्रीकृष्ण भीगते हुए वंशीवादन करते सत्वर गति से चले आ रहे थे। जल से चिपकी हुई अलकावली विशाल भाल के सौन्दर्य का वर्धन कर रही थीं। जल भर जाने से वंशी को पीत पट से पोंछ-पोंछ कर बजाते जाते थे। अंग में भी पूरी बाँह का पीत वस्त्र धारण किया हुआ था। वह भी जल से भीगने से नील कलेवर से चिपक गया था। श्रीकृष्ण-मंडली के चहुँ ओर बरसती बूँदें अत्यधिक प्रकाशित हो रही थीं। ऐसा मालूम हो रहा था कि मानो सुन्दर उज्ज्वल नील मुक्तामणियों की ही वर्षा हो रही थी। श्रीकृष्ण का शृंगार भी आश्चर्यजनक था। सिर पर मयूरपिच्छ नहीं था। गले में वनमाला भी नहीं थी। कटि में काछिनी और चरणों में नूपुर भी नहीं थे। भाल पर तिलक भी नहीं था। एक आश्चर्य की बात यह थी कि आज ब्रजागमन नित्य के पथ से नहीं था। वन से ही वृक्षों के मध्य-मध्य से आ रहे थे। वन भी सघन नहीं था। जितने उन्नत सखावृन्द थे उतने ही ऊँचे वृक्ष थे। वर्षा की बूँदें पत्तों पर दीख रही थीं, परन्तु जमीन सूखी थी। वहाँ वर्षा का चिह्न भी नहीं था। भूमि प्रकाशमान और अति स्वच्छ थी। सूखे पत्ते भी गिरे हुए दिखाई नहीं देते थे। हाँ, मालूम ही नहीं हुआ आज गोधूली समय में ब्रजागमन में इतनी बेला क्यों हुई ? आगे कुछ पता नहीं चला। चेतनावस्था में गौर से देखने पर न भीजी हुई पृथ्वी न वर्षा का नाम था।"



सन् १९५६ में भावावेश के समय का एक दृश्य (घनश्यामजी सम्हालते हुये)

२– सन् १९४७–आप जैसे कई बार बिना बताये चले जाते हैं, आज भी गये और तीन चार दिन पश्चात् लौट आये। शरीर अवश्य क्षीण हो गया था। परन्तु मुखारविन्द अति प्रसन्न था, मुख पर अत्यधिक तेज था। साथ में बहुत से सन्तरे लाये थे, जो हमारे सामने रख दिये। हमने पूछा–क्या बात है, आज आप इतने प्रसन्न क्यों हैं ? विशेष आग्रह करने पर आपने बताया–"मैं अपने किसी विचार में गोवर्धन चला गया था। वहाँ श्यामकुटी के निकट ग्वाल पोखरा नामक अति प्राचीन लीलास्थली है। यह एक प्राचीन छोटा सा सरोवर एवं निकट ही किसी संत की छोटी सी परन्तु तीन मंजिली टूटी-फूटी सी कुटिया है। इस स्थान पर कोई रहता नहीं। निबिड़ घने जंगल से घिरा हुआ है। उस कुटिया की ऊपरी छत पर जाकर बैठ गया। बिना खाये-पीये रोते-रोते मुझे तीन दिन हो गये। तीसरे दिन मध्य रात्रि में आकाश मार्ग से हाथ में माला झोली लिये कई सिद्ध सन्त आस-पास से उतर आये और निकट आकर मुझे समझाने लगे। मैंने उनकी कुछ नहीं सुनी। वे लौट गये। घोर अन्धकार छाया हुआ था। मैंने ऊपर से कूदकर शरीर छोड़ने का निश्चय किया। कूदने ही वाला था कि दो दिव्य ग्वाल लाठी आड़ी करके मेरे सम्मुख खड़े होकर मुझे रोकने का प्रयत्न करने लगे। मैंने इनकी भी नहीं मानी। इतने में पीताम्बर धारण किये हुए श्रीकृष्ण किशोर रूप में प्रकट हो गये और पीछे से मेरी कौपीन की डोर पकड़ ली (मैंने अपने सब वस्त्र उतार दिये थे और क़ौपीन मात्र पहने खड़ा था)। आगे क्या हुआ ? श्री–जी ने आग्रह करने पर भी नहीं बताया।"

३–सन् १९४८–दोपहर तीन बजे का समय था। ज्येष्ठ मास की घोर गरमी के कारण राधाकुण्ड जनशून्य था। श्री–जी राधाकुण्ड की पश्चिमी सीढ़ी पर बैठे हुए स्नान कर रहे थे। एक बारह वर्षीय बालक खेलते हुए वहाँ आया, इतने में कुण्ड की पूर्व दिशा की ओर से उड़कर आते हुए मयूर का एक पिच्छ, जहाँ श्री–जी स्नान कर रहे थे, वहाँ निकट ही जल में गिर गया। श्री–जी ने वह पिच्छ पानी में से निकाल लिया। उसका पानी झाड़कर फिर फूँक से सुखाकर पास ही खेलने वाले उस बालक के हाथ में दे दिया। न जाने कैसे उस बालक के हाथ से वह फिर कुण्ड में गिर गया। उसने

घुटने तक जल में उतर कर पिच्छ निकालने का प्रयास किया, परन्तु उसके हाथ नहीं आया। कुण्ड में उतरने से बालक की धोती भीग गई। उसने श्री–जी से कहा–'बाबा नेक पंख निकास दीजो।' बालक की वाणी बड़ी ही मधुर तथा आकर्षक थी। श्री–जी ने पुनः पिच्छ निकालकर उसे दे दिया। बालक ने कहा–"बाबा मेरी धोती भीज गई है, याय सुखवाय दीजो, नहीं तो मैया-बाबा मोय मारिंगे।" उसकी मधुर वाणी से श्री–जी का मन उसकी ओर आकर्षित हो रहा थां। ऐसा लग रहा था मानो हृदय को कोई बलात् खींच रहा हो। धोती का एक छोर श्री–जी ने और एक बालक ने पकड़ा तथा धोती सुखाई। धोती पहन, मयूर-पिच्छ हाथ में ले ज्यों ही वह दो-तीन सीढ़ियाँ चढ़ा कि सहसा अदृश्य हो गया। अब तो श्री–जी की दशा पुनः विचित्र हो गई। आप तीन दिन तक बिना खाये-पीये विरह में वहीं पड़े रहे।

पुनः -

हम पाठकों को पुनः अपने विषय की ओर आकर्षित करते हैं। श्री–जी को श्रीधाम से गये चौदह माह हो चुके थे। आशान्वित निराशा में दिन गिन रहे थे। सबके मन अति दुःखी और खिन्न थे। श्री–जी के अव्यक्त प्रभाव से सब यथाशक्ति अपने साधन में लगे हुए थे, परन्तु अब दिन बिताने कठिन हो रहे थे। एक दिन सब बैठे हुए श्री–जी की ही चर्चा कर रहे थे कि पोस्टमैन ने आवाज लगाई। चौदह महीने से श्री–जी का कोई पत्र न आने पर भी पत्र की प्रतीक्षा नित्य ही रहा करती थी। मैंने भाग कर पत्र लिया, देखा तो कोसी वाले रामस्वरूप का पत्र था। उदास मन से पत्र खोला। पढ़ते ही आशा की एक किरण दिखाई दी। लिखा था–"श्री महाराजजी का पत्र डाकोर से मेरे पास आया था।" सूचना मिलने से परिकरजनों में प्रसन्नता छा गई कि अब संभवतः शीघ्र ही श्री–जी के दर्शन होंगे। बस, उसी दिन मैं और घनश्यामजी डाकोर के लिये रवाना हो गये। दूसरे दिन डाकोर में श्री रणछोड़दासजी के यहाँ पहुँचे। वहाँ कुछ पता नहीं चला। फिर श्री देवकरण भाई के यहाँ जाने पर उन्होंने बताया–कल ही श्री–जी यहाँ से राजकोट गये हैं। वैसे ही हम राजकोट के लिये चल पड़े। रात्रि आठ बजे हम श्री विट्ठलजी के भाई मणिभाई के यहाँ पहुँचे। उनसे "श्री–जी यहीं हैं" ये शब्द सुनते ही हृदय आनन्द से उछल

पड़ा। उन्होंने बताया–मेरे बड़े भाईसाहब श्री पोपटभाई के यहाँ कीर्तन हो रहा है, वहीं दर्शन हो सकेंगे। वैसे ही हम पोपटभाई के यहाँ गये। नीचे से ही श्री–जी की कीर्तन-ध्वनि सुनी। ऐसा लगा मानो कानों में किसी ने अमृत उड़ेल दिया हो। ऊपर जाकर देखा श्री–जी एक आसन पर विराजित थे। पास में ही ठाकुरजी की छवि पधराई हुई थी। आस-पास कुछ भक्तजन बैठे हुए थे। हमें देखकर सबको कौतूहल हो गया। हृदय तो उमड़ ही रहा था, श्री–जी को देखकर और उमड़ पड़ा, परन्तु जैसे-तैसे अपने को संवरण करके हम दोनों ने श्री–जी के चरण स्पर्श किये और पास ही बैठ गये। हमें देखकर श्री–जी मुस्करा दिये और एकबार स्नेहपूर्ण दृष्टि से अवलोकन किया। कुछ समय पश्चात् कीर्तन समाप्त हुआ। आरती के पश्चात् प्रसाद लेकर हम श्री–जी के साथ मणिभाई के यहाँ आ गये। रुका हुआ आवेग फिर फूट पड़ा। श्री–जी ने सान्त्वना के दो-चार शब्द कहे। हम लोग श्री–जी के साथ चार दिन यहीं रहे। श्री मणिभाई के घर पर ही भावनगर के प्रोफेसर श्री वी. पी. प्रभु को श्री महाराजजी के दर्शन हुए। ये बड़े मातृभक्त एवं बहुत ही भावुक थे। गौरवर्ण, हृष्ट-पुष्ट शरीर। श्री हनुमानजी इनके इष्ट थे। मातृसेवा के उद्‌देश्य से ही इन्होंने विवाह नहीं किया था। ये श्री महाराजजी को अपने घर भावनगर ले गये एवं अत्यन्त श्रद्धापूर्वक स्वयं श्री–जी की सेवा में संलग्न रहे। श्री महाराजजी इन पर बहुत प्रसन्न थे।

भावनगर में ही पत्रकार श्री मगनलाल रायचोरा का श्री महाराजजी से मिलन हुआ, इनकी श्री–जी पर अत्यधिक श्रद्धा थी। इन्हीं से श्री–जी का परिचय प्राप्त कर यहाँ के एक चीफ मैडिकल ऑफिसर श्री हेमन्तकुमार उनके दर्शन करने आये। इस समय मैं और घनश्यामजी श्री–जी के साथ ही थे। एक दिन इन्होंने श्री–जी से अपने घर चलने की प्रार्थना की। श्री–जी को ये स्वयं लेने आये और अपनी कार को स्वयं ड्राइव करते हुए घर ले गये। चलते हुए गीता के श्लोक बोलते जाते थे।

गीता के अठारह अध्याय इन्हें कंठस्थ थे। तत्कालीन सभी बड़े-बड़े संत–श्री रमण महर्षि, अरविंद घोष आदि के दर्शन ये कर चुके थे। सभी से ये एक ही प्रश्न पूछते थे–संसार में इतना दुःख क्यों है ? भगवान सम्पूर्ण

संसार को सुखी बना दें या उठा ही लें। मुझसे संसार का दुःख नहीं देखा जाता। श्री महाराजजी से भी इन्होंने यही कहा–दवाखाने में रोगियों का दुःख देख मुझे बहुत ही वेदना होती है। मैं प्रतिदिन घर आकर रात को खूब रो लेता हूँ, तब सो पाता हूँ। श्री महाराजजी ने बहुत प्रकार से सत्संग द्वारा उन्हें समझाने की चेष्टा की।

भावनगर में ही एक मुसलमान गृहस्थ महिला अमीना बहिन रहती थीं। वे श्रीकृष्ण-भक्त थीं। श्री मगनलालजी से उनके विषय में सुनकर हम श्री–जी के साथ उनके दर्शन करने गये। इस बहिन में श्रीकृष्ण अनुराग दीखता था। बहुत ही सात्त्विक थीं। उन्होंने श्री महाराजजी को 'गोपीगीत' गाकर सुनाया। इनका कंठ मधुर था एवं संस्कृत उच्चारण बहुत ही स्पष्ट था। अमीना बहिन ने कुछ फल ठाकुरजी को भोग लगवाकर श्री–जी को अर्पित किये। इन कृष्णानुरागिणी मुसलमान भक्त महिला से मिलकर श्री–जी को बहुत प्रसन्नता हुई। डॉ. हेमन्तकुमारजी के यहाँ श्री–जी का सत्संग तीन दिन हुआ। उसमें यह बहिन नित्य ही आती रहीं। पश्चात् हम सब पुनः राजकोट आये तथा श्री–जी के साथ श्रीधाम के लिये रवाना हो गये। उनकी आज्ञा से "श्री–जी सहित हम श्रीधाम पहुँच रहे हैं" यह शुभसन्देश तार द्वारा श्री देवीजी को दे दिया था। उन्हें लेकर जब हम गोपालमंदिर पहुँचे तो श्री–जी को देखते ही सबमें नवजीवन संचार हो गया। सभी ने अश्रुसिंचन करते हुए श्री–जी के चरणस्पर्श किये और चौदह महीने की अपनी वियोगजन्य व्यथा को शान्त किया। दूसरे दिन श्री–जी के निकट बैठकर सबने अज्ञात वास की बातें पूछीं। आपने बताया–"मैं यहाँ से सीधे दक्षिण चला गया था। कोकानाड़ा से पैदल ही श्री जगन्नाथपुरी गया। कोकानाड़ा स्टेशन पर दूर से श्री गंगारामजी को देखा, परन्तु मैं आँख बचाकर निकल गया। एक वर्ष अव्यक्त रूप से जगन्नाथपुरी में रहा। मेरे पास रुपये थे। उन्हीं में से प्रतिदिन छह आने के प्रसादी चावल लेकर निर्वाह करता रहा। जगन्नाथजी के मंदिर के पास ही एक छोटी कुटिया मिल गई थी। उसी में पड़ा रहता था। कुछ महीनों बाद भावावेश की विचित्र दशा प्राप्त हो गई। उसकी इतनी ही स्मृति है कि लोग मुझे पागल कहते थे और बच्चे छेड़छाड़ कर पत्थर मारते थे। तब

संसार को सुखी बना दें या उठा ही लें। मुझसे संसार का दुःख नहीं देखा जाता। श्री महाराजजी से भी इन्होंने यही कहा—दवाखाने में रोगियों का दुःख देख मुझे बहुत ही वेदना होती है। मैं प्रतिदिन घर आकर रात को खूब रो लेता हूँ, तब सो पाता हूँ। श्री महाराजजी ने बहुत प्रकार से सत्संग द्वारा उन्हें समझाने की चेष्टा की।

भावनगर में ही एक मुसलमान गृहस्थ महिला अमीना बहिन रहती थीं। ये श्रीकृष्ण-भक्त थीं। श्री मगनलालजी से उनके विषय में सुनकर हम श्री–जी के साथ उनके दर्शन करने गये। इस बहिन में श्रीकृष्ण अनुराग दीखता था। बहुत ही सात्त्विक थीं। उन्होंने श्री महाराजजी को 'गोपीगीत' गाकर सुनाया। इनका कंठ मधुर था एवं संस्कृत उच्चारण बहुत ही स्पष्ट था। अमीना बहिन ने कुछ फल ठाकुरजी को भोग लगवाकर श्री–जी को अर्पित किये। इन कृष्णानुरागिणी मुसलमान भक्त महिला से मिलकर श्री–जी को बहुत प्रसन्नता हुई। डॉ. हेमन्तकुमारजी के यहाँ श्री–जी का सत्संग तीन दिन हुआ। उसमें यह बहिन नित्य ही आती रहीं। पश्चात् हम सब पुनः राजकोट आये तथा श्री–जी के साथ श्रीधाम के लिये रवाना हो गये। उनकी आज्ञा से "श्री–जी सहित हम श्रीधाम पहुँच रहे हैं" यह शुभसन्देश तार द्वारा श्री देवीजी को दे दिया था। उन्हें लेकर जब हम गोपालमंदिर पहुँचे तो श्री–जी को देखते ही सबमें नवजीवन संचार हो गया। सभी ने अश्रुसिंचन करते हुए श्री–जी के चरणस्पर्श किये और चौदह महीने की अपनी वियोगजन्य व्यथा को शान्त किया। दूसरे दिन श्री–जी के निकट बैठकर सबने अज्ञात वास की बातें पूछीं। आपने बताया—"मैं यहाँ से सीधे दक्षिण चला गया था। कोकानाड़ा से पैदल ही श्री जगन्नाथपुरी गया। कोकानाड़ा स्टेशन पर दूर से श्री गंगा-रामजी को देखा, परन्तु मैं आँख बचाकर निकल गया। एक वर्ष अव्यक्त रूप से जगन्नाथपुरी में रहा। मेरे पास रुपये थे। उन्हीं में से प्रतिदिन छह आने के प्रसादी चावल लेकर निर्वाह करता रहा। जगन्नाथजी के मंदिर के पास ही एक छोटी कुटिया मिल गई थी। उसी में पड़ा रहता था। कुछ महीनों बाद भावावेश की विचित्र दशा प्राप्त हो गई। उसकी इतनी ही स्मृति है कि लोग मुझे पागल कहते थे और बच्चे छेड़छाड़ कर पत्थर मारते थे। तब

न जाने कहाँ से एक पुलिस वाला आकर बचाता था। ताँगे वाले हँसी-मजाक और व्यंग करते तो वही पुलिसवाला उन्हें डाँटता था। जब लोग मुझे समुद्र किनारे देखते तो डाँटकर शहर की तरफ भेज देते थे, अथवा वही पुलिस वाला वहाँ भी आ जाता था और मुझे वापस भेजता था। स्पष्ट ही है कि पुलिस वाले के वेश में भगवदीय योगक्षेम ही मेरी हर स्थान पर रक्षा करता था।'' वहाँ के कुछ प्रत्यक्षदर्शियों से बाद में हमें ज्ञात हुआ कि श्री–जी कभी-कभी भावावेश में पागल की भाँति रास्ते में घूमते, कभी गिरते-उठते और कभी नाचने लगते। कभी नाचते-नाचते समुद्र की ओर चले जाते। एक दिन भावावेश में स्वर्गद्वार की ओर समुद्र किनारे चले गये और नाचते-नाचते समुद्र में गिर पड़े। किसी तरह उन्हें पकड़कर बाहर निकाला गया।

श्री महाराजजी ने कहा–इन्हीं दिनों श्री हरिबाबाजी मेरे पास प्रगट हो गये और लगभग एक माह तक मेरे साथ रहे। उनके दिव्य शरीर को मेरे अतिरिक्त और कोई देख नहीं पाता था। मैं कभी रिक्शा में जाता तो भी मेरे साथ ही रहते। वृन्दावन में श्री हरिबाबाजी को कभी देवी का, कभी महादेवजी का, कभी हनुमानजी का कीर्तन करते हुए देखता था तो कुछ समझ में नहीं आता था कि इनका पथ कौनसा है ? लक्ष्य क्या है ? इतना विश्वास अवश्य था कि ये हैं एक सिद्ध महापुरुष। परन्तु जगन्नाथपुरी में जब एक माह का निरंतर अद्भुत संग मिला तब समझ में आया कि श्री बाबा क्या हैं ? बाबा अर्थात् माधुर्य-रस के समुद्र में गहरा गोता खाये हुए एक महान् उच्चकोटि के रसिक संत।''

श्री–जी तो श्री हरिबाबाजी को सन्तों के बादशाह कहा करते थे। कहते थे–''इस समय श्री हरिबाबाजी ऐसे संत हैं, जो अपनी इच्छा-शक्ति से जो चाहें दे सकते हैं। अपनी इच्छा से अपने बल पर वस्तु देने वाले संत बहुत ही कम होते हैं। मुझ पर भी जगन्नाथधाम में उनकी बहुत ही बड़ी कृपा हुई है। उनके साथ बहुत सी बातें हुईं, जो कही नहीं जा सकतीं।''

इसके पश्चात् श्री हरिबाबाजी जब भी श्रीधाम आते तो श्री–जी फूल माला लेकर श्री घनश्यामजी के साथ उनके दर्शन के लिए जाते, उन्हें माला धारण कराते तथा चरणस्पर्श करते। विशेष ध्यान रखने की बात यहाँ यह है कि श्री–जी ने श्री हरिबाबाजी के विषय में जिस समय जगन्नाथपुरी में

प्रगट होकर एक माह तक साथ-साथ रहने की बात कही है, उस समय वे श्रीधाम वृन्दावन में श्री उड़ियाबाबाजी के आश्रम में ही उपस्थित थे।

श्री–जी ने आगे बताया कि इतनी मस्ती में समय बीत रहा था कि एक विघ्न उपस्थित हो गया। श्री जगन्नाथजी का एक पुजारी सट्टे के नम्बर जानने की आशा से मेरे पास आने लगा, परन्तु मैं उससे उपराम ही रहता। मेरी प्रकृतिस्थ अवस्था में कुछ लोग भी मेरे पास सत्संग हेतु आकर बैठते, जो उसे सहन नहीं होता था। बस, इन्हीं बातों से उस पुजारी में द्वेष की भावना उत्पन्न हो गई और उसने एक दिन मुझे प्रसाद में जहर मिलाकर दे दिया। उससे मुझे सैकड़ों बार वमन हुआ। चार मास तक दस्तों से पीड़ित रहा। नख नीले पड़ गये। ऐसा लगा कि शरीर रहेगा भी या नहीं। बहुत ही कष्ट उठाना पड़ा। ऐसे समय बहुत ही विचित्र भगवत्-योगक्षेम हुआ। मेरी कुटिया से कुछ दूरी पर एक दक्षिणी व्यक्ति ठहरा हुआ था। वह कभी-कभी सत्संग हेतु आता रहता था। बातचीत से ज्ञात हुआ कि वह तिरुपतिबालाजी का निवासी और पिताजी का पूर्व परिचित था। वह मुझे दवाखाने ले गया और अपने खर्च से अच्छे बड़े डॉक्टर से उपचार करवाया। मैंने उन्हें वृन्दावन का पता लिखकर दे दिया था यदि शरीर छूट भी जाये तो वृन्दावन ही पहुँचे। लगभग चार मास के उपचार के पश्चात् मैं स्वस्थ हुआ। मेरे उपचार में उसके तीन सौ रुपये खर्च हुए। उसे वे रुपये भेजने की मेरी इच्छा है। मैं उसका पता ले आया हूँ।

श्री–जी के इच्छानुसार हमने रुपये उसे भेज दिये। ऐसी स्थिति में यदि जगन्नाथपुरी से श्री–जी की अस्वस्थता की सूचना मिलती तो किसी भी प्रकार आग्रह कर हम उन्हें यहाँ ले आते। परन्तु सच्चे संत सदा भगवत् आश्रय पर ही निर्भर रहते हैं। वे भला मनुष्य का आश्रय क्यों लेने लगे!

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा विस्वासा।।

बस, यही संत-जीवन में चरितार्थ होता है। उनके लिये कौन अपना है, कौन पराया है, उनका तो **वसुधैव कुटुम्बकम्** है। इसीलिये चार मास तक भयंकर कष्ट सहकर भी श्री–जी ने किसी परिचित व्यक्ति का स्मरण तक नहीं किया। वस्तुतः तो यह कहना ही ठीक रहेगा कि ये सारे सिद्धान्त के विचार भी आपकी स्मृति में नहीं आये। आप तो सदा अपने रस में ही निमग्न रहे।

सन् १९५६, श्री–जी के आने से परिकर का समय परम आनन्द में बीतने लगा। ऐसे एक माह ही व्यतीत हुआ होगा कि पुनः आपकी स्थिति भावावेश की होने लगी। पहली बार सन् १९४७ में भावावेश की स्थिति एक वर्ष तक रही थी। इस बार के और पूर्व के भावावेश में जमीन आसमान का अन्तर था। पूर्व के भावावेश में उद्दाम उछलती हुई स्थिति, पद की स्फूर्ति एवं व्रजभाव को लेकर भावावेश था। अबकी बार के भावावेश की स्थिति गम्भीर एवं अन्तरंग लीलाओं को लेकर थी। पदों के स्थान पर परस्पर संलाप के शब्द ही उच्चरित होते थे। सहसा भाव की स्थिति होकर मूर्च्छा हो जाती और उसी अवस्था में शब्द उच्चरित होते। वे सब तारीख बार डायरी में लिख लिये गये हैं। प्रत्येक भाव गंभीर लीला को लेकर ही होता था। इस स्थिति में जो शब्द स्फुरित होते, उनसे लीला का अनुमान लग जाता था।

सात जनवरी १९५७, अठारहवें दिन के भावावेश में स्फुरित शब्द एवं लीला यहाँ ज्यों की त्यों दी जा रही है, जिससे पाठकगण श्री–जी की वास्तविक दशा का अनुमान लगा सकेंगे –

सुबह ४ बजे अनमने से उठे, प्रातः - क्रिया से निवृत्त हुए और भागने का प्रयत्न करने लगे। बहुत कठिनाई से हम लोगों ने रोका। भावावेश प्रगाढ़ होता चला गया व मूर्च्छावस्था प्राप्त हो गई। इसी अवस्था में प्रलाप प्रारंभ हुआ प्रातः ५ बजे–

"मंजुल....मधुर...... हे नाथ ! तुम्हारी कोमल कटि से मेरा जीवन. ...जीवन हो जाय। किसी.......स्थान हो मेरे सिवाय......। इतनी मर्म वेदना है. ......। शान्ति से पड़े रहने दो, वेदना सहन नहीं होती........। मैं प्रसन्न भी नहीं हूँ। मुझे नाचना भी नहीं.......। और सब ठगे रहते हैं..........। मुझे तृप्ति नहीं.......। इसमें तुमने घायल कर रखा है....। कैसे सहन कर सकती हूँ. ....। मैं नहीं सहन कर सकती किसी के आँचल का स्पर्श करें।"

भावावेश के पश्चात् अर्धबाह्य स्थिति में पुनः वार्ता कुछ-कुछ करते रहे तथा दिन भर अनमने से ही रहे। शाम को हमारे साथ घूमकर आये व पलंग पर मौन ही बैठे रहे। धीरे-धीरे बोलना शुरू किया मन्दमन्द आवाज से–"जो अत्यन्त गोपनीय बातें हैं, बाहर प्रगट हो जाती हैं, जो नहीं होनी

चाहिए। हमारे दिमाग में गर्मी बढ़ी है, इसलिए मैं चला जाऊँगा कहीं एकान्त में। जगन्नाथजी में मैं एकान्त कमरे में रहता, खूब आनन्द लेता था स्वच्छन्द रूप से। कोई भी हमारी बात को इधर-उधर फैलाने वाला तथा हमारी हँसी करने वाला नहीं था। हमारे गिरने-पड़ने, टकराने को देखकर वहाँ के लोगों ने समझा था, यह पागल है। पागल खाने में भरती करने का विचार कर रहे थे वे लोग, परन्तु वहाँ हमें आनन्द था, कारण मेरी रहस्यमयी गोपनीय बातों पर लक्ष्य डालने वाला कोई नहीं था। अब फिर इसी प्रकार कहीं एकान्त में जाकर रहूँगा।

जगन्नाथजी में एकान्त कमरे में मुझे बहुत आनन्द था, इतना सुख था, जिसे मैं प्रगट नहीं कर सकता। निश्चित था मैं। स्वच्छन्द था मैं। जगन्नाथजी में समुद्र किनारे-किनारे खूब दौड़ता था, जहाँ इच्छा होती थी पड़ा रहता था। लोग समझते थे पागल है कोई।"

पुनः भाव प्रलाप रात्रि ६ से ११ बजे तक "मैं.........और तुम बस यही. ....। चन्द्र छटा की चीज़ ही मैं..........। हे प्यारे........मोहन............तुम्हारी मोहिनी.............का पथिक, मधुर........सुधा......ध्वनि..........। माधुरी पर मैं दिवानी हो गई हूँ..........। रंगीले लाल.........., तुम्हारी अँगुलियों की चन्द्र छटा के बीच में..........। मैं नृत्य करती रहूँ..........हे अनुपम काकली कुहक........ तुम्हें.......... देख करके..........और मेरे कंठ से तुम..........। ये नूपुर की झनकार .... इसके साथ मैं..........। हे मदन! मधुर गाते..........स्वर मुरली ध्वनि. .... तीर यमुना.......... मणिमय सोपान..........चलेंगे.........। अनोखी सुगन्धि. ....। पूर्ति न हो कभी..........सदा–सदा के लिए..........। तुम्हारी मन्दगति में मैं..........। शान्ति से पड़े रहने दो। तुम्हें देखकर हंस की गति विलज्जित. ....। तुम्हारी वाणी में कितना माधुर्य..........अमृत सिन्धु..........तुम मुझे विलग न करना..........। तुम्हारे सुन्दर स्वरूप को देख मेरा रोम-रोम प्रफुल्लित हो रहा है। नृत्य करना चाह रही हूँ.........। उस सुन्दर तीर.........। श्याम.... ....., नौका बिहार..........। अहा, हा, हा, (नृत्य)..........गये।" मूर्च्छा में –

उज्ज्वल मधुमयी रजनी है, सर्वत्र फैल रही है चन्द्रिका। यमुनाकूल में प्रतिबिंबित चन्द्र मुस्करा रहा था नाना विहंगकुल कलरव में एक होता हुआ। समस्त वनीय जड़-जंगम इसी रहस्यमयी बात में झूम रहे थे।

किशोरियों की दृष्टि, वन्य विहंग, मृगों की दृष्टि श्री नवघन सुकुमार सुन्दरकिशोर के नयनारविन्दों से एक हो चुकी। इस नवागन्तुका को रहस्य समझने में समय नहीं लगा। वहाँ पर नाना पुष्पालंकृत लता परिवेष्टित नौका रम्य तट को शोभान्वित कर रही थी।

इससे समलंकृत, वैभवान्वित होने श्री किशोर सुन्दर व्याकुल हो रहे थे। सखियाँ दोनों को मन्द-मन्द गति से नौका-बिहार-विलास के लिए ले चलीं।

नौका मानो एक अनुपम सुन्दरीवत् ही दीख रही है, नाना पुष्पों व कलिकाओं से परिशोभिता। पुलिन-प्रांगण में प्रतिध्वनित, गुंजित हो रहे हैं मन्द-मन्द मधुर वंशी, करधनी, नूपुर स्वर; परस्पर की मूक वाक्-सुषमा में एक होकर नौका में मुखरित जो हो रहे हैं, सभी तन्मय हो रही हैं सखियाँ।

वही वंशी रव, नूपुर, करधनी सुमधुर स्वर और वह रूप चराचर विमोहक पुलिन प्रान्त का हाँ, यमुनामध्ये। वे ही किशोरीवृन्द घेर कर समलंकृत हैं नौका में। इनमें नवीनोत्फुल्ल कमल विलज्जक कमलनयन विस्फारित, आह्लादित यही प्रगट कर रहे हैं मूक प्रीति भाषा में—'मैं अब अलंकृत-वैभवान्वित हो रहा हूँ। अभी-अभी मैं ऐसे अलभ्य, सुदुर्लभ, अभूतपूर्व क्षण में शोभान्वित हो रहा हूँ।' यही नवनवायमान लालसा इनके नख-शिख से प्रगट हो रही है कि मानो यह अलंकार पहले कभी भी प्राप्त नहीं हुआ।

वह विक्रीड़िता, स्वर एवं वाक्-पुष्प-सुषमा-अलंकृता, नील कोमलांग मण्डिता कोमलांगी कभी भी नीरवता तथा एकाकीपन को स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकेगी। न वह अपने को रूप से भिन्न रहती हुई, खिन्न रहती हुई इस किशोरीमण्डल में नवीनतया आयी हुई समझती, न यह नौकाविहार क्रीड़ा को सर्व प्रथम समझती और न यह प्राप्त मूक संभाषण-मादक सौख्य को अभी प्राप्त समझती। यह विस्मय विस्फारित नयनों से नहीं दीख रही है।

कारण इन बातों का यही कि वे नवघन नील छविराशि कोमल किरण-मालिकाओं से नवनूतन लीला लहरियों से इसकी बाँहों में ही लहरान्वित होते रहने के, इसी के मुख से अलंकृत, वैभवान्वित रहने के पूर्ण संश्लेष सुखा-स्वादन को अरुणाधरों से करा रहे थे।

पूर्व से ही पहुँची हुई सखियों के आह्लाद में विहंगकुल-कण्ठ मधुर स्वर से उस पार का अभिनिवेश गुंजित ही नहीं, शोभान्वित हो उठा। नाना रत्नमणियों से खचित अत्यन्त कोमल सोपान में पद्मों की अवलियों के मध्ये अपना स्वच्छन्द मार्ग निर्माण करती हुई पहुँची मन्द-मन्द गंभीर सुन्दरी नौका।

लतापरिवेष्टित रमणीय सघन निकुंज प्रदेश है। राशि-राशि पुष्प पूर्व से ही एकत्रित हैं। दूसरी ओर अगणित सखियों का मूक-विमुग्ध साम्राज्य है। नख से शिख नव सुकुमार सुन्दर किशोर कुँवर, ये महाचतुर चूड़ामणि नाना सुगन्धित पुष्पों व कलिकाओं से अलंकृत होते जा रहे हैं। मध्ये-मध्ये पुष्प श्रृंगार करने के मिस समलंकृत नीलघन कमनीय हृदयोपरि होने वाली में सभी तन्मय-विमुग्ध होती जा रही हैं वहाँ पर।

आगे श्री–जी ने जो सत्संग लिखे हैं, उनमें भावस्थिति की सभी लीलाएँ विस्तार से वर्णित हो गयी हैं। कभी भावावेश में वे नृत्य भी करने लगते। नृत्य की मुद्रायें इतनी सुन्दर होती थीं कि लगता था नित्य लीला में ही वास्तविक नृत्य हो रहा है। कुछ ही नृत्य मुद्रायें हो पातीं कि वे मूर्च्छित हो जाते। कभी-कभी भावदशा में परिकर को लेकर भी शब्द निकलते। कहते जगन्नाथपुरी में मुझे सबकी अन्तरंग स्थिति का संकेत मिला है। यह भावदशा सतत तीन माह तक रही। प्रायः उस समय की सभी भावदशाओं के फोटो मैंने ले लिये थे, जो वर्तमान में श्री जी के समाधि-स्थल पर लगे हुए हैं। इस तीन माह की भावावेश की स्थिति के पश्चात् श्री–जी के भाव में बहुत अन्तर आ गया था। पूर्व भावावेश व्रजभाव को लेकर तो था ही परन्तु श्री जगन्नाथपुरी से आने के पश्चात् उसमें विशेष गम्भीर निकुंज भाव का उन्मेष हुआ इन दिनों लिखे गये सत्संगों में आपने श्रीराधाजी को 'प्रियसखी' सम्बोधन किया है। प्रियसखी की अन्तरंग लीलाओं का वर्णन करते हुए आनुगत्य की पुष्टि की है। तद्गत भाव-तन्मयता का उल्लेख किया है।

सम्पूर्ण वर्णन में आनुगत्य की प्रधानता है। ऐसा लगता है कि आप श्री राधा-भावभावित हो गये हैं और तद्भाव-भावित उसी स्वरूप में आविष्ट होकर वर्णन कर गये हैं।

इस भावभावित स्थिति में किसी लीलाविशेष में तत्सुखसुखित्व भावना वाली **'कुमदवल्ली'** सखी इन्हें परम प्रिय थी। आप लीला में ही श्रीकृष्ण से मान कर लेते हैं। श्रीकृष्ण अति कोमल शब्दावली से अनुनय-विनय करके इन्हें मनाते हैं। ये भी श्रीकृष्ण से अत्यन्त प्रसन्न होकर अति कोमल वचनों से, अनेक-अनेक सुन्दर प्रेममय सम्बोधनों से अपना प्रेमातिरेक प्रकट करते हैं। आपकी भावना कोमलता की इस सीमा तक पहुँच जाती है कि कालिन्दी सखी के द्वारा फेंके हुए पुष्प-कन्दुक का श्रीकृष्ण के सुकोमल अंग पर स्पर्श भी होने से दुःखी हो जाते हैं।

इस प्रकार दिव्य लीला-स्थली के कुछ क्षणों की भावस्थिति में यहाँ के तीन मास व्यतीत हो गये। अन्ततः आपका यह राधाभाव स्थायी हो गया और 'महाभाव' में आपकी स्थिति निरंतर बनी रही। पूर्व का जो सत्संग है, उसमें लीलाओं की विशेषता है। व्रजभाव की लीलाओं की भरमार है, परन्तु वर्तमान सत्संग में भावात्मक तन्मयता ही विशेष रूप से वर्णित है। प्रश्न पूछने पर आपने कहा–'श्री रूप गोस्वामी, श्री सनातन गोस्वामी, श्री जीव गोस्वामी आदि सन्तों ने लक्षण ग्रन्थ, सिद्धान्त ग्रन्थ, लीलाग्रन्थ लिखे हैं, परन्तु दशाग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। वैसे जहाँ-तहाँ कहीं-कहीं प्रसंगानुरूप दशा का वर्णन मिलता है, परन्तु संगृहीत ग्रन्थ कहीं नहीं हैं। भगवान् मुझसे यह अद्भुत वस्तु लिखवा रहे हैं। पूज्य श्री राधाबाबा ने भी कहा–श्री महाराजजी की इस कृति की भविष्य में कीमत होगी। यह दशाग्रन्थ है। एकही रस क्रमशः उच्च, उच्चतर, उच्चतम रूप से इन लिखे गये सत्संगों में वर्णित हुआ है। उत्तरोत्तर रस की गहराई बढ़ती गई है। दशास्थिति भी बढ़ते हुए स्तर को लेकर ही वर्णित हुई है। सन् १९८० तक यह लेखन कार्य दो हजार पृष्ठों में हो चुका था और आजीवन चलता ही रहा। सत्संगों का नामकरण भी स्तर के अनुरूप अपने ढंग का निराला ही आपने किया है, जैसे–गोधूलि सुषमा नायिका, निर्णय वैचित्र्य, मयूर चन्द्रिका, अलंकार वैभव, अनुपम समागम, जीवन पुष्प सौन्दर्य, अनुभव अथवा बंधन। आपका कहना था कि यदि मन तैयार हो तो यह सत्संग सुनते-सुनते ही 'स्वरूप' तैयार होकर लीला में प्रवेश हो सकता है। इसके लिये पृथक्-पृथक् साधन करने की आवश्यकता नहीं है।

नवीन व्यक्ति को तो सहसा यह सत्संग समझ में नहीं आ सकता। जिन्होंने प्रारंभ से ही श्री–जी के मुख से सत्संग सुना है, वे ही समझ सकते हैं। समझ में आने पर भी जिसकी जितनी पात्रता है, उसी स्तर से वह उस भाव में प्रवेश पा सकेगा।

श्री जयदेवजी की यह उक्ति यहाँ चरितार्थ होती है–

यदि हरिस्मरणे सरसं मनः, यदि विलास-कलासु कुतूहलम्।
मधुर-कोमल-कान्त-पदावलीं, शृणु तदा जयदेव-सरस्वतीम्।।

एकबार आपने कहा था कि जिनका **स्वरूप** तैयार है या जिनका मन किंचित् भी **स्वरूप** को स्पर्श करता है, वे ही मेरे सत्संग को समझ सकते हैं, अन्यथा समझ में नहीं आयेगा। **स्वरूप** से आपका तात्पर्य सखीभाव से है।

सत्संग इतने सुन्दर रूप से गुम्फित हैं कि साधक को इसके अतिरिक्त दूसरा कोई ग्रन्थ पढ़ने की आवश्यकता महसूस नहीं होगी। मेरा यह आशय कदापि नहीं है कि श्रीकृष्णलीला सम्बन्धी अन्य कोई ग्रन्थ पढ़ें ही नहीं, परन्तु श्री–जी के लिखित धारावाही सत्संग में त्याग, वैराग्य, लालसा, वस्तु निर्देश, आत्मीयता, सम्बन्ध तथा स्वरूप सबका समावेश एक साथ है। स्वरूप प्राप्ति के लिए पृथक् रूप से फिर किसी अन्य चिन्तन की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

सत्संगों में पथ का सिद्धान्त भी ठोस रूप से वर्णित है एवं शास्त्र, पुराण तथा वैष्णवग्रन्थों के अनुकूल भी है। श्री–जी का सत्संग संकुचित बंधन से सर्वथा मुक्त है तथा बिना किसी पक्षपात के लिखा गया है। अतः सर्वसम्मत होगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। श्रीकृष्ण-लीलाओं से गुम्फित होने के कारण यह अति सरस भी है।

श्री–जी ने सर्वसाधारण के मध्य सत्संग सुनाने की प्रथा नहीं रखी थी। उसे प्रायः परिकर के मध्य ही पढ़ा जाता था। कोई धामीय सिद्धान्त को लेकर चल रहा हो, परिकर की संगति में आ रहा हो या श्री–जी में जिसकी श्रद्धा हो, ऐसे किसी-किसी को ही सत्संग सुनने का अवसर मिल जाता था।

सत्संग सुनते हुए मन को बहुत सूक्ष्म रूप से देना पड़ता था। किंचित् भी मन इधर-उधर गया तो धारा छूट जाती थी। आप भी कभी-कभी पढ़ते हुए कह देते थे कि बहुत सूक्ष्म रूप से मन को देना पड़ेगा, तभी समझ में आयेगा। कभी-कभी प्रधान श्रोताओं से पूछ भी लेते थे कि प्रसंग समझ में आ रहा है? न आया हो तो दुबारा समझाकर पढ़ते थे।

श्री–जी के मुख से सत्संग सुनते हुए लगता था कि वस्तु की प्राप्ति सहज है, वस्तु से हमारी आत्मीयता और सम्बन्ध पहले से ही है। इसकी प्राप्ति में कोई प्रयास नहीं है। उस समय ऐसा लगता था मानो हम लीलास्थली में वर्णित विषय में ही हैं, परन्तु यह चमत्कार उसी समय तक रहता था। यह तो उन्हीं का प्रभाव था, उनका ही वातावरण था। वे स्वतः उसी में हो जाते थे, रहते थे, उन्हीं के परमाणुओं के स्पर्श से समीपतम लोगों को, साधकों को ऐसा ही आभास होता था।

श्री–जी पढ़ते-पढ़ते स्वयं भी तन्मय हो जाते थे। सहसा अश्रुप्रवाह चलने लगता, दीर्घश्वास लेने लगते, यहाँ तक कि भावस्थिति होने पर कुछ क्षणों के लिये आँखें बंद करके लेट जाते। उस समय का वातावरण क्या कहें! वर्णन का विषय ही नहीं है। सभी को मन्त्र-मुग्ध सा कर देता था।

श्री–जी का तीन मास का भावावेश समाप्त हो चुका था। कुछ समय पश्चात् एक विचित्र भावस्थिति होने लगी। ग्रीष्म के दिन थे। संध्या समय स्नान करके आप छत पर जाकर पलंग पर लेट जाते। निजजन सभी आस-पास बैठे ही रहते थे। साधारण सी बातचीत करते-करते ही सहसा आप निश्चेष्ट हो जाते। लगभग चार-चार, पाँच-पाँच घण्टों तक काष्ठवत् पड़े रहते। जब बाह्य स्थिति होती तो आप धीरे-धीरे आँखें खोलते, परन्तु हाथ पैर हिलाने-डुलाने का सामर्थ्य बिलकुल नहीं रहता था। किसी निकट बैठे व्यक्ति से धीरे से कहते–"हाथ इधर कर दो, पैर सरका दो।" थोड़ी देर धीरे-धीरे दबाने पर रक्त-संचार ठीक से होता और हाथ-पाँव काम करने लगते। इन दिनों, दिन में भी प्रायः आपकी अर्धबाह्यस्थिति ही रहती थी। खानपान की सुधि भी नहीं रहती थी। नेत्र प्रायः बंद से ही रहते थे। इसी प्रकार दो महीने

हो गये। पूछने पर आप ब्लडप्रेशर आदि का बहाना ले लेते। भाव को गोपनीय रखने का आपका स्वभाव था ही। एक दिन रात्रि के ग्यारह बजे तक होश में न आने से निकट जाकर देखा तो तकिया आँसुओं से भीगा हुआ था।

कई दिनों तक ऐसी ही स्थिति रहने से सबको चिन्ता होने लगी। सोचा इसका उपचार कराना चाहिये। श्री देवीजी ने चिन्तित होकर आग्रह पूर्वक पूछा कि आप सच-सच बतायें–यह भावस्थिति है या रोग ? रोग हो तो डॉक्टर को दिखाया जाये। हमारी समझ में तो कुछ आ नहीं रहा है।

देवीजी की बात सुनकर श्री–जी ने कहा–"घबड़ाने की बात नहीं है। मुझे कोई रोग नहीं है। एक विचित्र भाव की ही स्थिति है, जो महान् कृपा से ही प्राप्त हुई है। समय होने पर अपने आप शमित हो जायेगी।" दो माह तक भाव की यह स्थिति चलती रही, तत्पश्चात् अपने आप ही शमित भी हो गई।

बाद में रस-मर्मज्ञों से ज्ञात हुआ कि यह श्रीकृष्णप्रेममय विरहदशा के अन्तर्गत जड़िमा भाव है, जिसके लक्षण श्री रूप गोस्वामीजी ने अपने सुप्रसिद्ध श्रृंगाररस-ग्रन्थ "उज्ज्वल नीलमणि" में इस प्रकार बताये हैं और उदाहरणस्वरूप एक अत्यन्त मार्मिक श्लोक प्रस्तुत किया है–

इष्टानिष्टापरिज्ञानं यत्र प्रश्नेष्वनुत्तरम्।
दर्शनश्रवणाभावो जडिमा सोऽभिधीयते।।
अत्राकाण्डेऽपि हुंकारस्तम्भश्वासपतनादयः।।३४।।

अर्थ–जिसमें इष्ट तथा अनिष्ट का परिज्ञान नहीं रहता, प्रश्न करने पर कुछ उत्तर प्राप्त नहीं होता एवं जिसमें देखने-सुनने का भी अभाव हो जाता है, उसे जड़िमा–जड़ता कहते हैं। इसमें अकारण ही हुंकार, स्तम्भ, श्वास तथा भ्रमादि प्रकाशित होते हैं।।३४।।

श्री बालगोविंदजी

इनका जन्म आगरा जिलान्तर्गत 'लादूखेड़ा' ग्राम में शुक्ल परिवार में हुआ था। ये सोलह, सत्रह वर्ष की अवस्था में विद्याध्ययन के लिये वृन्दावन आये थे। ये वंशीवट के सामने स्थित ग्वालियर वाले मंदिर में पुजारी थे। मैं जब १९४५ में गृह त्यागकर वृन्दावन आया तो कुछ दिन इसी मंदिर में रहा। श्री गोविंदजी यहाँ रहकर संस्कृत अध्ययन करते थे तथा पूजा की वृत्ति से ही अपना निर्वाह करते थे। श्री–जी का चरणाश्रय ग्रहण करने के पश्चात् मैं तो नित्य ही श्री–जी के दर्शनार्थ जाता ही था। ये भी यदा-कदा गंगामंदिर में श्री–जी के पास आते रहते थे। कुछ दिनों के बाद मंडलेश्वर में श्री–जी के परिकर मध्य जाकर रहने लगे। मंडलेश्वर से एक मील की दूरी पर नर्मदा तट पर ही एक सुन्दर जलप्रपात (झरना) से युक्त एकान्त निर्जन स्थान है। ये वहीं जाकर सुबह से संध्या तक तीन लाख महामन्त्र का जाप करते। श्री–जी के किसी भक्त के यहाँ भिक्षा कर लेते। श्री–जी की भक्तमंडली के यहाँ रात्रि-संकीर्तन में सम्मिलित होते तथा जहाँ-तहाँ सो जाते। इस प्रकार दस वर्ष तक मंडलेश्वर रहने के पश्चात् वृन्दावन आ गये तथा कलाधारी के बगीचे में एक कुटिया में रहकर भजन करने लगे। साथ ही साथ ये श्री शुक्राचार्यजी के पास श्रीमद्भागवत का अध्ययन करते रहे। इन्होंने उसमें सराहनीय विद्वत्ता प्राप्त कर ली तथा लगातार श्रीमद्भागवत के एक सौ आठ पारायण किये। इस समय ये श्री–जी के अनन्य चरणाश्रय में आ गये थे। नित्य दावानल कुण्ड में सुबह तीन बजे ही स्नान करके एक बजे तक भागवत-पाठ तथा नाम-जप करते, पश्चात् हाथ से भिक्षा बनाकर ग्रहण करते। शाम को नित्य ही नियमपूर्वक श्री–जी के चरणों में आकर सत्संग श्रवण करते। श्री–जी के जन्मोत्सव पर इनके द्वारा रचित बधाई के पद अत्यन्त भावपूर्ण होते थे। श्री–जी के जन्मोत्सव पर इनके द्वारा रचित अति ही सुन्दर आरती गायी जाती थी। वही आरती अब समाधिस्थल पर भी नित्य संध्या समय गायी जाने लगी है।

श्री मीराजी का चरणाश्रय में आना

सन् १९६१ में भगवत्-दर्शनों की व्याकुलता में पागल सी दीखने वाली चौबीस-पच्चीस वर्ष की एक लड़की वृन्दावन में आकर रहने लगी। इन्हें वृन्दावन में सभी 'पगली मीरा' के नाम से पुकारते थे। ये स्वयं भी अपने को "श्यामसुन्दर की पगली" कहती थीं। इन दिनों श्री महाराजजी परिकर सहित गोपालमंदिर में रहते थे। गोपालमंदिर के ही आधे भाग में श्रीबिहारीजी के गोस्वामी लालूजी रहते थे। यह पूरा मंदिर इन्हीं के अधिकार में था। संयोग से श्री मीराजी भी गोस्वामीजी वाले भाग में रहती थीं। यहाँ इनका कुछ पूर्व परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है –

इनके पूर्वज तो कच्छ के रहनेवाले थे, परन्तु माता-पिता कलकत्ते में बसे हुए थे। इन्होंने कलकत्ते में ही बी॰ ए॰ तक अध्ययन किया एवं कुछ समय तक अध्यापन कार्य भी किया। इनका घर का नाम कुमुद था। माता-पिता धार्मिक प्रकृति के थे ही। इन पर भी उनके संस्कारों का असर पड़ा। ये प्रायः ओम् प्रेमानन्द संन्यासी माताजी के सत्संग में जाया करती थीं। उनका गुरुस्थान नासिक में था। वहाँ विष्णुसहस्रनाम एवं श्री गीताजी से ये बहुत प्रभावित हुईं।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" गीताजी के इस श्लोक से इन्हें सर्वाधिक प्रेरणा मिली और कृष्ण-साक्षात्कार के लिये तीव्र प्यास जाग उठी। 'पगली' की छाप लगा-लगा कर ये स्वरचित पदों से श्यामसुन्दर को रिझाने लगीं। संसार से उपरामता हो गई। घर में रहना दूभर हो गया। कृष्णसाक्षात्कार के लिये गृहत्याग ही उचित समझा। इनकी व्याकुलता देखकर माता-पिता ने यह कहकर कि तुम्हें जहाँ सुख हो वहाँ जाकर भजन कर सकती हो, हम वहीं तुम्हें देखने आ जायेंगे, इन्हें गृहत्याग की आज्ञा दे दी। सन् १९५६ में इन्होंने गृहत्याग किया और श्री ओम प्रेमानन्द माताजी के साथ नासिक के लिये रवाना हो गईं। माता-पिता ने इन्हें स्टेशन पर आकर अश्रुपूरित बिदाई दी। नासिक से ये संन्यासी माताजी के साथ ही अनेक स्थानों पर भ्रमण करती हुई बम्बई गईं। वहाँ श्री श्यामा माताजी से भेंट हुई। उनके यह कहने पर कि द्वारिका में उनका आश्रम है एवं वहाँ उनके भाव एवं भजन के अनूकुल एकान्त

स्थान मिलेगा, ये उन्हीं के साथ द्वारिका पहुँची, परन्तु आश्रम का वातावरण इन्हें अनुकूल नहीं लगा। अतः ये अकेली धर्मशाला में रहीं। फिर कुछ दिनों तक बेटद्वारिका में रहीं। वहाँ किसी से यह सुनकर कि वृन्दावन में श्री बाँके बिहारी ठाकुर विराजमान हैं, जो निजजनों को प्रकट रूप से दर्शन देते हैं, ये उनके दर्शन के लिये व्याकुल हो उठीं। इन्होंने श्री बिहारीजी से अपने को निकट बुला लेने के लिये मनोमय पत्र लिखकर प्रार्थना की एवं अविलम्ब ही उनका प्रत्युत्तर भी इन्हें मिल ही गया। एक क्षण भी वहाँ रुकना इनके लिये दुःसह हो गया और ये टिकिट मात्र लेकर वृन्दावन के लिये धावित हो गईं। इस एक वर्ष के भ्रमण-काल में ये जाज्ज्वल्य विरक्ति से रहीं। श्री बिहारीजी ने इन्हें आकर्षित कर सदा के लिये अपने निजधाम में बुला ही लिया। ये बिहारीजी के मंदिर में घण्टों रो-रो कर अपने स्वरचित पद गाया करतीं और श्रीकृष्ण-विरह में पगली सी, मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए वृन्दावन की गलियों में घूमा करती थीं। इनकी स्थिति देख लोग इनकी ओर आकृष्ट होने लगे। मान-प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। प्रेम में इनकी इतनी सुन्दर स्थिति देखकर कई अच्छे सन्तों ने इन्हें समझाया भी कि यदि रोना है तो एकान्त में रोइए। प्रसिद्धि होने से पथ में रुकावट आ जायेगी। नई अवस्था, नया वैराग्य और नये प्रेम की मस्ती में इन्होंने किसी की बातों पर न विशेष ध्यान दिया, न सन्ताश्रय की अपेक्षा रखी।

परन्तु जो व्यक्ति हृदय की सचाई से भगवान् के लिये निकलता है, स्वयं भगवान् उसका योगक्षेम ले लेते हैं। भगवत् प्रेरित संत उसे बरबस अपना लेते हैं। यहाँ भी ऐसा ही हुआ। अत्यन्त निकट के मकान में रहते हुए एवं श्री महाराजजी की चर्चा सुनकर भी ये कभी श्री–जी के दर्शन के लिये उत्सुक नहीं हुईं। एक दिन श्री–जी के मन में विचार आया–यह लड़की बिना किसी सन्ताश्रय के स्वतन्त्र रूप से रहती है, यह तो निरापद मार्ग नहीं है। संतों का संकल्प कभी खाली नहीं जाता। किसी को भी निमित्त बना कर वह पूरा होता है।

अमृतसर की एक बहिन कमलजी कुछ समय से त्याग-वृत्ति से रहकर श्रीधाम वास कर रही थीं। इनकी श्री–जी पर श्रद्धा थी और ये मीराजी के पास

आती रहती थीं। ग्रीष्म के दिनों में कभी-कभी श्री–जी का सत्संग छत पर अपने परिकर के मध्य हुआ करता था। कमलजी एवं मीराजी अपनी छत पर बैठ, छिपकर सत्संग सुना करती थीं। सत्संग सुनते-सुनते मीराजी के मन में श्री–जी के प्रति कुछ आकर्षण हुआ, परन्तु सम्मुख आने का साहस नहीं हुआ। एक-दो बार कमलजी अपने साथ इन्हें भी श्री–जी के दर्शन के लिये ले आईं। धीरे-धीरे आकर्षण बढ़ा और वह श्रद्धा में परिवर्तित हो गया। इस प्रकार ये श्री–जी के अनन्याश्रय में आ गईं। ये सदैव पृथक् कमरा लेकर, भिक्षावृत्ति से श्रीधाम में निवास करती रही हैं। गृह-त्याग के पश्चात् कभी भी अपने घर नहीं गईं, न ही व्रज को छोड़कर अन्यत्र ही कहीं गईं। श्री'जी के प्रति इनकी अटूट श्रद्धा है। श्री–जी ने सत्संग के माध्यम से इन्हें एकान्त भजन का उपदेश दिया। अब ये परम विरक्ति-पूर्वक एकान्त साधना में लगी रहती हैं।

सन् १९६३ में श्री–जी अपने परिकर सहित नव-निर्मित 'वेणु विनोद-कुञ्ज' में निवास हेतु आ गये। यह कुञ्ज सेवाकुञ्ज मोहल्ले में श्रीराधा-दामोदरजी के मन्दिर के सामने अवस्थित है। गोपालमन्दिर में जगह छोटी थी, परिकर बढ़ता जा रहा था; अतः १९६२ में भक्तों के आग्रह से इस आश्रम का निर्माण हुआ था। इस आश्रम का नाम श्री महाराजजी ने अपनी रुचि से "वेणुविनोदकुञ्ज" रखा एवं आजीवन यहीं रहे।

श्री जगन्नाथजी से आने के पश्चात् जैसा कि आप पूर्व में पढ़ चुके हैं, श्री–जी के स्वभाव में बहुत परिवर्तन आ गया था। प्रायः कपोल में एक अँगुली गड़ाये हुए किसी भावराज्य में खोये-खोये से आप पलंग पर लेटे रहते। परिकरजन समीप बैठे चुपचाप देखते रहते। कभी-कभी हम में से कोई विनोद में कह भी देते कि "महाराजजी ! हम भी यहाँ बैठे हुए हैं " तो आप मुस्कराते हुए धीरे से कहते–"मुझे मालूम है।" अधिक बोलने का मन ही नहीं करता। हास्य-विनोद का अवसर भी कम ही आता था। यदि उठकर बैठ भी गये तो कुछ लिखने लग जाते थे। जगन्नाथधाम से लौटने के पश्चात् जो भी सत्संग लिखे गये हैं, वे बहुत ही गम्भीर हैं। गंगामन्दिर का वह छलकता भाव का वातावरण तथा उद्दाम हास्य-विनोद किसी सरस गम्भीर भाव में विलीन हो गया। सन् १९६५ से दूसरा ही वातावरण स्थापित हो गया। जो क्षण-

क्षण में साधकों को सजग करते रहते थे, वे श्री महाराजजी अपने रस में ही सदा डूबे रहने लगे। उनके लिये अपने लीला-जगत् के अतिरिक्त दूसरे बाह्य संसार, व्यवहार इत्यादि का अस्तित्व ही नहीं रहा। किसी ने व्यवहार कार्य के लिये कुछ पूछा भी तो बिना मन के जो भी उत्तर आया, दे दिया। इस पर किसी ने कहा—महाराज जी ! ऐसा नहीं ऐसा है, तो आप भी कह देते—हाँ, ऐसा ही है। प्रथम जनवरी, १९७० को श्रीहरिबाबाजी महाराज के लीला-प्रवेश करने के पश्चात् तो आपकी उपरामता और भी बढ़ गई।

महापुरुष संसार से उपराम रहते हुए भी अपने व्यवहार में पूर्णतः सजग रहते ही हैं। प्रशंसा एवं कीर्ति को आपने कभी भी अपने पास फटकने का अवसर दिया ही नहीं। श्री यमुनाजी के किनारे परिक्रमा-मार्ग पर ही श्रीराधावल्लभ के मान्यवर गोस्वामी श्रीललिताचरणजी का मकान था। वे नित्य ही प्रातःकाल अपने मकान की छत पर यमुनाजी की शोभा निहारते हुए घूमते रहते थे। इसी समय पूज्य श्रीमहाराजजी भी श्रीघनश्यामजी को साथ लेकर यमुनाजी के किनारे घूमने जाया करते थे।

जब श्रीप्रतापचन्दजी ने श्री गोस्वामीजी को श्री—जी का परिचय एक महान् सिद्ध-सन्त के रूप में दिया, तब उन्होंने कहा—"मैं इनको नित्य ही यमुना-पुलिन पर मस्ती भरी चाल से घूमते हुए देखा करता था और जब इसी समय इनकी चाल देखने के लिये मैं छत पर आता था एवं मेरा मन इनकी ओर आकर्षित होता था। सोचता था—ये महात्मा अवश्य ही कोई उच्च कोटि के रसिक-सन्त हैं। आपसे इनके बारे में सुनकर अब पूर्ण विश्वास हो गया।"

श्री—जी के भावावेश की चर्चा भी श्री प्रतापचंदजी ने गोस्वामीजी से की, जिसे सुनकर वे श्री—जी के दर्शन के लिये बहुत उत्कण्ठित हुए और प्रतापचंदजी के ही माध्यम से समय माँगा, परन्तु श्री—जी ने संकोच पूर्वक कह दिया—वे इतने बड़े गोस्वामी हैं, उनका यहाँ आना क्या, मैं ही किसी दिन उनके दर्शन के लिये चला जाऊँगा। उन्होंने अपने शिष्यों को भेजकर भी मिलने के लिए पुछवाया, परन्तु आप संकोच ही करते रहे। इतनी गोपनीयता का प्रयास करने पर भी सुगन्धि फैल ही जाती है, इसे कैसे छिपाया जा सकता है।

कुछ दिनों से श्री महाराजजी को निरन्तर अपने दोनों ओर दो सखियों की अनुभूति हो रही थी। ये सदैव ही उठते-बैठते, जाते-आते श्री–जी के पास ही बनी रहती थीं और कहतीं–"यहाँ रहकर क्या करोगे ? हमारे साथ चलो।" यह सुनकर श्री–जी भी यही उत्तर देते–"नहीं, अभी मेरा बहुत काम बाकी है, मुझे अभी नहीं जाना है।" यह क्रम छह माह तक चलता रहा।

एक दिन श्री–जी ने अपने परिकर मध्य वात्सल्य से उमड़ते हुए यह बात कही थी कि "यद्यपि ये सखियाँ मेरे परिकर (मेल) की नहीं हैं, परन्तु मुझे साथ चलने का इनका आग्रह निरन्तर, हर समय बना हुआ है; पर अभी मैं आप लोगों को छोड़कर कैसे जा सकता हूँ ! मेरा बहुत सा काम शेष है।

एकबार श्री–जी बस द्वारा देहली जा रहे थे। श्री घनश्यामजी भी साथ थे। उन्होंने श्री–जी से पूछा–महाराजजी ! क्या यहाँ भी आपके साथ उन दिव्य खखियों की उपस्थिति है ?

श्री–जी ने कहा–"यहाँ भी वे मेरे साथ ही साथ हैं।"

कुछ दिन बाद वे सखियाँ अदृश्य हो गईं।

मनोरमाजी का चरणाश्रय में आना

श्री महाराजजी १६४५ से ही मंडलेश्वर जाते रहते थे। श्री राजनाथ शुक्लाजी, जो मंडलेश्वर के ही निवासी एवं वहीं शासकीय सेवा में कार्यरत थे, उसी समय से सपरिवार श्री महाराजजी के चरणाश्रय में आ गये थे। दम्पती अति ही भावुक थे तथा श्री–जी के सत्संग में आते रहते थे। इनकी सबसे बड़ी पुत्री का नाम मनोरमा था। बालिका में माता-पिता के धार्मिक संस्कार तो थे ही, साथ ही पूज्य श्री महाराजजी जैसे सिद्ध-सन्त के सान्निध्य एवं उनकी कृपा में अवगाहन करने के अवसर इन्हें बालपन से ही अनायास प्राप्त होते रहे। परिणामस्वरूप संसार की कुरूपता का दर्शन इन्हें करना ही नहीं पड़ा। सन्त की अकारण करुणा ने इन्हें पितृगृह से उठाकर, निजधाम में लाकर बैठा दिया। इतना ही नहीं, इन्हें 'वेणुविनोदकुञ्ज' के ठाकुर श्री विनोदबिहारी की सेवा का भार सौंप दिया। अद्यावधि ये बड़ी ही लगन एवं प्रेम से सेवा में संलग्न रहती हैं। अस्तु।

कुछ दिनों पश्चात् श्री शुक्लाजी का स्थानान्तरण 'महू' हो गया। श्री–जी एक बार वहाँ गये, तब मनोरमाजी की अवस्था चौदह वर्ष की थी। श्री–जी ने सहज ही बाई (शुक्लाजी की पत्नी) से पूछा–"इसके लिये लड़का नहीं ढूँढते ?" बाई ने कहा–महाराजजी ! आपकी कृपा से ही सब होगा। मुझे क्या चिन्ता ? श्री–जी ने विनोद में ही मानो भविष्य की बात कह दी–देखो ! मोर मुकुटवाला ढूँढना।

इसके पश्चात् शुक्लाजी का स्थानान्तरण खरगोन हो गया। श्री–जी खरगोन भी प्रायः जाया करते थे। वहाँ के एक भावुक एवं सम्पन्न सेठ श्री बालकिसनजी गणपति के यहाँ ही ठहरते थे। प्रतिदिन रात्रि में इनके यहाँ कीर्तन एवं सत्संग होता था। माता-पिता के साथ मनोरमा भी जाया करती थी। इस सत्संग का बालिका के मन पर बहुत प्रभाव पड़ा। श्री–जी कभी-कभी शुक्लाजी के घर भी जाया करते थे। मनोरमाजी श्री–जी से वृन्दावन बुलाने के लिये प्रार्थना करती रहती थीं। श्री–जी ने इन्हें कहा–"यदि दो वर्ष तक नित्य एक लाख महामन्त्र का जप करो तो वृन्दावन आ जाओगी। इन्होंने भी श्रद्धा एवं लगन से व्याकुलतापूर्वक नित्य एक लाख –

हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।।

इस महामन्त्र का जप किया।

एक बार टेमलाग्राम में (खरगोन के पास) एक मंदिर में संकीर्तन का आयोजन था। श्री–जी के साथ शुक्लाजी भी सपरिवार गये। एकाएक मनोरमाजी के पेट में अत्यधिक वेदना होने लगी। वह कमरे में जाकर लेट गई। श्री–जी आँगन में लेटे हुए थे। उन्होंने मनोरमाजी को बाहर बुलाया और अपने सिरहाने से एक पान की बीड़ी देते हुए कहा–यह बिहारीजी की प्रसादी पान-बीड़ी है, इसे खा लो; ठीक हो जाओगी। पान खाते ही उदर-वेदना शान्त हो गई। भगवत्-भाव से मन भावित हो गया। अश्रु बहने लगे। ये कब कैसे कीर्तन में गईं, इसका भी भान नहीं रहा। वहाँ श्री–जी के मुख से **पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे** पद सुनकर इनका मन तन्मय हो गया। बस! यहीं से कृपा का स्रोत प्रारंभ हुआ। अब श्री–जी की कृपा से बिना प्रयास के निरंतर नाम चलता था और श्रीधाम गमन के लिये व्याकुलता बढ़ती जा रही थी।

एक बार खरगोन में श्री–जी इनके घर आये हुए थे। सबने चरण-स्पर्श किये। जैसे ही मनोरमा जी ने श्री–जी के चरणों में मस्तक रखा श्री–जी ने अपने चरण के अँगूठे के नख से इनके भाल पर इतने जोर से एल रेखा सी खींच दी कि निशान पड़ गया। फिर आप ही कहने लगे–"क्यों जोर से लग गया! क्या करें? कर्मों की रेखा तो काटनी ही थी।"

ये जब भी श्री–जी के चरण स्पर्श करतीं तो शरीर में सात्त्विक भाव का उदय हो जाने से रोमांच हो जाता। एक दिन श्री–जी ने इनसे कहा–मानसिक सेवा में श्रीकृष्ण का नखशिख शृंगार किया करो।

श्री मोतीरामजी एक बार खरगोन गये हुए थे तो श्री शुक्लाजी के यहाँ भी गये। सहज ही मनोरमाजी से इन्होंने पूछा–मैं वृन्दावन जा रहा हूँ, चलोगी? और ये तैयार हो गईं। श्री शुक्लाजी का भी श्री–जी के प्रति सराहनीय एवं पूर्ण समर्पण था। इन्होंने बिना कोई आपत्ति किये अपनी पुत्री को श्री मोतीरामजी के साथ वृन्दावन भेज दिया। इस प्रकार अति ही सहजता

से इनका वृन्दावन निवास हो गया। सन् १९६५ वैशाख मास में जब ये वृन्दावन आईं, उस समय इनकी अवस्था मात्र बीस वर्ष की थी। श्री शुक्लाजी तो अपनी हर छोटी बड़ी बात के लिये श्री–जी पर ही निर्भर रहते थे। शासकीय सेवा में रहते हुए भी उन्होंने कभी असत्य का आश्रय नहीं लिया। परिवार बड़ा था। अतः आर्थिक दृष्टि से उन्हें सदैव कठिनाई से ही बच्चों का लालन-पालन करना पड़ा; परन्तु ऐसी अवस्था में भी वे अपने वेतन में से गंगामंदिर एवं गोपालमंदिर का मकान-किराया सदैव भेजते रहे। श्री–जी जब वेणुविनोदकुंज में आये तब भी स्वल्प किन्तु नियमित सेवा आजीवन भेजते रहे। श्री–जी ने भी मानो इस परिवार का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व वहन कर लिया था। श्री–जी के लीलाप्रवेश के पश्चात् तो इन्हें जीवन भार-स्वरूप हो गया। इनके व्याकुलता भरे पत्र वृन्दावन आते तो पढ़ने वाले भी व्याकुल हो जाते। मात्र ग्यारह माह पश्चात् ही अस्वस्थ अवस्था में वैशाख कृष्ण एकादशी को श्री–जी का चिन्तन करते-करते शुक्लाजी ने शरीर छोड़ दिया।

श्री घनश्यामजी की स्वरूपाई के कुछ भक्तों का चरणाश्रय में आना

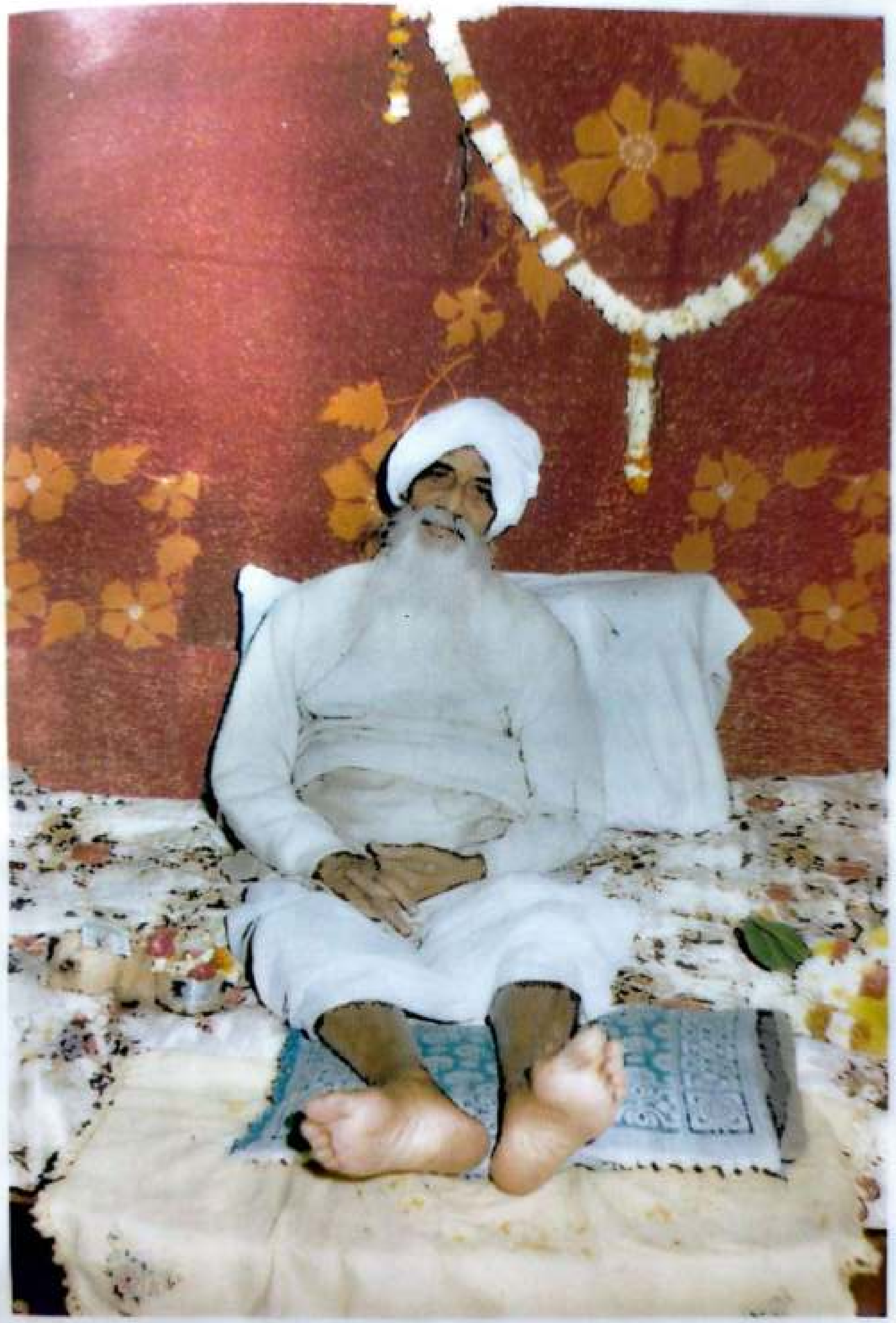
जैसा कि पाठकगण पूर्व में पढ़ चुके हैं कि श्री घनश्यामजी रास में जब ठाकुर स्वरूप बनते थे तब भगवदीय आवेश से युक्त होते थे। कई लोग मुग्ध होकर इनके भक्त बन चुके थे एवं इन पर श्रद्धा रखते थे। जब ये श्री–जी के चरणाश्रय में आ गये तो ये भक्तगण भी एक-एक करके श्री–जी के चरणाश्रय में आने लगे।

श्री बनवारीशरणजी –

सर्वप्रथम गंगामंदिर में श्री बनवारीशरणजी आये। ये श्रीधाम में आकर कुछ वर्षों तक सुदामा कुटी में रहे थे। धीरे-धीरे श्री–जी के सम्पर्क में आये और शनैः - शनैः श्री–जी के अनन्य भक्तों में इनकी गणना हो गई। ये नित्य ही ढाई बजे उठकर स्नान करके नामजप में बैठ जाते थे। इनका यह नियम वर्षों चलता रहा। एक ही आँख से ये देख पाते थे। दैववशात् उसमें भी मोतिया आ

गया और ऑपरेशन असफल हो जाने से ये 'सूरदास' ही हो गये। इस स्थिति में भी नाम लेते हुए मस्त रहने लगे। क्षत्रिय कुलोत्पन्न होने से ये बड़े ही स्वाभिमानी स्वभाव के रहे। बड़े से बड़े शारीरिक कष्ट में भी कभी दीनता को स्वीकार नहीं किया। इनकी धारणाशक्ति भी तीव्र होने से ऐसी अवस्था में भी संस्कृत के सैकड़ों पद एवं श्लोक इन्होंने कंठस्थ कर लिये। प्रसाद पाने के पश्चात् जब दोपहर में श्री महाराजजी विश्राम करते थे तब नियमित रूप से ये ही चरणसेवा करते थे। ये निम्बार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित थे, परन्तु श्री–जी पर इनकी अनन्य निष्ठा थी। श्री–जी भी इनपर बहुत स्नेह करते थे एवं सदैव इनका विशेष रूप से ध्यान रखते थे। श्री–जी ने एक बार इन्हें जीवनदान दिया था।

वेणुविनोदकुंज में एक दिन ये पानी की टंकी पर हाथ धोकर आ रहे थे कि पत्थर के कोयले पर पैर पड़ने से रपट कर धड़ाम से गिर पड़े। जंघा के जोड़ की हड्डी टूट गई। रामकृष्ण सेवाश्रम में भर्ती करना पड़ा। पैर में भयंकर वेदना तो थी ही, दूसरे दिन रक्त वमन प्रारंभ हो गया। एक साथ आधा-आधा किलो रक्त जाने लगा। दो दिनों में सात बार इस प्रकार वमन हुआ। शरीर सफेद पड़ गया। डॉक्टरों के उपचार से कोई लाभ नहीं हो रहा था। बचने की आशा नहीं रही, तब मैंने और घनश्यामजी ने श्री–जी से उनकी अति गम्भीर स्थिति के बारे में कहा। सुनकर श्री–जी ने गम्भीरता पूर्वक कहा–"हम चाहते थे कि ये एक-दो वर्ष और रह जाते तथा सत्संग सुनते तो अच्छा होता।" हमने सोचा उनका शरीर दवाखाने में क्यों छूटे, श्री–जी से अनुमति लेकर हम उन्हें लेने गये एवं दवाखाने के इंचार्ज श्री शक्ति महाराज से पूछा। उन्होंने दूसरे दिन सुबह ले जाने के लिये कहा। हम पूर्ण व्यवस्था से दूसरे दिन सुबह उन्हें ले आने के लिये गये। डॉक्टर ने कहा–आश्चर्य है। बिना दवा के ही वमन रुक गया है, जीवन की कुछ आशा लग रही है। आप इन्हें टी. बी. हॉस्पीटल ले जाइये। टी. बी. हॉस्पीटल ले गये। वहाँ केवल पैर पर प्लास्टर चढ़ा दिया गया और कोई इलाज नहीं हुआ। डेढ़ माह पश्चात् आप कुंज में आ गये और शनैः-शनैः ठीक हो गये। इस प्रकार श्री–जी के सत्संकल्प से बनवारीशरण जी को पुनर्जीवन प्राप्त हो गया।



सहज मुद्रा

श्री रामदासजी–

ये पाँच वर्ष की अवस्था से ही हरिद्वार में एक संन्यासी संत के आश्रम में रहने लगे थे। ये सिन्ध के रहने वाले थे। श्री घनश्यामजी जब ठाकुर बनते थे, तब इनकी मंडली का रास इन स्वामी के आश्रम में हुआ था। वहाँ रास दर्शन कर श्री रामदासजी का मन श्रीधाम के प्रति आकर्षित हो गया और ये वहाँ से भागकर वृन्दावन आ गये। श्री घनश्यामजी पर भी इन्हें बहुत श्रद्धा थी। जीविका के लिये इन्होंने वृन्दावन में वनखण्डी पर टीन के डिब्बे बनाने की एक दुकान कुछ दिनों तक चलाई, पश्चात् एक सिद्ध-सन्त श्री कोकिल साईं की सेवा में रहने लगे। सन्त-सेवा इनका स्वाभाविक गुण था। श्री घनश्यामजी की प्रेरणा से ये भी श्री–जी के अनन्याश्रय में आ गये। उस समय इनकी अवस्था तीस वर्ष की थी। पन्द्रह वर्ष तक इन्होंने सर्वतोभावेन श्री–जी की सेवा की।

एक बार श्री महाराजजी मध्य प्रदेश गए हुए थे। मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी (श्री गीताजयन्ती) के दिन भक्तगण श्री–जी का जन्मदिवस कई वर्षों से मनाते आ रहे थे। श्री–जी को उस अवसर पर बुलाने के लिये धाम से भक्तों ने पत्र लिखा। पत्र पाकर वे तुरंत धाम आने के लिये तैयार हो गये। खरगोन के भक्तों ने कहा–अभी तो जन्मदिवस के बहुत दिन हैं। श्री–जी ने कहा–"नहीं, आठ ही दिन तो रह गये हैं"। पंचांग और डायरियाँ देखी गईं। श्री–जी के कथनानुसार सभी ने यही देखा कि अब आठ ही दिन रह गये हैं। अतः विवश होकर श्री–जी को बिदाई देनी पड़ी। यहाँ सातवेला आश्रम के महन्तजी का टेलिग्राम श्री रामदासजी को कटनी आने के लिए मिला। किन्तु श्री–जी के श्रीधाम आने का तार पाकर रामदासजी कटनी न जाकर उन्हें लिवा लाने के लिए मथुरा स्टेशन पहुँच गये।

उधर सन्त श्री ललितजी श्री–जी को शीघ्रातिशीघ्र अपने घर दिल्ली ले जाना चाहती थीं, क्योंकि अफ्रीका से आये हुए उनके भाई चक्रपालजी को शीघ्र ही वापस जाना था और श्री–जी के दर्शन की उन्हें प्रबल इच्छा थी। अतः श्री ललितजी भी कार लेकर देहली से ही मथुरा स्टेशन पहुँच गईं। श्री–जी स्टेशन से ही उनके साथ सीधे दिल्ली चले गये। साथ में श्री रामदासजी को

भी ले गये। घर पहुँचने पर श्री ललितजी ने जिस सुन्दर प्याले में श्री–जी को चाय पिलाई, श्री रामदासजी ललचाई दृष्टि से उसे देखने लगे। श्री–जी तो तुरन्त इनके मन का भाव समझ गये और बोले—"देखना प्याला कहीं लेकर मत बैठना," परन्तु धाम के लिये रवाना होने के पूर्व इन्होंने श्री ललितजी से वह प्याला माँग ही लिया और छिपाकर रख लिया। वृन्दावन पहुँचने पर चुपके से श्री देवीजी को दे दिया। जन्म दिन निकट ही था, अतः देवीजी ने कहा—जन्मदिवस पर इसी प्याले में श्री–जी को चाय पिलायेंगे।

श्री रामदासजी ने जन्मदिन के उद्देश्य से मोमबत्तियों का बण्डल एवं आतिशबाजी भी लाकर रख दी। यहाँ आने पर पता चला कि गीता-जयन्ती के तो सचमुच अभी बीस दिन बाकी हैं। इसकी सूचना खरगोन दे दी गई। वहाँ के भक्त आश्चर्य करने लगे कि हम सभी ने पंचांग गलत कैसे देख लिया! परन्तु इस घटना के साथ भविष्य की एक और घटना जुड़ी हुई थी, जिसे केवल श्री–जी ही जानते थे। बात यह थी कि सन् १९६४ में सुबह अँधेरे में यमुनास्नान के लिये जाते हुए श्री रामदासजी को एक कुत्ते ने काट लिया था। उस समय पता नहीं चला कि वह कुत्ता पागल था। अतः कोई विशेष उपचार नहीं किया गया।

दिल्ली में ही श्री रामदासजी की बाँह में जहाँ कुत्ते ने काटा था, दर्द होना प्रारम्भ हो गया था। धाम आने पर उन्हें ज्वर भी हो गया एवं शरीर की स्थिति बहुत चिन्ताजनक हो गई। श्री श्रवणलालजी वैद्य को दिखाया गया। उन्होंने कहा—कुत्ते का विष शरीर में व्याप्त हो गया है। बस, शरीर तीन दिन और रहेगा। श्री–जी ने उन्हें दवाखाने में भर्ती कराया। प्रतिदिन उन्हें देखने जाते थे। जो भी भक्त श्री रामदासजी को देखने जाते, श्री रामदासजी उनके चरण छूते और कहते देखो—"हमें छोड़ना नहीं, अपने परिकर में ही रखना"। उस समय मैं अम्बाला गया हुआ था। तार मिलने पर उनके शरीर छोड़ने के एक दिन पहले धाम आ गया था। मुझसे वे बहुत स्नेह रखते थे। तीसरे दिन दि. २८-११-६५, मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदा संवत् १९२२ सुबह छह बजे इनका देहावसान हुआ। इनकी पीड़ापूर्ण स्थिति देखकर सन्त श्री सन्तोष बहिनजी को बहुत कष्ट हुआ। इनके शरीर छूटने के तीन घण्टे अर्थात् तीन बजे श्री सन्तोष बहिनजी को स्वप्न हुआ, मानो कोई कह रहा है तुम व्याकुल

भी ले गये। घर पहुँचने पर श्री ललितजी ने जिस सुन्दर प्याले में श्री–जी को चाय पिलाई, श्री रामदासजी ललचाई दृष्टि से उसे देखने लगे। श्री–जी तो तुरंत इनके मन का भाव समझ गये और बोले–"देखना प्याला कहीं माँग मत बैठना," परन्तु धाम के लिये रवाना होने के पूर्व इन्होंने श्री ललितजी से नया प्याला माँग ही लिया और छिपाकर रख लिया। वृन्दावन पहुँचने पर चुपके से श्री देवीजी को दे दिया। जन्म दिन निकट ही था, अतः देवीजी ने कहा–जन्मदिवस पर इसी प्याले में श्री–जी को चाय पिलायेंगे।

श्री रामदासजी ने जन्मदिन के उद्देश्य से मोमबत्तियों का बंडल एवं आतिशबाजी भी लाकर रख दी। यहाँ आने पर पता चला कि गीता-जयंती के तो सचमुच अभी बीस दिन बाकी हैं। इसकी सूचना खरगोन दे दी गई। वहाँ के भक्त आश्चर्य करने लगे कि हम सभी ने पंचांग गलत कैसे देख लिया! परन्तु इस घटना के साथ भविष्य की एक और घटना जुड़ी हुई थी, जिसे केवल श्री–जी ही जानते थे। बात यह थी कि सन् १९६४ में सुबह अँधेरे में यमुनास्नान के लिये जाते हुए श्री रामदासजी को एक कुत्ते ने काट लिया था। उस समय पता नहीं चला कि वह कुत्ता पागल था। अतः कोई विशेष उपचार नहीं किया गया।

दिल्ली में ही श्री रामदासजी की बाँह में जहाँ कुत्ते ने काटा था, दर्द होना प्रारंभ हो गया था। धाम आने पर उन्हें ज्वर भी हो गया एवं शरीर की स्थिति बहुल चिन्ताजनक हो गई। श्री श्रवणलालजी वैद्य को दिखाया गया। उन्होंने कहा–कुत्ते का विष शरीर में व्याप्त हो गया है। बस, शरीर तीन दिन और रहेगा। श्री–जी ने उन्हें दवाखाने में भर्ती कराया। प्रतिदिन उन्हें देखने जाते थे। जो भी भक्त श्री रामदासजी को देखने जाते, श्री रामदासजी उनके चरण छूते और कहते देखो–"हमें छोड़ना नहीं, अपने परिकर में ही रखना"। उस समय मैं अम्बाला गया हुआ था। तार मिलने पर उनके शरीर छोड़ने के एक दिन पहले धाम आ गया था। मुझसे वे बहुत स्नेह रखते थे। तीसरे दिन दि॰ २४–११–६५, मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदा संवत् १९२२ सुबह छह बजे इनका देहावसान हुआ। इनकी पीड़ापूर्ण स्थिति देखकर सन्त श्री सन्तोष बहिनजी को बहुत कष्ट हुआ। इनके शरीर छूटने के तीन घण्टे अर्थात् तीन बजे श्री सन्तोष बहिनजी को स्वप्न हुआ, मानो कोई कह रहा है–तुम व्याकुल

क्यों होती हो ? जीवन में इनसे कुछ अपराध बन गया था, जिसके फल-स्वरूप इन्हें आगे का जन्म कुत्ते का मिलना था, परन्तु इन्होंने सन्तसेवा और भजन भी बहुत किया है। इसलिये तीन दिन में ही इनके कर्म भोग का भुगतान हो गया। श्री–जी भी इनके कष्ट से बहुत दुःखी हुए। कहने लगे–"अब इनका अगला जन्म अच्छा होगा और ये किसी अच्छे परिवार में जन्म लेकर फिर परिकर में सम्मिलित होकर हमें मिल जायेंगे। मुझे म. प्र. से अभी आना नहीं था, परन्तु इन्हीं के लिये आना पड़ा। श्री–जी ने इनकी आत्मा की शान्ति के लिये श्रीमद्भागवत-सप्ताह कथा का बृहद् आयोजन कराया।

इस घटना के दो माह पश्चात् नन्दगाँव के श्री बृजी गुँसाई, जो श्रीकृष्ण के सख्यभाव में रँगे हुए हैं, ये श्रीधाम में मेरी कुटिया पर आये। मैंने जब उनसे श्री रामदासजी के शरीर छूटने की बात कही, तो चुप हो गये और लेट गये। फिर एकदम उठकर कहने लगे–इनका जन्म किसी अच्छे घर में होगा और कुछ वर्षों पश्चात् ये तुम्हें फिर मिल जायेंगे। श्रीरामदासजी ने नन्दगाँव में श्री–जी की गुफा में और नन्द बाबा के बगीचे में भजन किया था, तभी से गुँसाई जी उनसे प्रेम करते थे।

श्री प्रमीलाजी शुक्ला–

ये बहिन कानपुर की निवासिनी हैं। ये वहाँ अध्यापन कार्य करती थीं एवं भरे-पूरे परिवार की थीं। इनके दो पुत्र और एक पुत्री हैं। धाम के आकर्षण ने इन्हें वहाँ रहने नहीं दिया और ये अपने छोटे बच्चों को लेकर वृन्दावन आ गईं। उनके लालन-पालन हेतु यहाँ भी इन्हें अध्यापन कार्य करना पड़ा, परन्तु अनेक कष्ट सहकर भी धामवास करते हुए साधना में संलग्न रहीं। श्री घनश्यामजी के कारण ही इन्हें भी श्री–जी में अनन्य निष्ठा एवं अगाध श्रद्धा हो गई। अपने गृहस्थ कर्तव्यों एवं शासकीय सेवा से निवृत्त होने के बाद भी ये एकाकी रहकर निष्ठा पूर्वक धाम-वास कर रही हैं।

श्री सीतारामजी तथा श्री गोवर्धनदासजी–

ये दोनों भाई बनारस के निवासी तथा सम्पन्न परिवार के थे। पहले इनके पिताजी का बम्बई में अच्छा व्यापार था, बाद में ये वाराणसी आ गये।

यहीं इनका घी का थोक व्यापार था। ये सेठ जयदयालजी गोयन्दका के चिरपरिचित और श्री हनुमानप्रसाद पोद्दारजी (भाई जी) के गुरु के सम्बन्धी थे। श्री सीतारामजी पहले तो अपने भाइयों के साथ व्यापार की दुकान पर ही कार्य करते रहे, परन्तु प्रारंभ से ही अध्यात्म में रुचि थी। अतः सेवा के भाव से [illegible] गीताप्रेस गोरखपुर एवं सनातन सेठजी के आदेश से गीताभवन स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) में अत्यल्प वेतन पर प्रधान मुनीम का कार्य करना प्रारंभ किया। इनके निर्देशन में आठ मुनीम और कार्य करते थे। ये सत्यवादी एवं ईमानदार थे तथा जीवन भर इस व्रत पर दृढ़ रहे। एक बार अन्य मुनीमों के आग्रह पर सेठजी ने सभी के वेतन में दो-दो सौ रुपये की वृद्धि कर दी। जब श्री सीतारामजी को यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने सेवा से अपना त्यागपत्र लिखकर सेठजी को भेज दिया। श्री सेठजी ने आश्चर्य से सोचा, शायद प्रधान मुनीम होने के कारण ये अधिक वेतन चाहते होंगे। उन्होंने सीतारामजी को बुलाकर कारण पूछा। सीतारामजी ने विनम्रता से कहा—"आप मुझे जितना वेतन देते हैं, उतना भी कार्य मैं कर नहीं पाता। आपने मेरा वेतन क्यों बढ़ाया है? मेरे त्यागपत्र का यही कारण है।" सुनकर श्री सेठजी के नेत्र सजल हो गये, हृदय भर आया, बोले—"भैया, ऐसे सच्चे एवं त्यागी कर्मचारियों के बल पर तो हमारा गीताप्रेस चल रहा है।" कुछ काल के उपरान्त ये चार माह ऋषिकेश में सेवा करके जो वेतन प्राप्त करते, उससे शेष आठ माह वृन्दावन में रहकर भजन में काल व्यतीत करते। कुछ वर्ष पश्चात् तो ये गीताभवन का कार्य छोड़कर स्थायी रूप से वृन्दावन आ गये और स्वयं के अर्जित धन के ब्याज से जीवन निर्वाह करते रहे। आजीवन अविवाहित रहकर नाम जप करते हुए वृन्दावनवास किया एवं अन्त तक व्रज से बाहर नहीं गये। ये श्री [illegible] के माध्यम से ही श्री—जी के अनन्याश्रय में आ गये। वर्षों तक श्री—जी के [illegible] की [illegible] ये ही करते रहे।

ये सन् १९५४ में वृन्दावन आये थे और सन् १९९२ में एक माह तक साधारणतया अस्वस्थ रहे एवं नाम लेते हुए इन्होंने श्रीधाम में ही सुखपूर्वक अपना शरीर छोड़ा।

यहाँ इनका मेवे का थोक व्यापार था। ये सेठ सन्त श्री जयदयालजी गोयनका और श्री हनुमानप्रसाद पोद्दारजी (भाई जी) के दूर के सम्बन्धी थे। श्री सीतारामजी पहले तो अपने भाइयों के साथ स्वयं की दुकानों पर ही कार्य करते रहे, परन्तु प्रारंभ से ही अध्यात्म में रुचि थी। अतः सेवा के लक्ष्य से इन्होंने गीताप्रेस गोरखपुर एवं तदनंतर सेठजी के आदेश से गीताभवन स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) में अत्यल्प वेतन पर प्रधान मुनीम का कार्य करना प्रारंभ किया। इनके निर्देशन में आठ मुनीम और कार्य करते थे। ये सत्यवादी एवं परिश्रमी थे तथा जीवन भर इस व्रत पर दृढ़ रहे। एक बार अन्य मुनीमों के आग्रह पर सेठजी ने सभी के वेतन में दो-दो सौ रुपये की वृद्धि कर दी। जब श्री सीतारामजी को यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने सेवा से अपना त्यागपत्र लिखकर सेठजी को भेज दिया। श्री सेठजी ने आश्चर्य से सोचा, शायद प्रधान मुनीम होने के कारण ये अधिक वेतन चाहते होंगे। उन्होंने सीतारामजी को बुलाकर कारण पूछा। सीतारामजी ने विनम्रता से कहा–"आप मुझे जितना वेतन देते हैं, उतना भी कार्य मैं कर नहीं पाता। आपने मेरा वेतन क्यों बढ़ाया है ? मेरे त्यागपत्र का यही कारण है।" सुनकर श्री सेठजी के नेत्र सजल हो गये, हृदय भर आया, बोले–"भैया, ऐसे सच्चे एवं त्यागी व्यक्तियों के बल पर तो हमारा गीताप्रेस चल रहा है।" कुछ काल के उपरान्त ये चार माह ऋषिकेश में सेवा करके जो वेतन प्राप्त करते, उससे शेष आठ माह वृन्दावन में रहकर भजन में काल व्यतीत करते। कुछ वर्ष पश्चात् तो ये गीताभवन का कार्य छोड़कर स्थायी रूप से वृन्दावन आ गये और स्वयं के अर्जित धन के ब्याज से जीवन निर्वाह करते रहे। आजीवन अविवाहित रहकर नाम जप करते हुए वृन्दावनवास किया एवं अन्त तक व्रज से बाहर नहीं गये। ये श्री घनश्यामजी के माध्यम से ही श्री–जी के अनन्याश्रय में आ गये। वर्षों तक श्री–जी के वस्त्र धोने की सेवा ये ही करते रहे।

ये सन् १९५४ में वृन्दावन आये थे और सन् १९९६ में एक माह तक साधारणतया अस्वस्थ रहे एवं नाम लेते हुए इन्होंने श्रीधाम में ही सुखपूर्वक अपना शरीर छोड़ा।

श्री गोवर्धनदासजी इनके बड़े भाई थे। इन्होंने कुछ समय तक गृहस्थ-जीवन यापन किया। बनारस में अपनी ही दुकान पर कार्य करते रहे। कुछ वर्षों पश्चात् इनकी पत्नी और एकमात्र पुत्र की मृत्यु हो जाने से ये संसार से उपराम हो गये एवं अपने भाई श्री सीतारामजी के पास ही श्रीधाम में आकर रहने लगे। श्री–जी में इनकी बहुत निष्ठा थी। ये निरंतर नामजप में रत रहते थे। श्री–जी का सभी पर एक समान प्यार था। सभी की यह भावना थी कि श्री महाराजजी हमें ही सर्वाधिक स्नेह करते हैं। एक दिन परिकर के मध्य बैठे हुए श्री–जी ने सहज ही कहा–"यह परिकर एकत्र हुए बहुत वर्ष हो गये। अब धीरे-धीरे एक-एक पधारते जायेंगे।" श्री गोवर्धनदासजी ने श्रीधाम में ही सन् १९८६ में अपना शरीर छोड़ा।

कश्मीर के सिद्ध सन्त श्री लक्ष्मणजू से मिलन

स्वामी श्री लक्ष्मणजू कश्मीर के एक उच्चकोटि के सन्त थे। पूरे प्रान्त में आपका बहुत अधिक प्रभाव था। वहाँ के हिन्दू, मुसलमान, ईसाई तथा यूरोपीयन सभी लोग आपको पूज्य मानते थे।

देहली-निवासी एक भक्त महिला कमलाबाबा इन्हीं स्वामीजी की शिष्या थीं एवं श्री–जी में भी बहुत श्रद्धा रखती थीं।

व्रज में होली का उत्सव अपूर्व रूप से मनाया जाता है। उसमें भी श्री बरसाना, नन्दगाँव की होली तो सर्वश्रेष्ठ है। दूर-दूर से आये हुए दर्शनार्थी इस उत्सव के दर्शन कर अपने को धन्य मानते हैं। एकबार कमलाबाबा ने अपने गुरुदेव श्री स्वामीजी से बरसाना-नन्दगाँव की होली देखने के लिये चलने की उत्कंठा व्यक्त की। श्री स्वामीजी ने स्वीकृति दे दी, तो कमलाबाबा ने पूज्य श्री–जी से भी होली के अवसर पर बरसाना-नन्दगाँव चलने की प्रार्थना की। इनकी भी स्वीकृति पाकर वे बहुत प्रसन्न हुईं। होली के अवसर पर श्री स्वामीजी देहली से बरसाने पहुँच गये थे। पूज्य श्री–जी भी वृन्दावन से श्री ठाकुरजी को साथ लेकर बरसाना पहुँच गये। यहीं इन विभूतियों का प्रथम समागम हुआ।

होली-उत्सव के दर्शन के पश्चात् श्री स्वामीजी ने वृन्दावन आकर विश्राम किया। इन्हीं दिनों ही चर्चा के मध्य कश्मीर यात्रा की भूमिका बनी थी। श्री–जी से कश्मीर चलने के लिये श्री कमलाजी का आग्रह चलता रहा। श्री महाराजजी ने रासमंडली को साथ ले जाने का संकेत किया जिसे कमलाजी ने प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार कर लिया। सन् १९६८ में पूज्य श्री–जी एवं श्री घनश्यामजी, स्वामी श्रीरामजी की रासमंडली सहित कश्मीर पहुँच गये। पीछे श्री–जी ने कुसुमजी और कमलजी को भी वहाँ बुला लिया। उस समय मोहन एवं विष्णु ठाकुर–श्रीजी बनते थे। इनकी स्वरूपाई बहुत सुन्दर थी। कश्मीर में आजतक कोई रासमंडली नहीं गई थी। वहाँ पर रास का सफल आयोजन एक विलक्षण बात थी। बीस दिन तक प्रतिदिन नवीन-नवीन लीलाएँ होती रहीं। श्री स्वामीजी ने भी इस में बहुत रुचि ली। पश्चात् श्री–जी अमृतसर लौट आए और श्री चमनलाल और उनकी पत्नी भक्तिमती श्री प्रेमलताजी के घर पर ही लगभग पाँच-सात दिन निवास रहा। यहीं पर कमलजी के परिवार ने श्री–जी के दर्शन किए। इनकी बहिन प्रमीलाजी भी श्री–जी में श्रद्धा रखती थीं। यहाँ भी सत्संग एवं संकीर्तन चलता रहा।

श्री–जी को पुनः स्वामीजी से मिलने की इच्छा हुई, अतः श्री ठाकुरजी एवं कुसुमजी के सहित पुनः कश्मीर चले गये। इस बार पूज्य स्वामीजी के पास शान्तिपूर्वक बैठने का अवसर मिला। प्रतिदिन दो घन्टे पूज्य स्वामीजी के पास बैठते थे। यहाँ श्री–जी की लेखनी भी चलती रही। एक दिन श्री ठाकुरजी श्री–जी को पहलगाँव ले गये। वहाँ एक रामानन्दी संत से श्री अमरनाथजी का वर्णन सुनकर श्री ठाकुरजी को अमरनाथ दर्शन करने की इच्छा हो गई।

पहलगाँव में श्री–जी, श्री स्वामीजी के कृपापात्र एक पंडितजी के यहाँ ठहर गये। श्री घनश्यामजी एवं कुसुमजी, श्री अमरनाथजी के दर्शन की उत्कंठा लिये जैसी-तैसी व्यवस्था में ही चल पड़े। ऊपर इतनी अधिक बर्फ पड़ रही थी कि शेषनाग से आगे जाना संभव नहीं हो सका। रात्रि वहीं विश्राम किया। प्रातः लगभग छह बजे कुसुमजी को तन्द्रा में पूज्य श्री–जी ने कहा–"आ जाओ, वापस आ जाओ"। इस आदेश को स्वप्न समझकर ये आगे की ओर बढ़ते

चले गये। चारों ओर बर्फ के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। इतने में न जाने कहाँ से दो पठानों ने सामने से आकर कहा–बाबू! जीवन रहेगा तो यात्रा फिर सम्भव हो सकेगी। आपका घोड़ा मर जायेगा तो क्या करेगा? यह कहते-कहते उसने ठाकुरजी के घोड़े की लगाम पकड़कर घुमा दी और अधिकार की वाणी में बोला–"जाइये, लौट जाइये"। इस प्रकार उस निर्जन प्रदेश में उस पठान भाई के द्वारा भगवत्-योगक्षेम प्राप्त हुआ और ये लोग वापस श्री–जी के पास पहलगाँव सुरक्षित पहुँच गये। उस समय श्री–जी **'वसतु मनो मम मदन गोपाले'** पद गा रहे थे। पूज्य श्री–जी ने बताया–"मैं तुम लोगों की प्रतीक्षा ही कर रहा था, क्योंकि कुछ देर पहले मुझे आप लोगों की आवाज सुनाई दी थी।" पहलगाँव में एक दिन रहकर श्रीनगर वापस आ गये। एक दिन श्री–जी डलव्यूह में नौका से घूमने गये। उसमें कमल ही कमल खिले हुए थे। उन्हें देखकर श्री–जी ने कहा–ये कमल तो वृन्दावन पहुँचने चाहिए। श्री–जी की इच्छा जानकर श्री ठाकुरजी ने नौकावाले से कमल तुड़वाकर मँगवा लिये। कमलों से नौका भर गई। बोरी भरकर कमल लेकर घर आ गये। देखकर कमलाजी बोलीं–इतना वजन बस नहीं ले जायेगी। श्री–जी चुप ही रहे। कुछ बोले नहीं। परन्तु आश्चर्य जब सामान बस में रखा गया, तो इस बोरी की ओर किसी की दृष्टि नहीं गई। डाकवाली बस होने से कहीं रुकी नहीं। जम्मू आते ही मथुरा की ट्रेन तैयार मिली। दूसरे ही दिन वृन्दावन पहुँच गये। सभी आश्चर्य करने लगे कि कश्मीर से नई-नई चीजें लाते हैं, परन्तु श्री–जी कमल लेकर आये, वे भी इतनी अधिक मात्रा में। उसी दिन शाम को कमल- कुंज सजाई गई। कई मंदिरों में कमल वितरित किये गये। श्री सेवाकुंज में भी कमल-दल की सज्जा सजाई गई। एक तो श्री–जी के आने का आनन्द और दूसरा कमलमय कर देने का आनन्द सभी को आनन्द-मग्न कर रहा था।

हरनिया का ऑपरेशन
(सन् १९६८)

एक डेढ़ वर्ष से श्री–जी को हरनिया प्रारंभ हो चुका था, परन्तु अभी रोग का ठीक से निदान नहीं हो पाया था। जब उसमें पानी भरने से कष्ट अधिक बढ़ गया, तो डॉक्टरों ने कहा–यह हरनिया है और ऑपरेशन करवाना पड़ेगा। कश्मीर-निवासिनी श्री कमलाजी श्री–जी को देहली ले गईं और ऑल इण्डिया इंस्टीट्यूट में दिखाया। उन्होंने भी तुरंत ऑपरेशन करवाने की सलाह दी। परन्तु श्री–जी की अनिच्छा देखकर श्री कमलाजी श्री–जी को चण्डीगढ़ ले गईं। साथ में श्री ठाकुरजी, कुसुमजी एवं लालजी चढ्ढा भी थे। वहाँ उनके एक सम्बन्धी श्री साहबसिंह डॉक्टर थे। अपने मेडिकल स्टोर में ये हरनिया के बेल्ट भी रखते थे। डॉक्टर साहब गुरु नानकदेव के अनन्य भक्त थे। इन्होंने अन्य किसी सन्त के अब तक चरण स्पर्श ही नहीं किये थे। परन्तु श्री–जी को देखते ही आगे बढ़कर अश्रुविमोचन करते हुए उनके चरण स्पर्श किये। बड़े भाव से अपने घर ले गये और श्री–जी का बहुत ही प्रेमपूर्वक स्वागत सत्कार किया। सन्त-सम्पर्क में आने का इनका यह प्रथम अवसर था। ये श्री–जी से बहुत ही प्रभावित हुए। सारे दिन दुकान बंद कर श्री–जी के साथ ही रहे। श्री–जी की कटि का नाप लेकर हरनिया का बेल्ट बना दिया एवं उन को डायबेटिज की गोलियों का पैकेट दिया। उसी समय डॉक्टर साहब ने प्रण किया कि आज से ये गोलियाँ और बेल्ट रोगियों को निःशुल्क बाटूँगा एवं महाराजजी के कर-कमलों से ये वस्तुएँ रोगियों को वितरित करवाईं। लोग इनके व्यवहार को देख आश्चर्यचकित थे कि जो व्यक्ति एक मिनिट को भी दुकान नहीं छोड़ता, वह आज सब कुछ भूलकर एक सन्त के साथ घूम रहा है। उन्होंने बाद में बताया कि श्री–जी में इन्हें श्री गुरु नानकदेव के दर्शन हुए।

डॉक्टर साहब से बिदा होकर जैसे ही श्री महाराजजी श्रीधाम जाने के लिये बस स्टैण्ड पर आये, वहाँ इन्सपेक्टर श्री शर्माजी मिल गये। वे अत्यन्त आग्रह-पूर्वक श्री–जी को अम्बाला ले गये। श्री–जी यहाँ श्री प्रोफेसर रामेश्वर प्रसाद गौड़ के यहाँ ठहरे। वे दम्पती अपने भाग्य की सराहना करने लगे। वृन्दावन



डालमिया परिवार के मध्य श्रीमहाराजजी (मधुबन, दिल्ली)



श्रीहीरालालजी (अन्डर सेक्रेटी, भोपाल) के परिवार मध्य श्रीमहाराजजी

की एक प्रसिद्ध महिला सन्त श्री ऊषाजी के अम्बालानिवासी परिकर में श्री-जी का आगमन सुनकर प्रसन्नता की लहर व्याप्त हो गई। घटनाक्रम को आगे बढ़ाने के पूर्व श्री ऊषाजी का कुछ परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है।

श्री ऊषाजी सन् १९५६ में श्रीधाम आई थीं। भटनागर कुलोत्पन्ना श्री ऊषाजी में पाँच वर्ष की अवस्था से ही सहज भक्ति के लक्षण देखकर उनके माता-पिता आश्चर्यचकित तथा परम प्रसन्न थे। उन्होंने उनके जन्म-जात संस्कारों को पल्लवित-पुष्पित होने के पूरे-पूरे अवसर प्रदान किये। उनके घर में सौ वर्षों से सेवित श्री राधाकृष्ण के अति सुन्दर श्रीविग्रह थे। वे अपनी दादी को उनकी सेवा करते हुए देखती रहती थीं। बचपन से ही उन नील सुन्दर ने बालिका के मन पर अधिकार कर लिया और उसे संसार की बनकर रहने नहीं दिया। होश सम्हालते ही वृद्धा-दादी से वह सेवा उन्होंने ले ली, ले क्या ली, सर्वतोभावेन अपने मन-प्राण उन्हें अर्पण कर दिये। आजीवन उनकी हर साँस उन युगलसरकार के लाड़ लड़ाने में ही व्यतीत हुई।

स्नातकोत्तर उच्चशिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् श्री ऊषाजी अम्बाला में ही एक सफल प्राध्यापिका भी रहीं। बड़ी-बड़ी धार्मिक सभाओं में उन्हें आमन्त्रित किया जाता था। उनके प्रभावशाली प्रवचनों को सुन बड़े-बड़े पण्डित एवं विद्वान् भी आश्चर्य करते थे। सन्तजनों की वे सदैव स्नेहभाजन रहीं। उनमें अपूर्व काव्य-प्रतिभा थी। बड़े-बड़े कवि-सम्मेलनों में श्री ऊषाजी का अपना भी एक विशिष्ट स्थान था। परन्तु वृन्दावन आने के पश्चात् उन्होंने केवल भक्ति-परक काव्य का ही सृजन किया। जहाँ उनके पद अति सरस, मधुर एवं काव्य गरिमा से ओतप्रोत हैं, वहाँ उनमें स्वानुभव की सुगन्ध भी विद्यमान है। उनके भक्तिमय आदर्श व्यक्तित्व से प्रभावित होकर स्कूल एवं कॉलेज की पचासों लड़कियों ने उन्हीं के समान अविवाहित रहकर उनके आनुगत्य में भक्तिपथ पर चलने का निर्णय ले लिया। इस प्रकार उच्चशिक्षित छात्राओं का एक बहुत बड़ा समूह साधन पथ पर चल पड़ा, जिसपर वे स्नेहमय कड़ा शासन रखती थीं। वृन्दावन आने के कुछ समय पश्चात् उनके साथ ही अध्यापन कार्य कर रही एक बहिन सुश्री शीलाजी भी श्रीधाम आ गईं एवं आजीवन छाया की तरह साथ रहकर उनकी ठाकुर-सेवा में सहयोग देती रहीं। श्री ऊषाजी किसी पुरुष

सन्त के चरणस्पर्श नहीं करती थीं एवं अपने परिकर को भी उनका यही आदेश था। परन्तु एकबार उनके सेवित ठाकुर जी ने उन्हें यह स्वप्नादेश दिया कि पूज्य श्री महाराजजी एक उच्चकोटि के सन्त है, अतः उनके चरणस्पर्श करने चाहिये। तभी से वे परिकर सहित श्री–जी को चरणस्पर्श सहित प्रणाम करती थीं एवं उनमें बहुत श्रद्धा रखती थीं। श्री–जी का भी उनपर बहुत स्नेह था। उनके ठाकुरजी के दर्शनार्थ श्री–जी उनके निवासस्थान पर जाया करते थे और वे भी श्री–जी के दर्शनार्थ आती रहती थीं। घण्टों सत्संग चर्चा चलती रहती थी। इस प्रकार उनका समस्त परिकर भी श्री–जी के प्रति श्रद्धालु था। जब असमय में ही उन्हें निकुंज प्राप्ति हो गई, तो श्री–जी के मुख से ये उद्‌गार निकल पड़े–"हमारे बीच से बिजली चली गई।" सचमुच उनके दुबले-पतले छोटे से शरीर में प्रसन्नता एवं स्फूर्ति छलकती रहती थी। उनके युगल सरकार की सेवा एवं परिकर का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व श्री शीला बहिनजी एवं उनके प्रिय शिष्य विजयजी ने निष्ठापूर्वक सम्हाल लिया है। मुझसे वे सगे भाई के समान स्नेह करती थीं एवं किसी को भी मेरा परिचय देतीं वे तो कहतीं–"ये मेरे जोड़िया भाई हैं।" मैं उनका पूरा परिचय दूँ, तो एक बड़ा ग्रन्थ ही तैयार हो सकता है। अस्तु।

अम्बाला में श्री ऊषाजी के भक्त-परिकर की अम्बाला निवासिनी सभी लड़कियाँ श्री–जी के दर्शनार्थ आईं एवं प्रायः सभी ने बारी-बारी से श्री–जी को अपने यहाँ निमन्त्रित किया। उनकी प्रसन्नता के निमित्त वे सभी के यहाँ गये, परन्तु एक लड़की (संतोष नारंग) के यहाँ जाने का अवसर ही नहीं मिल पाया। तीसरे दिन अम्बाला से श्रीधाम के लिये प्रस्थान करते समय बस स्टैण्ड पर सन्तोष नारंग का अति उदास मुख देखकर श्री–जी ने उसे फिर आने का आश्वासन दिया, परन्तु दिल्ली पहुँचकर उनको उसका दुःख स्मरण आता रहा। अति कोमल स्वभाव होने से श्री–जी किसी का दुःख देख नहीं सकते थे। फलतः दूसरे ही दिन आप फिर अम्बाला जाकर सर्वप्रथम उसी के यहाँ गये। श्री–जी की करुणा को देखकर वह अपने भाग्य को सराहने लगी। एक दिन ही रहकर सभी को कीर्तन एवं सत्संग से रस-सिक्त कर श्री–जी श्रीधाम लौट आये।



बड़ीकुंज में श्रीउषाजी एवं परिकर के मध्य श्रीमहाराजजी



देवीजी, मनोहरजी, घनश्यामजी एवं कुसुमजी के मध्य विराजित श्रीमहाराजजी

अब मैं पुनः आपका ध्यान मूल विषय पर आकर्षित करता हूँ। श्री महाराजजी की इच्छा थी कि हरनिया का ऑपरेशन ऐसी जगह करवायें, जहाँ न परिकर को ज्ञात हो, न कोई पास हो। आपने अकेले ही घूमकर दो-तीन स्थानों पर बातचीत करके अन्त में अहमदाबाद में ऑपरेशन करवाने का निश्चय कर लिया, सेवा के लिये डाकोर के श्री रणछोड़दासजी को तैयार कर लिया। परन्तु मध्य प्रदेश के किसी भक्त ने यह सूचना वृन्दावन में दे दी। सुनकर सब चिन्तित हो गये। श्री घनश्यामजी ने श्री–जी को तुरंत पत्र लिखा कि "आपने जो विचार किया सो ठीक है, परन्तु मेरी आपसे इतनी ही प्रार्थना है कि यदि आप हमसे तनिक भी अपनापन रखते हैं तो आप मेरे सामने ही ऑपरेशन करवायें। इस पर आपकी जैसी इच्छा।" यह पत्र पढ़कर श्री–जी ने अपना विचार स्थगित कर दिया। श्री घनश्यामजी तुरंत ही डाकोर पहुँच गये। श्री–जी ने हँसते हुए श्री घनश्यामजी से कहा–"आपने तो हमारा सब प्रोग्राम चौपट कर दिया।" वहाँ से श्री–जी, श्री घनश्यामजी को साथ लेकर भोपाल में श्री हीरालालजी गुप्ता के यहाँ गये एवं उन्हीं के द्वारा भोपाल में ही ऑपरेशन करवाने का निश्चय किया। चार दिन उनके यहाँ झमाझम कीर्तन एवं सत्संग का सुख प्रदान कर श्री–जी, श्री घनश्यामजी सहित श्रीधाम लौट आये।

श्री हीरालालजी गुप्ता ने खरगोन में श्री बालकृष्ण गणपत सेठ के यहाँ श्री महाराजजी के दर्शन किये थे। वे उनके सम्बन्धी थे। केवल इतने से परिचय से ही श्री–जी ने उनके यहाँ रहकर ऑपरेशन करवाने का निश्चय कर लिया था। एक सन्त की पारखी आँखों ने उनके अन्दर छिपी हुई अनन्य निष्ठा को पहचान लिया था एवं उसी समय वे श्री–जी की कृपा के भाजन बन चुके थे। उस समय वे भोपाल में फायनेन्स अंडर सेक्रेटरी थे। इससे पूर्व श्री हीरालालजी स्वास्थ्य-विभाग में भी अंडर सेक्रेटरी रह चुके थे। फलतः भोपाल के प्रसिद्ध हमीदिया हॉस्पिटल के बड़े-बड़े डॉक्टरों से उनका परिचय था। यहाँ के कई डॉक्टरों की नियुक्ति में भी उनका सहयोग रहा। वे सब हीरालालजी का सम्मान करते थे। वे बड़वानी महाराजा के प्रायवेट सेक्रेटरी भी रह चुके थे। ऑपरेशन के पश्चात् तो उनका सम्पूर्ण परिवार ही श्री–जी की अनन्य शरण हो गया।

दिनांक सत्रह दिसम्बर १९६८. को भोपाल जाने का निश्चय हुआ। श्री हीरालालजी को तार द्वारा सूचना दे दी गई। सभी निजजन श्री महाराजजी को पहुँचाने मथुरा स्टेशन पर गये। ऑपरेशन की बात से सभी उदास थे परन्तु श्री–जी ने प्रसन्न वदन से सबसे बिदाई ली। सुबह दस बजे पंजाब मेल से रवाना होकर आप श्री घनश्यामजी सहित भोपाल पहुँचे। श्री हीरालालजी फायनेन्स मिनिस्टर की कार लेकर प्रेमीजनों सहित स्टेशन पर उपस्थित थे। श्री–जी के आगमन से श्री हीरालालजी परिवार सहित अत्यन्त प्रसन्न हुए। श्री देवीजी ने श्री घनश्यामजी से कह दिया था कि ऑपरेशन की तारीख निश्चित होने पर हमें तार द्वारा सूचना देना। मैंने भी ऑपरेशन के समय भोपाल पहुँचने का निश्चय कर लिया था। श्री घनश्यामजी का पत्र आया कि सर्जन डॉ॰ कुमार श्री–जी को ब्लड प्रेशर तथा शुगर के इन्जेक्शन देकर सात दिन के लिये मद्रास गये हैं। आने पर ऑपरेशन होगा।

श्री हीरालालजी के अतिरिक्त ऑपरेशन की तारीख किसी को भी प्रकट नहीं की गई थी। श्री–जी वहाँ भी किसी को बिना बताये चुपचाप घर में ही रहे और दिनांक तेईस दिसम्बर को डॉ॰ कुमार ने सुबह दस बजे ऑपरेशन कर दिया। दूसरे दिन श्रीधाम तार कर दिया गया कि आज ऑपरेशन सफलता-पूर्वक हो गया है। यह सूचना सुनते ही श्री देवीजी ने कहा–"आज नहीं, ऑपरेशन तो कल ही हो चुका है।" पूछने पर श्री देवीजी ने बताया–"कल सुबह निधिवन में लता के नीचे बैठकर मैं नाम-जप कर रही थी कि मेरे सामने एक दृश्य उपस्थित हुआ। मैंने देखा–श्री–जी केवल कुर्त्ता पहने टेबल पर लेटे हुए हैं, डॉक्टर लोग निकट खड़े हैं। श्री–जी का मुख ढका हुआ है।" पूछने पर पता लगा कि देवीजी ने जो देखा था, वह सर्वथा सत्य था। तार आते ही सुबह की ट्रेन से मैं, कुसुमजी और मनोरमाजी भोपाल के लिये रवाना हो गये और रात दस बजे भोपाल पहुँच गये। सुबह अस्पताल जाकर श्री–जी का दर्शन किया। वे प्रसन्न थे। हमारे जाते ही पहले उन्होंने श्री हीरालालजी को हमारा परिचय दिया और हमें चाय पिलाने के लिये कहा। वहाँ जाकर देखा कि श्री गुप्ताजी का पूरा परिवार तन-मन-धन से श्री–जी की सेवा में संलग्न है। गुप्ताजी का एक क्लर्क रणजितसिंह भी उनकी सेवा में निष्ठापूर्वक लगा हुआ था।

वहाँ श्री घनश्यामजी ने हमें बताया कि ऑपरेशन के समय ऑपरेशन थियेटर के बाहर मैं, हीरालालजी और उनकी पत्नी खड़े थे। तीनों के नेत्रों से अश्रुधारा बह रही थी। गुप्ताजी ने डॉ. कुमार से कह दिया था–"देखिये, यदि श्री–जी को कुछ हो गया, तो मेरे प्राण छूट जायेंगे।" डॉ. कुमार हीरालालजी के मित्र थे। उन्होंने उन्हें आश्वासन दिया। हरनिया दोनों ओर था। डॉक्टर पन्द्रह दिन के अन्तर से ऑपरेशन करना चाहते थे परन्तु श्री–जी ने कहा–"आप डरिये मत, एक साथ ही दोनों ओर का ऑपरेशन कर दीजिये, मैं आपसे कहता हूँ, कुछ नहीं होगा।"

एनस्थेसिया सुँघाया गया और ऑपरेशन प्रारंभ हो गया। औजारों की आहट से बाहर खड़े तीनों व्यक्तियों के हृदय धड़क रहे थे। गुप्ताजी की पत्नी मातृभाव की होने से बहुत घबड़ा रही थीं और नेत्रों से अश्रुओं की झड़ी लग रही थी। ऑपरेशन के मध्य में एक बार कुमार सर्जन बाहर आये तो हीरालालजी ने रोते हुए उनके पैर पकड़ लिये और कहा–सम्हालना, नहीं तो मेरा हार्ट फेल हो जायेगा। डॉक्टर ने उन्हें सान्त्वना दी। एक घण्टा पैंतालीस मिनिट में दोनों ओर का ऑपरेशन सफलतापूर्वक हो गया। ऑपरेशन के पश्चात् श्री–जी को सर्जिकल वार्ड में रखा गया। एक घण्टा बीस मिनिट पश्चात् कृष्ण-कृष्ण कहते हुए आपने आँखें खोलीं, पर पूरी तरह होश में नहीं थे। सर्जन डॉ. कुमार श्री–जी को देखने आये और पूछा–कहिये, आप कैसे हैं ? आपने मन्दस्मित के साथ उत्तर दिया–"बिलकुल ठीक हूँ।" उस समय अनजाने में ही श्री–जी के मुख से शब्द निकल पड़े–"बड़ा नटखट है, मुझे भी नचाता है, आप भी नाचता है और सब को नचा रहा है।" जब पूरी तरह होश में आये, तो घनश्यामजी से कहने लगे–"ऑपरेशन क्यों नहीं किया ?" श्री घनश्यामजी ने कहा–"ऑपरेशन तो हो चुका है, आप हिलियेगा नहीं।"

श्री–जी का ऑपरेशन छुट्टी के दिन स्पेशल रूप से किया गया था। वहाँ के एक मिनिस्टर भी अपने भाई का ऑपरेशन उसी दिन श्री–जी से पहले करवाना चाहते थे, परन्तु अत्यन्त ही भावुक एवं श्रद्धालु डॉ. कुमार ने कहा–"नहीं, पहले ऑपरेशन श्री महाराजजी का ही होगा। वह मिनिस्टर तो चार दिन का है, श्री–जी तो सदा-सदा के मिनिस्टर हैं।"

३-१-१९६९ को टाँके कटने पर मैं श्री–जी की आज्ञा से श्रीधाम लौट आया। तीन दिन सर्जिकल वार्ड में रखने के बाद इक्कीस दिन प्रायवेट वार्ड में रहे, पश्चात् श्री–जी को गुप्ताजी अपने घर ले आये। पन्द्रह दिन उनके यहाँ विश्राम करके दिनांक २२-१-१९६९ बसन्त पंचमी के दिन श्री–जी श्रीधाम पहुँच गये।

श्रीधाम आने के पश्चात् एक दिन श्री–जी ने बताया–"अजी! जब मैं ऑपरेशन थियेटर में गया, तो वहाँ की सफाई सजावट देखकर ऐसा लगा कि किसी मंदिर में आ गया हूँ। वहाँ का वातावरण प्रशान्त था। अलग-अलग कमरों में से एक-एक नर्स निकलकर आती थी, तो ऐसा लगता था मानो ब्रज-गोपियाँ आ रही हैं। (श्री–जी का ब्रज के अनुरूप भाव हो रहा था।) डॉक्टर इशारे से एक-एक को बुलाता था तो बहुत ही विचित्र लगता था। वातावरण एक दिव्यता का भान करा रहा था।"

जहाँ ऑपरेशन और अस्पताल के नाम से लोग काँपते हैं, वहाँ एक संत अपना ही साम्राज्य देख रहे थे और अपने ही भावराज्य में खो रहे थे। इससे बढ़कर सन्तत्व का और क्या प्रमाण हो सकता है!

श्री हरिदासजी

मंडलेश्वर निवासी श्री हरिभाऊजी से पाठक-गण पूर्व परिचित है ही। ये वहाँ पटवारी का काम करते थे। वर्षों इनके यहाँ श्री–जी का सत्संग और कीर्तन हुआ। उसी से प्रभावित होकर ये सन् १९५० में सब कुछ छोड़कर श्रीधाम आ गए थे और लगभग अठारह वर्षों तक श्री महाराजजी के चरणाश्रय में रहे। मंडलेश्वर में सब इन्हें भाऊसाहेब कहकर पुकारते थे, परन्तु वृन्दावन में इन्हें सब हरिदासजी कहते थे। श्रीधाम-वास करते समय एक साधक को जैसे रहना चाहिये, वैसी ही रहनी इन्होंने अपनाई थी। जब ये श्रीधाम-वास करने आये, इनकी अवस्था पचपन वर्ष की थी। व्रजवासियों के यहाँ नित्य भिक्षा करके अपना निर्वाह करते थे। भिक्षा में यदि कोई अच्छी वस्तु मिल गई तो पहले सबको बाँट कर स्वयं अत्यल्प मात्रा में खाते थे। श्री–जी कभी-कभी इनकी मधुकरी (रोटी) जरूर ही ग्रहण करते थे। नित्य तीन लाख महामन्त्र के जप का इनका कट्टर नियम था। रात्रि तीन बजे उठकर जप में बैठ जाते थे। चलते-फिरते हरिनाम में इनके ओष्ठ हिलते रहते थे। वर्षों तक नित्य यमुना-स्नान और वृन्दावन-परिक्रमा का भी इनका नियम चलता रहा, परन्तु अति वृद्ध होने के पश्चात् यह नियम छूट गया। इनका स्वभाव परम शान्त और सरल था। मंदिर (वेणुविनोदकुंज) का कोई भी व्यक्ति इन्हें कोई सेवा कह दे, तो सहर्ष कर दिया करते थे। मुख पर सदा स्फूर्ति दिखा करती थी। भगवत्-कथा-चर्चा में सदा उमड़ते रहते थे। इनके जीवन में इन्हें कई भगवदीय अनुभव भी प्राप्त हुए थे, उनमें कुछ का संकेत कर रहा हूँ।

एक बार ये लाड़िलीजी के दर्शन करने बरसाने गये। दर्शन करके ये गहवरवन की परिक्रमा करने चले गये। कृष्ण कुण्ड से कुछ आगे इनकी गिनती की मणियों का धागा टूट गया। संख्या-पूर्वक नाम लेने का नियम होने से उसे ठीक करना जरूरी था। सन्ध्या का समय हो चला था। इनको कुछ कम भी दिखाई देता था, अतः ब्रह्मचारीजी के कुएँ के पास के रासमंडल पर बैठकर ये संख्या की मणियों को धागे में पिरोने लगे। इतने में एक बारह वर्षीया व्रजवासी बालिका आई और इनके पास बैठकर पूछने लगी–बाबा! ये कहा कर रह्यौ है ? इन्होंने कहा–लाली, ये मेरी गिनती टूट गई है, इसे

पिरो रहा हूँ। बालिका ने इनके हाथ से धागा लेते हुए कहा–"ला बाबा, मैं पिरो दूँ।" धागा पिरोते हुए पूछने लगी–"बाबा ! तू कहाँ रहे है ?" हरिदासजी के वृन्दावन कहने पर फिर पूछा–"तो बाबा, तू यहाँ काहे कूँ आयौ ? इन्होंने कहा–लाली ! मैं श्री–जी के दर्शन करने आया हूँ। बालिका ने कहा–"बाबा ! तू अब बूढ़ौ है गयो है। अब यहाँ मत आयौ कर, लाड़िलीजी तो वृन्दावन में हूँ रहे हैं।" इतनी बातें करते-करते बालिका ने गिनती ठीक कर दी और ये उसे लेकर आगे चले गये। उस बालिका को देखकर और उसकी बातें सुनकर इनका मन अनजाने में व्याकुल हो उठा। इनके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी। जब मन कुछ शान्त हुआ, तो इनको विचार आया–अरे ! मैं तो चूक गया। वह तो श्रीजी ही थीं। इस अनुभव की मस्ती इनमें कई दिनों तक बनी रही।

एक बार इनके मन में अपने ब्राह्मणत्व का अभिमान आ गया कि ब्राह्मण होने से मुझे ब्रजवासियों के यहाँ सरलता से भिक्षा प्राप्त हो जाती है, अन्यथा साधुओं को भिक्षा मिलनी कठिन होती है। ये अपना यज्ञोपवीत बाहर दिखाकर रखने लगे। एक दिन संध्या समय ये बिहारीजी के दर्शन के लिये गये। चबूतरे पर चढ़े ही थे कि बिहारीजी के मंदिर में से एक आठ-नौ वर्ष का बालक भागता हुआ आया और इनकी ओढ़ी हुई चादर के अन्दर हाथ डालकर यज्ञोपवीत तोड़कर ले गया। उसी समय इन्हें भान हुआ कि ये तो बिहारीजी ही थे। मेरे ब्राह्मणत्व का अभिमान दूर करने के लिये यज्ञोपवीत तोड़कर ले गये। इस अनुभव की मस्ती भी इन्हें कई दिनों तक रही।

ये कई महीनों तक सुबह चार बजे सेवाकुंज में जाकर, समाधि में बैठकर, उच्चस्वर से महामन्त्र का जप किया करते थे। एक दिन ये आँखें बंद करके उच्चस्वर से नाम ले रहे थे कि अचानक इनकी आँखें खुलीं, देखा–एक काला भुजंग इनसे एक हाथ की दूरी पर अपना फन फैलाये बैठा है। एक बार तो आप भयभीत हो गये, परन्तु विवेक-पूर्वक धीरे-धीरे नाम की ध्वनि कम कर दी। सर्प भी धीरे-धीरे चला गया।

सेवाकुंज में इन्हें एक विचित्र अनुभव हुआ। नित्य के अनुसार सुबह पाँच बजे सेवाकुंज गये। द्वार से आगे जाते ही बाँये हाथ की ओर दो श्याम तमाल के पेड़ थे। उनमें से एक पेड़ के नीचे नील प्रकाश देख ये बरबस

आकर्षित होकर उस वृक्ष की ओर गये। वृक्ष के पास पहुँचते ही वह प्रकाश दूसरे वृक्ष के पास चला गया। ये फिर उधर जाने लगे तो उस प्रकाश में से मुरली-स्वर सुनाई देने लगा। जैसे ही ये निकट पहुँचे वह प्रकाश फिर पहले वृक्ष के पास आ गया। इस प्रकार इन्होंने तीन चक्कर लगाये और अचेत होकर उस श्याम-तमाल वृक्ष के नीचे गिर पड़े। कुछ-कुछ प्रकाश होने लगा था। सेवाकुञ्ज में आरती होने वाली थी। एक बुढ़िया लाठी टेकती हुई इनके पास आई और हाथ से हिलाकर कहने लगी–बाबा! उठ, आरती का समय हो गया है। दो-चार बार हिलाने पर ये होश में आये और धीरे-धीरे उठकर आरती में सम्मिलित हुए। उस दिन से इन पर एक नशा सा छा गया। रात-दिन रोना ही रोना। खान-पान से अरुचि हो गई, परन्तु इनके मुख पर एक अपूर्व कान्ति झलकती रहती थी। इस प्रकार की स्थिति में जब बीस दिन हो गये, तो एक दिन मैंने एकान्त पाकर उनसे पूछा–तब उन्होंने यह घटना सुनाई। धीरे-धीरे कई दिन में प्रकृतिस्थ हो गये।

कुछ वर्ष पश्चात् जब भोपाल में श्री–जी का हरनिया का ऑपरेशन हुए एक माह हो चुका था, वृन्दावन में एक दिन श्री हरिदासजी परिकर मध्य बैठकर खूब बातें करते रहे। शाम पाँच बजे सबके साथ चाय पीने के पश्चात् निधिवन चले गये। निधिवन की परिक्रमा, स्वामीजी की समाधि के दर्शन और चरणामृत प्रसाद लेकर सामने ही रासमंडल के पास के वृक्ष के नीचे बैठकर जप करने लगे। जप करते-करते गर्दन कुछ झुकने लगी। सावित्री बहिन और कृष्णाजी पास ही सोहनी-सेवा कर रही थीं। देखकर समझा कि भाव की स्थिति में हैं, परन्तु हरिदासजी एकदम ढुलक पड़े। पास ही सोहनी-सेवा कर रहा एक साधु जोर से चिल्लाया–"बाबा गिर पड़े हैं।" सावित्री बाई भागकर आई, इनका सिर गोद में ले लिया और पूछा–"बाबा! पानी पियोगे?" आवाज सुनकर उन्होंने आँखें खोलीं और मुस्कराकर 'हाँ' कहा। सावित्री बाई भागकर स्वामीजी का एक कटोरी चरणामृत ले आई और पिलाया। चरणामृत पीने के पश्चात् ये फिर बेहोश हो गये। कुछ लोगों ने भागकर वेणुविनोदकुंज में सूचना दी। तब कुंज से दो व्यक्ति गये और इन्हें उठाकर ले आये, पश्चात् अस्पताल में भर्ती कर दिया। डॉक्टरों ने पक्षाघात बताया। अठारह घण्टे अचेत रहे।

दूसरे दिन यानी दि. २०-१-१९६६ को माघ शुक्ल दूज, सोमवार सुबह दस बजे इन्हें गोलोक प्राप्ति हो गई। इस समय इनकी अवस्था तिहत्तर वर्ष की थी। इनका शरीर श्री यमुनाजी में प्रवाहित किया गया। दुःख इस बात का रहा कि इस समय श्री महाराजजी भोपाल में थे। वे दो दिन बाद श्रीधाम आये। सब बात सुनकर कहने लगे–"उनकी अच्छी गति हुई है।" इसके बाद एक दिन श्री देवीजी ने स्वप्न में देखा कि गोलोक में एक निकुंज में प्रिया-प्रियतम विराज रहे है और हरिदासजी बाहर कुंज द्वार पर खड़े हैं। इन्हें अभी अन्दर जाने का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ है।

श्री अलबेलीशरणजी

श्री अलबेलीशरणजी अठारह वर्ष की छोटी अवस्था में ही एकमात्र भजन करने की इच्छा से गृह त्याग कर वृन्दावन आ गये थे। ये ग्राम चोली निमाड़ प्रान्त (मध्य प्रदेश) के निवासी थे। इन्होंने टटियास्थान से दीक्षा प्राप्त की थी। परम एकान्त वनप्रान्त में रहकर दिन भर भजन में समय यापन करते थे तथा शाम को व्रजवासियों के घरों से भिक्षा कर लेते थे।

ये सन् १९६८ में वेणुविनोदकुंज में श्री महाराजजी के आश्रय में आकर रहने लगे। श्री महाराजजी सभी सम्प्रदायों से समान भाव रखते थे, अतः इन्हें श्री–जी के आश्रय में कोई असुविधा नहीं हुई। पच्चीस वर्ष के दीर्घ काल तक इन्होंने श्री–जी की श्रद्धापूर्वक बहुत सेवा की। यहाँ रहते हुए भी ये अपने सम्प्रदाय की परिपाटी से ही अनन्य रूप से भजन करते थे। इन पर श्री–जी का प्रेम अपने परिकरजनों के समान ही रहा।

इनके किसी श्रद्धालु ने श्री गोरेलालजी की कुंज में इनके लिये कमरा बनवा दिया। पच्चीस वर्ष पश्चात् ये वहीं रहकर भजन कर रहे हैं। श्री–जी के प्रति इनकी श्रद्धा पूर्ववत् ही बनी रही। वेणुविनोदकुंज के उत्सव, कीर्तन इत्यादि में भी ये निरन्तर भाग लेते रहते हैं। परिकरजनों पर भी इनकी श्रद्धा यथावत् बनी हुई है। वे भी इनसे पूर्ववत् आत्मीयता एवं स्नेह रखते हैं।

पूज्य श्री राधाबाबा तथा श्री भाईजी से मिलन

श्री स्वामी चक्रधरजी (राधाबाबा) भारतवर्ष की एक अद्वितीय विभूति थे। श्री राधा प्रेम की साकार प्रतिमा श्री राधाबाबा गीतावाटिका, गोरखपुर में कई वर्षों से श्री भाईजी (श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार) के सान्निध्य में ही रहते थे। उनका और भाईजी का सम्बन्ध एक प्राण-दो देह के रूप में था। ऐसा कौन होगा जो उनके त्याग, वैराग्य और उच्च प्रेम की स्थिति से परिचित न हो ? सतत राधाभाव में तन्मय स्थिति होने से ही उनका नाम राधाबाबा हो गया था। उनका व्यवहार पूर्ण सत्य की कसौटी पर कसा हुआ था। पूर्व में उनकी स्थिति ब्रह्म में परिनिष्ठित थी, परन्तु श्री भाईजी की कृपा से प्रेमाभक्ति की ओर उनका आकर्षण हो गया। वे संस्कृत के अद्वितीय विद्वान् थे। आंग्ल भाषा में निष्णात होने के साथ ही अन्य भाषाओं में भी उनकी अबाध गति थी। वेदान्त एवं तन्त्रविद्या में भी उनका प्रवेश था। सर्वप्रथम देश-सेवा ही उद्देश्य होने से वे क्रान्तिकारी आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेते रहे, फलतः कई बार जेल-यात्रा भी करनी पड़ी। कुछ समय तक गृहस्थाश्रम में रहने के पश्चात् वे सर्वस्व त्याग करके कई वर्षों से संन्यस्त वेश में गीता वाटिका में रहते हुए प्रेमाभक्ति की उच्चतम भूमिका में विराजमान हो गये थे। अभी तक श्री महाराजजी एवं श्री राधाबाबा का प्रत्यक्ष मिलन नहीं हुआ था। दोनों महापुरुषों की रहनी में भी पर्याप्त अन्तर था। ब्रह्मनिष्ठ सन्त श्री सेठजी (श्री जयदयालजी गोयनका) की उपस्थिति में गीताप्रेस गोरखपुर मर्यादा के कठोर नियमों में अनुबन्धित था। प्रेम के नशे में निरन्तर चूर रहने वाले श्री महाराजजी की अटपटी रहनी की बात जब कोई जाकर श्री बाबा को सुना देता, तो वे सोच में पड़ जाते थे। एकबार जब मैं सर्व प्रथम बाबा के दर्शन के लिये गोरखपुर गया, तो मुझ से भी उन्होंने श्री–जी के विषय में एक-दो प्रश्न पूछे थे। वेणुविनोदकुंज के निर्माण के पश्चात् श्री घनश्यामजी तो सतत श्री–जी के सान्निध्य में रह ही रहे थे। इनका घनिष्ट सम्बन्ध स्वरूपाई के काल से ही श्री राधाबाबा एवं श्री पोद्दारजी से था ही, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

एक बार काष्ठ मौन में ही श्री बाबा, श्री भाईजी के साथ मथुरा आकर बिड़ला मंदिर में ठहरे हुए थे। उसी समय श्री–जी, श्री घनश्यामजी को साथ लेकर सर्वप्रथम श्री बाबा के दर्शन के लिये गये थे। दोनों महापुरुषों का प्रेमपूर्वक मिलन हुआ। दोनों हाथ में हाथ लिये घण्टों बैठे रहे। श्री बाबा के काष्ठ मौन में होने से कुछ बातें नहीं हो पाईं। श्री–जी भावविभोर हो गये। नेत्रों से सतत अश्रुधारा बह रही थी। जब भाव संवरण करना कठिन हो गया, तो श्री–जी सम्हलकर उठे और हाथ छुड़ाकर बाहर आ गये। बाद में आपने बताया कि मैं न उठता तो बेहोश हो जाता। यही सर्वप्रथम मौन मिलन था।

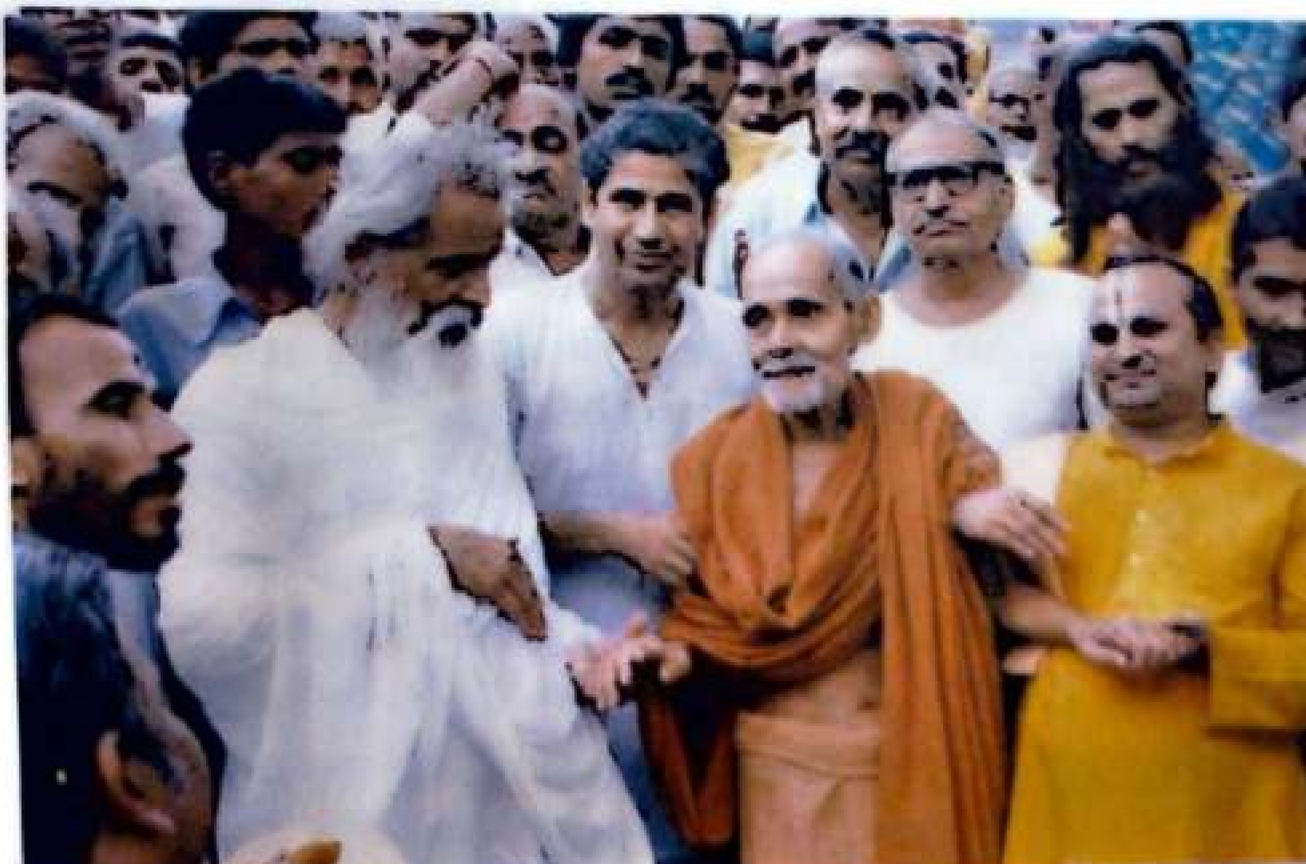
इसके कुछ वर्षों पश्चात् श्री भाईजी की पुत्री श्री सावित्री बाई अपनी बेटी राधा को साथ लेकर श्रीधाम आई थीं। वे श्रीघनश्यामजी के सम्बन्ध से श्री–जी के दर्शन के लिये वेणुविनोदकुंज (मन्दिर) में भी आईं। श्री–जी की सत्संग-चर्चा से वे बहुत प्रभावित हुईं और जाते हुए श्री–जी से गोरखपुर आने का आग्रह करने लगीं। इनका भाव देखकर श्री–जी ने उन्हें गोरखपुर आने का आश्वासन दे दिया। वेणुविनोदकुंज का वातावरण उन्हें बहुत ही स्नेहमय एवं भावमय लगा।

श्री–जी की इच्छा थी कि जब श्री बाबा का मौन खुले तभी गोरखपुर जाया जाय। दो वर्ष पश्चात् श्री बाबा ने मौन खोल दिया। आपने श्री घनश्यामजी के साथ जाने का प्रोग्राम निश्चित किया। श्री भाईजी को तार द्वारा सूचना दे दी गई। निश्चित समयानुसार आप घनश्यामजी को साथ लेकर गोरखपुर पहुँच गये। सूचना के अनुसार श्री भाईजी ने कार लेकर कुछ व्यक्तियों को एवं श्री हरिजी को स्टेशन भेज दिया था। आप सीधे श्री भाईजी से मिले एवं उनका एक ही चरणस्पर्श कर पाये थे कि भाईजी ने रोकते हुए कहा–"यह आपने अनुचित किया।" आपने प्रत्युत्तर में कहा–"अनुचित कैसे ? दूसरे चरण के स्पर्श से तो वंचित ही रह गया।" पन्द्रह मिनिट बातचीत के पश्चात् श्री भाईजी ने आपको श्री कृष्णचन्द्र अग्रवाल के साथ श्री बाबा के पास भेज दिया।

श्री–जी जब गीता-वाटिका पहुँचे, श्री बाबा अपनी कुटिया के बरामदे में बैठे किसी व्यक्ति से चर्चा कर रहे थे। एक सेवक ने भागकर श्री बाबा को श्री–जी के आने की सूचना दी। आपने तत्परता से उठकर "बड़ी कृपा की,



श्रीमहाराजजी एवं श्रीराधाबाबा



राधाष्टमी महोत्सव के अवसरपर गीतावाटिका में पुज्य श्रीराधाबाबा के हाथ में हाथ दिये आते हुये श्रीमहाराजजी

बड़ी कृपा की" कहते हुए अपना कम्बल श्री–जी को बैठने के लिये बिछा दिया। परस्पर दण्डवत् प्रणाम होने के पश्चात् श्री–जी कम्बल पर न बैठकर जमीन पर ही बैठ गये। कुछ समय तक प्रेम-वार्ता होती रही। निश्चित स्थान पर श्री–जी के ठहरने की व्यवस्था कर दी गई थी।

संन्ध्या समय नियमित रूप से होने वाला श्री भाईजी का सत्संग उनके अस्वस्थ होने से कुछ दिनों से बन्द था, परन्तु जब श्री घनश्यामजी ने भाईजी से कहा–"श्री महाराजजी तो आपके मुख से कुछ सुनने के लिये ही आये हैं," तब श्री भाईजी ने तुरन्त कहा–तब तो मैं अवश्य ही कुछ बोलूँगा। कमरे के बाहरी बरामदे में सत्संग की व्यवस्था की गई। संध्या समय श्री–जी वहाँ पहुँचे तो देखा श्री भाईजी ऐसी अस्वस्थता की अवस्था में भी पलंग से उतरकर सबके साथ नीचे ही बैठे हैं। श्री–जी को यह देखकर कष्ट हुआ। उन्होंने भाईजी से पलंग पर बैठकर ही कुछ सुनाने का अनुरोध किया। तब भाईजी ने कहा–"ठीक है, यदि आप मेरे सुख के लिये कुर्सी पर बैठना स्वीकार करें तो मैं भी पलंग पर बैठ जाऊँगा।" उनके स्वास्थ्य का लक्ष्य करके श्री–जी को उनकी बात माननी पड़ी।

उस समय श्री महाराजजी के मन में श्री हरिदासजी के निधन को लेकर एक प्रश्न था कि इतने उच्च कोटि के साधक अचेतावस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हुए तो मृत्यु के समय भगवत् स्मरण कैसे कर सके होंगे? अस्तु, यथासमय भाईजी का सत्संग पद्मपुराण पाताल-खण्ड के इसी श्लोक से प्रारंभ हुआ –

यदि वातादिदोषेण मद्भक्तो मां हि विस्मरेत्।
अहं स्मरामि मद्भक्तं, नयामि परमां गतिम्।।

अर्थात् मृत्युकाल में यदि वातादि दोषों के उत्पन्न होने से मेरे भक्त को मेरा विस्मरण हो जाय तो मैं स्वयं अपने भक्त का स्मरण करता हूँ और उसे परम गति प्रदान करता हूँ। इस तरह अपने अन्तर्यामित्व से श्रीभाईजी ने श्री महाराजजी के प्रश्न का उत्तर दे दिया। सत्संग के पश्चात् भी वे कुछ समय तक श्री–जी से चर्चा करते रहे। दो प्रेमियों की मिलन-वार्ता अपूर्व

होती ही है। दोनों के हृदय प्रेम गद्‌गद हो रहे थे। दोनों के मध्य प्रेम-सरिता का एक अगाध प्रवाह बह रहा था। जो लोग उस समय इस दृश्य को देख रहे थे, वे सौभाग्यशाली थे। पश्चात् कुटिया में आकर श्री महाराजजी ने कहा कि श्रीभाईजी में जबरदस्त अन्तर्यामित्व है। उन्होंने मेरे मानसिक प्रश्न का तुरंत उत्तर दे दिया।

इस बार श्री–जी सात दिन गीतावाटिका में रहे। नित्य सायं श्रीभाईजी के सत्संग में जाते एवं कुछ समय श्री बाबा के पास बैठने का भी अवसर प्राप्त होता था। एकदिन कुछ प्रेमीजनों के मध्य श्री बाबा और श्री–जी बैठे हुए थे, सहसा श्री बाबा श्री–जी की ओर संकेत कर जोर-जोर से कहने लगे–"देखो, श्रीकृष्ण ही स्वयं व्रजधाम से आ गये हैं। 'वे वृन्दावन छोड़कर नहीं जाते हैं,' ये जो वाणी है उस पर हड़ताल लगा दो। देखो ! आये हैं कि नहीं ?" बहुत देर तक बाबा गद्‌गद होते रहे और "बड़ी कृपा की," "बड़ी कृपा की" कहते रहे।

अन्तर्जगत् में सदैव निवास करने वाले ये दोनों सन्त ही जानें परस्पर की अनुभूति। दूसरे लोग तो केवल बुद्धि से ही विचार कर सकते हैं। परन्तु वह मिलन, वह सुख अनिर्वचनीय है। दो प्रेम-समुद्र आमने-सामने उफनते हुए मिल रहे हों, तो उनके मध्य वह श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी ही विलास करती होगी।

एकदिन श्री–जी ने श्री बाबा को 'संगीतमाधव' का यह पद सुनाया–

वर सीमन्त रसामृत-सरणी धृतसिन्दूर-सुरेखाम्।
श्रीवृषभानु-कुलाम्बुधि-सम्भव-सुभगसुधाकर-लेखाम्।।क।।
स्मरतु मनो मम निरवधि राधाम्।
मधुपति-रूपगुण-श्रवणोदित-सहज मानोभव-बाधाम्।।धु.।।
सुरुचिर कवरि विराजित कोमल-परिमल मल्लि सुमालाम्।
मदचल खञ्जन खेलन गञ्जन लोचन कमल विशालाम्।।ख।।
मद करिराज विराजदनुत्तम-चलित ललित गति भंगीम्।
अति सुकुमार कनक नव चम्पक गौर मधुर मधुरांगीम्।।ग।।
मणि-केयूर ललित वलयावलि, मण्डित मृदुभुजवल्लीम्।
प्रतिपदमद्‌भुत रूप चमत्कृति, मोहन युवती मतल्लीम्।।घ।।

मृदु-मृदु हास ललित मुखमण्डल कृत शशिबिम्ब विडम्बाम्।
किंकिणि जाल खचित पृथु सुन्दर नवरसराशि नितम्बाम्।।ङ.।।
चित्रित कञ्चुलिका स्थगितोद्भट कुच हाटक घट शोभाम्।
स्फुरदरुणाधर स्वादु सुधारस-कृत-हरिमानस लोभाम्।।च।।
सुन्दर चिबुक विराजित मोहन मेचक-बिन्दु विलासाम्।
सकनक-रत्नखचित पृथु मौक्तिक रुचि रुचिरोज्ज्वलनासाम्।।छ।।
उज्ज्वल राग रसामृत-सागर सार तनुं सुखरूपाम्।
निपतित माधव मुग्ध मनोमृग नाभि सुधारसकूपाम्।।ज।।
नूपुरहार-मनोहर कुण्डल-कृतरुचिमरुणदुकूलाम्।
पथि-पथि मदनमदाकुल गोकुलचन्द्र-कलित पदमूलाम्।।झ।।
रसिक सरस्वति-गीत महाद्भुत राधा रूप रहस्यम्।
वृन्दावनरस - लालस-मनसामिदमुपगेयमवश्यम्।।ञ।।

पद सुनकर पूज्य बाबा भावस्थिति में हो गये। पूज्य बाबा ने पद सुनने के लिए श्री चिमनलालजी गोस्वामीजी को भी बुला लिया था।

आठ दिन पश्चात् आपकी श्रीधाम आने की इच्छा हो गई। आपने श्री घनश्यामजी को श्रीभाईजी से आज्ञा लेने भेजा। सुनते ही श्रीभाईजी आश्चर्य से बोले–इतनी जल्दी जा रहे हैं! आपकी उपस्थिति के कारण ही तो इतने उत्साह से सत्संग कर रहा था। श्रीभाईजी का मन उदास हो गया। उनकी इच्छा थी कि श्री–जी और कुछ दिन रहते, परन्तु जन्माष्टमी होने से श्री–जी को श्रीधाम आना ही था।

१६७० में श्री–जी का श्रीभाईजी से यही प्रथम एवं अन्तिम मिलन था। धीरे-धीरे उनका रोग भयंकर रूप धारण करता जा रहा था। अत्यधिक अस्वस्थ होने से कई दिनों से उनके मिलने पर प्रतिबंध लगा हुआ था। परिकर-जनों को यह क्षीण आशा बँधी हुई थी कि शायद श्री बाबा उन्हें जाने से रोक ही लें, परन्तु जब स्वयं श्रीभाईजी ने ही श्री बाबा से जाने की अनुमति प्राप्त कर ली, तो यह निश्चित सा ही हो गया कि अब यह सूर्य शीघ्र ही अस्त

होने वाला है। अतः श्री भाईजी से मिलने पर जो प्रतिबंध लगा हुआ था, हटा लिया गया। सभी को अन्तिम दर्शन करने की छूट दे दी गई। वृन्दावन में यह समाचार पहुँचते ही मैं, घनश्यामजी, मंगलजी और सीतारामजी तथा और भी कई भक्त श्रीभाईजी के दर्शनार्थ गोरखपुर पहुँच गये। लगभग पन्द्रह दिन पश्चात् बाईस मार्च, चैत्र कृष्ण द्वादशी १६७१ को श्रीभाईजी का गोलोक गमन हो गया। उस समय मैं और घनश्यामजी गीता- वाटिका में ही थे, परन्तु श्री–जी वृन्दावन में ही अपने परिकर मध्य विराज रहे थे, उन्होंने उसी दिन प्रातः पाँच बजे यह विचित्र दृश्य देखा –

गुलाबी आभामय कोई रमणीय प्रान्त है। गुलाबी पुष्पों से ही सुसज्जित उस वीथी में श्रीराधाजी जा रही हैं। उनका साज-शृंगार भी गुलाबी रंग का ही है। साथ में छत्र-चँवर लिये हुए अष्ट-सखियाँ चल रही हैं। उनके पीछे ही उसी प्रकार की सुसज्जित वेश-भूषा में और भी किसी को उसी प्रकार के सम्मान के साथ लाया जा रहा है। श्री महाराजजी को आश्चर्य हुआ। सोचने लगे–भला, यह पीछे जानेवाली श्री राधाजी के अनुरूप ही यह कौन होंगी ! इसी समय उस बाला ने मुड़कर श्री महाराज जी की ओर देखा। एकदम पहचान कर श्री महाराजजी कह उठे–अरे ! ये तो श्रीभाईजी हैं। सुबह श्री–जी ने परिकर-जनों को अपना यह स्वानुभव सुनाकर कहा–''कहीं श्रीभाईजी पधार तो नहीं गये ?'' इसी समय गोरखपुर से श्रीभाईजी के गोलोक-गमन की सूचना फोन द्वारा आ गई। सब स्तब्ध से रह गये। श्री महाराजजी गद्‌गद कंठ से इतना ही कह पाये–''श्रीभाईजी की राधा-भाव-भावित स्थिति थी।''

डाकोर, भोपाल तथा गोरखपुर की घटनाएँ

बात सन् १९७२ की है। एकबार श्री महाराजजी डाकोर गये हुए थे। वहाँ रहते हुए आप नित्य श्री रणछोड़रायजी के दर्शन के लिये जाया ही करते थे। एक दिन मंदिर के मुखियाजी के आग्रह पर आप श्री रणछोड़राय जी के सम्मुख बैठकर श्री प्रबोधानन्द सरस्वती कृत निम्न पद, जिसमें श्रीकृष्ण के नखशिख सौन्दर्य का वर्णन है गाकर ठाकुरजी को सुना रहे थे। डाकोर में श्रीठाकुरजी का शृंगार सबके सम्मुख खुले रूप में करने की प्रथा है। अतः मुखियाजी भक्तों के समक्ष ही श्री रणछोड़रायजी का शृंगार करते जा रहे थे। श्री–जी को यह पद बहुत ही प्रिय था एवं कई वर्षों से आप प्रायः इस पद को सुस्वर कंठ से बहुत ही तन्मयता-पूर्वक गाया करते थे। पद इस प्रकार है–

वसतु मनो मम मदन गोपाले।
नवरति केलि विलास परावधि राधासुरत रसाले।।ध्रु.।।

मदशिखिपिच्छ मुकुट परिलाञ्छित कुञ्चित कच निकुरम्बे।
मुखरित वेणु हतत्रपधावित नव नव युवति कदम्बे।।

कलित कलिन्दसुता पुलिनोज्ज्वल कल्प महीरुह मूले।
किङ्किणि कलरवरञ्जित कटितट कोमल पीत दुकूले।।

मुरली मनोहर मधुरतराधर घन रुचि चौर किशोरे।
श्री वृषभानु कुमारी मोहन रुचि मुख चन्द्र चकोरे।।

गुञ्जाहार मकर मणिकुण्डल कङ्कण नूपुर शोभे।
मृदु मधुरस्मित चारु विलोकन रसिक वधू कृत लोभे।।

मत्त मधुव्रत गुञ्जित रञ्जित गल दोलित वनमाले।
गन्धोद्वर्तित सुवलित सुन्दर पुलकित बाहु विशाले।।

उज्ज्वल रत्न तिलक ललितालक सकनक मौक्तिक नासे।
शारद कोटि सुधा किरणोज्ज्वल श्रीमुख-कमल विकासे।।

ग्रीवा कटिपद भङ्गि मनोहर नव सुकुमार शरीरे।
वृन्दावन नव कुंज गृहान्तर रति-रण रङ्ग सुधीरे।।

परिमल सार सु केशर चन्दन चर्चित वर लसदङ्गे।
परमानन्द रसैक घनाकृति प्रवहदनङ्ग तरंङ्गे।।

पद-नख-चन्द्र मणिच्छविलज्जित मनसिज कोटि समाजे।
अद्भुत केलि विलास विशारद व्रजपुर नव युवराजे।।

रसद सरस्वतिवर्णित माधव रूप सुधारस सारे।
रमयतु साधु बुधा निज ह्रदयं भ्रमतु मुदा किमसारे।।

गाते-गाते आप पद की एक पंक्ति भूल गये। पंक्ति स्मरण करने के लिये पद को बार-बार दुहराकर गाने लगे, परन्तु वह स्मरण में नहीं आ रही थी। इतने में आपने क्या देखा कि श्री रणछोड़रायजी अपने दोनों चरण आगे करके कुछ संकेत कर रहे हैं। श्री रणछोड़रायजी की चरण-नख-पंक्ति देखकर आपको संकेत समझ में आ गया और पंक्ति–**श्री पदनखचन्द्र मणि छबि लज्जित मनसिज कोटि समाजे** स्मरण आ गई। आपको इस बात से बड़ा ही हर्ष हुआ और श्रीधाम आने पर आपने यह घटना सुनाई।

सन् १६७४ की बात है। श्री–जी, श्री घनश्यामजी के साथ भोपाल गये हुए थे। श्री हीरालालजी के यहाँ चौबीस घण्टे के कीर्तन का आयोजन था। कीर्तन चल रहा था। श्री–जी और घनश्यामजी क्रमशः कीर्तन करा रहे थे। बीच में ही सहसा श्री–जी ने घनश्यामजी से कहा–"यहाँ शेर की गंध आ रही है" और मुड़कर जो देखा तो पीछे एक देवी-भक्त बैठे हुए थे, जिनका परिचय श्री हीरालालजी श्री–जी को दे चुके थे कि इनके पहरे पर दो शेर सदैव रहते हैं। श्री–जी समझ गये कि यह इनका ही प्रभाव है। संकीर्तन समाप्ति के पश्चात् उन देवी-भक्त ने श्री–जी को अपने यहाँ आग्रहपूर्वक आमन्त्रित किया। वृन्दावन की कोमल रसिक-उपासना मार्ग के होने से श्री–जी को तमोगुणी उपासना का वातावरण अच्छा नहीं लगता था। दूसरे दिन बहुत वर्षा हो रही थी, अतः आप उनके यहाँ जा नहीं सके, पर आपके मन में विचार आया कि इस देवी-भक्त के पास शेर है तो क्या हुआ ? हम भी परम्परागत वैष्णव हैं, हमारे पास भी सुदर्शन चक्र है।

दूसरे दिन रात्रि को वे देवी-भक्त श्री–जी के पास आये और कहने लगे–"आप स्वयं तो आये नहीं, सुदर्शन चक्र भेज दिया। मुझे अपने चारों ओर सुदर्शन चक्र ही घूमता हुआ दीख रहा था।" श्री–जी समझ गये कि मुझे जो सहज ही विचार आया था, उसे इन्होंने प्रत्यक्ष देख लिया। श्री–जी उसकी भक्ति की प्रशंसा करने लगे।

दिनांक सोलह जनवरी, १९७५ को श्री–जी दूसरी बार गोरखपुर गये। साथ में श्रीघनश्यामजी, श्रीमंगलजी और श्री कुसुमजी भी गये थे। वहाँ पहुँचने पर दि. १८-१-१९७५ का लिखा श्री घनश्यामजी का पत्र पहुँचा, उसे ज्यों का त्यों दे रहा हूँ।

श्री देवीजी, जय श्री राधा।

श्री–जी सकुशल राधाकानन (गीतावाटिका) पहुँचे हैं। बहुत ही आराम से श्री–जी को लाया हूँ, अपनी जान में। स्लीपर सबको मिल गया था। गोरखपुर स्टेशन पर सूर्यकान्त (श्रीभाईजी का दौहित्र) दो और भी व्यक्ति कार लेकर पहुँचे थे। सब खूब सम्मान एवं भाव से मिलने आये थे।

पूज्य बाबा प्रतीक्षारत थे। दोनों का अद्‌भुत मिलन हुआ। दोनों मुग्ध, मौन, दोनों भावविभोर हो गये। श्री–जी के नेत्रकोण बह चले। बहुत मुश्किल से अपने को सम्हाला। बाबा सजल नेत्र, कर पकड़े श्री–जी को एकटक देखते रहे। लगभग बीस-पच्चीस मिनिट बाद कुशल-क्षेम पूछना हुआ। रात्रि तक बाबा उसी भाव में बहते रहे, इधर भी ऐसा ही रहा।

प्रातः परिक्रमा के पूर्व भी मिलन, मुग्ध मौन ही रहा। सुई डालो तो भी आवाज हो, ऐसा वातावरण था। परिक्रमा में अन्तर्मुखता ही बनी रही।

बाद में मुझसे श्री–जी के खान-पान के बारे में, व्यवस्था के बारे में पूछा–क्या प्रोग्राम है, मैंने कहा–पाँच दिन आपके पास रहकर वृन्दावन जायेंगे। श्री–जी को पहुँचाकर मैं पुनः आऊँगा।

बाई, कुञ्जबिहारी, कृष्ण, दुबेजी सब कुटिया पर मिलने आये। बाई ने स्वयं डोसा बनाकर चाय के साथ भेजा। कई नये कम्बल और चादर

भेजे। बार-बार कहती रहीं, तिनके भर भी श्री–जी को कष्ट न होने पाये। बाबा से कहा बाई ने–बाबा ! श्री–जी कितने वर्षों के बाद पधारे हैं बाबू जी के बाद। नारायण, सीताराम, हरिवल्लभजी सब सेवारत हैं। बहुत ही आनन्द का वातावरण रहा। सर्दी काफी कम है। आप श्री–जी की चिन्ता न करें। कमलजी, मुन्नीजी भी दर्शन के लिए आई थीं।

श्री–जी का सबको (उसमें श्री–जी ने श्री देवीजी को दो पंक्तियाँ लिखी हैं।) "आपकी चिन्ता का परिणाम, यहाँ मानो अभिनव ऋतुराज बसंत ने ही अपनी स्वच्छन्दता के साम्राज्य में, हमें अपनी अधीनता में कैद कर लिया हो, ऐसा लगता है।"

श्री–जी दस दिन गोरखपुर रहकर श्रीधाम लौट आये। बिदाई से पहले एक दिन एकान्त में श्री बाबा ने घनश्यामजी से कहा–"भैया, महाराजजी तो रङ्गदेवी सखी के स्वरूप हैं। मैंने आँखों से देखा है। मेरी आँखें मुझे धोखा नहीं दे सकतीं।" श्री बाबा ने बहुत समय तक रङ्गदेवी-स्वरूप और भावना की बातें कीं। श्री घनश्यामजी, श्री–जी को श्रीधाम पहुँचा कर फिर गोरखपुर चले गये और एक मास वहाँ रहकर श्रीधाम लौट आये।

धाम आने के उपरान्त उन्होंने बताया कि जितने दिन श्री–जी गोरखपुर रहे, वे जब भी श्री बाबा के पास जाते, दोनों ही गद्‌गद हो जाते। नेत्रों से अश्रु बहने लगते मानो पहली बार ही मिल रहे हों। परिक्रमा में भी यही दशा होती। श्री बाबा नित्य प्रति गोरखपुर में अपने ही द्वारा मनोमय स्थापित श्री गिरिराजजी की परिक्रमा किया करते थे। गीता-वाटिका में श्री गिरिराजजी की स्थापना के साथ एक विचित्र घटना जुड़ी हुई है, जो इस प्रकार है –

एकबार श्रीभाईजी का जन्मदिवस मनाने का विचार निजजनों के मन में आया। श्री बाबा ने भी उसमें सहयोग दिया। अत्यन्त सादगी एवं श्रद्धा के साथ पूजन इत्यादि कार्य सम्पन्न किये गये। श्रीभाईजी ने भी सहजता से ही सब कुछ स्वीकार किया। निजजनों ने श्री बाबा एवं श्रीभाईजी की रुचि के अनुरूप कुछ ऐसे पदों का गान किया, जिन्हें सुनकर श्रीभाईजी की वृत्ति अन्तर्मुख हो गई। वातावरण में अपूर्व आनन्द छा गया। इसी समय बाहर से

आये हुए एक सज्जन, श्रीभाईजी की प्रशंसा में स्वरचित कविता सुनाने लगे, जिसके लिये वे पहले ही निषेध कर चुके थे। श्रीभाईजी के आनन्द में विघ्न उपस्थित करने वाले उन सज्जन को श्री बाबा ने बहुत कड़े शब्दों में डाँट दिया, परन्तु श्री बाबा स्वयं भी इससे बहुत दुःखी हो गये और श्रीभाईजी से कहने लगे–मैं अब यहाँ नहीं रहूँगा। मानसिक रूप से इस स्थान का त्याग करके श्री गिरिराजजी की तरहटी में जाकर रहूँगा। शरीर से तो आजीवन आपके साथ रहने के लिए वचनबद्ध हूँ। श्रीभाईजी ने भी कहा–शरीर यहाँ रहे, हमें उसकी आवश्यकता है, मानसिक रूप से आप कहीं जायें, हमें कोई आपत्ति नहीं है। उस समय श्री घनश्यामजी वहीं थे। श्री बाबा ने घनश्यामजी से श्री गिरिराजजी की परिधि का परिमाण पूछ कर अपने ओढ़ने के गेरुए उत्तरीय से नपवाकर परिक्रमा की सीमा निश्चित कर ली तथा श्री गिरिराजजी, आन्यौर, जतीपुरा तथा राधाकुण्ड ये चार विश्राम स्थान निश्चित कर लिये। उसी गेरुए वस्त्र की गूदड़ी में श्री गिरिराजजी का आह्वान कर नित्य उसकी परिक्रमा करने लगे। कुछ दिनों बाद श्री बाबा ने अपनी कुटिया के सामने अचल गिरिराजजी की स्थापना कर दी।

जब श्री महाराजजी प्रथम बार श्री बाबा द्वारा स्थापित गिरिराजजी की परिक्रमा में विराजे, तो भावस्थिति में आ गये। अश्रु बहने लगे। बार-बार आँख-नाक पोंछने लगे। श्री घनश्यामजी परिक्रमा में श्री बाबा के साथ ही रहते थे। श्री–जी की ऐसी दशा देखकर सम्हालकर कुटिया में ले आये। कुछ प्रकृतिस्थ होने पर श्री–जी ने कहा–"श्री बाबा ने तो सत्य ही यहाँ श्री गिरिराजजी की मूर्तप्रतिष्ठा कर ली है।" श्री घनश्यामजी के बार-बार आग्रह करने पर परिक्रमा में हुआ अपंना अनुभव सुनाया–"मैंने देखा–श्रीकृष्ण गोविन्द कुण्ड की बुर्ज से कुण्ड में कूद गये हैं। वे मेरे ठाकुर नहीं थे, श्री बाबा के ही ठाकुर थे। स्नान करके जब बाहर निकले तो अलकावली से जल की बूँदें टपक रही थीं। पीताम्बर शरीर से चिपट जाने से नीलकान्ति-किरणें उसमें से बाहर प्रस्फुटित हो रही थीं। अलौकिक शोभा थी श्री श्याम की।" यह कहकर बहुत समय तक श्री–जी भाव गद्‌गद होते रहे। अस्तु; श्री बाबा ने घनश्यामजी से कहा–"जब श्री–जी परिक्रमा में बैठते हैं, तब मैं उनकी

ओर न देखते हुए आँख बचाकर निकला करता हूँ। यदि देख लूँ तो फिर मेरी परिक्रमा नहीं हो सकती।"

श्री कुसुमजी से भी एकबार श्री बाबा ने कहा—"ये, वृन्दावन के एक अद्वितीय महापुरुष हैं।" श्री बाबा ने अपने परिकरजनों से एक बार कहा—"श्री महाराजजी के नेत्र बहुत विचित्र हैं। उनके नेत्रों में एक अद्भुत विचित्रता भरी हुई है।" तब से श्री बाबा के परिकर के लोग जब श्री–जी के पास आकर बैठते तो उनके नेत्रों की ओर देखते रहते। एक दिन लखपत बाबू श्री–जी के पास आये और झुककर श्री–जी के नेत्रों की ओर देखने लगे। श्री–जी ने पूछा—"क्या देखते हैं ?" बोले—"बाबा ने कहा है कि आपके नेत्रों मे विचित्रता है, अतः नेत्र देखने आया हूँ।"

गोरखपुर से सितम्बर सन् १६७५ में श्री–जी के नाम श्री बंकाजी का पत्र आया। राधाष्टमी उत्सव निकट आने से परिकर सहित श्री–जी को बुलाया था। फोगला आश्रम वृन्दावन में श्री रामनिवास ढंढारिया की ओर से सूर्यकान्त का भी फोन आया। राधाष्टमी के अवसर पर गोरखपुर पधारने की श्री–जी से प्रार्थना की; परन्तु वे नहीं गये। कारण, जब तक बाबा का संकेत न मिले, तब तक आपका गोरखपुर जाने का विचार नहीं था।

प्रतिवर्षानुसार श्री घनश्यामजी जन्माष्टमी के पश्चात् गोरखपुर चले गये। बगीचे में पहुँचते ही श्री बाबा को पता चला, तो जल्दी से उठकर भागते हुए समाधि तक आये पर घनश्यामजी को अकेले देखकर धक् से रह गये, पूछा—"महाराजजी नहीं आये ?" घनश्यामजी ने कहा—नहीं आये। श्री बाबा ने कहा—मैय्या, क्यों नहीं आये ? घनश्यामजी ने कहा—आपकी इच्छा हो, तो आ सकते हैं। श्री बाबा ने कहा—"तो मैय्या, आज के दिन विश्राम करके कल वापस जाओ और श्री महाराजजी को लेकर आओ।"

दूसरे ही दिन श्री घनश्यामजी गोरखपुर से रवाना हुए और वृन्दावन आकर श्री–जी को ले गये। पूर्व के अनुसार ही सूर्यकान्त स्टेशन पर कार लेकर उपस्थित था। उधर श्री बाबा भी प्रतीक्षारत थे। जैसे ही श्री–जी बगीचे में आये, श्रीबाबा भागकर सामने आये और परस्पर हाथ पकड़ लिये। बीस

ओर न देखते हुए आँख बचाकर निकला करता हूँ। यदि देख लूँ तो फिर मेरी परिक्रमा नहीं हो सकती।"

श्री कुसुमजी से भी एकबार श्री बाबा ने कहा–"वे, वृन्दावन के एक अद्वितीय महापुरुष हैं।" श्री बाबा ने अपने परिकरजनों से एक बार कहा–"श्री महाराजजी के नेत्र बहुत विचित्र हैं। उनके नेत्रों में एक अद्भुत विचित्रता भरी हुई है।" तब से श्री बाबा के परिकर के लोग जब श्री–जी के पास आकर बैठते तो उनके नेत्रों की ओर देखते रहते। एक दिन लखपत बाबू श्री–जी के पास आये और झुककर श्री–जी के नेत्रों की ओर देखने लगे। श्री–जी ने पूछा–"क्या देखते हैं ?" बोले–"बाबा ने कहा है कि आपके नेत्रों में विचित्रता है, अतः नेत्र देखने आया हूँ।"

गोरखपुर से सितम्बर सन् १९७५ में श्री–जी के नाम श्री बंकाजी का पत्र आया। राधाष्टमी उत्सव निकट आने से परिकर सहित श्री–जी को बुलाया था। फोगला आश्रम वृन्दावन में श्री रामनिवास ढंढारिया की ओर से सूर्यकान्त का भी फोन आया। राधाष्टमी के अवसर पर गोरखपुर पधारने की श्री–जी से प्रार्थना की; परन्तु वे नहीं गये। कारण, जब तक बाबा का संकेत न मिले, तब तक आपका गोरखपुर जाने का विचार नहीं था।

प्रतिवर्षानुसार श्री घनश्यामजी जन्माष्टमी के पश्चात् गोरखपुर चले गये। बगीचे में पहुँचते ही श्री बाबा को पता चला, तो जल्दी से उठकर भागते हुए समाधि तक आये पर घनश्यामजी को अकेले देखकर धक् से रह गये, पूछा–"महाराजजी नहीं आये ?" घनश्यामजी ने कहा–नहीं आये। श्री बाबा ने कहा–भैय्या, क्यों नहीं आये ? घनश्यामजी ने कहा–आपकी इच्छा हो, तो आ सकते हैं। श्री बाबा ने कहा–"तो भैय्या, आज के दिन विश्राम करके कल वापस जाओ और श्री महाराजजी को लेकर आओ।"

दूसरे ही दिन श्री घनश्यामजी गोरखपुर से रवाना हुए और वृन्दावन आकर श्री–जी को ले गये। पूर्व के अनुसार ही सूर्यकान्त स्टेशन पर कार लेकर उपस्थित था। उधर श्री बाबा भी प्रतीक्षारत थे। जैसे ही श्री–जी बगीचे में आये, श्रीबाबा भागकर सामने आये और परस्पर हाथ पकड़ लिये। बीस

मिनिट तक दोनों तन्मय और गद्‌गद होते रहे। बगीचे के सभी भक्त चित्र लिखे से गद्‌गद होते हुए इस मधुर मिलन को देख रहे थे। कुछ स्थिर होने पर श्री–जी ने श्री बिहारीजी की प्रसादी माला बाबा को पहनाई।

श्री–जी की अध्यक्षता में श्री राधाष्टमी का उत्सव बड़ी घूम-धाम से मनाया गया। आग्रह करने पर श्री–जी ने उत्सव मंडप में प्रवचन भी किया। वहाँ के परिकरजनों का कहना था कि श्रीभाईजी के गोलोक गमन के पश्चात् तीन वर्षों से उत्सव में जो न्यूनता आ गई थी, वह अब नहीं रही। ऐसा लगा मानो श्री–जी के रूप में श्रीभाईजी ही मंच पर विराजमान हो गये हों। उत्सव में एक नवीन उत्साह प्रतीत हुआ। श्री बाबा ने श्री–जी के हाथों से ही श्रीभाईजी के समाधिस्थल का शिलान्यास करवाया। वहाँ के लोगों की इच्छा किसी मन्त्री के द्वारा शिलान्यास करवाने की थी, परन्तु श्री बाबा ने कहा– "महापुरुष की समाधि का शिलान्यास महापुरुष के द्वारा ही होना चाहिये।" इसी समय श्री–जी के कर-कमलों से अल्पना पूजन भी करवाया। एक माह वहाँ रहकर आप श्रीधाम लौट आये। तब से वे प्रतिवर्ष राधाष्टमी के अवसर पर गोरखपुर जाने लगे।

लोनारा में साप्ताहिक संकीर्तन (१६७६)

लोनारा एक अत्यन्त छोटासा गाँव है। बिल्कुल ही एक ओर पड़ता है। सहसा वहाँ पहुँचना भी टेड़ी खीर है। परन्तु सन्त-कृपा को तो कहीं भी रुकावट नहीं है। खरगोन, बड़वानी आदि में लोनारावासी कुछ भक्तों से श्री महाराजजी का परिचय हुआ था और वे एक-दो बार उन्हें लोनारा ले गये थे। तब सत्संग-कीर्तन का आयोजन भी हुआ था।

सन् १६७४ में दीपावली के अवसर पर बड़वानी में श्री मोतीभाई के द्वारा साप्ताहिक संकीर्तन का आयोजन किया गया था। तब ग्राम लोनारा से बहुत बड़ी संख्या में भक्तगणों ने बड़वानी आकर सोत्साह संकीर्तन में भाग लिया एवं इसी से प्रेरणा पाकर अपने ग्राम में भी संकीर्तन का शुभारंभ किया। प्रतिवर्ष अक्षय तृतीया पर संकीर्तन का आयोजन होने लगा। परन्तु श्री–जी लगातार तीन वर्ष तक वहाँ नहीं जा पाये। श्री–जी हमारे ग्राम में भी पदार्पण कर हमें कृतकृत्य करेंगे, इस आशा से ग्रामवासियों ने सन् ७५ में रामनवमी के अवसर पर एक मास का अखण्ड संकीर्तन उत्साहपूर्वक सम्पन्न किया। अपने ग्राम में पधारने के लिये वे श्री–जी से बार-बार प्रार्थना करते रहे।

लोनारा के भक्तों में डॉ॰ चन्द्रदेव दुबे प्रमुख थे। इन्होंने ग्रामवासियों में संकीर्तन के प्रति जागृति उत्पन्न की थी। ग्रामवासियों ने कभी एक माह का, तो कभी एक सप्ताह का संकीर्तन का आयोजन कर श्री–जी को बुलाने का प्रयास भी किया। इस बार ग्रामवासियों ने श्री–जी को बुलाने का दृढ़ संकल्प लेकर पाँच फरवरी, सन् १६७६ की बसंत पंचमी से एक सप्ताह का अखण्ड संकीर्तन रखा एवं श्री–जी को इसकी सूचना दी।

स्वास्थ्य शिथिल होने से श्री महाराजजी ने लिख दिया कि आप संकीर्तन प्रारंभ कर लो, मैं होली पर आऊँगा, परन्तु वहाँ के भक्तों को यह किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं हुआ। कई पत्र एवं तार आये कि आप आ जाइए नहीं तो हम लेने आ रहे हैं। ग्रामवासियों के इस प्रेमाग्रह को श्री–जी टाल नहीं सके और तार दे दिया कि हम वसंत-पंचमी के एक दिन पूर्व पहुँच रहे हैं।

श्री–जी २६ जनवरी, १६७६ को बुलन्दशहर एवं दिल्ली होते हुए लोनारा जाने के लिये श्रीधाम से रवाना हो गये। दिल्ली से मध्यप्रदेश जाने के लिये मथुरा होकर ही जाना पड़ता है। अतः हम सब ने मथुरा स्टेशन जाकर श्री–जी के दर्शन किये। श्री देवीजी ने श्री–जी को चाय आदि पिलाई। आप भोपाल होते हुए बसंत-पंचमी के एक दिन पूर्व लोनारा पहुँच गये। तीन वर्षों से प्यासे भक्तों के हृदय प्रेम से उमड़ पड़े और सम्पूर्ण ग्राम में आनन्द की एक लहर दौड़ गई।

श्री महाराजजी डॉ. चन्द्रदेवजी के यहाँ ही ठहरे। संकीर्तन का आयोजन ग्राम के मध्य में स्थित श्रीराम-मंदिर में किया गया था। डॉ. चन्द्रदेव ही इसके मुख्य प्रबंधक थे। दिनांक ५ फरवरी, १६७६ बसंत-पंचमी के दिन संकीर्तन प्रारंभ हुआ। श्रीठाकुरजी ने पदगान से मंगलाचरण किया, तत्पश्चात् श्री–जी ने गुलाल उड़ाकर संकीर्तन प्रारंभ किया। प्रतिदिन प्रातः व रात्रि को दो-दो घण्टे श्री–जी एवं ठाकुरजी कीर्तन कराते थे। इसमें लोनारा के आबाल-वृद्ध स्त्री-पुरुष सभी ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। सम्पूर्ण ग्राम में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं था, जो संकीर्तन में सम्मिलित न हुआ हो। एकादशी को यह सप्त दिवसीय संकीर्तन समाप्त हुआ। निमाड़ प्रान्त के प्रायः सभी भक्त इसमें सम्मिलित हुए थे। श्री–जी की उपस्थिति से ऐसा लग रहा था मानो ग्राम लोनारा में व्रजधाम ही उतर आया हो। ग्रामवासियों के उत्साह की सीमा नहीं थी। श्री–जी ने भी भोले-भाले ग्रामीणों का आतिथ्य प्रेम से स्वीकार किया, सभी को अपना बना लिया एवं सबके मन में बस गये। उस दिन विशाल शोभा-यात्रा का आयोजन किया गया। घर-घर से प्रसाद के थाल भर-भर कर लाये गये थे। ऐसा लग रहा था मानो गिरिराजजी का अन्नकूट हो। सभी को प्रसाद वितरित किया गया। जनसमूह से घिरे श्री महाराजजी बैठे हुए थे। संकीर्तन की भक्ति-सरिता में निमग्न आबाल-वृद्ध कभी नाचने लगते, कभी गाते तो कभी रोते। सभी अपने तन-मन की सुधि खोए हुए थे।

संकीर्तन समाप्ति का सभी को बहुत दुःख हो रहा था। इतने में एक भक्त बीच में ही बोल उठा–महाराजजी ! एक माह का अखण्ड संकीर्तन होना चाहिए। इसी समय श्री घनश्यामजी ने कहा–"मेरी इच्छा तो ऐसी है कि एक

सौ बीस दिन का अखण्ड संकीर्तन हो," यह सुनकर तो सभी भक्तवृन्द आनन्द से नाच उठे और हर्षध्वनि करते हुए स्वीकृति दी। संकीर्तन के प्रति ग्रामवासियों का अपूर्व उत्साह एवं प्रेम देखकर श्री–जी ने लोनारा ग्राम का नाम "अभिनव गोकुल ग्राम" रख दिया। इस प्रकार सप्त दिवसीय संकीर्तन में आगामी चतुर्मासीय संकीर्तन की भूमिका तैयार हो गई। इसके लिए १५ मार्च, १९७९ होली पूर्णिमा का दिन निश्चित कर दिया गया।

ग्रामवासियों का कथन है कि यह साप्ताहिक संकीर्तन महोत्सव अपनी अमिट स्मृति स्थापित कर गया। विराम के पश्चात् भी कई दिनों तक संकीर्तन की गूँज ग्राम की गली-गली, घर-घर और चारों ओर से आती हुई अनुभव की गई।

लोनारा में चतुर्मासीय अखंड संकीर्तन

'सन्त-कृपा' कब, कहाँ और कैसे होती है, कहना कठिन है। इस छोटे से लोनारा ग्राम में भी कभी इस प्रकार धूम-धाम से संकीर्तन हो सकता है, इसकी कल्पना भी कोई नहीं कर सकता था। अस्तु, जैसा कि आप पहले पढ़ चुके हैं–सप्त दिवसीय अखंड संकीर्तन में जिस चतुर्मासीय अखंड संकीर्तन की भूमिका बनाई गई थी, तदनुसार १५ मार्च, १९७९ को होली पूर्णिमा के दिन श्री–जी के द्वारा राम-मंदिर में ही संकीर्तन का शुभारंभ किया गया। इस दिन श्रीचैतन्य महाप्रभु का जन्म दिवस भी था। संकीर्तन स्थल तोरण, कदली-स्तम्भ एवं अनेक आकर्षक साज-सज्जाओं से सजाया गया था। संकीर्तन प्रारंभ करने के पूर्व एक विशाल शोभा-यात्रा का आयोजन किया गया। सर्व प्रथम दो सुन्दर बालकों की खोज की गई। श्री रामलाल भाई एवं श्री दुर्गाशंकरजी के बालकों का चयन करके श्री–जी ने घनश्यामजी से इन बालकों का शृंगार श्रीराधाकृष्ण के रूप में करने को कहा। गाँव से पीताम्बर इत्यादि नये वस्त्र मँगवाये गये। मुकुट-चन्द्रिका धारण कराई गई। काजल, तिलक इत्यादि से रूप सजा करके घनश्यामजी ने बालकों का अत्यन्त सुन्दर शृंगार कर दिया।

सुसज्जित होकर स्वरूप बैठे हुए थे कि श्री–जी निकट से निकले। श्रीयुगल का शृंगार देखकर आप मुग्ध हो गये। श्रीकृष्ण बने बालक को आप भावभरी दृष्टि से देखते रहे। "कितने सुन्दर लग रहे हैं," कहते हुए भावस्थिति में आ गये और कमरे में जाकर कपोल में उँगली गड़ाए लगभग एक घंटा पलंग पर लेटे रहे। श्री–जी की भावभरी दृष्टि पड़ने से इधर श्रीकृष्ण बने बालक को भी आवेश हो गया। उसके मुख पर एक दिव्य आभा छा गई, नेत्र अरुणिम हो गये। पहले तो संकोच का भाव था, वह भी दूर हो गया। घनश्यामजी ने इन्हें दर्पण दिखाया। दर्पण में अपना मुख देखकर ये आत्मविस्मृत हो गये। भाव की स्थिति और भी गंभीर हो गई।

एक सुन्दर सजे हुए रथ पर स्वरूपों को विराजित किया गया। एक रथ श्री–जी के लिये भी सजाया गया था, परन्तु आपने उस पर बैठना स्वीकार नहीं किया और संकीर्तन करते हुए पैदल चल रहे भक्तों के साथ स्वयं कीर्तन कराते हुए पैदल ही चले। चरणों में पादुका तक नहीं पहनी। संकीर्तन की तुमुलध्वनि के साथ नगर-भ्रमण करते हुए लगभग तीन घण्टे में सब राम-मंदिर पहुँचे। श्रीकृष्ण बने बालक की स्थिति अभी भी आवेश की देखकर श्री–जी ने शीघ्रतापूर्वक आरती कर शृंगार बढ़ाने की आज्ञा दी।

संकीर्तनारंभ के पश्चात् आठ दिन तक श्री–जी लोनारा में ही रहकर भक्तों का आनन्द एवं उत्साह वर्धन करते रहे। श्री–जी एवं घनश्यामजी का मधुर संगीतमय कीर्तन सुनकर श्रोतागण मन्त्रमुग्ध से घण्टों समक्ष बैठकर ताल-स्वर युक्त संकीर्तन करते। गृह-कृत्यों से छुट्टी पाकर ग्रामीण माताएँ दोपहर को अपनी ग्रामीण शैली में कीर्तन करतीं। इनके सम्मिलित कीर्तन में उत्साह, लगन एवं आतुरता के दर्शन होते। इस संकीर्तन में कई बालकों ने सहज ही हारमोनियम एवं तबला बजाना सीख लिया। फाल्गुनी पूर्णिमा के उपरान्त ही रंगपंचमी उत्सव आता है। निमाड़ में यह उत्सव बहुत ही धूम-धाम से मनाया जाता है, परन्तु धीरे-धीरे इसने विकृत रूप धारण कर लिया और रंग-गुलाल के स्थान पर नालियों की कीच, डामर, कोयला आदि का प्रयोग किया जाने लगा। श्री–जी एवं घनश्यामजी से प्रेरणा पाकर अब की बार ग्राम-वासियों ने अपने अभिनव-गोकुल ग्राम में ब्रज की सी होली मनाने का उत्साह

दिखाया। श्री–जी से स्वीकृति का संकेत पाकर तैयारी आरंभ हुई। स्थान-स्थान पर तोरण-द्वारों का निर्माण किया गया तथा टोलियाँ निश्चित की गईं। केशुड़ी (टेसू) के पुष्पों से केशरिया रंग तैयार कर जल को गुनगुनाकर प्रत्येक टोली को दिया गया। श्रीधाम से रंग-बिरंगा सुगंधित गुलाल आ चुका था। सर्वप्रथम श्री–जी की विश्राम स्थली पर उनका पूजन किया गया एवं पुष्प-मालाएँ समर्पित की गईं। पश्चात् श्री–जी घनश्यामजी सहित मंदिर में पधारे। कुछ समय कीर्तन हुआ एवं श्री–जी मंडली के साथ ग्राम में प्रवेश हेतु आगे बढ़े। कीर्तन-मंडली वाद्यों सहित आगे चल रही थी। ग्राम के मुख्य द्वार पर दर्शनार्थी माताओं की टोलियाँ एकत्र हो चुकी थीं।

श्री–जी एवं घनश्यामजी ने गुलाल की बौछार आरंभ कर दी। श्री–जी की टोली पर भी दोनों ओर से गुनगुने केशरिया रंग की अनियन्त्रित बौछार होने लगी। श्री ठाकुरजी ने ब्रज-रंग की उमंग में भरकर ब्रज की होली के रसिया गाना प्रारम्भ कर दिया। कीर्तन-मंडली उनका साथ दे रही थी।

इस प्रकार श्री–जी ने ग्रामवासियों को रंगपंचमी उत्सव पर ब्रज का सा आनन्द प्रदान कर कृतकृत्य किया। तब से ग्रामवासी कुप्रथा को त्यागकर वास्तविक रंगपंचमी सोल्लास मनाने लगे। इस चार मास के काल में प्रकृति भी सर्वथा अनुकूल रही। न कभी आँधी आई, न तूफान। नियत समय पर वर्षा हुई एवं कृषक वर्ग एक सप्ताह में ही फसलों की बोवनी के कार्य से निर्विघ्न निवृत्त हो गये।

श्री–जी इक्कीस मार्च को विश्राम हेतु बड़वानी चले गये। दस अप्रैल को पुनः लोनारा में आपका शुभागमन हुआ। स्वयं अपना एवं घनश्यामजी का स्वास्थ्य ठीक न होते हुए भी भक्तों के उत्साह-वर्धन हेतु आप प्रातः - सायं दो-दो, तीन-तीन घण्टे कीर्तन करवाते। इस संकीर्तन की सरिता में खरगोन, बड़वानी, भोपाल एवं आसपास के ग्रामों से भक्तजन सुविधानुसार आ-आकर अवगाहन करते ही रहते थे। इस अवधि में कई विचित्र घटनायें घटीं एवं कइयों के ह्रदय परिवर्तन हुए।

खण्डवानिवासी श्री रमेशजी सराफ, भोपाल में असिस्टैंन्ट डायरेक्टर टाउन एवं कन्ट्री प्लानिंग के पद पर कार्यरत थे। वे श्री हीरालालजी गुप्ता के

यहाँ श्री महाराजजी के दर्शन कर चुके थे। संकीर्तन में भी कई बार सम्मिलित हुए थे और श्री–जी से बहुत प्रभावित थे। इनके बड़े भाई श्री बालकिरान जी सराफ खण्डवा के सम्पन्न व्यक्तियों में से एक थे। वे इनसे प्रायः कहा करते थे कि साधुओं के चक्कर में नहीं आना चाहिए। एकबार रमेशजी उन्हें बड़वानी में श्री–जी के सत्संग-संकीर्तन में बलात् ले आये थे। तब वे भी श्री–जी से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। लोनारा संकीर्तन में भी एकबार कई गणमान्य-सम्पन्न व्यक्तियों को साथ लेकर कार द्वारा आ पहुँचे, साथ में फलों की कई टोकरियाँ, फूलमालायें एवं भेंट सामग्री ले आये। उनका ठाट-बाट देखकर लोगों ने समझा कि मिनिस्टर आये हैं (क्योंकि किसी कारणवश मिनिस्टर के आने की सूचना ग्राम में आ चुकी थी)। लोगों ने आदर-पूर्वक उनका स्वागत किया। वे जब संकीर्तन में पहुँचे तो गाँव की लगभग दो सौ स्त्रियाँ गर्बा नृत्य (गुजरात तथा निमाड़ में प्रचलित एक प्रकार का नृत्य) के साथ कीर्तन कर रही थीं। श्री–जी अपने आसन पर विराज रहे थे। श्री सराफजी ने आते ही श्री–जी के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया और कीर्तन में बैठे-बैठे आनन्द में झूमते रहे, नेत्रों से अश्रुधारा बहती रही। साथ आये हुए व्यक्ति भी तन्मय हो रहे थे। इस संकीर्तन में श्री सराफजी के हृदय में श्री–जी के प्रति अनन्य निष्ठा का उदय हुआ।

श्री हीरालालजी तो श्री–जी के प्रति पूर्ण समर्पित ही थे। बड़वानी निवासी मोतीभाई भी, जो इनके छोटे भाई थे, श्री–जी के प्रति अत्यन्त निष्ठावान् थे। श्री मोतीभाई के साले जगदीशजी और वृन्दावनजी गुप्ता खरगोन के धनी-मानी व्यक्ति थे। श्री हीरालालजी ने इनको भी लोनारा संकीर्तन में जाकर श्री–जी के दर्शन से कृतार्थ होने का संकेत किया। वे अपनी कार द्वारा सपरिवार लोनारा आये। पहले वे लोग साँईबाबा के चमत्कारों से अत्यधिक प्रभावित थे। संकीर्तन में श्री–जी के प्रथम बार के दर्शन से ही वे इतने प्रभावित हुए कि सब चमत्कारों से हटकर उनके अनन्य भक्त हो गये। लोनारा में संकीर्तन जब-तक हुआ वे स्कूटर से बराबर आते-जाते रहे तथा बाद में श्री–जी को अपने यहाँ बुलाकर संकीर्तन का आयोजन किया और सपरिवार तन-मन से श्री–जी की सेवा की।

बड़वानी से सपरिवार श्री मोतीभाई, श्री पन्नुभाई; इन्दौर से हीरालालजी के दामाद श्री राधेश्यामजी गुप्ता (डिप्टीडायरेक्टर एग्रीकल्चर) एवं इनकी पत्नी चन्दूबहिन, भोपाल से श्री बसंतराव कुलकर्णी एवं इनकी पत्नी रजनी कीर्तन में सम्मिलित हुए। देहली से ब्ल्यू स्टार कम्पनी के मैनेजर एवं श्री–जी के अनन्य भक्त श्री लालजी चढ्ढा एवं इनकी पत्नी नीना ने अतीव उत्साह से संकीर्तन में भाग लिया। भण्डारे के दिन तो लालजी ने घण्टों कढ़ाई के पास बैठकर पूड़ियाँ उतारीं एवं नीना ने बेलीं। ये पति-पत्नी बहुत ही भावुक हैं। महेश्वर से मेरे भाईसाहब की दोनों पुत्रियाँ शशिकला एवं विजया भी कीर्तन में आई थीं। खरगोन से नगर सेठ श्री बालकृष्ण गणपति, बालकृष्ण महाजन, लिमड़या दादा, महाजन ब्रदर्स, पूनमचंद, रामदास कम्पाउन्डर, परसाइन माँ, रमेश परसाई की माँ, बड़वानी से शालिग्रामजी वकील, पुरुषोत्तम भाई गुप्ता, तिवारीजी, रामसजीवनजी (पुलिस सबइन्सपेक्टर), ग्रीन होटल वाले बाबू भाई तथा और कई भक्त बस भर-भर कर आये हुए थे। ग्वालियर से श्री राजनाथजी शुक्ला सपरिवार एवं जबलपुर से उनके पुत्र पुरुषोत्तम (डायरेक्टर ऑफ फोन्स) आये थे। वृन्दावन से अनेक भक्तजन एवं मनोरमाजी भी गई थीं।

श्री रमेशजी सराफ, जो सप्ताह कीर्तन में लोनारा आये थे, इस चतुर्मासीय कीर्तन में भी आकर सम्मिलित हुए। श्री रमेशजी के छोटे भाई श्री विद्याधरजी फूड कार्पोरेशन में असिस्टेन्ट मैनेजर थे। ये संगीत-प्रेमी एवं खूब फैशनेबल व्यक्ति थे। कंठ मधुर था ही। फिल्मी गीत महफिलों में मस्ती से गाया करते थे। सर्वप्रथम श्री–जी के दर्शन इन्होंने भोपाल में ही किये थे। रमेशजी ने जब कीर्तन में चलने को कहा, तो ये हँसते हुए बोले–"तुम भी अच्छे हो भाई ! कीर्तन में क्या रखा है, एक गजल सुना दूँ तो मस्त हो जाओगे, कीर्तन-वीर्तन भूल जाओगे।" रमेशजी ने कहा–"कुछ नहीं रखा सही, पर एकबार मेरे साथ चलो तो।" बड़े भाई के आग्रह पर ये बिना मन से श्री हीरालालजी गुप्ता के यहाँ कीर्तन में गये और श्री–जी के दर्शन किये तथा उनके प्रति कुछ आकर्षित हुए। कुछ दिन के बाद भोपाल में ही श्री शीलजी के यहाँ कीर्तन में पुनः श्री रमेशजी के साथ गये।

श्री घनश्यामजी कीर्तन करा रहे थे। उनका मधुर कीर्तन सुनकर ये मन्त्र-मुग्ध से बैठे रहे। कीर्तन समाप्ति के बाद रमेशजी से कहने लगे– "भाई कीर्तन इतना मधुर होता है ! यह तो पहली बार ही अनुभव किया है। मेरा हृदय बलात् खिंचा जा रहा था।" श्री–जी के मुख से सत्संग सुनकर तो ये आत्म-विस्मृत से हो गये। श्री–जी का यह वाक्य "(unconditional surrender ship) बिना शर्त आत्म-समर्पण की आवश्यकता है," इनके हृदय में लग गया और विद्याधरजी ने श्री–जी के प्रति आत्म-समर्पण कर दिया। फिल्मी गीत गाना छूट गया। सुन्दर रूप से कीर्तन कराने लगे। लोनारा चतुर्मासीय कीर्तन में भी इनका पूरा-पूरा सहयोग रहा। ये सतत डेढ़ मास तक वहीं रहे। लोनारा में रहते हुए भी श्री–जी, भक्तों के आग्रह पर आस-पास के ग्रामों में जाया करते थे।

रामकृष्ण नामक व्यक्ति श्री–जी का भक्त एवं कृपापात्र था। प्रायः इसी की टैक्सी में श्री–जी आया-जाया करते थे। जब तक श्री–जी वहाँ रहते यह अपना सब काम छोड़कर श्री–जी की सेवा में ही रहा करता था। लोनारा आने के रास्ते में ही रस गाँव नामक एक छोटासा ग्राम था। यहाँ के एक व्यक्ति ने कुछ जमीन के झगड़े के सिलसिले में सड़क के मध्य एक ऊँची दीवार खड़ी कर दी थी। रास्ता बंद हो जाने से बसों को एक किलोमीटर खेतों के उबड़-खाबड़ पहाड़ी कच्चे रास्ते से जाना पड़ता था, जिससे लोगों को बहुत कष्ट होता था। एक बार श्री–जी भक्त रामकृष्ण की टैक्सी से उसी रास्ते से लोनारा आ रहे थे। रामकृष्ण ने प्रार्थना की–"महाराजजी ! मैं आपसे कुछ नहीं माँगता, एक ही बात चाहता हूँ कि यह रास्ते का संकट दूर हो जाए। "यह बात श्री–जी के मन को छू गई। आपने लोनारा पहुँच कर श्री रमेशजी सराफ के श्वसुर श्री नर्मदाप्रसादजी राजवैद्य को, जो भोपाल में चीफ मिनिस्टर श्री श्यामाचरण शुक्ल के पी.ए. थे, पत्र लिखकर यह काम करवाने के लिए कहा। लोनारा में अखण्ड संकीर्तन चल ही रहा था। श्री नर्मदाबाबू ने तुरंत खरगोन के कलेक्टर को तार द्वारा आदेश दिया कि चीफ मिनिस्टर लोनारा संकीर्तन समापन के समय आ रहे हैं, अतः सड़कें ठीक करवा दी जाएँ। बस, फिर क्या था ? कलेक्टर के आदेश से तुरंत दीवार तोड़ कर रास्ता साफ

करवा दिया गया। साथ ही रास्ते में पड़ने वाली एक-दो छोटी-छोटी पुलियाओं को भी सुधार दिया गया। एक महापुरुष की संकल्प-शक्ति से बिना किसी संघर्ष के यह उलझा हुआ पुराना मामला इतनी शीघ्र एवं सहजता से सुलझ गया। संकट दूर हो जाने से लोग बहुत प्रसन्न हो गये। इस प्रकार आपने अनेकों के संकट दूर किये एवं कई भक्त आप के शरणापन्न हुए।

लोनारा में एक मौलवी पर भी संकीर्तन का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। उन दिनों घर-घर की दीवारों पर –

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।।

यह महामन्त्र लिखा गया। उस मुसलमान मौलवी ने भी आकर श्री–जी से निवेदन किया–"मेरा घर क्यों छोड़ दिया ? मैं गुनहगार तो हूँ, पर क्या मैं इस लायक भी नहीं हूँ कि मेरे मकान की दीवार पर महामन्त्र लिखा जाय ?" सुनकर श्री–जी गद्गद हो गये और उसी समय एक भक्त को भेजकर महामन्त्र लिखवाया। वह मौलवी नित्य ही कीर्तन एवं सत्संग में आकर आगे बैठता था।

लोनारावासी श्री सुखलाल भाई का भी इस संकीर्तन में अपूर्व सहयोग रहा। वे गृहस्थ होते हुए भी अति सरल, सेवाभावी एवं दैन्य स्वभाव के व्यक्ति हैं। जब वे झाँझ-करताल लेकर कीर्तन करने लगते तो उन्हें अपने तन-बदन का होश नहीं रहता था। इस चतुर्मासीय संकीर्तन में तो उनका जीवन और भी भक्तिमय हो गया। घर की अच्छी खेती बाड़ी है, परन्तु गृहस्थ जीवन में उनका मन नहीं लगता था। चार-छह मास में भागकर वृन्दावन आ जाते और तीन-तीन; चार-चार महीने यहीं रह जाते। श्री–जी बड़ी कठिनाई से समझाकर इन्हें घर भेजते।

इनके बिल्कुल विपरीत इनके अग्रज बल्लूभाई सरपंच थे। वे गाँव में बहुत बदनाम थे। उनका जीवन भी घृणित रह चुका था। इस चतुर्मासीय अखण्ड संकीर्तन से उनका जीवन ही बदल गया। एक दिन उन्होंने श्री–जी के चरण पकड़ लिये और दीक्षा देने की प्रार्थना की। श्री–जी ने कहा–"मैं

किसी को दीक्षा नहीं देता, जिस महामन्त्र का कीर्तन किया है, उसे ही निरन्तर जपा करो।" गुरु क्या वस्तु है, शिष्य का क्या स्वरूप होना चाहिये ? इस विषय पर एक घण्टा सत्संग दिया। उन्होंने मन ही मन श्री–जी को अपना गुरु मान लिया।

ग्यारह जुलाई,१९७६ को चतुर्मासीय संकीर्तन को विराम देना था। एक दिन पूर्व दस जुलाई को गुरुपूर्णिमा थी। डॉ. श्री चन्द्रदेव दुबे के निवास पर ही गुरुपूर्णिमा उत्सव उल्लासमय वातावरण में सम्पन्न हुआ। सभी ग्राम वासियों एवं दूर-दूर से कीर्तन समापन के लिये आये हुए भक्तजनों को श्री–जी की चरण-वन्दना एवं पूजन का सुअवसर प्राप्त हुआ। इसी समय श्री बल्लूभाई सरपंच भी अपने पत्नी-बच्चों सहित हाथ में पूजन की सामग्री, फल-फूल,वस्त्रादि लेकर कीर्तन करते हुए आये। पूजन के थाल में एक पत्र रखा हुआ था। पत्र में बल्लूभाई ने अपने आजतक किए हुए अपराधों के लिये क्षमा माँगते हुए आत्म-समर्पण किया था। लिखा था–"मैं जैसा भी अधम, कुटिल, पापी हूँ, मुझे स्वीकार कर श्रीचरणों में आश्रय प्रदान करेंगे। मेरे मन ने तो आपको गुरु स्वीकार कर लिया है।"

इसके पश्चात् उनके जीवन में एकदम परिवर्तन आया। ये गाँव के संकीर्तन इत्यादि कार्यों में सहयोग देने लगे एवं एकबार वृन्दावन भी आये। संकीर्तन-समाप्ति के बाद बल्लूभाई की ओर से राममंदिर में धूमधाम से कीर्तन हुआ। बल्लूभाई ने शेष जीवन नाम-जप, कीर्तन-पूजन में व्यतीत किया एवं पूज्य श्री महाराजजी का स्मरण करते हुए शरीर छोड़ा। श्री–जी की आज्ञा से सुखलालभाई ने इनके हेतु श्रीधाम में श्रीमद्भागवत का सप्ताह-पाठ करवाया। श्री–जी ने कहा–"बल्लूभाई की सद्गति हुई है।"

ग्यारह जुलाई को अपार जन-समूह की उपस्थिति में संकीर्तन-महोत्सव का समापन हुआ। दो दिन पूर्व ही वृन्दावन से स्वामी श्रीरामजी की रास-मंडली आ गई थी। रास-लीला के आयोजन से प्रेमी- भक्तों का बहुत ही आनन्दवर्धन हुआ। बृहद् भंडारा हुआ एवं रास-बिहारी की शोभायात्रा धूमधाम से निकाली गई।

किसी को दीक्षा नहीं देता, जिस महामन्त्र का कीर्तन किया है, उसे ही निरन्तर जपा करो।" गुरु क्या वस्तु है, शिष्य का क्या स्वरूप होना चाहिये ? इस विषय पर एक घण्टा सत्संग दिया। उन्होंने मन ही मन श्री–जी को अपना गुरु मान लिया।

ग्यारह जुलाई,१९७६ को चतुर्मासीय संकीर्तन को विराम देना था। एक दिन पूर्व दस जुलाई को गुरुपूर्णिमा थी। डॉ. श्री चन्द्रदेव दुबे के निवास पर ही गुरुपूर्णिमा उत्सव उल्लासमय वातावरण में सम्पन्न हुआ। सभी ग्राम वासियों एवं दूर-दूर से कीर्तन समापन के लिये आये हुए भक्तजनों को श्री–जी की चरण-वन्दना एवं पूजन का सुअवसर प्राप्त हुआ। इसी समय श्री बल्लूभाई सरपंच भी अपने पत्नी-बच्चों सहित हाथ में पूजन की सामग्री, फल-फूल,वस्त्रादि लेकर कीर्तन करते हुए आये। पूजन के थाल में एक पत्र रखा हुआ था। पत्र में बल्लूभाई ने अपने आजतक किए हुए अपराधों के लिये क्षमा माँगते हुए आत्म-समर्पण किया था। लिखा था–"मैं जैसा भी अधम, कुटिल, पापी हूँ, मुझे स्वीकार कर श्रीचरणों में आश्रय प्रदान करेंगे। मेरे मन ने तो आपको गुरु स्वीकार कर लिया है।"

इसके पश्चात् उनके जीवन में एकदम परिवर्तन आया। ये गाँव के संकीर्तन इत्यादि कार्यों में सहयोग देने लगे एवं एकबार वृन्दावन भी आये। संकीर्तन-समाप्ति के बाद बल्लूभाई की ओर से राममंदिर में धूमधाम से कीर्तन हुआ। बल्लूभाई ने शेष जीवन नाम-जप, कीर्तन-पूजन में व्यतीत किया एवं पूज्य श्री महाराजजी का स्मरण करते हुए शरीर छोड़ा। श्री–जी की आज्ञा से सुखलालभाई ने इनके हेतु श्रीधाम में श्रीमद्भागवत का सप्ताह-पाठ करवाया। श्री–जी ने कहा–"बल्लूभाई की सद्गति हुई है।"

ग्यारह जुलाई को अपार जन-समूह की उपस्थिति में संकीर्तन-महोत्सव का समापन हुआ। दो दिन पूर्व ही वृन्दावन से स्वामी श्रीरामजी की रास-मंडली आ गई थी। रास-लीला के आयोजन से प्रेमी- भक्तों का बहुत ही आनन्दवर्धन हुआ। बृहद् भंडारा हुआ एवं रास-बिहारी की शोभायात्रा धूमधाम से निकाली गई।

लोनारा में गोपालभाई नामक एक सम्पन्न व्यक्ति इस सब कार्यक्रम से एकदम तटस्थ रहे। श्री–जी का एक भक्त चाहता था कि यह भाई भी हमारे भक्त-मंडल में सम्मिलित हो जाय। समापन के तीसरे दिन उन्होंने श्री–जी को अपने यहाँ निमन्त्रित किया एवं गोपालभाई को भी आने के लिए कहा। गोपालभाई ने उनके यहाँ पहुँच कर श्री–जी के दर्शन किये। चाय पीते-पीते ही सहसा उनका हृदय परिवर्तन हुआ। उनकी इच्छा हुई कि मेरे सन्तरे के बगीचे में श्री–जी के चरण पड़ें। उनके आग्रह से उसी शाम को श्री–जी कुछ भक्तों के साथ उनके बगीचे में गये। गोपालभाई ने अपने हाथों से तोड़-तोड़ कर श्री–जी को पके सन्तरे खिलाये। सारा बगीचा श्री–जी को दिखाया। गाँव के कुछ भक्त भी साथ थे। एक भक्त ने कहा–"कीर्तन का विश्राम होने से सूना-सूना लग रहा है।" श्री–जी ने तुरन्त कहा–किसी भक्त के यहाँ अभी कीर्तन रख लो, किसका आँगन बड़ा है ? गोपालभाई की पत्नी बोल उठी–"चौक तो अपने यहाँ भी बहुत बड़ा है।" श्री–जी ने सोचा कि यही तो मैं चाहता था, प्रकट में बोले–यदि गोपालभाई की इच्छा हो तो इन्हीं के यहाँ कीर्तन रखा जाय। फिर क्या था, गोपालभाई अपने पत्नी-बच्चों सहित भागे-भागे गये और झाँकी सजाने एवं अन्य तैयारी में लग गये। इनके यहाँ धूमधाम से कीर्तन हुआ।

लोनारा से लगभग पन्द्रह मील दूरी पर नाँद गाँव है। वहाँ के लोग श्री–जी को भक्तों के सहित नव निर्मित राममंदिर के दर्शन के लिये अपने गाँव ले गये। भक्तवृन्द पहले से ही पुष्प-मालायें लेकर श्री–जी के स्वागतार्थ बस स्टैण्ड पर खड़े थे। बस से उतरते ही सब ने श्री महाराजजी को मालायें पहनाईं और जयघोष करते हुए राममंदिर में ले गये। राममंदिर जिस प्रकार ध्वजा, पताका, तोरणादि से सजाया गया था, उसी प्रकार श्री–जी का विश्राम-स्थल भी सजाया था। भोले-भाले ग्रामीणों की भीड़ आँगन में एकत्र हो गई थी। सभी चरण-स्पर्श के लिये लालायित हो रहे थे। इस कार्य में दो घण्टे लग गये। जाते ही श्री–जी ने चौबीस घण्टे का संकीर्तन प्रारंभ करवा दिया। स्वास्थ्य ठीक न होने से श्री–जी कुछ ही घण्टों के लिये नाँद गाँव आये थे। पाँच बजे की बस से उन्हें वापस लोनारा जाना था। तीन बजे फिर माताओं

की भीड़ श्री–जी के दर्शनार्थ आ उपस्थित हुई। सब ने श्री–जी पर गुलाल एवं पुष्प-वर्षा प्रारम्भ कर दी और प्रार्थना की–"हम आपको कुछ पद सुनाना चाहती हैं।" श्री–जी के सम्मुख चार थालों में गुलाल एवं फूल भरकर रख दिये गये। पदों के भाव के अनुसार श्री–जी पुष्प एवं गुलाल उड़ाते जाते थे। पद-गान में सभी इतने तन्मय थे कि किसी को समय का भान नहीं रहा। उन लोगों की इच्छा थी कि श्री–जी आज हमारे ग्राम में रुक जाएँ। इसीलिये वे लगातार पद सुनाती जाती थीं। समय अधिक होने से श्री घनश्यामजी ने संकेत किया। श्री–जी उठकर खड़े हो गये और सबको जाने के लिये कहा। आगे पुरुष वर्ग, मध्य में श्री–जी और पीछे माताएँ कीर्तन करते हुए बस स्टैण्ड पहुँचे।

बस आने में कुछ विलम्ब होने से श्री–जी को पास ही वटवृक्ष के चबूतरे पर कालीन बिछा कर बैठा दिया गया। सामने गुलाल तथा फूलों की डलियाएँ रख दीं और महिलाओं ने मथुरा-गमन के पद गाने शुरू कर दिये, जिनमें तुम निरमोही हो, तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए, इसी आशय का उलाहना था। एक घण्टा हो गया पर बस नहीं आई। किसी ने कहा–विवाह आदि की भीड़ होने से बस गाँव में न आकर सीधी निकल गई होगी। परन्तु बात दूसरी ही थी। गाँव के एक मुसलमान मिस्त्री को, जिसने राममंदिर बनाने में सहयोग दिया था, श्री–जी के प्रति भक्तवृन्द का प्रेम देखकर दया आ गई, उसने दोनों बसों को गाँव में नहीं आने दिया। उसने बस वालों से कह दिया–यदि तुम बस गाँव में ले जाओगे तो गाँव वाले तुम्हें पीटेंगे। वे दोनों बसें बिना हार्न बजाए बाहर ही बाहर चुपचाप ले गये।

आखिर प्रेम की विजय हुई। श्री–जी को वहीं रुकना पड़ा। रात भर नये राममंदिर में कीर्तन हुआ। इतनी भीड़ थी कि बहुत से भक्तों को मंदिर के बाहर बैठना पड़ा। प्रातः श्री–जी लोनारा लौट आये।

दिनांक सत्रह जुलाई को लोनारा से प्रस्थान होना था। सुन्दर सजी हुई बैलगाड़ी में श्री–जी बैठे हुए थे। श्री–जी को घेर कर भक्तवृन्द कीर्तन करते हुए साथ-साथ चल रहे थे। कुछ लोग तो बैलगाड़ी के साथ पैदल ही चलते हुए डोंगर गाँव तक गये एवं श्री–जी के सान्निध्य में रहे। पुष्प-वृष्टि करते हुए भक्तवृन्द को साथ-साथ चलते देख श्री–जी भावविभोर हो रहे थे।

हृदय उमड़ रहा था। चेहरा रक्तवर्ण हो रहा था। श्री–जी कहते थे–"ऐसा दृश्य मन को छू जाता है। वियोग दुःख से दुःखी लोगों को देखा नहीं जाता, इसीलिये मैं बिना बताये चला जाता था; परन्तु अबकी बार ऐसा प्रसंग बन गया।"

रात्रि डोंगर ग्राम में विश्राम किया। अठारह जुलाई को श्री चाँदोरे मास्टर साहब के द्वारा वहाँ के एक मंदिर में कीर्तन का आयोजन किया गया। श्री–जी का स्वास्थ्य पहले से ही कुछ ढीला था। अतः थोड़ी ही देर कीर्तन एवं सत्संग हुआ, परन्तु इतनी ही देर में संकीर्तन-विरोधी एक ग्राम- सेवक एवं एक डॉक्टरसाहब के मन पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा और वे लोग भक्त बन गये।

उन्नीस जुलाई टेम्बला ग्राम में पहले से ही कार्यक्रम आयोजित था। बस स्टैण्ड पर भक्तों की भीड़ एकत्रित थी। श्री छगनलाल मास्टर साहब एवं उनके मित्रों ने श्री–जी का स्वागत किया। श्री–जी के पहुँचते ही जय-जयकार की ध्वनि गूँज गई। पहले से ही एक वृक्ष के नीचे आराम कुर्सी सजाकर रखी हुई थी। श्री–जी को बैठा कर जल इत्यादि पिलाया। इतनी पुष्प-मालाएँ पहनाई गईं कि श्री–जी का अंग ढक गया। बालकवृन्द चट्टा (टिपरी) नृत्य करते हुए तथा भक्तवृन्द झाँझ-ढोल, बाजे के साथ कीर्तन करते हुए श्री–जी को बालाजी-मंदिर ले गये। रास्ते तोरण-बन्दनवारों से सजाये गये थे। भक्तवृन्द गुलाल उड़ाते हुए जा रहे थे। मंदिर में पहुँच कर इतना गुलाल उड़ा कि अन्तर्भाग गुलाल से ढक सा गया। श्री–जी ने बालाजी को प्रणाम किया और एक गरीब ग्वाले के यहाँ जाकर विश्राम किया। इस ग्वाले की छोटी सी टपरिया के एक हिस्से में उसके गाय इत्यादि पशु बँधे हुए थे। उसी स्थान पर एक ओर श्री–जी के विश्राम के लिये एक चारपाई डाल दी गई। श्री–जी ने भी आनन्दपूर्वक उस पर इस तरह विश्राम किया मानो ऐसे स्थानों पर रहने के सदा से अभ्यस्त हों। वहाँ गोबर की गन्ध के साथ ही मच्छरों का संगीत भी गूँज रहा था, परन्तु श्री–जी परम प्रसन्न थे।

श्री–जी की आज्ञा से श्री बालाजी-मंदिर में चौबीस घण्टे का संकीर्तन प्रारंभ किया गया। एकाएक रात्रि में रक्तचाप बढ़ जाने के कारण श्री–जी को हृदय-पीड़ा का अनुभव हुआ। वहाँ बड़वानी से मोतीभाई एवं बिन्दु सेठ भी

आये हुए थे। वे उसी समय खरगोन जाकर डॉ॰ गोविन्दलालजी को लेकर आये। परीक्षण के उपरान्त उन्होंने कहा—महाराजजी ! आप इसी समय मेरे साथ गाड़ी में खरगोन चलें। आपको पूर्ण विश्राम की आवश्यकता है, परन्तु भक्तों का प्रेम देखकर श्री—जी ने जाना स्वीकार नहीं किया।

अत्यधिक कमजोरी आ जाने से श्री महाराजजी कीर्तनारंभ में तो नहीं जा सके, परन्तु डॉक्टर के मना करने पर भी एक फर्लांग रास्ता पैदल चलकर समाप्ति के समय कीर्तन में उपस्थित हो गये। पैंतालीस मिनट सत्संग दिया एवं पुनः पैदल ही चलकर ग्वाले की झोंपड़ी तक आये। डॉक्टर भी हतबुद्धि से श्री—जी के साथ-साथ कीर्तन में गये और आये एवं श्री—जी का मुख एकटक देखते हुए बोले—"महाराजजी ! इतने हाई बी. पी. में तो हिलने-डुलने की भी स्थिति नहीं रहती। मुझे अत्यन्त आश्चर्य हो रहा है।" अस्तु।

इक्कीस जुलाई को श्री—जी भक्त रामकृष्ण की टैक्सी द्वारा टेम्बला से खरगोन गए, डॉ॰ गोविन्दलालजी से परीक्षण करवाया और दो घण्टे वहाँ विश्राम करके कार द्वारा भक्त रामदास कम्पाउन्डर के यहाँ सनावद पहुँचे। रामदासजी श्री—जी के पुराने भक्त थे एवं श्री—जी पर बहुत ही निष्ठा रखते थे। सनावद में ही डॉ॰ जोशी के यहाँ ओंकारेश्वर के पिच्चासी वर्ष की अवस्था वाले एक सिद्ध महात्मा ठहरे हुए थे। श्री—जी उनसे मिलने गये। श्री—जी को देखते ही वे आसन से उठकर खड़े हो गये एवं बहुत ही प्रेम-भाव से मिले। श्री—जी कहते थे कि वे एक उच्चकोटि के सन्त थे।

सनावद में श्री—जी के पूर्व परिचित कालीदास कथावाचक मिले। उन्होंने श्री—जी को समर्थरामदासस्वामी के जीवन से सम्बन्धित एक एकांकी नाटक अभिनीत करके दिखाया। उन्हीं के यहाँ श्री—जी के दर्शन के लिये रोडवेज डिपो के मैनेजर श्री द्वारकाबाबू मोटर सायकिल से आये। उन्होंने कुछ देर रुककर श्री—जी से इन्दौर जाने की आज्ञा माँगी। श्री—जी ने कहा—"अच्छा ! रात में ही जा रहे हैं ? 'नारायण-नारायण' नाम लेकर जाइयेगा।"

'नारायण' नाम लेकर द्वारकाबाबू रवाना हो गये। इन्दौर जाते हुए एक लम्बा घाटा (चढ़ाई) पड़ता है। घाटा चढ़ते-चढ़ते ही उनको मोटर सायकल पर नींद लग गई। अचानक 'नारायण-नारायण कहिये' महाराजजी

की यह कंठ ध्वनि उनके कानों में पड़ी और नींद खुल गई। वे आश्चर्य से देखने लगे और सोचने लगे—अरे ! नींद में ही घाटा पार कर गया, यह नारायण नाम का ही प्रभाव है। तब से वे जहाँ भी जाते "नारायण" नाम लेकर ही जाते थे। जब उन्होंने यह घटना श्री–जी को सुनाई, तब भी पसीना-पसीना हो रहे थे। कहने लगे–"महाराजजी दस किलो मीटर लम्बा इतना खतरनाक घाटा मैं आप ही की कृपा से सुरक्षित पार कर सका। कुछ दिन सनावद के भक्तों को आनन्द प्रदान करके श्री–जी इन्दौर-भोपाल होते हुए श्रीधाम लौट आये।

श्री बाबा के साथ रसगोष्ठी

सन् १९७५, इस बार श्रीराधाष्टमी महोत्सव तेरह सितम्बर को एवं श्रीभाईजी (श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार) का जन्मोत्सव दो अक्टूबर को था। पूज्य श्री महाराजजी दस सितम्बर को गोरखपुर पहुँच गये थे; क्योंकि श्रीललिता-षष्ठी से ही उत्सव प्रारंभ हो जाता है।

पूज्य श्रीभाईजी के जन्मोत्सव पर कई लोगों को आमन्त्रित करके बुलाया गया था। उत्सव के अध्यक्ष श्री महाराजजी ही थे। सभी आगन्तुक विद्वानों ने श्रीभाईजी के जीवन से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर विचार व्यक्त किए; परन्तु श्री महाराजजी ने अपने प्रवचन में श्रीभाईजी के भावपूर्ण जीवन से सम्बन्धित भक्ति-भावना पर ही प्रकाश डाला।

श्री महाराजजी ने कहा–"श्रीभाईजी का अर्थ है श्रीराधामाधव की प्रीति। श्रीभाईजी का जन्मोत्सव मनाने का अर्थ है श्रीराधामाधव की प्रीति का विजयोत्सव। इस दिन का वास्तविक गौरवास्पद अर्थ है—श्री राधामाधव सहित श्रीभाईजी की परमोज्ज्वल प्रीति-सुधा का वैभवोत्सव। प्रिया-प्रियतम श्रीराधामाधव की दृष्टि में समाये हैं श्रीभाईजी और ऐसे ही श्रीभाईजी की दृष्टि में नित्योच्छलित है दिव्य युगल का प्रेमोदधि। श्रीभाईजी के उस सततान्दोलित प्रेमोदधि की भावतरंगों की छबि देखने को मिल सकती है उनकी महान् कृति "श्रीराधामाधव चिन्तन" के पृष्ठों पर। उनकी दृष्टि से हम अपनी दृष्टि मिलाने का प्रयास करें। श्रीभाईजी की दृष्टि के साथ हो लेने पर

हमारी दृष्टि में भी वैसे ही दिव्य युगल श्रीप्रिया-प्रियतम उद्भासित होने लगेंगे, जो श्रीभाईजी की दृष्टि में सदा-सदा से थे, हैं और रहेंगे। श्रीभाईजी की नित्य हैं। श्रीभाईजी के जन्म-दिवस का उत्सव मनाने का प्रयोजन यही है कि उनकी दृष्टि से दृष्टि मिलाकर हम भी प्रिया-प्रियतम श्रीराधामाधव के अपने बन जायें और प्रिया-प्रियतम—श्रीराधामाधव को अपना बना लें।"

श्रीभाईजी के प्रति श्री महाराजजी के मुख से निसृत इन विशुद्ध उद्गारों ने श्रीराधाबाबा को अत्यधिक उल्लास से भर दिया। पूज्य बाबा बार-बार कह रहे थे, "संत मुख से ऐसी वाणी सुनने को मिली, जो श्री पोद्दार महाराज के आन्तरिक और वास्तविक स्वरूप को आधिकारिक स्वर में समाज के सामने रख सके।"

एक दिन लीची के पेड़ के पास दोनों महापुरुषों का अति विलक्षण मिलन हुआ। दोनों ही एक दूसरे में डूबे हुए थे । उस दिन पूज्य बाबा की रुचि को आदर देते हुए श्री महाराजजी ने अति मधुर कंठ से **"स्मरतु मनो मम निरवधि राधाम्"** पद का गान किया और श्री बाबा ने भी श्री महाराजजी की इच्छा का समादर करते हुए शिवरंजनी राग में "जय जय प्रियतम" काव्य का यह प्रसंग **"प्रक्षालित किए तरंगों ने फिर पद हम दोनों के प्रियतम"** गाकर सुनाना प्रारंभ कर दिया। दो संतों के भाव-सागर की रस-भीनी लहरें वहाँ बैठे हुए गिने-चुने भाई-बहिनों को भी रस में भिगोये बिना नहीं रह सकीं। उस रसमय वातावरण में सभी मूक, स्तब्ध थे।

पूज्य श्री बाबा की श्रीगिरिराज-परिक्रमा भी उनके अपने भावराज्य का ही प्रतीक है। प्रथम दिन ही जब श्री—जी श्री बाबा की परिक्रमा में विराजे तो उन्हें गोविन्द-कुण्ड में अवगाहन कर बाहर आते हुए श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी के दर्शन हुए।

इसी प्रकार एक दिन परिक्रमा में ही श्री—जी ने देखा कि अति अद्भुत रूप-दिवानी, श्याम-विरहिणी एक बाला अपना कर-पल्लव अपने वक्षस्थल पर रखे हुए श्री गिरिराजजी की तलहटी में चली जा रही है।

श्री–जी ने बाह्य ज्ञान होने पर अपने अनुभवों को अपनी कुटिया पर आकर सुनाते हुए कहा–"पूज्य श्री बाबा के ये प्रत्यक्ष प्रतिष्ठित गिरिराजजी हैं।" अस्तु।

लगभग एक माह गोरखपुर में रहकर श्री महाराजजी बनारस होते हुए वृन्दावन पहुँच गये।

प्रतिवर्षानुसार पुनः १९७६ में भी पूज्य श्रीमहाराजजी, श्रीघनश्यामजी, कुसुमजी एवं मंगलजी के सहित दिनांक अट्ठाईस अगस्त को गोरखपुर पहुँचे। राधाष्टमी-महोत्सव पहली सितम्बर को था। श्री बाबा ने कहा–"श्री महाराजजी का आगमन गीतावाटिका के लिये सौभाग्य की वस्तु है। उनके शुभागमन ने मुझे निश्चिन्तता प्रदान की है।"

श्रीराधाष्टमी उत्सव सानन्द सम्पन्न हो गया। श्री–जी को गोरखपुर आये लगभग एक मास हो चला था। आपकी यह आन्तरिक इच्छा थी कि कभी एकान्त में पूज्य बाबा के पास बैठकर उनके श्रीमुख से व्रजभाव की सरस चर्चा सुनने को मिले। अब श्री ठाकुरजी का स्वास्थ्य भी सुधार पर था। उनके एवं निकटस्थजनों के अनुरोध पर चौबीस सितम्बर को श्री बाबा एवं श्री–जी के मध्य ऐकान्तिक गोष्ठी का शुभारम्भ हुआ–बाबा के निवास स्थान नेह-निकुञ्ज में ही। ये गोष्ठियाँ उस दिन से दस अक्टूबर तक चलीं। दो माधुर्य-रसाम्बुधि जहाँ आमने-सामने हिलोरें ले रहे हों, उन गोष्ठियों की दिव्यता एवं गरिमा का वर्णन शब्दों में क्या किया जाये! जिन भाग्यशालीजनों ने यत्किंचित् उनका आस्वादन किया, वे थे सर्वश्री घनश्यामजी, हरिवल्लभजी, चोपड़ाजी, कुसुमजी, कमलजी, मुन्नीजी और मैं। इन गोष्ठियों का विवरण श्री बंकाजी की पुस्तक 'वाटिका वेणु' में विस्तार पूर्वक छप चुका है। यहाँ उनका दिग्दर्शन मात्र कराया जा रहा है।

दिनांक चौबीस सितम्बर को पूज्य बाबा श्री–जी को अकेले पाकर श्रीभाईजी के लाड़-प्यार की वार्ता में बह चले और भाईजी के विषय में कई घटनाएँ सुनाईं।

व्रज के सन्तों की साधना एवं सम्प्रदायों की चर्चा करते हुए बाबा ने कहा–"प्राप्तव्य वस्तु को प्राप्त करने के लिये कोई किसी भी सम्प्रदाय को स्वीकार करे, किसी भी गुरु को स्वीकार करे, पर स्वीकृत पद्धति के अनुसार चले तो सही ! अन्त में तो सभी को उसी महाभाव-समुद्र में निमज्जित होना है। मुझे जो वस्तु मिली है, वह तो नन्दनन्दन ने अपने सहज-स्वभाव से मुझे प्राप्त करा दी है। मुझे अनेकता के स्थान पर एकता दृष्टिगोचर होती है।"

दिनांक २५.९.७६–आज "जय जय प्रियतम" काव्य पर चर्चा चल पड़ी। पूज्य बाबा ने बताया। "जब मैं मथुरा-वृन्दावन के मध्य स्थित बिड़ला-मंदिर में ठहरा हुआ था, तब मंदिर की छत पर एक मयूर को नृत्य करते हुए देखकर मुझे इस काव्य के प्रणयन की स्फुरणा हुई।" श्री बाबा कुछ-कुछ पंक्तियाँ सुनाते जा रहे थे तथा कभी-कभी अर्थ भी बताते जाते थे। आपने बिड़ला-मंदिर में एक सन्त के मिलन की बात भी बताई, जिन्होंने पूज्य बाबा को बरसाने के एक प्रच्छन्न सन्त श्री मोहिनीश्याम बनखण्डीजी का परिचय दिया था।

दिनांक २६.९.७६–पूज्य श्री महाराजजी के बैठते ही आज पूज्य बाबा पूर्व दिन प्रारंभ की हुई "जय जय प्रियतम" काव्य की 'बाला की आत्मकथा' सुनाने लगे। आपने मंजुश्यामाजी के स्वरूप एवं भाव का संक्षिप्त विवेचन करते हुए बताया कि इनका वर्णन गौड़ीय वैष्णव साहित्य में उपलब्ध है।

दिनांक २७.९.७६–आज ठाकुर श्री घनश्यामजी ने श्री–जी के संकेत पर ही श्री बाबा से प्रश्न कर दिया कि प्राकृत मन में अप्राकृत वस्तु ग्रहण करने की क्षमता कैसे उत्पन्न हो ? श्री बाबा ने कहा –

"अप्राकृत मन एवं इन्द्रियों की उपलब्धि एकमात्र कृपा से ही होती है। कृपा पर निर्भर होने से वह कृपा स्वयं साधना करवा लेती है एवं साधनातीत वस्तु की प्राप्ति करा देती है। कृपा किस पर, कब और कैसे होगी, इसे किसी नियम में बाँधा नहीं जा सकता, पर कृपा-मार्ग ही एकमात्र मार्ग है।"

बीच में ही श्री महाराजजी ने एक बात और श्री बाबा के सामने रख दी कि क्या किसी महापुरुष का ही निरन्तर चिन्तन करने वाले साधक को वस्तु

की प्राप्ति हो जायगी ? सुनकर श्री बाबा ने श्रीचैतन्य महाप्रभु का उदाहरण देते हुए कहा कि जो उनकी कृपा के आश्रित थे, उनको वस्तु की प्राप्ति हुई। निश्चित ही महापुरुष के कृपाश्रित को वस्तु की प्राप्ति होती है।

इसके पश्चात् श्री बाबा ने "ग्वालिनी प्रगट्यौ पूरन नेह" यह पद पूरा गाकर सुनाया।

दिनांक २८.६.७६–आज भी श्री ठाकुरजी ने पुनः कल वाला प्रश्न रख दिया। श्री बाबा ने भी उसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा–अप्राकृत राज्य में प्रवेश का एवं हृदय में अप्राकृत राज्य के अवतरण का एकमात्र उपाय है "भगवत्-कृपा पर निर्भरता।"

इसके अतिरिक्त अपने एवं श्रीभाईजी के जीवन से सम्बन्धित कुछ घटनाएँ भी बाबा ने श्री–जी को सुनाईं। श्री 'गोपीगीत' का प्रभाव एवं वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा तथा श्रीकृष्ण के अप्राकृत सौन्दर्य पर भी चर्चा हुई।

दिनांक २९.६.७६–श्री–जी ने आज श्री बाबा को अपने एक निज जन का परिचय देते हुए कहा–" ये दो लाख नाम नित्य लेते हैं तथा रात को बारह बजे रास पंचाध्यायी का पाठ करते हैं।" 'नाम जप' की बात सुनकर पूज्य बाबा प्रसन्न हो उठे और मुझे लक्ष्य कर कहने लगे–नाम-जप इतना हो कि नाम में रस आने लगे, नाम प्रिय लगने लगे। साथ ही साथ अपने अनुभव की कई बातें भी बताईं। तन्त्र-साधना, श्री महात्रिपुरसुन्दरी की उपासना एवं गुप्त मन्त्र की प्राप्ति तथा अन्तर्जगत् में मिली हुई अपनी भावात्मक दीक्षाओं के स्वरूप के विषय में भी श्री–जी को बताया। नामनिष्ठा के साथ धाम-निष्ठा का महत्त्व बतलाते हुए रासपंचाध्यायी तथा भावमयी साधना में संगीत के महत्त्व पर भी चर्चा चली। अन्त में पुनः भगवत्-कृपा का गुणगान करते हुए बाबा कहने लगे–"कृपाश्रित की लज्जा कृपासागर को रहती है। कृपाश्रित का सारा कार्य भगवत्-कृपा से अनायास हो जाता है। भगवत्-कृपा से अथवा सन्त-कृपा से कृपाश्रित साधक को ऊँची से ऊँची वस्तु सहज सुलभ हो जाती है। कृपाश्रित के लिये लक्ष्य सुलभ है, सुगम है, सुप्राप्य है।"

दिनांक १.१०.७६–आज की चर्चा के प्रारंभ में ही पूज्य बाबा ने पूज्य श्री–जी की स्वसुखविहीनता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा कि– "स्वसुख-वासना-विहीनता ही व्रजभाव का साधन एवं साध्य है। यही व्रजभाव की आधारशिला है। व्रजभाव ज्ञानोत्तर भावराज्य की वस्तु है। कहने लगे– "मुझे भावराज्य के तट का पता नहीं, मैं तट से गहराई में नहीं आया। मुझे तो हेलीकॉप्टर से महाभाव-सागर की अकल्पनीय गहराई में फेंक दिया गया।" भगवदिच्छा में अपनी इच्छा को मिला देने के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए पूज्य बाबा ने कहा–कामनाशून्य व्यक्ति के जीवन में ही मानापमान के प्रति समान भाव रहता है। वे अपने तथा श्रीभाईजी के जीवन की कुछ घटनाएँ भी बताते रहे।

दिनांक २.१०.७६–श्री बाबा ने नाम, धाम, लीला तथा सन्त की महिमा का बखान करते हुए आज कहा–ये वस्तुएँ इतनी समर्थ हैं कि साधक यदि किसी एक को भी पकड़ ले तो उसे ऊँची से ऊँची वस्तु की प्राप्ति हो जायेगी। श्री बाबा ने "जय जय प्रियतम" काव्य से 'साँवर' का गोचारण, वेणुवादन, जलकेलि आदि से सम्बन्धित अंश भी पूज्य श्री महाराजजी को सुनाये। इस समय पूज्य श्री–जी के माधुर्य मग्नानन की तन्मयता देखते ही बनती थी। वातावरण में एक सरस गम्भीरता परिव्याप्त हो रही थी।

दिनांक ४.१०.७६–आज की बातचीत कर्मकाण्ड तथा वेदान्त से प्रारंभ तो हुई परन्तु शीघ्र ही व्रज-भाव की सरस चर्चा में परिवर्तित हो गई। श्री बाबा ने कहा–कुञ्ज-निकुञ्ज का अन्तर निम्बार्क-साहित्य और गौड़ीय-साहित्य में भी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं हो पाया है। फिर वे और भी गहराई में उतर गये और कहने लगे–"निभृत निकुञ्ज। वह तो मेरी अनुभूति की वस्तु है। व्रजभाव के मुख्य चार घाटों–गोष्ठ, कुञ्ज, निकुञ्ज और निभृत निकुञ्ज में से किसी भी घाट से जिसे जो अच्छा लगे, भावसागर में उतर कर डूबे तो सही, सत्य वस्तु अपने आप प्रगट हो जायेगी। केवल निभृत निकुञ्ज घाट ऐसा है, जो कृपा करके स्वयं अवतरित होकर साधक में उतरता है।" श्री बाबा ने बताया–"आचार्यों ने महाभाव-सागर की अनुभूति की ऊँची-ऊँची तरंगों का वर्णन किया, परन्तु अन्तिम सीमा में किसी को भी बाँधा नहीं जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि महाभावसागर में इससे ऊँची लहर

उठेगी ही नहीं।" अन्त में चर्चा पुनः कृपा पर ही आकर टिक गई। कहने लगे–"भजन से साधक में पात्रता आती है पर वस्तु की प्राप्ति तो कृपा से ही होती है और हर एक व्यक्ति कृपा का अधिकारी है। कृपा उसे ही प्राप्त होती है, जो कृपा की प्रतीक्षा करता है।"

दिनांक ५.१०.७६–पूज्य श्री महाराजजी नहीं चाहते थे कि आज नित्य की तरह गोष्ठी हो, क्योंकि श्री बाबा बहुत अस्वस्थ्य तथा थके हुए थे।

श्री–जी ने श्री ठाकुरजी से बैठक स्थगित रखने के लिये कहलवाया, परन्तु बाबा के अति आग्रह से विवश होकर श्री महाराजजी को जाना ही पड़ा। लेटे-लेटे ही श्री बाबा ने कहा–"श्री महाराजजी के पास बैठने से मुझे वास्तविक आराम मिलता है।"

फिर तुरन्त उठ बैठे और परम प्रसन्नता व्यक्त करते हुए विनोद के स्वर में श्री–जी से कहने लगे–"क्या मैं बुलाऊँ तो आप नहीं आइयेगा ?" श्री बाबा का प्यार देखकर श्री–जी के नेत्र डबडबा आये। वे भला क्या उत्तर देते !

आज तो श्री बाबा उमंग में भरकर अपने व्यक्तिगत जीवन की और बचपन के नटखटपन की अनेक बातें एवं घटनाएँ सुनाते रहे।

उन्होंने एक भूत-ग्रस्त स्त्री एवं एक ओझा की ऐसी हूबहू नकल उतार कर बताई की सब हँसते-हँसते लोटपोट हो गये। अपनी किशोरावस्था के चाञ्चल्य की बातें भी सुनाईं। पूज्य श्री महाराजजी भी अत्यधिक प्यार से श्री बाबा की बातों को रुचि लेकर सुन रहे थे। श्री बाबा ने कहा–"आप मेरी ऐसी बातें भी प्यार से सुन रहे हैं ! सचमुच सन्तों की मुझपर बड़ी कृपा है " और पुनः 'कृपा' पर ही चर्चा चल पड़ी।

समय-समय पर हुई सन्त-कृपा की कई घटनायें सुनाते हुए श्री बाबा ने कहा–"सन्त सहज कृपा से मेरे पास आते हैं और न जाने क्या-क्या दे जाते हैं।"

दिनांक ७.१०.७६–आज माधुर्य एवं भगवत्ता के विषय में चर्चा होने लगी। पूज्य बाबा ने कहा–श्रीकृष्ण में अनन्त विमुग्धता एवं अनन्त ज्ञान एक साथ विद्यमान हैं और यही उनकी भगवत्ता है। जहाँ भगवान् से भक्त का

मधुर सम्बन्ध होता है, वहाँ भगवत्ता छिपी रहती है। कालीयदमन, गोवर्धन-धारण आदि प्रसंगों में कुछ समय के लिये जो भगवत्ता प्रकट हुई है, वह केवल सम्बन्धगत माधुर्य का पोषण करने के लिये ही।

श्री बाबाने 'जय जय प्रियतम' काव्य का कुछ अंश सुनाया, जिसे सुनकर श्री महाराजजी बहुत अधिक भावविभोर हो गये और प्रसंग समाप्त होने पर अपने स्थान पर जाकर कुटीर का द्वार बंद कर लिया। बातचीत के मध्य पूज्य बाबा के मुख से कभी-कभी गूढ़ार्थ भरे ऐसे वाक्य भी निकलते थे, जिनकी गहराईयों की थाह ले सकने की क्षमता पूज्य श्री–जी में ही थी।

दिनांक १०.१०.७६–आज चर्चा के लिये श्री बाबा ने किसी प्रकार समय निकाल ही लिया, क्योंकि आगामी दिन श्री–जी को श्रीधाम के लिये रवाना होना था। आपने "दैन्य" को ही व्रजभाव की आधार शिला बताते हुए कहा–व्रजभाव में मुख्यतः गोष्ठभाव, कुञ्जभाव, निकुञ्जभाव और निभृत निकुञ्ज भाव हैं। इनमें से किसी एक की अनुभूति होने पर कैसे दूसरे भाव का आविर्भाव और फिर तिरोभाव हो जाता है, यह तो अनुभवजन्य ही है। "स्वकीया-परकीया भाव की चर्चा भी हुई। श्री बाबा ने कहा–रसिक संत के मानस-पटल पर आविर्भूत सम्पूर्ण लीलाओं का मूल स्रोत निभृत निकुञ्ज का नित्य चिन्मय विलास है। इसीलिये लीलायें अनन्त हैं।"

आज बाबा धाराप्रवाह बोलते जा रहे थे। दोनों ही महापुरुषों की भावमय स्थिति वातावरण को रसार्द्र कर रही थी। वे कहने लगे–"महाभाव और रसराज एक विचित्र रहस्य है। महाभाव-सागर की कोई विशाल लहर आयेगी और तट पर खड़े व्यक्ति को भी बहा ले जायेगी। आवश्यकता तो है तट पर आकर खड़े रहने की। अपना उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा–पहले मैं शिवोऽहम्-शिवोऽहम् कहता था, परन्तु परिवर्तन हुआ तो एक क्षण में सारा बदल गया।"

श्री महाराजजी ने सरस विनोद करते हुए कहा–अब तो है "साऽहम् साऽहम्"। इस पर बाबा रीझ गये और "जय जय प्रियतम" काव्य के कई प्रसंग गाकर सुनाते रहे। श्रीहरिवल्लभजी से "बात कहत रस रंग उछलिता" और "मोहन मुखारविन्द पर मनमथ कोटिक वारौं री माई" पद भी गवाये।

इस प्रकार दो महापुरुषों के मध्य सतत चलने वाली इन रसमयी चिरस्मरणीय एवं प्रेरणाप्रद गोष्ठियों का समापन हुआ। पूज्य श्री महाराजजी परिकर सहित ग्यारह अक्टूबर को वहाँ से रवाना होकर श्रीधाम आ गये।

बीस अगस्त, १९७७ की रात्रि में पूज्य श्री बाबा का दाहिना पैर लकवा-ग्रस्त हो गया था। यह समाचार ज्ञात होते ही श्री महाराजजी शीघ्रातिशीघ्र श्री बाबा के पास गीतावाटिका पहुँचना चाहते थे। तदनुसार चौदह सितम्बर को श्री–जी गोरखपुर पहुँचे। उसी दिन से श्री बाबा के स्वास्थ्य में सुधार होना प्रारंभ हो गया। इससे वाटिका में पुनः उत्साह एवं प्रसन्नता का वातावरण छा गया। दिनांक बीस सितम्बर,१९७७ को श्रीराधाष्टमी-उत्सव सानन्द सम्पन्न हुआ। तीस सितम्बर को जब पूज्य श्री महाराजजी पूज्य बाबा से मिलने कुटिया पर गये तो दोनों महापुरुषों में एक दूसरे के चरण-स्पर्श के लिये मधुर द्वन्द्व छिड़ गया। पूज्य श्री–जी की विजय हुई, पर बाबा भी क्या कम थे। उन्होंने श्री–जी के बैठने के स्थान की रज उठाकर अपने मस्तक पर धारण कर ली।

पूज्य श्री–जी तथा परिकरवर्ग की प्रच्छन्न इच्छा को जानकर श्री बाबा ने स्वयं ही श्री घनश्यामजी से कहा–"ठाकुर ! मैं चाहता हूँ कि श्री महाराजजी से एकान्त में बात करूँ, जिससे मन की कुछ बात कह सकूँ और कुछ सुन सकूँ। तुम्हारे और श्री महाराजजी के अतिरिक्त बस एक दो व्यक्ति ही हों" और उसी दिन से सन् १९७६ के समान ही इन रस-गोष्ठियों का प्रवाह फिर बह निकला और तीस सितम्बर १९७७ से उन्नीस अक्टूबर १९७७ तक प्रवाहित होता रहा।

इन गोष्ठियों में पूज्य बाबा एवं पूज्य श्रीभाईजी के पारस्परिक मधुर सम्बन्ध विषयक घटनाओं की प्रधानता थी। व्रजभाव "जय जय प्रियतम" काव्य अपने कुछ सुगुप्त अनुभव, मानसी लीला के राधाकुण्ड, गिरिराजजी एवं व्रज की स्थलियों का वर्णन आदि चर्चा के प्रमुख विषय रहे। विस्तार-भय से संकेत मात्र ही कर रहा हूँ; परन्तु दिनांक दो अक्टूबर को गोष्ठी के अन्त में पूज्य श्री बाबा एवं पूज्य श्री–जी के बीच जो बात हुई, वह भावी घटना का संकेत थी।

बातचीत के मध्य श्री बाबा ने कहा—"यह कहा नहीं जा सकता, यह शरीर कब तक रहेगा।" तभी पूज्य श्री महाराजजी कह उठे—"हमारी तो इच्छा है कि आप इसी प्रकार व्रजभाव की बातें सुनाते रहें।"

पूज्य श्री महाराजजी के संकेत को समझकर श्री बाबा ने कहा—"यह श्मश्रु तो ऊपरी आवरण है, पर आपका जो स्वरूप है, उस स्वरूप में स्थित होने पर आपकी जो इच्छा होगी, वही क्रियान्वित होगी।"

महापुरुषों के सभी कार्य लोककल्याणार्थ ही हुआ करते हैं। ये सच्चर्चाएँ भी साधक-जगत् की अमूल्य निधि ही बनी हुई हैं एवं प्रकाश-स्तम्भ की भाँति जिज्ञासुओं का मार्गदर्शन करने में सक्षम हैं। अस्तु।

श्री महाराजजी ने बाईस अक्टूबर, १९७७ को भावगद्‌गद स्थिति में ही श्री बाबा से बिदाई ली और ट्रेन में बैठने पर भी उनकी यही स्थिति बनी रही। स्टेशन से लौटने पर जब श्री बाबा से यह बात कही गई, तो सजल नेत्रों से उन्होंने इतना ही कहा—"अनोखा प्यार है, अद्‌भुत प्यार है श्री महाराजजी का।"

एकबार पूज्य महाराजजी ने गोरखपुर जाने का एक सप्ताह का कार्यक्रम बनाया एवं तदनुसार गीतावाटिका में समाचार भेज दिया गया कि पहली अप्रैल, १९७८ को पूज्य श्री–जी वैशाली एक्सप्रेस से सुबह सात बजे गोरखपुर पहुँच रहे हैं। पूज्य बाबा प्रातर्विधि से निवृत्त हो प्रतीक्षा में बैठ गये और पूज्य श्री–जी के बैठने के लिये अपने सामने एक आसन बिछवा दिया। इसी समय किसी ने आकर समाचार दिया—ट्रेन सात घण्टे लेट है। सुनकर बाबा विचार में पड़ गये। चिन्ता करने लगे कि महाराजजी कल के चले हैं। रास्ते में क्या खायेंगे-पीयेंगे ? उनके खाये-पीये बिना मैं जल भी कैसे ग्रहण कर सकता हूँ! पूज्य बाबा ने सूर्यास्त तक प्रतीक्षा करने का निश्चय कर लिया। वे चाहते थे कि पूज्य श्री–जी मार्ग में पर्याप्त मात्रा में दूध और फल आदि ग्रहण कर लें। श्री बाबा के कहने पर रेलवे के एक चीफ इञ्जीनियर श्री खीची साहब को गोंडा स्टेशन पर फोन करवाया गया कि वैशाली एक्सप्रेस में इस-इस तरह के एक महात्मा आ रहे हैं। स्टेशन पर गाड़ी आते ही उनके लिये गाय का दूध और फलों की व्यवस्था कर दी जाय।

श्री–जी के लिये बिछे आसन पर दो गुलाब के पुष्प चढ़ाकर पूज्य बाबा प्रतीक्षा में बैठ गये। श्री बाबा ने निश्चय कर लिया कि परिक्रमा भी श्री–जी के आने पर ही होगी।

इस बार श्री–जी के साथ श्री ठाकुरजी, कुसुमजी, मनोरमाजी, मंगलजी और नारायणजी थे। श्री–जी ट्रेन में बैठे अपने निकटस्थजनों से कहने लगे–"गोरखपुर मे हमारी प्रतीक्षा प्रारम्भ हो गई है। खीची साहब अपने आदमियों के साथ दूध और फल लेकर स्वयं उपस्थित थे। जैसे ही गाड़ी गोंडा स्टेशन पर रुकी कि श्री–जी ने श्री घनश्यामजी से फिर कहा–'चलो जी, हम कुछ समय ट्रेन से नीचे उतर कर टहल लें। संभवतः कोई हमें खोज रहा है।' इसी समय खीची साहब, जो बताए हुए हुलिये के अनुसार श्री–जी को खोज रहे थे श्री–जी के ट्रेन से प्लेटफार्म पर उतरते ही एकदम पहचान गये और दूध और फल श्री–जी को अर्पित करते हुए कहा– "यह सब गोरखपुर से आये हुए आदेश के अनुसार किया है।" पूज्य बाबा का प्रेम देखकर श्री–जी गद्गद हो गये। वैशाली एक्सप्रेस और दो घण्टे लेट होने से लगभग चार बजे श्री–जी गोरखपुर पहुँचे। स्टेशन पर ही यह सुनकर कि श्री बाबा प्रातः से ही बिना खाये-पीये आसन बिछाकर प्रतीक्षा कर रहे हैं, श्री–जी भाव विह्वल स्थिति में ही वाटिका पहुँचे और श्रीभाईजी की समाधि को प्रणाम कर श्री बाबा की कुटिया की ओर त्वरा से बढ़े। दोनों महापुरुषों ने एक-दूसरे का मूक अभिवादन किया। श्री–जी उसी बिछे हुए आसन पर बैठ गये। उनके कर-कमल श्री बाबा अपने दोनों हाथों में लिये उन्हें अपलक निहार रहे थे। वातावरण मौन स्तब्ध था। कुछ प्रकृतिस्थ होने पर श्री–जी ने श्रीबिहारीजी की प्रसादी-माला श्री बाबा को धारण कराई। उसी समय श्री ठाकुरजी ने "चलौरी आज ब्रजराज मुख निरखिये" पद गाया। जब श्री–जी विश्राम करने के लिये चले गये तो बाबा ने स्नान करके जल ग्रहण किया।

कश्मीर जाने का कार्यक्रम निश्चित होने के कारण पूज्य श्री–जी मात्र एक सप्ताह गीतावाटिका में रहकर वृन्दावन लौट आये।



कश्मीर में सिद्ध सन्त श्रीलक्ष्मणजू के साथ श्रीमहाराजजी



(बायें से दायें) श्रीललितजी, श्रीसंतोष बहिनजी, श्रीउषाजी, श्रीललितजी के माता-पिता के मध्य विराजित

पुनः कश्मीर यात्रा

श्री स्वामी लक्ष्मणजू के जन्म-दिवस पर पुनः सन् १६७८ में कश्मीर जाने का प्रोग्राम बना। श्री–जी लगभग एक सप्ताह गोरखपुर रहकर श्रीधाम आ गये थे। रेल का आरक्षण वहीं से करवा लिया था। अतः चार-पाँच घण्टे ही श्रीधाम रुककर देहली गये तथा वहाँ से ट्रेन द्वारा कश्मीर चले गये। साथ में श्री लालजी, नीना, घनश्यामजी तथा कुसुमजी भी गये। श्री–जी का सहसा आगमन सुनकर श्री स्वामीजी बहुत ही प्रसन्न तथा गद्‌गद हो गये। स्वयं ही श्री–जी के कमरे में गये और उन्हें हृदय से चिपटा लिया। दोनों की भेंट के समय लिया गया यह दुर्लभ चित्र वेणुविनोदकुंज में विद्यमान है।

जन्म-दिन के अवसर पर स्वामीजी के आश्रम पर चार-पाँच हजार भक्तों की भीड़ होती थी। उस दिन प्रातः आप एक वृक्ष के नीचे ढाई घण्टे की अचल समाधि लगाकर बैठ जाते थे। उसी समय भक्तगण आपका पूजन तथा माल्यार्पण करते थे। तत्पश्चात् आप अपने हाथ से सबको प्रसाद वितरण करते। श्री महेशयोगी भी आपके सामने जिज्ञासु के रूप में आकर बैठते थे।

पूरे उत्सव के दिनों में श्री स्वामीजी श्री–जी को अपने साथ आसन लगाकर बैठाते थे। कहते थे–"मेरा इष्ट शंकर है और शंकर के इष्ट भगवान् श्रीकृष्ण हैं और उनके ये अत्यंत प्रिय हैं, इसलिए मुझे भी श्री महाराजजी अत्यन्त प्रिय हैं।" कोई परिचय पूछता तो आप कहते–"महाराजजी ! महाराजजी याने नख-शिख प्रेम ही प्रेम"। श्री स्वामीजी के सत्संग हॉल में एक दिन श्री–जी के कीर्तन का कार्यक्रम रखा गया। राजा कर्णसिंह, जो उस समय केन्द्रीय मन्त्री थे एवं स्वामीजी को गुरु रूप में मानते थे। श्री–जी के दर्शन के लिए आये तथा उनका सत्संग श्रवण कर बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने श्री–जी से अपना राममंदिर एवं महल देखने के लिए जम्मू आने की प्रार्थना की। उनके अनुरोध पर श्री–जी एक दिन के लिये जम्मू भी गये।

इस प्रकार केवल बीस दिन कश्मीर में रहकर आप वायुयान द्वारा देहली आ गये और वहाँ से श्रीधाम।

श्री महाराजजी की अस्वस्थता

श्री महाराजजी के एक भक्त श्री कमलाशंकरजी डाकोर में रहते थे। पत्नी का देहावसान हो जाने से वे अत्यन्त दुःखी थे। श्री–जी के पास उनके कई पत्र भी आये। उनको सान्त्वना देने के उद्देश्य से श्री–जी जुलाई ७८ (श्रावण मास) में डाकोर जाने के लिये देहली से आरक्षण करवाकर पहले इन्दौर पहुँचे। मैं जून में ही महेश्वर (अपने निवासस्थान) चला गया था। इन्दौर पहुँचते ही श्री–जी का स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया–जी मिचलाने लगा। बार-बार वमन और दस्त होने लगे। इन्दौर में श्री–जी, श्री हीरालालजी के दामाद असिस्टेंन्ट डायरेक्टर ऑफ एग्रीकल्चर श्री राधेश्यामजी गुप्ता के यहाँ ठहरे हुए थे। उन्होंने निकट ही रहने वाले एक-दो अच्छे डॉक्टरों को दिखाया, परन्तु दो दिनों में कुछ भी लाभ नहीं हुआ, बल्कि रोग बढ़ता ही गया। श्री राधेश्यामजी बहुत चिन्तित हो गये। उन्होंने फोन करके भोपाल से श्री हीरालालजी को भी बुला लिया। उन्होंने आते ही 'महाराजा यशवंत राव हॉस्पीटल के सबसे बड़े डॉक्टर श्री ए.सी.जैन को फोन करके बुलाया।

मध्य प्रदेश के मुख्यमन्त्री के सेक्रेटरी होने से श्री हीरालालजी का आदर हॉस्पीटल के सभी डॉक्टर करते थे। डॉ॰ जैन ने श्री–जी का परीक्षण करके बताया ब्लड शुगर बढ़ जाने से यह सब कष्ट है, आप इन्हें तुरन्त हॉस्पीटल में भर्ती करवा दीजिए, इनके शरीर में जल का अभाव हो गया है, घर पर उपचार नहीं हो सकता।

डॉ॰ जैन स्वयं अपनी कार द्वारा उसी समय श्री–जी को अस्पताल ले गये और स्टुडेन्ट स्पेशल वार्ड खुलवाकर, सभी नये वस्त्र बिछवाकर उन की समुचित व्यवस्था की। श्री ठाकुरजी साथ ही थे। भोपाल से श्री हीरालालजी की सुपुत्री राधा भी आ गई थी। ठाकुरजी ने मुझे भी तार देकर महेश्वर से बुला लिया। श्री–जी की बेचैनी पराकाष्ठा पर थी। लगातार पाँच बोतल ग्लूकोज चढ़ाया गया और इन्जेक्शन दिये गये, तब स्वास्थ्य में सुधार आया। शरीर में अत्यधिक कमजोरी आ गई थी। श्री–जी को सात दिन तक केवल फल, दूध एवं सूप पर ही रखा गया। बड़वानी, लोनारा एवं डाकोर जाने का कार्यक्रम स्थगित कर दिया गया और सभी जगह सूचना भेज दी गई।

लोनारा से डॉक्टर चन्द्रदेव और सुखलालभाई, बड़वानी से श्री मोतीभाई एवं पन्नुभाई श्री–जी को देखने सपरिवार इन्दौर आये। सात दिन पश्चात् श्री–जी को अस्पताल से श्री राधेश्यामजी के यहाँ लाया गया। वहाँ चार दिन विश्राम करने के पश्चात् श्री हीरालालजी के प्रबन्धानुसार मेटाडोर से श्री–जी को भोपाल ले जाया गया। वहाँ आठ दिन विश्राम करके श्री–जी श्रीधाम लौट आये।

पुनश्च गोरखपुर

सन् १९७८, श्रीराधाष्टमी-उत्सव निकट ही था। प्रतिवर्षानुसार गोरखपुर जाने का श्री–जी का निश्चय था ही परन्तु इन्दौर में हुई अस्वस्थता की कमजोरी के कारण इस बार गोरखपुर जाने में विलम्ब हो गया था। दस सितम्बर की राधाष्टमी के एक दिन पूर्व पहुँचने का निश्चय था और उसीके अनुरूप रिजर्वेशन भी करवा लिया था; परन्तु सात सितम्बर को श्री यमुनाजी में इतनी भयंकर बाढ़ आ गई कि वेणुविनोदकुंज के सभी कमरों में चार-चार फुट पानी भर गया था, फिर भी जाने का निश्चय देख श्री–जी सब परिकर सहित पड़ोस वालों के मकान में से होकर श्री सीतारामजी के यहाँ वैश्य-आश्रम चले गये। वहाँ जाने पर ज्ञात हुआ कि मथुरा-वृन्दावन के सभी रास्तों में श्री यमुनाजी की बाढ़ का जल भरा हुआ है। सभी रास्ते पानी में डूबे होने से चारों ओर जाने वाली सभी ट्रेनें एवं बसें बन्द हैं।

श्री–जी के मन में वायुयान से जाने का विचार हुआ; परन्तु प्लेन से भी दिल्ली होकर ही जाना पड़ता; अतः निरुपाय होकर गोरखपुर जाना स्थगित करना पड़ा। उधर श्री बाबा भी अत्यन्त चिन्तित थे कि ऐसी बाढ़ की स्थिति में श्री–जी कैसे पहुँच सकेंगे। इसके कुछ दिन पश्चात् आश्विन कृष्णा द्वादशी को श्रीभाईजी की जन्मतिथि थी। इस अवसर पर गोरखपुर आने के लिये श्री बाबा का पत्र श्री–जी के पास आया। अतः श्री–जी, ठाकुरजी, कुसुमजी और अलबेलीशरणजी सहित गोरखपुर पहुँच गये। श्री बाबा प्रतीक्षारत थे ही, मिलते ही श्री–जी का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा–"हमारी तो राधाष्टमी आज ही है।" दोनों महापुरुषों का यह प्रेम-मिलन अद्भुत था। उत्तरोत्तर

श्री बाबा का प्रेम बढ़ता हुआ ही दृष्टिगोचर हो रहा था। इस बार और भी घनिष्टता देखने में आ रही थी। श्री बाबा का स्वास्थ्य बहुत ही खराब चल रहा था। खाँसी का भयंकर प्रकोप था, उसमें भी दाहिने कंधे की हड्डी टूट जाने से भयंकर दर्द था। श्री बाबा के कष्ट को देखकर श्री–जी का ह्रदय भी बहुत ही व्यथित था। श्री–जी का दुःख देखकर श्री बाबा कहते–देखो, चौबीस दिनों में हड्डी जुड़ जायगी। श्रीबाबा औषधि के नाम पर तो पानी भी नहीं लेते, फिर प्लास्टर चढ़ाने की बात तो सोची ही नहीं जा सकती थी। बिना प्लास्टर और बिना किसी उपचार के हड्डी जुड़ना कितना असम्भव सा लगता है; परन्तु महापुरुषों की लीला मन-वाणी से अगोचर ही होती है। कुछ दिनों बाद आप हाथ उठाकर दिखाते–"देखो, अब इतना उठने लगा है" फिर महाराजजी से कहते–"देखो प्रभु ! आप राधाष्टमी पर आते, तो इस समय मेरे पास कैसे रहते ? वह तो ठाकुर का ही विधान था।

श्री बाबा के कष्ट को देखकर श्री–जी दुःखी तो थे ही, पर इससे भी बढ़कर श्री–जी के लिये महान् दुःख का विषय यह था कि श्री बाबा सात दिसम्बर, १९७८ को अनिश्चित काल के लिये मौन लेने वाले थे–कहते थे "प्रियतम का आह्वान है। इसमें हमारा महाप्रयाण भी हो सकता है।" गीतावाटिका में भी गहन उदासीनता छाई हुई थी। परिकरजनों का दुःख देखा नहीं जाता था। इस परिस्थिति से श्री–जी भी अत्यन्त व्यथित थे। गीतावाटिका से श्रीधाम आने के लिये आप रवाना हुए तो हमेशा के अनुरूप श्रीबाबा, श्री–जी का हाथ अपने हाथ में लिये हुए श्रीभाईजी की कोठी तक आए और श्री–जी को कार में बैठाया। इस समय के वियोगजन्य प्रेम-दृश्य का वर्णन करना संभव नहीं है।

श्री–जी को श्रीधाम पहुँचाकर श्री घनश्यामजी श्री बाबा की सेवा के लिये पुनः गोरखपुर चले गये। जाते समय श्री महाराजजी ने श्री बाबा के नाम से एक पत्र लिखकर श्री घनश्यामजी को दिया। बाबा ने पत्र पढ़कर सिरहाने रख लिया। इतना ही कहा–"मैं क्या कर सकता हूँ, वह पिछड़िया (श्रीकृष्ण) ही जाने।" श्री घनश्यामजी ने श्री–जी को पत्र लिखा, जिसमें श्री बाबा के ये

शब्द ज्यों के त्यों लिख भेजे। पढ़कर श्री–जी एकदम कह उठे–"अच्छा ! जब बाबा ने बात उन पर छोड़ दी है, तो उन्हें तो मैं मना लूँगा।"

साथ ही घनश्यामजी ने बंकाजी के बताये अनुसार श्री–जी के रवाना होने के पश्चात् श्री बाबा की स्थिति का विवरण भी लिखा था कि–"कोठी के सामने से जब कार रवाना हो गई तो बाबा सजल नेत्र हाथ जोड़े हुए वहीं खड़े रहे। जैसे ही कार बड़े द्वार से बाहर जाकर मुड़ी कि बाबा चलकर द्वार के बाहर आ गये और हाथ जोड़े हुए तब तक खड़े रहे जब तक कार दीखती रही। जब कार आँखों से ओझल हो गई, श्री बाबा ने झुककर उस स्थान को प्रणाम किया, जहाँ श्री महाराजजी खड़े थे, फिर गम्भीर गति से कुटिया तक आये और अपने तख्त पर चुपचाप लेट गये। श्री बाबा के असीम प्रेम की बात सुनकर श्री–जी गद्‌गद हो गये। अब रात-दिन श्री–जी को यह चिन्ता रहने लगी कि कहीं बाबा लीला संवरण न कर लें। उन्होंने जो यह कठोर मौन का विचार किया है और श्री भगतजी (राधेश्यामजी) तथा श्री रामसनेहीजी के अतिरिक्त और किसी को तो क्या, श्रीभाईजी की पुत्री सावित्रीबाई को भी सेवा में आने के लिए मना कर दिया है, यही चिन्ता का विषय था।

श्री महाराजजी की अस्वस्थता तथा दिव्यानुभूति

महापुरुषों में समय-समय पर दृष्टिगोचर होने वाले चिन्ता, मोह, उद्‌वेग, व्याधि, प्रलाप आदि उनकी भाव-दशा के ही लक्षण होते हैं। श्री बाबा के मौन की बात को लेकर चिन्ता में ही श्री–जी के रात-दिन व्यतीत होने लगे। इन दिनों आप श्री चतुर्भुजदासजी का यह पद हर समय गुनगुनाया करते थे–

श्री गोवर्धनवासी साँवरे तुम बिनु रह्यौ न जाय।।
श्री ब्रजराज लड़ैते लाड़िले,
बंक चितै मुसिकाय कें सुन्दर बदन दिखाय।।
लोचन तलफें मीन ज्यों पल छिनु कल्प बिहाय।।१।।
सप्तक स्वर बन्धान सौं मोहन वेनु बजाय।
सुरत सुहाई बाँधिकें मधुरे मधुरे गाय।।२।।

रसिक रसीली बोलनी गिरि चढ़ि गाय बुलाय।
गाँग बुलाई धूमरी ऊँचे टेरि सुनाय।।३।।
दृष्टि परे जा दिवस सौं तबते रुचे न आन।
रजनी नींद न आवई बिसर्यौ भोजन पान।।४।।
दर्शन कों नयना तपे बचन सुनन कों कान।
मिलिवे कों हियरा तपें जिय के जीवन प्रान।।५।।
मन अभिलाषा है रही लगें न नयन निमेष।
इक टक देखौं भौंवतौ नागर नटवर वेष।।६।।
पूरन शशि मुख देखके चित चोहँट्यो वा ओर।
रूप-सुधा रस पान कों सादर कुमुद चकोर।।७।।
लोक लाज कुल कानि हम छाँड़्यौ सकल विवेक।
कमल कली रवि ज्यों बढ़ै छिन छिन प्रीति विशेष।।८।।
मन्मथ कोटिक वारनें देखि डगमगी चाल।
युवती जन मन फंदना अंबुज नयन विशाल।।६।।
यह रट लागी लाड़िले जैसे चातक मोर।
प्रेम नीर वरषा करौ नव घन नन्दकिशोर।।१०।।
कुंज भवन क्रीड़ा करौ सुखनिधि मदनगोपाल।
हम वृन्दावन मालती तुम भोगी भ्रमर भुवाल।।११।।
युग-युग अविचल राजियौ यह सुख सैल निवास।
गोवर्धनधर रूप पै बलि जाय चतुर्भुजदास।।१२।।

जैसे-जैसे मौन की तारीख निकट आ रही थी, श्री–जी की बेचैनी बढ़ती जा रही थी। इसी चिन्तित स्थिति में उनतीस नवम्बर को श्री–जी का स्वास्थ्य बहुत ही खराब हो गया। रातभर वमन करते रहे। बेचैनी बहुत बढ़ गई, साथ ही हिचकियाँ भी शुरू हो गईं। अजीर्णांश की आशंका होने से कुछ घरेलू दवाईयाँ दी गईं परन्तु स्वास्थ्य सँभलने में नहीं आया। सुबह रामा औषधालय के डॉ॰ नित्यानन्दजी को बुलाकर दिखाया। ब्लडप्रैशर ११०/१६० था। स्थिति इन्दौर जैसी ही थी। मैंने डॉक्टर साहब को वहाँ की स्थिति एवं उपचार से अवगत कराया। उसीके अनुसार उन्होंने ग्लूकोज चढ़ाया और

ब्लडशुगर कन्ट्रौल करने के लिये एक इञ्जेक्शन भी लगाया। इससे लगातार वमन होना रूक गया। एकाध घण्टे में हलका सा वमन हो जाता तो बेचैनी बढ़ जाती। हिचकियाँ बीच-बीच में आ रही थीं। दूसरे दिन ब्लड-शुगर की जाँच कराई तो २७० निकली। डॉ. सोच में पड़ गये। हम लोगों ने श्री–जी को सेवाश्रम में भर्ती करने का निश्चय करके श्री रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम के सेक्रेटरी श्री शक्ति महाराज से परामर्श किया। सुनते ही उन्होंने कहा–"ये सब ब्लडशुगर के ही उपद्रव हैं। शीघ्र भर्ती कराइए।" उसी समय स्वामी कुँवरपालजी की कार द्वारा श्री–जी को सेवाश्रम ले गये। तत्काल परीक्षण प्रारम्भ हो गये और दो दिसम्बर तक सभी टैस्ट हो गये। उपचार से शुगर तो नियन्त्रण में आ गई, परन्तु लघुशंका रुक जाने से भयंकर यन्त्रणा और जलन होने लगी। उस समय श्री–जी की बेचैनी देखी नहीं जाती थी। टेलीफोन से लायटनिंग कॉल करके भोपाल से श्री हीरालालजी को बुलाया। सूचना मिलते ही वे अपनी बेटी राधा को साथ लेकर आ गये। दिनांक चार और पाँच को स्थिति की गम्भीरता को देखकर हम लोग श्री–जी को देहली ले जाने के लिये विचार-विमर्श करने लगे, तब श्री–जी ने निकटस्थ जनों को बताया–यह अस्वस्थता की स्थिति तारीख छह तक चलेगी। छह दिसम्बर को श्री–जी को तेज बुखार हो गया। मैं और राधा पास ही बैठे थे। श्री–जी के मुख से कुछ अस्पष्ट शब्द स्फुरित होने लगे। कुछ भाव की स्थिति का आभास हुआ। मुख के पास कान लगाकर मैं सुनने लगा तथा डायरी में उन शब्दों को लिख लिया। आधे घण्टे पश्चात् श्री–जी चुप हो गये। देखा तो बुखार बिलकुल उतर गया था। स्थिति स्वस्थ सी दीखने लगी।

अस्पताल में हम लोग दो-दो करके ही आते-जाते रहते थे। जब कुसुमजी वहाँ पहुँच गईं तो मैं और राधा वहाँ से घर आ गये। मैंने पूज्य श्री–जी की स्थिति का संकेत कुसुमजी को कर दिया था। मेरे आने के बाद उन्हें पास बुलाकर श्री–जी ने पूछा–भला, गीतावाटिका में इस समय क्या हो रहा होगा? कुसुमजी ने कहा–पूज्य बाबा ने तो मौन ले लिया होगा। अब तो वहाँ पर सन्नाटा छाया हुआ होगा। आप कुछ मिनिट रुककर बोले–नहीं, मैं देख रहा हूँ कि इस समय वहाँ परिक्रमा हो रही है और काफी चहल-

पहल है। यह भी कहा कि अमुक-अमुक व्यक्ति हैं और कहाँ-कहाँ बैठे हैं। फिर कहने लगे—कि 'मैं भी वहीं उपस्थित हूँ। मैंने पद सुनाना आरम्भ किया— "स्मरतु मनो मम निरवधि राधाम्" । मुझे श्री फोगलाजी ने कहा—बहुत बिलम्ब हो जायेगा। आप पद पूरा करेंगे तब तक तो पूज्य बाबा थक जायेंगे।" मैंने पद पूरा नहीं किया, वहीं रुक गया। मेरे चुप होने से बाबा मुझे देखकर मुस्कराये। मैं स्थिर बैठा था।"

जब श्री ठाकुरजी गोरखपुर से वापस आये तो उनसे पूछने पर ज्ञात हुआ कि समय बिलकुल ठीक वही था। जब श्री—जी पूर्णरूपेण स्वस्थ होकर आठ दिसम्बर को कुंज में आ गये तो श्री देवीजी ने उनसे पूछा—"अस्वस्थ अवस्था में जब आप सेवाश्रम में थे तो आपके मुख से कुछ शब्द निकले थे, जो श्री मनोहरजी ने नोट कर लिये हैं।" श्री—जी ने कहा—"मैं गीतावाटिका पहुँच गया था। श्री बाबा से बहुत जोरों से बात हुई ऐसा कुछ याद है। अच्छा, तुम लोगों ने जो लिखा है, अभी नहीं सुनाना, मैं ही सब बातें लिखकर सुनाऊँगा। मुझे पूर्ण स्मृति है।" श्री महाराजजी ने यह भी कहा—"ऐसा लगता है कि बाबा का मौन कठोर रूप से नहीं चलेगा, कारण यह है कि वातावरण कुछ उदास नहीं लग रहा है। मैं भावस्थिति में वाटिका पहुँचा तो देखा—श्रीभाईजी की समाधि पुष्पादि से सजी हुई है। वृक्षों पर मालायें लटकी हुई हैं। मैं जिस द्वार से गया वह भी सजा हुआ है। उस द्वार का नाम आनन्द द्वार है। ऐसा लगा मानो राधाष्टमी का उत्सव हो रहा है। सूक्ष्म शरीर से पहुँचने का जीवन में पहली बार अनुभव हुआ। मैं प्रत्यक्ष पहुँच गया था वहाँ, परन्तु कोई परिचित व्यक्ति नहीं दीखे, एक बाबा ही परिचित थे।"

(यहाँ मैं एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ—वह यह कि श्री बाबा मौन से पहले श्री घनश्यामजी से कह रहे थे—"किसी ब्रह्माण्ड में राधाष्टमी का उत्सव हो रहा है। इस समय यदि किसी साधक का मन तैयार हो तो उस उत्सव का दर्शन, आस्वादन कर सकता है।)

"मेरे पहुँचते ही मुझे ऊँचे आसन पर बैठा दिया। वह आसन बहुत सुन्दर कमलाकार था।

स्मित वदन से देखते हुए श्री बाबा ने कहना शुरु किया–दास्य, वात्सल्य, सख्य एवं माधुर्य रस एक दूसरे से ओतप्रोत, समान, एक साथ ही अनुभव में आते हैं। मैं तो एक ही जगह डूब जाऊँगा। भान रहने का प्रश्न ही नही, फिर शरीर का क्या पता ? प्रत्येक भाव में दास्यमूल वात्सल्यसहित सख्यसमान मधुर-प्रधान श्री प्रिया अधीन प्रियतम का रहस्यमय, रसमय स्वरूप ही रहता है।

कारक-पुरुष की बात याद आ गई, मैंने प्रकट कर दिया–एक रस में तन्मय, तदाकार, आप्लावित, सराबोर मन में और किसी के लिये, और किसी की बात के लिये स्थान रहता ही नहीं, फिर कारक-पुरुष बनकर आने का स्वरूप राधाभाव में अभिन्न रहता है ?

दास्यमूल ही वात्सल्य या सख्य, माने दास्य भाव ही मूल, मुख्य रहता है, माधुर्य तो माधुर्य ही है, ये तीनों भाव अन्तर्हित, एक साथ ही समाविष्ट अनुभव का महादभुत, अनिर्वचनीय विषय रहता है। दास्य तो उनकी पूर्णाधीनता-मयी मुग्धता रहती है। वे ही पूर्व से दीन, अधीन, प्रीति-विवश, विमुग्ध दीखते अनुभव में आते हैं; फिर वात्सल्य या प्यार एक ही रहता है। सख्य समानता से परस्पर अधीनता, विमुग्धता तो रहती ही है, पर वे प्रेम में चिरऋणी, चिर-अधीन रहते हैं सर्वदा; इसे माधुर्य कह दिया।

प्रत्येक भाव को प्रत्येक भाव से भिन्न कहने यह माधुर्य विषय रहता ही नहीं, अनुभव ही अनुभव होता है। दास्य ने यदि मन को तदाकार, एकाकार, तन्मयतामय भाव में अभिभूत करा दिया तो, वात्सल्य ने यदि मन को तदाकार, तन्मयतापूर्ण भाव में अभिभूत करा दिया तो, सख्य ने यदि मन को एकाकार, तन्मयतापूर्ण भाव में अभिभूत करा दिया तो, माधुर्य ने यदि मन को तदाकार, तन्मयतामय भाव में अभिभूत करा दिया तो मन की पृथक् सत्ता, अस्तित्व रहता ही नहीं; ऐसे ही इन्द्रियों का इन्द्रियत्व या विभिन्न प्राकृत कार्य सम्पन्न हो ही नहीं सकेगा। मन ही मन नख-शिख तनु; मन ही मन प्रत्येक इन्द्रिय अथवा किसी भी भाव-भावित तनु नख से शिख हृदय ही हृदय रहता है।

यह मेरा कहना स्पष्ट है कि मन जब प्रकृति से, प्रवृत्ति से, अतीत, अलिप्त हो चुका, ऐसे उपराम हो जाने की किञ्चित् भी प्रशंसा नहीं होती हुई,

इसी रहस्यपूर्ण सर्वान्तरतम रस माधुर्य की जो पराकाष्ठा है, परम-अभीष्ट है, उसीसे अनुप्राणित रह जाता है; ऐसा कहा श्री बाबा ने।

तत्क्षण मैंने कहा—अब मुझे एकदम कहने के लिये अवकाश प्रदान किया है आप ने। आपका मेरे प्रति श्रीभाईजी के भावाविष्टमय जो भाव है, तद् आवेश में मैं यही कहूँगा कि ऐसे शिरोमणि भाव में, महाभाव में, महाभाव भावितामति महानुभाव में बाकी और कारक-तारक-पुरुष भाव में भी आकर (राधाभाव में ही सम्पन्न होने वाले कार्यों को) बाकी कार्य को पूर्ण करने के लिए, इसका कल्पनावकाश भी राधाभाव भावित मन में सम्भव है? यदि हाँ कहते हों, तो मेरी समझ से बाहर है यह विषय, जिसे मैं स्वप्नेऽपि चाहूँगा नहीं। महापुरुष की महिमा को प्रकट करने वाली यह बात अवश्य हो, किन्तु मुझे आनन्द नहीं हो सकेगा।

अनन्त जन्मों के, अनन्त अवतारों के कार्य, आनन्द, सुख इस राधाभाव के (तत्परस्पर सुख के) कणांश का भी कणांश हो ही नहीं सकता। इसी भाव में अभिभूत रहते हुए भी कारक-पुरुष के कर्तव्य कार्य को क्यों सम्पन्न कर सकेंगे?

इन वाक्यों के कहने के मूल भावावेश को मन्द-स्मितयुक्त अवलोकन करते हुए मौन रह गये। उनकी दृष्टि में श्रीभाईजी के भावाविष्ट स्वरूप में मैं जो था प्रारम्भ से, उन्हें ही देख रहे थे, स्वीकृति-मुद्रा में।

मेरे कथन का भाव यह था कि अभी-अभी चले जाने का संकेत (भाव) कदापि पूर्ण नहीं हो एवं बाकी कार्य को इसी शरीर में रहकर सम्पन्न करने और बारह-तेरह वर्ष रह जायँ। उन्होंने मौन रूप में स्वीकार किया। मेरे आनन्द की सीमा ही नहीं रही।"

दस दिसम्बर को श्री—जी का जन्मोत्सव था। आठ तारीख को जिस दिन श्री—जी अस्पताल से कुंज में आये, उसी दिन घनश्यामजी भी गोरखपुर से श्रीधाम लौट आये थे। बीमारी के कारण श्री—जी अत्यन्त अशक्त हो गये थे। ऐसी स्थिति में बृहद रूप में उत्सव मनाना संभव नहीं था। इसलिये पूर्व से ही सभी भक्तों को पत्र द्वारा सूचना दे दी गई थी कि अबकी बार उत्सव

नहीं होगा। कोई नहीं आये। इस पर भी कुछ लोग आ ही गये। निश्चयानुसार संक्षेप में ही उत्सव मनाया गया। लोगों का उत्साह देखकर ऐसी कमजोर स्थिति में भी श्री–जी रात्रि दो बजे तक कीर्तन में बैठे और पैंतालीस मिनिट तक उमंग से कीर्तन कराया। दो बजे आग्रहपूर्वक उन्हें विश्राम कराया गया।

जन्मोत्सव के पश्चात् आपने कहा–"उनतीस नवम्बर ७८ से ही बाबा से अन्तर्द्वन्द्व चल रहा था। तीन से छह दिसम्बर तक तो खूब ही रहा।"

श्री–जी ने इस बात को एक विस्तृत लेख के रूप में लिपिबद्ध किया है। यहाँ सारांश रूप में उसका अंश मात्र उन्हीं के शब्दों में दे रहा हूँ।

"गीतावाटिका में मैं कुटिया में रहते हुए देख रहा था अश्रु पूर्ण लोचनों से दीर्घश्वास, निश्वासों में प्रतीक्षारत, आतुर श्रीबाबा के मुख से शुभ वचन श्रवण करने। कई दिनों से कुटिया में रहता हुआ ही उनके निकट आकर सुव्यवस्थित सुन्दर आसन पर बैठता था। प्रतीक्षामयी थी उनकी दृष्टि। मैं अविलम्ब पहुँच जाया करता था। आश्चर्य की बात यही कि वहीं स्थित रहने के पूर्ण विश्वास युक्त तीन चार दिन में जो व्यतीत हुए थे, कई दिनों से रहते हुए रहने का भान करा दिया था; क्या कहूँ मैं ! यहाँ कुछ ही घण्टे व्यतीत हुए थोड़े से समय ने कई दिनों के भ्रम में पागल बना दिया था। उनके संकेतानुसार पुनः पास बैठा एवं कहना शुरू किया–"समय निकट आ रहा है।" पुनः - पुनः श्रीमुख से संकेत पा रहा हूँ मौन स्वरूप में अनिश्चित काल तक हो जाने का। यह वाक्य मेरे श्रवण कदापि स्पर्श न करें, यही मैं चाह रहा हूँ।

मेरी दशा का कुछ भी यथार्थ स्वरूप नहीं है, किन्तु अनन्याश्रित पात्रों, साधकों की दशा जो गुजर रही है, आपसे छिपी नहीं है। आपकी करुणा पूरित दृष्टि से परिपालित गीतावाटिका पूर्ववत् प्रफुल्लित, अनुप्राणित, आह्लादित बनी रहे, यही मेरी प्रार्थना है। एकमात्र यही निर्णय श्रवण करने मेरे श्रवण, हृदय आतुर हैं कि आप यह कह दें कि मैं इसी स्वरूप में आराम से अपनी लीला-रस-सुधा की उन्मादकता में पड़ा रहूँगा। जाने-आने की बात ही नही।

उस ओर देखिये निकट से निकट आने वाले लोगों की ओर। सुदूर पेड़ों के पीछे से देख रहे हैं, अपलक आपकी ओर। अपलक [illegible]

पंक्तिबद्ध, यत्र-तत्र अस्तव्यस्त जनसमुदाय, अत्यन्त व्यथित ऊँची-ऊँची साधिकाओं को भी जानती है न आपकी सर्वज्ञ, रसमर्मज्ञ दृष्टि। सर्वस्व त्यागकर अनन्य निष्ठा से यहाँ रहती हैं। रोती हुई, खाना, पीना, सोना, आराम हराम हो चुका है उनका।

दिनांक ३.१२.७८ तक कोई सान्त्वनात्मक वातावरण नहीं था। ऐसे कई दिन व्यतीत हो गये थे। दिसम्बर पहली तारीख से तीन तारीख के अन्तर्गत सभी परिकर के मन में एक ही बात थी कि ऐसा दुःखद समय कभी न आये।

तीन दिसम्बर के दिन मैं था वार्ड में सेवाश्रम के। वहीं से–मानो गीतावाटिका की कुटिया पहुँचा था यही भान हुआ। एकदम रवाना हुआ अत्यन्त स्फूर्ति से। वहाँ पर मैंने देखा–निज स्वरूप में, विलक्षण मधुर मुद्रा में, अंगुली को कपोल में लगाकर गंभीर विचार में बाबा लेटे हुए थे। निकट एक नव किशोरी सखी स्थित थी (इस सखी स्वरूप में घनश्यामजी ही थे)। सहसा मुझे आते देख अपने चरण दूसरी ओर कर दिए, ताकि मेरी ओर न रहें। मुझे तो हृद्भावनानुसार वही अनुभव हो रहा था कि साँवर ने एकदम परिवर्तित, निर्णित प्रतिकूल वचन सुनकर मान कर लिया है। एक ओर कदली वृक्षों के मध्ये कुम्हलाये श्री मुखकमल से दीख रहे थे, बिना कस्तूरी तिलक के थे। पीत पुष्पों की गुम्फित माला का मुकुट ही धारण किए थे।

दिनांक ७.१२.७८ की मौन अवस्था से पहले, एक घण्टे पूर्व जिसे मैं निर्णयानुकूल, उनके श्रीमुख से सुनना चाहता था, वह निर्णय वे कई दिन पूर्व ही प्राप्त कर चुके थे। दृश्य ही प्रत्यक्ष प्रमाण प्रदान कर रहा था मुझे। अर्धक्षणमात्र में ही बाबा अपने बाह्य स्वरूप में दीखे। निकट घनश्यामजी ही थे दृष्टि में दृष्टि मिलाये।

मुझे इस प्रसंग से उस समय आश्चर्य नहीं हुआ, कारण मैं भी अपने स्वरूप से उसी साम्राज्य में था।

फिर मैं तो मैं नहीं था, उनकी वैचित्र्य दृष्टि में, कारण भावाविष्ट हो जाना स्वाभाविक था, याने श्री भाईजी के स्वरूप में हो जाना स्वाभाविक था। श्रीभाईजी की तन्मयता में मेरे मुख से यह वाक्य निकला कि आपने कई



अनन्त की ओर निहारते हुए श्रीमहाराजजी

बार कहा था कि यह मेरा शरीर प्राकृत नहीं है। फिर कौन सा शरीर है प्राकृत, जिसे आप छोड़ने को कहा करते हैं ? मेरी तरफ स्नेह से अवलोकन करते हुए कहा धीरे से–"आपको वे सब कुछ समझा देंगे।

तारीख ४.१२.७८ का यह दिन अत्यन्त आह्लाददायक था। पुष्पोंसे सुशोभित सम्पूर्ण वाटिका का दृश्य मनोहर था मुख्य द्वार से कुटी तक। बाबा के कुटीर समावृत समाधि की शोभा निराली थी। नाना पुष्पों की मालाओं से सुसज्जित कदली-स्तम्भों से बँधी हुई, चमकते रंगीन रेशमी डोरे के साथ पुष्प-मालाओं के बन्दनवार ने सम्पूर्ण वाटिका को समावृत कर रखा था। श्री बाबा के निवासस्थल से समाधि तक रजमय पथ ऐसा लग रहा था मानो अभी अभी पुष्प-वृष्टि हुई हो।

इस दशा की विलक्षणता में, निकटता में श्री बाबा ऐसे मुझे लग रहे थे, मानो हृदय में ही मुझे समा लिया हो एवं मेरी अभिलाषा को सम्पन्न करने की मौन स्वीकृति दे चुके हों।" अस्तु,

जन्मोत्सव सम्पन्न हो जाने के पश्चात् श्री घनश्यामजी ने श्री–जी को बताया कि श्री बाबा के मौन विषयक विचारों में कई दिनों से जो कठोरता थी, उसमें तीन दिसम्बर से ही कुछ शिथिलता दीखने लगी थी। उन्होंने बाई को भी सेवा में आने की अनुमति दे दी। बाद में तो श्री फोगलाजी से कहा–"अच्छा, आपको जो करना है, करो। इस शरीर को जैसा रखना चाहो, रखो। हमने इस शरीर की सेवा आप पर छोड़ दी है।"

श्री–जी के भाव रूप सूक्ष्म शरीर से श्री बाबा के साथ जो बातें हुई थीं, यह सब उसी का परिणाम था।

श्री जगन्नाथ यात्रा

सन् १९८० की बात है। श्री–जी, घनश्यामजी तथा कुसुमजी देहली गये हुए थे। श्री लालजी के आग्रह पर अचानक श्री जगन्नाथपुरी जाने का कार्यक्रम बना लिया गया। इसमें विशेष कारण यह था कि सन्त श्री ऊषाजी अपने परिकर सहित १९७५ में जगन्नाथपुरी गई थीं। उस यात्रा में मैं भी सम्मिलित हुआ था। वहाँ श्री अलालनाथजी के दर्शन करके मंदिर के प्रांगण में स्थित एक विशाल शिला के भी दर्शन करके आये थे, जिस पर श्रीमन्महाप्रभु कृष्णचैतन्य की महाभाव विरहस्थिति में अंगस्पर्श से पिघलकर अट्ठाईस चिह्न अंकित हो गये थे, इसका हम लोगों के मन पर बहुत प्रभाव पड़ा। यात्रा से लौटने पर मैंने यह प्रसंग विस्तारपूर्वक श्री–जी को सुनाया था। तभी से इस शिला का दर्शन करने के लिए श्री–जी के मन में अत्यन्त उत्कंठा थी। प्रसंग इस प्रकार है :–

पुरी में रथयात्रा के उत्सव के समय बहुत अधिक भोग आरोगने से श्री जगन्नाथजी को अजीर्ण हो जाता है। अस्वस्थ होने से पन्द्रह दिन के लिए उनके दर्शन बंद हो जाते हैं। अन्दर ही अन्दर चूर्ण आदि देकर उनकी चिकित्सा की जाती है। पन्द्रह दिन के लिये दर्शन बंद हो जाने से श्रीमन्महाप्रभु को श्री जगन्नाथजी के अदर्शन का वियोग-दुःख असह्य हो गया और वे विरह-वेदना से व्यथित हो जगन्नाथपुरी से चालीस मील दूर अलालनाथ चले गये। वहाँ एक विशाल विष्णुमंदिर है। इन्हीं के नाम से इस ग्राम का नाम 'अलालनाथ' पड़ गया है, ऐसा अनुमान है।

अपनी विरहदशा में श्रीमन्महाप्रभु मंदिर के प्रांगण में पड़ी हुई छह फुट लम्बी, चार फुट चौड़ी और दो फुट ऊँची विशाल शिलापर आकर लेट गये थे। अगाध विरह से उत्तप्त इनके शरीर के स्पर्श से यह शिला, जहाँ-जहाँ, जिस-जिस अंग का स्पर्श हो रहा था, पिघल गई और उन-उन अंगों के चिह्न उस पर बन गये थे।

निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार श्री–जी पुरी के लिये रवाना हो गये। साथ में श्री ठाकुरजी, कुसुमजी तथा लालजी भी सपरिवार गये थे। कलकत्ता

में एक दिन श्री रामचन्द्र दम्माणीजी के यहाँ रुककर पुरी चले गये। वहाँ से श्री दम्माणीजी भी साथ हो गये।

प्रथम दिन समुद्र-स्नान करके श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन किये। संध्या को टोटा[1]। गोपीनाथजी, श्री यवन हरिदासजी की समाधि तथा बकुल वृक्ष के दर्शन किये।

दूसरे दिन श्री जगन्नाथजी की मंगला के दर्शन करने गये। वहाँ की सेवा-पद्धति बहुत ही भावमयी होती है। श्री जगन्नाथजी के सम्मुख कुछ दूरी पर एक बड़ा सा दर्पण रख दिया जाता है, उसमें श्री जगन्नाथजी का प्रतिबिम्ब झिलमिलाने लगता है। प्रतिबिम्ब को ही दन्तधावन तथा मुखमार्जन कराया जाता है। सभी दर्शनार्थी भक्तजन इस सेवा का दर्शन कर सकते हैं। इस भावमयी सेवा के दर्शन कर श्री–जी की भावस्थिति पूरे दिन गम्भीर बनी रही।

तीसरे दिन प्रातः पुनश्च श्री जगन्नाथजी के दर्शन के लिये गये। उस समय मंदिर में श्री गीतगोविन्द की अष्टपदी का मधुर कंठ से सुस्वर गान हो रहा था, जिसे श्रवण कर श्री–जी का गात्र रोमांचित-कम्पित, नेत्र अरुण तथा शरीर शिथिल हो गया। गंभीर मंद गति से उन्होंने मंदिर के जगमोहन में प्रवेश किया। उसी समय श्री जगन्नाथजी के स्नानार्थ कलशों में समुद्र-जल लेकर एक के पीछे एक मंदिर में प्रवेश करते सेवकों को देखा। यह दृश्य देखकर तो आपकी भावदशा द्विगुणित हो गई और शिथिल होकर मंदिर के जगमोहन में ही बैठ गये। नेत्रों से सतत अश्रुधारा बह रही थी और आप अपने भावों का संवरण करने का प्रयास कर रहे थे। श्री घनश्यामजी पास बैठे हुए श्री–जी को सम्हाल रहे थे और एक घण्टे पश्चात् जब वे कुछ स्वस्थ हुए तो उन्हें धीरे-धीरे निवास स्थल तक ले आये। वहाँ पहुँचकर भी श्री–जी बहुत समय तक नेत्र बंद किये हुए लेटे रहे।

चौथे दिन आप श्रीमन्महाप्रभु के अंग-स्पर्श से द्रवित उस शिला के दर्शन करने अलालनाथ गये। उस शिला के दर्शन करते ही आपकी भाव-गम्भीर दशा हो गई और शिथिल होकर वहीं बैठ गये। सतत अश्रु प्रवाह,

---

१. बगीचा

रोमांच, कम्प, वैवर्ण्य आदि सात्विक भावों का उदय हो जाने से आपकी स्थिति विचित्र सी हो गई। उसी भावातिरेक में आप उठे और शिला पर अंकित एक-एक चिह्न को हाथ से स्पर्श कर पुनः - पुनः देखते रहे एवं नयनाश्रुओं से उनका अभिषेक करते रहे। ऐसी स्थिति में समय का ध्यान किसे रहता है? जब मंदिर के पुजारी ने आवाज देकर कहा–"दर्शन कर लीजिये, मंदिर बंद हो जायेगा," तब कहीं आप कुछ प्रकृतिस्थ हुए। घनश्यामजी धीरे से आपको सहारा देकर मंदिर में ले गये। आप श्री अलालनाथजी के दर्शन कर पुरी के लिये रवाना हो गये। रास्ते मे गौरीकुंड पर कुछ समय तक विश्राम किया। आगे पांडुकुण्ड में लालकुमुदिनी खिली हुई थीं। किसी ने आपको कुमुदिनी के कुछ पुष्प लाकर दिये, जिन्हें देखकर आप बहुत भावविभोर हो गये।

पुरी से पुनः कलकत्ता आकर श्री–जी श्रीमन्महाप्रभु की लीलास्थली नवद्वीप धाम के दर्शन करने चले गये। नवद्वीप स्टेशन से बाहर आकर आप रिक्शा में बैठे ही थे कि एक क्षण में रिक्शा से कूद पड़े और नवद्वीप धाम को साष्टांग प्रणाम किया। वहाँ की रज शरीर में लगाई। भावगंभीर स्थिति में ही आपने धाम में प्रवेश किया एवं एक भजनाश्रम में जाकर सभी लोग ठहर गये। रात भर आपकी भावमय स्थिति बनी रही। एक क्षण के लिये भी निद्रा नहीं आई।

दूसरे दिन पूर्णिमा थी। सुबह उठते ही आप यह पंक्ति–"नीम के नीचे झूला झूले सब कोई कहे निमाई" गुनगुनाते रहे। स्नानादि से निवृत्त होने के पश्चात् श्री–जी ने घनश्यामजी से कहा–"चलो जी चलो, उस नीम के दर्शन कर आयें, जहाँ श्रीमन्महाप्रभु का प्रादुर्भाव हुआ था।"

उस भाग्यशाली नीम एवं श्री विष्णुप्रियाजी की पाणिग्रहणस्थली के दर्शन करने के पश्चात् पुजारी ने श्री–जी को श्रीमन्महाप्रभु के निवासगृह एवं श्रीविष्णुप्रियाजी को प्रदत्त पादुकाओं के भी दर्शन करवाये। वहाँ से आप उस निर्दयघाट के दर्शन करने गये, जहाँ से घोर शीत की अर्धरात्रि में गृहत्याग के बाद श्रीमन्महाप्रभु गंगाजी में कूद पड़े थे और तैरकर उस पार पहुँच गये थे।

पश्चात् श्री–जी ने बड़े बाबाजी (श्री राधारमणचरणदासजी महाराज) की समाधि, श्री ललितासखी की समाधि तथा ठाकुर-मंदिर के दर्शन किये।

अन्त में आप उस स्थल के दर्शन करने गये, जहाँ श्री विष्णुप्रियाजी श्रीमहाप्रभु के श्रीविग्रह में समा गई थीं। इस स्थल के दर्शन कर आप भावाविष्ट हो गये और उसी स्थिति में कई घण्टे वहाँ बैठे रहे।

लौटते समय श्री–जी पुनः कलकत्ता में एक दिन के लिये श्री दम्माणीजी के यहाँ ठहरे। श्री लालजी तो परिवार सहित देहली चले गये, आप घनश्यामजी और कुसुमजी सहित बनारस चले आये और श्री सीतारामजी के भाई श्री श्रीराम-ओंकारमल पसारी के यहाँ तीन दिन ठहरे। यहाँ आपने २५० वर्ष पुरानी श्री तैलंगस्वामीजी की समाधि एवं उस काष्ठ निर्मित चौकी के दर्शन किये, जिसपर श्री रामकृष्ण परमहंसदेव विराजे थे। श्री बिन्दुमाधव के भी दर्शन किए। इसी मंदिर में श्री प्रकाशानन्दजी (श्री प्रबोधानन्दजी) श्री चैतन्य महाप्रभु के शरणापन्न हुए थे।

इन्हीं दिनों आपके मन में विचार आया कि जब हम इतने पास आ गये हैं तो महाभाव-भावित श्री राधाबाबा के दर्शन करने गोरखपुर क्यों न चलें। घनश्यामजी भी इस बात से प्रसन्न हुए और श्री–जी बनारस से घनश्यामजी और कुसुमजी सहित गोरखपुर चले गए। अचानक श्रीमहाराजजी का आगमन सुनकर पूज्य बाबा बहुत ही प्रसन्न हुए। कहने लगे–"भैया, गंगा ही चलकर यहाँ आई है।" वह मकर संक्रान्ति का दिन था। चार दिन बहुत ही आनन्द से व्यतीत हुए।

चौथे ही दिन श्री बाबा की तबीयत बहुत ही खराब हो गई। डबल निमोनिया हो गया। श्री बाबा चौबीस घण्टे बेहोश से पड़े रहे। जीवन की आशा नहीं रही। अत्यन्त दुःख से सम्पूर्ण गीतावाटिका व्यथित हो उठी। सभी प्रेमीजन बार-बार श्री–जी के पास आकर चिन्ता व्यक्त करते हुए कातर स्वर से श्री बाबा के स्वस्थ होने की याचना करते। श्री–जी गम्भीर शब्दों में सबको सान्त्वना देते हुए कहते–"घबड़ाने की बात नहीं, बाबा ठीक हो जायेंगे।" जब सब लोग चले जाते तो घनश्यामजी श्री–जी से कहते–"स्थिति तो बहुत गम्भीर है और आप तो सबसे कह रहे हैं कि बाबा ठीक हो जायेंगे?" श्री–जी ने कहा–"ठीक ही हो जायेंगे। भगवान् हमारी लाज रखेंगे अवश्य।" उस

दिन के बाद पूज्य बाबा धीरे-धीरे ठीक ही होने लगे और कुछ दिन बाद पूर्ण स्वास्थ्य लाभ कर लिया।

एक दिन श्री महाराजजी श्री बाबा के पास बैठे हुए थे। श्री बाबा ने कहा–"दयालु! आपको सब पहले से पता था। इसीलिये तो आप पुरी से सीधे यहाँ आये।"

कुछ दिन रहकर श्री–जी वहाँ से श्रीधाम लौट आये। एक दिन बाबा अपने परिकरजनों में बैठे हुए अपनी अस्वस्थता के विषय में कहने लगे– "भैया, हम तो जा रहे थे, परन्तु वृन्दावन के एक सन्त ने हमें रोक लिया। हम उनका नाम नहीं बतायेंगे।"

अष्टमासीय अखण्ड संकीर्तन

लोनारा के चतुर्मासीय सत्संग में ही अष्टमासीय अखण्ड संकीर्तन की भूमिका बन चुकी थी। लोनारा के भक्तवृन्द ने अत्यन्त उत्साहपूर्वक चतुर्मासीय अखण्ड संकीर्तन सम्पन्न किया था और वहाँ की जनता में अष्टमासीय अखण्ड संकीर्तन के लिये दुगुना उत्साह था। हर दो-तीन माह बाद संकीर्तन रखने के लिये लोनारा से पत्र आते रहते थे। पत्रों का यह क्रम चार-पाँच वर्षों तक चलता रहा। धीरे-धीरे बात की पुष्टि होती गई, परन्तु इस बार श्री–जी के मन में संकीर्तन बड़वानी में रखने का संकल्प उदित हुआ। कहने लगे–लोनारा में तो हमेशा के लिए संकीर्तन का वातावरण तैयार हो चुका है। जहाँ कभी न हुआ हो, ऐसी जगह संकीर्तन रखने से जनता को विशेष लाभ होगा। हम लोगों ने विशेष रूप से मैंने, वहाँ संकीर्तन रखने में उत्साह नहीं दिखाया; कारण, उसी प्रान्त का निवासी होने से मैं वहाँ के लोगों की मनःस्थिति से अच्छी तरह परिचित था।

मेरे अनुमान से संभवतः बड़वानी में विगत एक शताब्दी से इस प्रकार का आयोजन नहीं हुआ होगा। रियासत की राजधानी होते हुए भी बड़वानी बहुत पिछड़ा हुआ शहर था, परन्तु श्री–जी अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। पत्रों के जरिये और कभी-कभी वहाँ जाकर श्री–जी ने वहाँ के लोगों का मानस



बडवानी में अष्ट मासीय अखन्ड संकीर्तन के समापन के अवसर पर नगर संकीर्तन

तैयार कर ही लिया और वहीं संकीर्तन रखने का आदेश दे दिया। बड़वानी की जनता में उत्साह जाग गया और संकीर्तन के लिये राजमहल के अहाते में स्थित राममंदिर का स्थान निश्चित किया गया। मंदिर का स्थान छोटा होने से, इतना बृहद् आयोजन यहाँ होना संभव नहीं था। अतः सेठ श्री लक्ष्मीनारायणजी, श्री मोतीभाई, श्री पुरुषोत्तमजी, श्री शालिग्रामजी वकील, श्री निगमसाहब, श्री कैलाशजी तथा गोपालभाई सब ने मिलकर मंदिर के सामने एक विशाल सभामंडप का निर्माण कराया।

श्रावण शुक्ला एकादशी, दिनांक १७.७.८२ की तिथि निश्चित की गई एवं निमन्त्रण-पत्रिकाऐं वितरित कर दी गईं। गाँव-गाँव के लोगों को निमन्त्रित किया गया। श्री–जी पन्द्रह दिन पूर्व ही श्रीरामजी-फतेहकृष्णजी की रास-मंडली साथ लेकर बड़वानी पहुँच गये। श्रीराम-मन्दिर के सामने वाले प्रांगण में रास तथा चैतन्य-लीला का कार्यक्रम प्रारंभ हो गया, जिससे सम्पूर्ण बड़वानी की जनता आकर्षित हो गई। पन्द्रह दिन नित्य लीला होती रही। हजारों की संख्या में लोग उपस्थित होते थे। रासलीला के समापन एवं संकीर्तन प्रारंभ होने के दिन एक विशाल शोभायात्रा निकाली गई। सबसे आगे शृंगार सहित श्रीचैतन्य महाप्रभु तथा श्री नित्यानन्दजी के स्वरूप चल रहे थे। साथ में श्री महाराजजी, श्री घनश्यामजी, स्वामी श्रीरामजी, स्वामी फतेहकृष्णजी तथा भावुक भक्तगण थे। इनसे आगे लहँगा साड़ी एवं शृंगार से सुसज्जित कुछ अल्पवयस्क बालिकाएँ शीश पर मंगल कलश लिए चल रही थीं। कुछ जनसमूह पीछे था।

स्वामी फतेहकृष्णजी सिर पर ब्रजवासी फेंटा बाँधे हुए एक कीर्तन-मंडली के साथ झाँझ, ढोलक, करताल के साथ धूम से कीर्तन कराते, नाचते हुए चल रहे थे। कुछ जनसमूह के पीछे श्री विद्याधरजी सराफ एक कीर्तन-टोली को लिये, उच्च स्वर से कीर्तन कराते हुए मस्ती में चल रहे थे। इनके साथ काफी जनसमूह मस्ती में झूमता हुआ चल रहा था। जुलूस में हजारों की संख्या में लोग सम्मिलित थे और सड़कों के किनारे भी सहस्रों की संख्या में खड़े अपलक, मुग्ध नर-नारी इस जुलूस को देखकर प्रफुल्लित हो रहे थे। करीब पाँच घण्टों में यह शोभायात्रा वापिस राममंदिर में आई।

जय-जयकार की तुमुलध्वनि के साथ कीर्तन प्रारंभ हुआ। कीर्तन प्रारंभ होने से पूर्व शृंगार धारण किए हुए महाप्रभु गौर-निताई को सभा-मंडप में उच्चासन पर विराजित किया गया। एक आसन पर श्री–जी विराज रहे थे।

श्री–जी ने निम्न श्लोकों से मंगलाचरण प्रारंभ किया–

कृते यत् ध्यायतो विष्णु त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद् हरिकीर्तनात्।।

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।

तदन्तर आपने नाम-महिमा पर कुछ समय प्रवचन किया। श्री–जी की आज्ञा से श्रीठाकुरजी ने सुन्दर कंठ से श्री महामन्त्र-संकीर्तन का शुभारम्भ कर दिया। कीर्तन में एक अखण्ड दीप की स्थापना की गई।

कीर्तन के प्रारम्भ में कुछ दिन जन-उपस्थिति बहुत कम रही। भक्त-आयोजकों को चिन्ता होने लगी कि आठ मास तक अखण्ड संकीर्तन कैसे चलेगा ? पत्र द्वारा इस बात की सूचना श्री–जी को दी गई। श्री–जी ने वहाँ के प्रमुख लोगों के नाम एक विस्तृत पत्र लिखा। आशय था–"निराश होने की आवश्यकता नहीं। आप लोग दृढ़ता से कीर्तन करते रहिये। नाम की महिमा ही ऐसी है, नाम ही के प्रभाव से कीर्तन खूब जमकर चलेगा।" सचमुच ही श्री–जी की सत्प्रेरणा से दिनोंदिन संकीर्तन में जनसमूह बढ़ने लगा।

श्री विद्याधरजी सराफ, जिनका परिचय मैं पीछे दे ही चुका हूँ, इस संकीर्तन में अपना सक्रिय सहयोग देने के लिये अपनी नौकरी से लम्बी छुट्टी लेकर आ गये थे और अपने सुमधुर कंठ से विभिन्न राग-रागिनियों में कीर्तन कराने लगे। इनके संकीर्तन से जनता अधिक आकर्षित हुई। कीर्तन में विघ्न उपस्थित करने वाले असामाजिक तत्त्वों की मनोवृत्ति में श्री विद्याधरजी के कारण परिवर्तन आ गया और संकीर्तन-समाप्ति तक उन्होंने उत्साह एवं सज्जनता पूर्वक पूरा-पूरा सहयोग दिया। दिन प्रतिदिन भक्तों की संख्या बढ़ती गई। कुछ लोग आठ मास का नियम लेकर वहीं रह गये। ये थे लोनारा

के सुखलालभाई, वृन्दावनदास, खरगोन के भगवानदास कीर्तनियाँ, ऊन के विश्वनाथजी जोशी, मंडलेश्वर के नारायणरावजी, रामदास जोशी तथा अन्य स्थानों के और भी बहुत से लोग। अब तो कीर्तन में इतनी भीड़ बढ़ने लगी कि प्रमुख कीर्तन करने वालों को कीर्तन का अवसर मिलना ही कठिन हो गया। महिला और बालिकाओं में भी कीर्तन का उत्साह बढ़ा। दो बजे से पाँच बजे तक महिलायें ही संकीर्तन सम्हालती थीं। इनमें शान्ता बहन प्रमुख थीं।

बड़े ही उत्साह एवं लगन से लोगों ने कीर्तन में भाग लिया। एक विशेष बात यह कि कीर्तन के प्रारंभ में ही श्री–जी ने जनता से कह दिया था कि "इस नाम-यज्ञ में तन-मन से कीर्तन करने वालों की सभी कामनायें हरिनाम के प्रभाव से पूर्ण होंगी।" नामध्वनि पूरी बड़वानी में व्याप्त हो गई। मुसलमान एवं बोहरों के बालक भी गली में घूमते हुए महामन्त्र गाने लगे। गाँव-गाँव से कीर्तन-मंडलियाँ आ-आकर संकीर्तन में सहयोग देने लगीं। लोनारा तथा खरगोन से भी भक्तवृन्द आ-आकर कीर्तन में सम्मिलित होने लगे।

श्री लक्ष्मीनारायणजी, शालिग्रामभाई, पुरुषोत्तमभाई, निगमसाहब, मोतीभाई, कैलाशभाई, आदि प्रमुख कार्यकर्त्ताओं ने बाहर से आने वाले भक्तों के लिये एक धर्मशाला निश्चित कर दी और वहाँ भोजन आदि का उत्तम प्रबन्ध कर दिया। इन कार्यकर्ताओं ने आठ मास तक अपने व्यवहार-व्यापार में विशेष ध्यान न देकर रात-दिन कीर्तन में सहयोग दिया। मोतीभाई ने कीर्तनकाल में अपनी दुकान बंद ही रखी। बड़वानी में श्री–जी इन्हीं के यहाँ ठहरते थे। श्री–जी के साथ उनके परिकर के लोग तो रहते ही थे, आने-जाने वाले भक्तों का ताँता भी लगा रहता था। इन सब की सेवा में मोतीभाई ने पूर्ण उदारता का परिचय दिया। उनका पूरा परिवार रात- दिन सबकी सेवा में लगा रहता था।

बाबूलालजी निगम पहले बड़वानी महाराजा के प्रायवेट सेक्रेटरी थे तथा अब भी महाराजा की प्रॉपर्टी की सम्हाल रखने का काम ये ही कर रहे थे। कुछ वर्षों से एक मुसलमान फकीर से प्रभावित होकर हिन्दू होते हुए भी ये नमाज पढ़ने लग गये थे। अपने ही सनातन धर्म से इन्हें अश्रद्धा हो गई थी। ये श्री हीरालालजी गुप्ता के मित्र थे। संकीर्तन-व्यवस्था के निमित्त से ये

श्री–जी के संपर्क में आये और उनके सत्संग के प्रभाव से पुनः कट्टर सनातनी बन गये। अपने विगत जीवन के लिए इन्होंने पश्चाताप किया। श्री–जी ने इन्हें संकीर्तन-मंडल का अध्यक्ष बना दिया। इनकी कार सदा श्री–जी की सेवा में उपस्थित रहती और जहाँ तक संभव होता स्वयं ही ड्राइव करने की इच्छा रखते थे। संकीर्तन व्यवस्था में श्री निगमसाहब का विशेष सहयोग रहा। इन दिनों बड़वानी में जल-संकट था। निगमसाहब नगरपालिका की गाड़ियों द्वारा दो मील दूर से नर्मदा का जल मँगवाते तथा विशेष अवसरों पर विशेष आज्ञा लेकर नल चलवाते। शोभायात्रा की पूरी व्यवस्था इनकी रही।

लक्ष्मीनारायणजी की सेवा तो अपूर्व थी ही। धर्मशाला में खान-पान की पूरी व्यवस्था करना, दिन में दो-चार बार सबके पास जाकर पूछताछ करना, कीर्तन तथा कीर्तन-मंडलियों का पूरा प्रबन्ध करना, इन सब कार्यों में ये इतने व्यस्त रहते कि भोजन के लिए भी समय पर घर नहीं पहुँच पाते थे। घर के लोगों से इन्होंने कह दिया था कि मेरी थाली ढककर रख दिया करें और आप सो जाया करें। ये रात में किसी भी समय जाकर अपने हाथ से थाली लेकर भोजन कर लेते थे। इसके साथ ही इनमें श्री–जी के प्रति अनन्य निष्ठा एवं पूर्ण दैन्य भाव था। ये बड़वानी के धनी-मानी व्यापारी हैं। जिस बात के लिये भी श्री–जी की आज्ञा हुई, उसमें तर्क-वितर्क करना इन्हें आता ही नहीं था। यदि कोई तर्क करता तो आप उत्तर देते–जिसके लिए श्री–जी की आज्ञा हुई है, उसे करना ही है। उसमें क्यों और क्या का प्रश्न ही नहीं है। कुछ वर्षों से इनकी कमर में काफी दर्द रहता था, परन्तु कीर्तन के कार्य में तन-मन-धन से इतने रत रहे कि इन्हें दर्द का भान भी नहीं रहा।

दिनोंदिन कीर्तन-गंगा में बाढ़ आने लगी। घर-घर से आकर लोग उपस्थित होने लगे। बड़वानी मानो कीर्तन का ही नगर हो, ऐसा भान होने लगा। सम्पूर्ण नगर का वातावरण ही भक्तिमय हो उठा।

संकीतन प्रारंभ होने के पश्चात् कुछ दिन रहकर श्री–जी श्रीधाम लौट आये। चार मास व्यतीत होने पर आप पुनश्च बड़वानी जाने के विचार से पाँच नवम्बर, सन् १९८२ को देहली चले गये।

लालजी को जीवन-दान

कुछ दिनों से लालजी पथरी के रोग के कारण अस्वस्थ थे। दिनों दिन रोग बढ़ता गया। उन्हें अलवेशिया नर्सिंग होम में भर्ती कराया गया और दूसरे दिन सफलता-पूर्वक ऑपरेशन हो गया। उस समय मैं जगाधरी गया हुआ था और लौटते समय लालजी को देखता हुआ वृन्दावन आया। श्री–जी को लालजी के स्वास्थ्य की जानकारी दी और एक बार देहली जाकर दर्शन देने के लिये उनकी ओर से प्रार्थना भी की, परन्तु कई दिनों तक श्री–जी टालते रहे। ऑपरेशन के पश्चात् लालजी का स्वास्थ्य ठीक ही था और वे अभी नर्सिंग होम में ही थे। श्री–जी को भोपाल होते हुए बड़वानी में चल रहे अष्टमासीय संकीर्तन में जाना ही था, परन्तु अचानक पाँच नवम्बर ८२ को वे देहली होते हुए बड़वानी जाने का कार्यक्रम बनाकर लालजी के यहाँ पहुँचे। उनका ऑपरेशन हुए आठ दिन हो चुके थे और स्वास्थ्य भी ठीक ही चल रहा था; परन्तु बाद में सैप्टिक होने से बहुत बिगड़ गया और शरीर के पूरे रक्त में विष फैल गया। पाँच बड़े-बड़े विशेषज्ञ डॉक्टर पास बैठे हुए थे। सम्पूर्ण शरीर सूज गया था। डॉक्टर ने घर वालों को बुलाकर कहा–"हम आपको अन्धकार में नहीं रखना चाहते। अब हमें इनके जीवन की कोई उम्मीद नहीं है। जिनको इनसे मिलना हो मिल लें।"

परिवार के सब लोग घबड़ा गये। रात के बारह बजे कार द्वारा श्री–जी के पास आये और रोते हुए श्रीठाकुरजी से कहने लगे–श्री–जी को जगाइये। लालजी की हालत बहुत सीरियस है। ठाकुरजी ने कहा– श्री–जी को नींद की गोली देकर सुलाया है, जगाने से तबियत खराब हो जायेगी। घर के लोग व्याकुल होकर कहने लगे–इस समय तो जगाना ही पड़ेगा। श्री–जी के सिवा उन्हें कोई बचा नहीं सकता।

आश्चर्य कि श्री महाराजजी द्वार खोलकर स्वयं ही कमरे के बाहर आ गये। सब ने रोते हुए श्री–जी के चरण पकड़ लिये और लालजी को बचाने के लिए प्रार्थना करने लगे। श्री–जी कुछ समय तक गम्भीर रूप से बैठे रहे।

कहने लगे–हमें तो ऐसा कुछ नहीं लग रहा है। ठीक हो जायेंगे। जाओ, इलाज करो। परिवारीजनों ने कहा–डॉक्टर ने तो जवाब दे दिया है। आप कहें तो डॉक्टर बदल दें। श्री–जी गम्भीर स्वर में बोले–"नहीं, डॉक्टर नहीं बदलना है। उन्हीं से इलाज करवाना है। प्रातः मैं स्वयं लालजी को देखने आऊँगा।"

सब लोग फिर भाग कर अस्पताल पहुँचे। लालजी की पत्नी नीना की श्री–जी में अनन्य श्रद्धा है। श्री–जी के वचनों से उसमें आत्मबल जागा। उसने डॉक्टर के पास जाकर कहा–"आप इलाज कीजिए। लालजी का शरीर नहीं छूट सकता। श्री महाराजजी ने कह दिया है।" डॉक्टर साहब नीना का मुख देखने लगे और मन में विचार करने लगे कि मरीज की स्थिति हमारे सामने है और यह लड़की धैर्यपूर्वक कह रही है कि उसे कुछ नहीं होगा !

इसी समय डॉक्टर साहब को एक इंजेक्शन का स्मरण हो आया और तुरंत उन्होंने वही इंजेक्शन लालजी को लगाया। कुछ आशा सी नजर आई। कुछ घण्टों पश्चात् दूसरा इंजेक्शन लगाया। उनके पास केवल दो ही इंजेक्शन थे। अतः डॉक्टर साहब ने घरवालों से कहा–ये इंजेक्शन दिल्ली में तो मिल नहीं सकते। बम्बई में मिल सकते हैं या फिर इंग्लैंड में। सब चिन्तित हो गये। वे घर पर श्री–जी के पास आये और सारे समाचार बताये। सुनकर श्री महाराजजी ने कहा–अभी बम्बई फोन लगाओ। तुरंत बम्बई फोन किया गया। एक बार में ही फोन लग गया। वहाँ से उत्तर मिला–सब बाजार बंद हैं। बम्बई का एक मार्केट रात में भी खुला रहता है। वहाँ जाकर मैं अभी पता लगाता हूँ।

वह व्यक्ति उसी समय बाजार गया, परन्तु कहीं भी उसे इंजेक्शन नहीं मिले। एक दुकानदार के कहने पर वह मिलिट्री के दवाखाने में गया। श्री–जी की कृपा से उसे वहाँ चार इंजेक्शन मिल गये। जैसे ही वह एयरपोर्ट गया, भगवत्-कृपा से उसे पहली फ्लाइट का टिकिट भी मिल गया। उसने तुरंत देहली फोन किया–इंजेक्शन मिल गये हैं और पहली फ्लाइट से आ रहा हूँ। मेरे हाथ में केवल "इंजेक्शन" लिखी हुई एक तख्ती रहेगी। उससे मुझे पहचान लें।"



प्रसन्न वदन श्रीमहाराजजी

वह व्यक्ति सुबह साढ़े आठ बजे देहली पहुँच गया। आश्चर्य कि इस हवाई जहाज की उड़ान के पश्चात् बम्बई में भयंकर हवा का तूफान उठा और पूरे दिन और कोई हवाई जहाज नहीं उड़ा।

श्री–जी सुबह लालजी को देखने हॉस्पीटल गये। लालजी जिस वार्ड में भर्ती थे, उस पर प्रवेश निषेध की तख्ती लगी देखकर श्री–जी विनोद में कहने लगे–यहाँ तो प्रवेश निषेध लिखा है, भला हम अन्दर कैसे जा सकते है ? उस समय लालजी के पास आठ डॉक्टर बैठे थे। सभी श्री–जी को देखते ही उठ खड़े हुए। प्रमुख डॉक्टर साहब कहने लगे–अब तो आपको ही सम्हालना है, आप यहाँ बैठिये हम बाहर जाते हैं, श्री महाराजजी ने कहा–नहीं-नहीं आप लोग भी यहाँ बैठें।

श्री–जी ने लालजी को देखा। हाथों व पैरों में एक साथ चार ड्रिप लग रही थी। श्री–जी को एकदम आवेश हो आया, मुख आरक्त हो गया और अधिकार भरी वाणी में डॉक्टर से कहा–ड्रिप निकाल दीजिए। डॉक्टर साहब यन्त्रवत् जैसा-जैसा श्री–जी कहते गये करते रहे। ऑक्सीजन भी निकलवा दी। फिर हाथ से लालजी के मस्तक को स्पर्श किया। कुछ चेतना में आकर उन्होंने धीरे से दोनों हाथ उठाकर श्री–जी को प्रणाम किया। फिर श्री–जी ने डॉक्टर साहब से कहा–आज से चौथे दिन चौदह नवम्बर को लालजी को घर पहुँच जाना चाहिये और आप मुझे भोपाल में इसकी सूचना फोन द्वारा दीजिये। दिनांक पन्द्रह को दीवाली थी।

श्री–जी की कृपा का चमत्कार देखकर डॉक्टर साहब को बड़ा आश्चर्य हुआ और उनको प्रणाम कर कहने लगे–एक वार्ड में एक और सीरियस मरीज है, उसे भी दर्शन दीजिये। श्री–जी उस वार्ड में भी गये।

जिस दिन लालजी की तबियत विशेष खराब हुई थी, उसी दिन श्री–जी का दिल्ली पहुँचना सभी को बड़ा आश्चर्यजनक लगा। सब कहने लगे– श्री–जी को अन्तर्यामी दृष्टि से पहले ही सब कुछ पता था, इसीलिये उन्होंने समय पर पहुँच कर लालजी को जीवन-दान दिया। इस बात का लालजी के पूरे परिवार पर बहुत प्रभाव पड़ा और श्री–जी के प्रति उनकी श्रद्धा और भी बढ़ गई।

वह व्यक्ति सुबह साढ़े आठ बजे देहली पहुँच गया। आश्चर्य कि इस हवाई जहाज की उड़ान के पश्चात् बम्बई में भयंकर हवा का तूफान उठा और पूरे दिन और कोई हवाई जहाज नहीं उड़ा।

श्री–जी सुबह लालजी को देखने हॉस्पीटल गये। लालजी जिस वार्ड में भर्ती थे, उस पर प्रवेश निषेध की तख्ती लगी देखकर श्री–जी विनोद में कहने लगे–यहाँ तो प्रवेश निषेध लिखा है, भला हम अन्दर कैसे जा सकते हैं ? उस समय लालजी के पास आठ डॉक्टर बैठे थे। सभी श्री–जी को देखते ही उठ खड़े हुए। प्रमुख डॉक्टर साहब कहने लगे–अब तो आपको ही सम्हालना है, आप यहाँ बैठिये हम बाहर जाते हैं, श्री महाराजजी ने कहा– नहीं-नहीं आप लोग भी यहाँ बैठें।

श्री–जी ने लालजी को देखा। हाथों व पैरों में एक साथ चार ड्रिप लग रही थीं। श्री–जी को एकदम आवेश हो आया, मुख आरक्त हो गया और अधिकार भरी वाणी में डॉक्टर से कहा–ड्रिप निकाल दीजिए। डॉक्टर साहब यन्त्रवत् जैसा-जैसा श्री–जी कहते गये करते रहे। ऑक्सीजन भी निकलवा दी। फिर हाथ से लालजी के मस्तक को स्पर्श किया। कुछ चेतना में आकर उन्होंने धीरे से दोनों हाथ उठाकर श्री–जी को प्रणाम किया। फिर श्री–जी ने डॉक्टर साहब से कहा–आज से चौथे दिन चौदह नवम्बर को लालजी को घर पहुँच जाना चाहिये और आप मुझे भोपाल में इसकी सूचना फोन द्वारा दीजिये। दिनांक पन्द्रह को दीवाली थी।

श्री–जी की कृपा का चमत्कार देखकर डॉक्टर साहब को बड़ा आश्चर्य हुआ और उनको प्रणाम कर कहने लगे–एक वार्ड में एक और सीरियस मरीज है, उसे भी दर्शन दीजिये। श्री–जी उस वार्ड में भी गये।

जिस दिन लालजी की तबियत विशेष खराब हुई थी, उसी दिन श्री–जी का दिल्ली पहुँचना सभी को बड़ा आश्चर्यजनक लगा। सब कहने लगे– श्री–जी को अन्तर्यामी दृष्टि से पहले ही सब कुछ पता था, इसीलिये उन्होंने समय पर पहुँच कर लालजी को जीवन-दान दिया। इस बात का लालजी के पूरे परिवार पर बहुत प्रभाव पड़ा और श्री–जी के प्रति उनकी श्रद्धा और भी बढ़ गई।

श्री–जी दिल्ली से भोपाल के लिये रवाना हो गये। यहाँ श्री हीरालालजी की पुत्री किरण गम्भीर अवस्था में अस्पताल में भर्ती थी तथा परिवारजन चिन्तित थे। श्री–जी ने आते ही सबको आश्वस्त किया और उनकी कृपा से किरण को भी नव जीवन मिला।

लालजी दीवाली के ठीक एक दिन पहले घर आ गये। डॉक्टर ने एक दिन और रोकना चाहा तो लालजी ने कहा–नहीं, जैसा श्री–जी ने कहा है, वैसा ही करना है। कुछ ही दिनों में वे पूर्ण स्वस्थ हो गये।

भोपाल में श्री–जी के पास दिल्ली से डॉक्टर का फोन आया "आपके आज्ञानुसार लालजी को दीपावली से एक दिन पहले घर भेज दिया है।"

इससे भोपाल में भी सभी को प्रसन्नता हुई। श्री–जी यहाँ से बड़वानी के लिये रवाना हो गये। वहाँ के लोग चातक के समान श्री–जी की प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके पहुँचते ही सम्पूर्ण बड़वानी आनन्दोल्लास से नाच उठी।

कीर्तन में लोगों का उत्साह असीम हो उठा। सम्पूर्ण नर-नारी गगनभेदी स्वर से विभिन्न राग-रागिनियों में कीर्तन करने लगे। श्री महाराजजी और ठाकुरजी प्रतिदिन सुबह और रात्रि को दो-दो घण्टे कीर्तन कराते। श्री–जी के कीर्तन में पहुँचते ही हजारों भक्त एकत्रित हो जाते तथा सभामंडप में और बाहर भी बैठने के लिये जगह का अभाव हो जाता। कीर्तनेतर समय में भी श्री–जी के दर्शन के लिये मोतीभाई के यहाँ लोगों का ताँता लगा रहता। पन्द्रह दिन तक श्री–जी बड़वानी में रहे, जिससे लोगों के उल्लास का ठिकाना न था।

इसी समय एक आश्चर्यजनक घटना हुई, जो इस प्रकार है–

श्री सतीशकुमारजी बड़वानी में प्रधानाध्यापक हैं। वे अपने स्कूल के छात्रों को पर्यटन यात्रा पर लेकर श्रीत्र्यम्बकेश्वर ज्योतिर्लिंग के दर्शन करने नासिक गये। श्री राममनोहर द्विवेदी भी उनके साथ थे। मंदिर के बाहर सहसा उन्होंने श्रद्धेय श्री महाराजजी को देखा। वे दोनों शीघ्रता से उनकी ओर बढ़े और निकट जाकर चरण स्पर्श किये। श्री–जी ने परम आत्मीयता से मुस्कराकर उनकी ओर देखा और कहा–"आप लोग बड़वानी से आये हैं न ? अब किसी

प्रकार की चिन्ता न करना। आनन्दपूर्वक निवास-स्थान पर पहुँच जाओगे।" सतीशजी ने पूछा–चिन्ता की कोई बात है क्या? श्री–जी ने कहा–"अब तो कोई बात है ही नहीं।" उन्होंने फिर पूछा–"गुरुदेव, आप भी यहाँ दर्शन हेतु आये हैं?" इस बात का पूज्य श्री–जी ने कोई जवाब नहीं दिया और मन्द मुस्कान बिखेरते हुए अचानक चले गये। फिर उन्हें कोई देख नहीं पाया।

जब सतीशजी बड़वानी लौट आये और उन्हें ज्ञात हुआ कि श्री महाराजजी तो एक सप्ताह से बड़वानी से बाहर कहीं गये ही नहीं, तब उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले सतीशजी को जो बात नासिक में सामान्य सी लगी, वही बात बड़वानी आने पर एक रहस्यमयी पहेली बन गयी। स्पष्ट ही है, किसी भावी संकट से उनकी रक्षा करने के लिये ही श्री–जी अपने एक रूप से वहाँ प्रकट हो गये थे।

इस घटना को गुप्त ही रखने का संकेत उन्हें श्री–जी से प्राप्त हुआ था। दीर्घकाल के पश्चात् जब 'रसार्चन' में उनका यह अनुभव प्रकाशित हुआ तभी सबको ज्ञात हो सका।

बड़वानी के अखण्ड संकीर्तन का समापन

बड़वानी में अष्टमास के संकल्प से ही संकीर्तन प्रारंभ हुआ था तदनुसार उसका समापन मार्च १९८३ में होना था, परन्तु यह समय बच्चों की वार्षिक परीक्षा का होने से अध्यापकों को छुट्टी नहीं मिल सकती थी। दूसरी विशेष बात यह थी कि पुरुषोत्तम मास होने से इसमें कीर्तन का समापन उचित नहीं समझा गया। इसलिये भी सभी ने श्री–जी से संकीर्तन समाप्ति की तारीख आगे बढ़ाने की प्रार्थना की और उनकी स्वीकृति मिलने पर ढाई मास का समय और बढ़ा दिया गया। समापन का दिवस तेईस मई निश्चित किया गया। इससे लोगों के उत्साह में किंचित् भी कमी नहीं आई। कीर्तन की तिथि बढ़ने से और भी हर्ष छा गया और बालक-बालिकायें, नव तरुण, प्रौढ़ तथा वृद्ध, नर-नारियाँ सभी दूने उत्साह से संकीर्तन में संलग्न हो गये।

घरों में माता-पिता बच्चों से पढ़ाई के लिये कहते कि तुम लोग दिन-रात कीर्तन में पागल रहते हो, परीक्षा में कैसे उत्तीर्ण होओगे ? परन्तु बच्चों को तो एक ही धुन सवार थी कीर्तन की।

परीक्षाएँ सम्पन्न होकर छुट्टियाँ लग गईं। संकीर्तन समापन का समय निकट आ रहा था। श्री–जी एक माह पूर्व कीर्तन में पहुँचना चाहते थे। इसी समय श्री–जी की डाढ़ में दर्द होने से उन्हें डॉक्टर ने चाँदी भरवाने के लिये देहली बुलाया था। श्री–जी, श्री घनश्यामजी, कुसुमजी और भगवानदास के सहित देहली के लिये रवाना हुए और दस दिन वहाँ रहकर गोरखपुर चले गये, क्योंकि पूज्य श्री बाबा ने श्री–जी को उन्हीं के लिये नव-निर्मित कुटिया के उद्‌घाटन के लिये आग्रहपूर्वक वहाँ बुलाया था, गीतावाटिका में श्री ठाकुर घनश्यामजी की एक छोटी सी कुटिया, जिसमें केवल एक तख्त ही बिछ सकता था, पूर्व से ही बनी हुई थी। श्री–जी जब भी गोरखपुर जाते, असुविधा होने पर भी इसी कुटिया में ठहरते थे, क्योंकि यह एकान्त में थी।

सन् १९८२ में श्री बाबा की प्रेरणा से श्री फोगलाजी ने श्री–जी के लिये हवादार कुटिया का निर्माण करवाया, जिसमें एक बड़ा कमरा श्री–जी के लिए, एक घनश्यामजी के लिये, सामने बरामदा, अटैच लेट्रिन–बाथरूम आदि सुविधाएँ थीं। बनते समय बाबा स्वयं उसे देखने जाते थे।

श्री–जी के आगमन से श्री बाबा बहुत ही प्रसन्न हुए। श्री महाराजजी जब वाटिका पहुँचे तो श्री बाबा स्वयं श्री–जी को लेकर नव-निर्मित कुटिया तक आये। पहले श्री–जी को भीतर प्रवेश कराया, पीछे श्री घनश्यामजी और कुसुमजी को तत्पश्चात् स्वयं प्रवेश किया; इसके बाद सभी अन्दर गये। श्री बाबा बड़े विनोदी स्वभाव के थे। हास्य भरे स्वर में कहने लगे–आइए महाराज ! आप कब पधारे ? सबकी हास्य ध्वनि गूँज उठी। श्री–जी यहाँ लगभग एक सप्ताह रहे।

इस समय श्री विष्णुहरि डालमिया भी वहाँ पहुँच चुके थे। उन्होंने श्री–जी से लौटते समय देहली रुक कर जाने का आग्रह किया। श्री–जी ने कहा–अब समय नहीं है। बड़वानी कीर्तन में शीघ्र पहुँचना है, परन्तु उन्होंने

कहा—आपको वैसे भी ट्रेन में दो दिन लगते। वहाँ से प्लेन की व्यवस्था हो जायेगी तो एक दिन बच जायेगा। अतः उनके आग्रह पर गोरखपुर से एक दिन के लिये श्री—जी देहली गये, वहाँ से वायुयान द्वारा भोपाल होते हुए इन्दौर पहुँचे।

भोपाल में हवाई जहाज केवल आधा घण्टा रुकता है। इसकी सूचना श्री हीरालालजी को दे दी गई थी। श्री हीरालालजी गुप्ता एवं रमेश सराफजी सपरिवार एयरोड्रम पहुँच गये थे उन्होंने श्री—जी को घर से लाई हुई कॉफी पिलाई।

इन्दौर एयरोड्रम पर भी श्री राधेश्यामजी गुप्ता और राजनाथजी शुक्ला सपरिवार पहुँच गये थे। गुप्ताजी जीप से श्री—जी को अपने घर ले आये। दूसरे दिन सुबह अर्थात् दो मई, १९८३ को श्री—जी कार द्वारा बड़वानी संकीर्तन में पहुँच गये। श्री—जी के आगमन से वहाँ एक अद्भुत आनन्द की लहर दौड़ गई।

जैसे ही श्री—जी पहुँचे, उनका आगमन सुनकर सभी लोग एकत्र हो गये। उन्होंने कुछ समय सभी से बातें करके एवं कीर्तन के लिये प्रोत्साहित करके उन्हें बिदाई दी। कीर्तन-समापन की तारीख की सूचना दूर-दूर के प्रान्तों में रहने वाले भक्तजनों को पहले ही दी जा चुकी थी। भक्तवृन्द जहाँ-तहाँ से आ-आ कर संकीर्तन में सम्मिलित हो रहे थे।

डाकोर, अहमदाबाद, इन्दौर, भोपाल, दिल्ली, राजकोट, अम्बाला और भी अन्यान्य स्थानों से परिवार सहित बहुत लोग आये हुए थे। वृन्दावन से कुसुमजी, मनोरमाजी, प्रभाकर जोशी आदि परिकर के कुछ लोग गये थे। खुर्जा से श्री देवीजी के भाई शिवकुमार गोयल सपरिवार पहुँच चुके थे। मैं भी महेश्वर होता हुआ बीस दिन पूर्व कीर्तन में पहुँच गया था। खरगोन तथा निमाड़ प्रान्त के गाँव-गाँव से भक्तवृन्द आये हुए थे। लोनारा से तो प्रायः आधा गाँव ही कीर्तन में उपस्थित था।

अब तो कीर्तन का कहना ही क्या ! बड़वानी के आबाल-वृद्ध उसमें पूर्ण उत्साह से भाग ले रहे थे। महामंत्र की तुमुलध्वनि से बड़वानी का कोना-कोना गूँज रहा था। आस-पास के छोटे-छोटे गाँवों के भील बालकों के मुख से

भी "हरे राम" महामन्त्र की ध्वनि सुनाई पड़ती थी। बड़वानी के अति निकट एक छोटा सा ग्राम नर्मदानगर है। श्री दामूभाई वहाँ आधुनिक ढंग से अपनी स्वयं की उन्नत खेती करने वाले एक सम्पन्न व्यक्ति हैं, जो नर्मदानगर के ही निवासी हैं। पूज्य श्री महाराजजी में सपरिवार उनकी अनन्य निष्ठा है। उन्होंने अपने घर में श्री–जी के लिए सब सुविधाओं से युक्त एक पृथक् कमरा बनवाया। श्री–जी जब भी बड़वानी जाते इनके यहाँ अवश्य ही जाते थे। ग्राम में एक छोटासा राममंदिर भी है। यहाँ भी श्री–जी ने नित्य संकीर्तन प्रारंभ करवाया, जो अद्यावधि चल रहा है।

श्री दामूभाई के घर के निकट एक विशाल बावड़ी है परन्तु उसमें पानी बहुत कम था। श्री–जी के आज्ञानुसार श्री दामूभाई ने सारे ग्रामवासियों को जल वितरण करने हेतु उसमें मोटर लगवाई एवं सुविधापूर्वक पानी खींचने के लिये घिर्रियाँ लगवाईं। तब से उसमें इतना पानी रहने लगा कि सारे ग्रामवासी तो पानी ले जाने ही लगे, आस-पास के खेतों की सिंचाई भी उसी बावड़ी के पानी से होने लगी।

बीच-बीच में अवसर निकाल श्री–जी आस-पास के भक्तों के आग्रह से उनके गाँवों में जाया करते थे। बड़वानी में श्री–जी प्रातःकाल जब घूमने जाते तो लोग घर-घर से बाहर आकर उनके चरण-स्पर्श करते। वे सभी को अत्यन्त अपने लगते और उन्हें अपने घर बुलाने का सबका आग्रह होता। इसीसे श्री–जी कभी किसी के, कभी किसी के यहाँ जाकर सबको प्रसन्नता प्रदान करते। बीस-बाईस दिन के लिए मानों कीर्तनानन्द के महासागर में ज्वार आ गया हो ऐसा लगता था। धर्मशालाएँ और कार्यकर्ताओं के घर बाहर से आये भक्तों के आवास बन गये थे। सभी को बड़ी प्रसन्नता थी। यहाँ के भक्तपरिकर ने अपूर्व उत्साह के साथ सबकी सेवा-शुश्रूषा की।

लोगों को रात-दिन कीर्तन करने की प्रबल इच्छा बनी रहती थी। भिन्न-भिन्न राग-रागिनियों में सुस्वर कीर्तन कराने वाले इतने लोग थे कि सभी को अवसर मिलना भी कठिन पड़ रहा था। परन्तु सभी श्री महाराजजी की दृष्टि में थे और स्मृतिपूर्वक आपने सभी को अवसर दिया। पिपलाद ग्राम से अपनी कीर्तनमंडली के साथ आये हुए श्री शोभारामजी अपने एक

नये विशिष्ट ढंग से ऐसा सुन्दर कीर्तन करवाते थे कि सभी मन्त्रमुग्ध हो जाते। इन्होंने कुछ बालक-बालिकाओं को गरबा नृत्य तथा टिपरी नृत्य का शिक्षण दे रखा था।

गोपीवेष में सुन्दर शृंगार किये हुए बालिकाएँ सिर पर गगरी लिये हाव-भाव के साथ दही बेचने का अभिनय करती हुई कीर्तन करतीं। एक बालिका श्रीकृष्ण का वेश धारण करके नृत्यमुद्रा में ही उनसे जबरन दान लेने का अभिनय करती। बालिकाएँ विभिन्न लीलाओं के हाव-भाव प्रदर्शित करती हुई गरबा नृत्य प्रस्तुत करतीं।

बालक भी ग्वालवेष धारण कर टिपरी नृत्य के साथ कीर्तन करते। मध्य में श्री शोभारामजी स्वयं बाजा लेकर नृत्य करते थे।

श्री विद्याधरजी सराफ तो इस सब कीर्तन मंडल के प्रमुख ही थे। ये अपने सुन्दर मधुर कीर्तन से सबको मन्त्रमुग्ध सा कर देते थे। लोनारा ग्राम के वृन्दावनदास का भी इस अष्टमासीय कीर्तन में अत्यधिक सहयोग रहा। ये इस अवधि में यहीं रहे, संकीर्तन समाप्ति के पश्चात् श्री–जी के शरणापन्न होकर श्रीधाम ही आ गये।

श्री रमेश सराफजी भी भोपाल से आये हुए थे। शास्त्रीय संगीत में विशेष रुचि होनेसे ये भी अपने सुस्वर कीर्तन से सबको मुग्ध कर देते एवं स्वयं भी भावविभोर हो जाते। सपरिवार इनकी भी श्री–जी में अनन्य निष्ठा है। दाहोद से श्री–जी के परम कृपा-पात्र संगीताचार्य श्री जगदीशचन्द्रजी भी आये हुए थे। आपने अपने सुमधुर कीर्तन से सभी को बहुत आनन्द प्रदान किया। श्री भगवानदासजी कीर्तनियाँ तथा और भी कई भक्तजनों का कीर्तन में बहुत ही सहयोग रहा।

इस समस्त आनन्दोल्लास के उदगम स्थान के प्रत्यक्ष आनन्दमूर्ति श्री महाराजजी अपनी गद्दी पर बैठे हुए भेंटस्वरूप आये हुए फल, मिठाई, गोलियाँ, पुष्पगुच्छ एवं मालाएँ लुटाते रहते और लूटने वालों के भाग्य का तो कौन बखान करे, वे तो बच्चे, बूढ़े, तरुण का भेद भूलकर लूटते ही जा रहे थे दोनों हाथों से।

श्री–जी प्रतिदिन दो घण्टे कीर्तन कराते। माइकपर श्री–जी की आवाज सुनते ही दूर-दूर से लोग भागे चले आते। जगह भर जाती तो बाहर खड़े होकर सुनते। कुछ लोगों को तो खड़े होने की जगह भी नहीं मिलती तो माइक से सुनकर वहीं के वहीं झूमते रहते। कीर्तन में श्री महाराजजी की संगति श्री ठाकुरजी ही किया करते थे। इनका स्वर बहुत मधुर है। संगीत का अच्छा ज्ञान होने के साथ ही इनकी आवाज में एक ईश्वर प्रदत्त विशेषता है। श्री–जी के बाद श्री ठाकुरजी भी दो घण्टे कीर्तन करवाते थे। इतने उच्च स्वर से तन्मयतापूर्वक कराते थे कि जनता मन्त्रमुग्ध हो जाती थी।

इस प्रकार बीस-बाईस दिन अखण्ड प्रवाहित संकीर्तन सरिता की बाढ़ में सम्पूर्ण बड़वानी डूब गई। अब कीर्तन का समापन हो जायेगा, यह विचार ही लोगों को दुःखित कर रहा था।

समापन के समय पुनः रास-मंडली बुला ली गई। यहाँ एक बात स्मरणीय है कि स्वामी श्रीरामजी और स्वामी फतेहकृष्णजी विदेश में हो रहे अपने रास के कार्यक्रम को श्री–जी की आज्ञा से छोड़कर अपनी रास-मंडली लेकर बड़वानी आ गये थे।

अन्तिम दिन विशाल शोभायात्रा का आयोजन किया गया। सबसे आगे मंगल वाद्यों की ध्वनि, उसके पीछे एक सुसज्जित ट्राली में श्री शोभाराम भाई के निर्देशन में छोटी-छोटी बालिकाएँ श्रृंगार करके सिर पर रंग-बिरंगी मटकियाँ रखे हुए गोल घेरे में नृत्य करती चल रही थीं। उनके पीछे एक सुसज्जित रथ में रास-बिहारी प्रिया-प्रियतम एक सिंहासन पर विराज रहे थे। इस रथ के पीछे श्री महाराजजी अपने परिकरजनों के साथ पैदल ही चल रहे थे। कार में बैठने के लिये उनसे बहुत आग्रह किया गया, परन्तु श्री–जी ने स्वीकार नहीं किया। कीर्तन मंडलियाँ भी साथ-साथ कीर्तन करती हुई चल रही थीं। उनके पीछे अपार जनसमूह संकीर्तन करता हुआ चल रहा था।

सम्पूर्ण नगर तोरण, पताका तथा सुन्दर-सुन्दर विशाल द्वारों से सजाया गया था। द्वार-द्वार पर नर-नारी रास-बिहारी की आरती कर रहे थे। मार्ग में भी फल, मेवे, गोलियाँ इत्यादि लुटाये जा रहे थे। घर-घर की अट्टालिकाएँ,

छज्जे दर्शकों से भरे हुए थे। इस शोभायात्रा की सारी व्यवस्था में निगम साहब का विशेष सहयोग रहा। ये शोभायात्रा के मध्य ही शृंगार सहित प्रिया-प्रियतमस्वरूपों को सवारी के साथ अपने घर ले गये, पत्नी बच्चों सहित आरती की और प्रसाद वितरण किया। स्वागत के लिये इन्होंने अपना गृह-द्वार को तोरण और बिजली की मालाओं से सजा रखा था। लगभग चार घण्टे में जुलूस वापस आया। दूसरे दिन एक बृहद् भण्डारे का आयोजन किया गया और कई हजार लोगों ने प्रसाद पाया। संकीर्तन समापन के पश्चात् चार दिन तक रास हुआ। सब कीर्तन-प्रेमी-भक्तों के मन में उदासीनता आने लगी कि कल से कीर्तन के बिना सूना-सूना लगेगा, अतः यह बात श्री–जी के सम्मुख रखी गई। सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पास किया गया कि राममंदिर में प्रतिदिन संध्या को दो घण्टे कीर्तन होगा। इससे लोगों को सान्त्वना मिली। समापन के दूसरे ही दिन से संध्या को श्री–जी के द्वारा संकीर्तन प्रारंभ कर दिया गया, जो अद्यावधि चल रहा है।

श्री–जी यहाँ चार दिन और ठहरे। एक दिन श्री शोभारामजी श्री–जी को कुछ भक्तों सहित अपने यहाँ लिवा ले गये। जैसे ही श्री–जी सबके साथ ग्राम की सीमा पर पहुँचे, वहाँ पर उपस्थित श्री शोभारामजी एवं भक्तों ने पुष्पवृष्टि की और पाँवड़े बिछाते हुए उन्हें घर तक ले गये। आगे-आगे कुछ बालिकाएँ सिर पर कलश लिये नृत्य करती हुई चल रही थीं। घर में एक सुन्दर झूला सजा हुआ था। श्री–जी को उस पर विराजित किया गया। कुछ बालिकाएँ आरती लिये हुये झूले के आस-पास घूमकर सुन्दर ढंग से आरती कर रही थीं। इस दृश्य को देखकर श्री–जी के नेत्रों से अश्रुप्रवाह होने लगा तथा गम्भीर भाव-स्थिति हो गई। कुछ समय तक समस्त वातावरण स्तब्ध रहा। श्री–जी को भक्तमंडल सहित कुछ जलपान कराया गया।

इस प्रकार बड़वानी में श्री–जी के द्वारा सम्पन्न कीर्तनोत्सव का अत्यन्त आनन्द-दायक वातावरण दीर्घकाल तक जन-मानस पर छाया रहा एवं सदा-सदा के लिये अपनी अमिट स्मृति छोड़ गया।

बड़वानी से बिदा होने के एक दिन पूर्व आपने सब भक्तों को हास्य-प्रमोद द्वारा बहुत ही आनन्द प्रदान किया और खूब फल बाँटे। श्री–जी के इस

व्यवहार से भक्तों को कुछ शंका सी हुई कि कहीं यह प्रस्थान की भूमिका तो नहीं ? बात सत्य ही थी। जाते समय बहुत भीड़ इकट्ठी होगी और सब को बहुत दुःख होगा; इसीलिये श्री–जी ने प्रातः बिना बताये ही चले जाने की सोच कर निगमसाहब को सुबह जल्दी गाड़ी भेजने के लिये भी कह दिया था; परन्तु कुछ लोगों को इसका सुराग लग ही गया। जैसे ही निगमसाहब की कार श्री मोतीभाई के दरवाजे के सामने आकर खड़ी हुई, उसी मोहल्ले की एक लड़की ने देख लिया और चुपके से भागकर कीर्तन में आने वाली लड़कियों से कह आई। अब तो सभी लड़कियाँ, कुछ स्त्रियाँ तथा कुछ भक्त इकट्ठे हो गये और उन्होंने शीघ्रता से श्री–जी की कार को फूलों से सजा दिया। जय-जयकार की ध्वनि के साथ दुःखपूर्ण हृदय से सबने श्री–जी को बिदाई दी।

दिनांक दो जून, १९८३ को श्री–जी, ठाकुरजी, कुसुमजी तथा हीरालालजी की सुपुत्री राधा महेश्वर पहुँचे। मैं भी साथ ही था। मेरे बड़े भाई सख्याहरीजी एवं उनकी पुत्रियाँ शशि-बिजू ने श्री–जी से महेश्वर में अपने घर आने के लिये प्रार्थना की थी। महेश्वर में नर्मदा-स्नान और दर्शन इत्यादि के पश्चात् घर पर भोजन करके श्री–जी ने विश्राम किया। इसी समय श्री–जी का वियोग दुःख सहन न कर सकने के कारण बड़वानी से एक बस भर के भक्तजन पीछे-पीछे महेश्वर पहुँच गए। श्री–जी लगभग आठ घण्टे यहाँ रहे। यहाँ भी दर्शनार्थी भक्तों का ताँता लगा रहा। सायं छह बजे सब लोग महेश्वर से इन्दौर के लिये रवाना हो गये और वहाँ चार दिन रहे। बिदाई के समय बड़वानी में जो लोग श्री–जी का दर्शन नहीं कर सके थे, उनमें से कई लोगों ने इन्दौर पहुँचकर श्री–जी के दर्शन किए। इन्दौर से श्री–जी दस जून ८३ को श्रीधाम पहुँच गये।

कई दिनों के बाद बड़वानी से कीर्तन में सम्मिलित होने वाली लड़कियों का सामूहिक पत्र श्री–जी के नाम आया। लिखा था–"आपके आशीर्वाद से संकीर्तन में आने वाली हम सब लड़कियाँ परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुई हैं।"

इसके बाद वहाँ के कुछ भक्तों के भी पत्र आये कि कीर्तन के प्रारंभ में आपने कहा था–"जो भी मनोयोग पूर्वक कीर्तन करेंगे, उनकी सब कामनायें

पूर्ण होंगी।'' यह बात अक्षरशः सत्य हुई है। किसी की लड़की का विवाह कई वर्ष प्रयत्न करने पर भी नहीं हो रहा था, उसका विवाह हो गया, किसी को सन्तान नहीं थी, उसे सन्तान प्राप्त हुई, किसी की नौकरी नहीं लग रही थी, उसकी नौकरी लगी, किसी के मुकदमे का न्याय उसीके पक्ष में हुआ। इस प्रकार के पत्र कई दिनों तक आते रहे।

सबसे प्रमुख एवं उल्लेखनीय बात यह हुई कि इस अखण्ड संकीर्तन के प्रभाव से कई नास्तिक आस्तिक हो गये। बड़वानी के शुष्क वातावरण में भक्ति का संचार हुआ।

श्री–जी ने बड़वानी की नीरस भूमि को सरस और उर्वरा बनाकर संकीर्तन का जो पौधा रोपा, वह आज भी अपनी अद्‌भुत सुषमा के साथ वहाँ लहलहा रहा है।

श्री शालिग्राम दर्शन से भावानुभूति

एकबार श्री राधेश्यामजी बंका श्रीभाईजी द्वारा प्रदत्त अपने सेव्य शालिग्रामजी को लेकर वृन्दावन आये हुए थे। जिस दिन श्रीभाईजी द्वारा उन्हें यह अमूल्य निधि प्राप्त हुई थी, उसके ठीक बारह वर्ष पूर्ण हो जाने की तिथि पर पूज्य श्री महाराजजी के कर-कमलों से पूजन करवाने के उद्देश्य से वे उन्हें दिनांक १०.१२.८० को वेणुविनोदकुञ्ज में ले आये थे। मंदिर में उन्हें विराजित किया गया। श्रीभाईजी द्वारा प्रदत्त भगवान् शालिग्रामजी के दर्शन के लिये परिकर के सभी जनों के मन में उत्कण्ठा थी। सभी ने उनके दर्शन किये। श्री–जी ने भी कौतूहलपूर्वक दर्शन करते हुए उन्हें हाथ में उठा लिया और चारों तरफ से देखकर सब चिह्नों का परीक्षण किया। ''इनका मुख कहाँ है,'' श्री–जी के मन में यह कौतूहल बना रहा और यह बात मन में गहराई से रह गई। संध्या आरती के पश्चात् श्री बंकाजी श्री शालिग्रामजी को अपने आवास पर ले गये। रात्रि को बारह बजे से चार बजे तक उन्हें जो अनुभव हुआ, वह उन्हीं के शब्दों में यहाँ दे रहा हूँ –

"सम्पूर्ण नवद्वीप महाभाव से ऐक्य होकर गंभीर स्वरूप में अनुभव हो रहा था। श्री गंगातट पर निकलने में क्या बिलम्ब है ? पूछा समुत्सुकतया अपने छात्रों से।

गृहद्वार पर झुण्ड के झुण्ड, श्री निमाई पण्डित की प्रतीक्षा में छात्र मंडली स्थित है। उनमें से एक ने कहा—लो ये आ गये चपल सुकुमार गौर किशोर।

सर्वदा की भाँति, प्रतिदिनवत् संग; अत्युमंग में अनुगत हो गया वह (श्री महाराजजी) भी।

पुनीत गंगा-पुलिन प्रफुल्ल हो उठा पाकर विचित्र मंडली को—हाँ, मध्ये शोभित, विचुम्बित थी कमनीय गौर-छबि।

वह (श्री महाराजजी) नवान्तुक तो था नहीं, उसी साम्राज्य का पूर्ववत्, प्रतिक्षणवत् संयुक्त, संश्लिष्ट, स्वभाववशात् ही था। सभी पूर्ण परिचित समान वयस्क ही अनुभव में आ रहे थे। हाँ, सचकितावलोकन से विचार करने का स्वप्नावकाश के लिये भी अवकाश नहीं था।

ऐसे विक्रीड़ित रहते हुए न जाने कब श्री नीलाचल पहुँचा, पता नहीं चला।

नील-सागर के तट पर महाभाव-साम्राज्य में गौरांगसुन्दर अभिनव संन्यासी के रूप में सुशोभित थे।

क्या नील सागर, क्या नील अम्बर सम्पूर्ण प्रकृति गौरकिशोर से अभिन्न, अनुप्राणित, आलिंगित अनुभव हो रही थी। वह (श्री—जी) तट प्रान्त से संग ही मंदिर (श्री जगन्नाथजी) में तद्भावभावित प्रविष्ट हुआ। समक्ष, सन्निकट ही श्री नीलाचल-निवासी का हो रहा था सम्यक् दर्शन।

श्री महाप्रभु के साथ ही अंग-संग होकर ही, इन्हें नख-शिख भावाविष्ट दशा में देखते हुए ही, वह (श्री—जी) भी उस ओर हो रहा था। थोड़ा मुड़कर वह चिह्न अँगुली का दीख ही गया, जो कि वह स्थल चिह्नित होने के सौभाग्य से प्रसन्न हो चुका था पूर्व में। ऐसा वह अकथनीय, कल्पनातीत समय कि उनके

सहित यही सुचारु निर्णय हुआ 'उसका' कि प्रतिनित्य जैसे दर्शन के लिये आया करता था साथ उनके, यह चिह्न भी किसी दिन का अंकित अलंकृत है।

पता नहीं चला, पश्चात् कब वह (श्री–जी) कैसे पहुँचा श्री राधाकान्त मठ के प्रांगण में। हाँ, वे ही एक बंगाली बाबा उसे (श्री–जी को) मिले, पर वह (श्री–जी) एकाकी रह गया। संग से बिछुड़ कब गये महाप्रभु, कल्पना तक नहीं हुई। जब श्री महाराजजी पुरी गये थे, तब वही बाबा एक बंगाली माँ से भाव में विभोर सत्संग सुनाते हुए दीखे थे, सहसा मिले और हृदय से लगा लिया आगन्तुक (श्री–जी) को, पहचान लिया। साथ-साथ हाथ पकड़कर ले चले श्री गंभीरा मंदिर के नीचे तलघर में।

क्या कहें, वहाँ पर क्या हो रहा था ? केवल अनुभवजन्य विषय है। वह (श्री–जी) तो प्रतिदिन की भाँति ही अनुभव कर रहा था। श्रीमन् महाप्रभु भावाविष्ट दशा में, मनोमोहक मुद्राओं में परिमण्डित नृत्य कर रहे थे। हाँ, आगन्तुक (श्री–जी) का हाथ पकड़कर लगे नाचने। यह (श्री–जी) भी बेमान, विमुग्ध नाचने लग गया। परस्पर से कब विलग हुए पता नहीं चला।

जैसे दर्शन किया करता था, वैसे ही श्री राधाकान्त मंदिर में दर्शन करने वह (श्री–जी) समुत्सुक हो ही रहा था कि इतने में मनोदशा से समाकर्षित, अत्यन्त हर्षित नवकिशोर सुन्दर स्वरूप में समुपस्थित होकर श्री शालिग्रामजी ने कहा उस (श्री–जी) से–"मैं ही तो हूँ राधाकान्त।" प्रारंभ से ही स्मृति में समलंकृत जो थे श्रीशालिग्रामजी के स्वरूप में, स्वयं श्रीमुख से मूर्तिमान् आँखों में होकर अपना नाम प्रगट किया। क्षणार्ध में पूर्ववत् स्वरूप में हो गये यह कहते हुए–"मुझे कढ़ी भात, पतला-पतला फुलका, तस्मई, हलुवा, थोड़ा पापड़ खिलाओ। ये मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।"

फिर क्या था, इन सामग्रियों की व्यवस्था में लक्षित आँखें खुलीं। गुजरी हुई लीला की मादकता ही मण्डित थी। वे (श्री–जी) कर ही क्या सकते थे, बस, कथनानुसार भोग की व्यवस्था करने को कह दिया।

अब ज्ञात हुआ, श्री महामहिम, परम भागवत, महाभाव-भावित पूज्य श्रीभाईजी के करकमलों से कृपया प्रदत्त श्रीशालिग्रामजी का ही–थोड़े दर्शन

स्पर्श का ही यह अनिर्वचनीय प्रभाव था; वह भी यहाँ श्री वृन्दावन में आकर द्वादश वर्ष सम्पन्न हुए परिपूजित होते हुए।

चार बजे सुबह श्री घनश्यामजी की नींद खुली तो उन्होंने देखा कि श्री–जी रुक-रुक कर नाक से पानी पोंछ रहे हैं। यह आवाज बार-बार सुनकर घनश्यामजी ने कहा–"महाराजजी ! क्या आप रो रहे हैं ? कहीं चैतन्य मंडल में तो नहीं पहुँच गये ?"

श्री–जी ने कहा–"रात भर तो खूब सो रहे थे, अब बड़ी अन्तर्यामी सरीखी बातें कर रहे हैं।"

ठाकुरजी ने उठकर देखा तो निरन्तर अश्रुपात होने से श्री–जी का तकिया भीगा हुआ था, उसी समय सबको बैठाकर श्री–जी ने यह घटना सुनाई। सुनाते-सुनाते उनकी दशा विचित्र हो गई। आपके शरीर में रोमाञ्च, कम्प आदि अष्ट-सात्त्विक भाव जाग्रत हो गये। एक-दो बार तो आप फूट-फूटकर रो पड़े।

जब मनोरमाजी प्रणाम करने आईं तो श्री महाराजजी ने उनसे कहा– "आज श्री शालिग्रामजी को कढ़ी, चावल, खीर का भोग लगाओगे ?"

मनोरमाजी ने कहा–जी हाँ, आपकी इच्छा है तो लगायेंगे ही।

श्री बंकाजी को पुनः श्री शालिग्रामजी को लेकर आने को कहा गया तथा श्री–जी के आज्ञानुसार सभी पदार्थ बनाकर उनको भोग लगाया गया। सबने प्रसाद लिया। उस प्रसाद में भी सभी को एक विचित्र, मधुर स्वाद का अनुभव हुआ। इस प्रकार श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) द्वारा प्रदत्त श्री शालिग्रामजी की विचित्र महिमा प्रगट हुई।

श्री देवीजी के पिताजी को रज-प्राप्ति

श्री देवीजीके पिताजी श्री लक्ष्मीनारायणजी जमींदार श्री–जी के परिकर में पिताजी के नाम से ही विख्यात थे एवं उसीके अनुरूप उनका सबके प्रति स्नेह एवं आत्मीयता थी। श्री महाराजजी के प्रति उनकी श्रद्धा एवं समर्पण का तो कहना ही क्या! श्री–जी का वाक्य उनके लिये वेदवाक्य था। श्री–जी के आज्ञापालन में उचित-अनुचित के विचार ने उन्हें कभी स्पर्श ही नहीं किया, उनके लिये श्री–जी ही सब कुछ थे।

उन्हीं के अनुरूप उनके एकमात्र पुत्र श्री शिवकुमार (श्याम) एवं उनकी पत्नी माधवी का भी श्री–जी के प्रति पूर्ण समर्पण है।

पिताजी अपना सारा समय सद्ग्रन्थ पठन एवं भजन में व्यतीत करते थे। इनके इष्ट 'श्री रामजी' थे। श्री–जी की ही कृपा से श्री रामजी ने उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ किया।

बात यह थी कि एकबार अपने घर पर वे बहुत अस्वस्थ हो गये। एक महीने बुखार रहा। बहुत उपचार करने पर भी कुछ लाभ नहीं हुआ। वह स्वयं चिन्तित हो गये और श्री–जी का स्मरण करने लगे। प्रातःकाल चार बजे बैठे हुए थे कि अचानक मूर्तिमान् दृश्य दीखा–"प्रभु तरु तर कपि डार पर"। पिताजी इस दृश्य में आनन्दमग्न हो गये। इसका प्रभाव यह पड़ा कि वह एकदम स्वस्थ हो गये और प्रसन्नता से कुसुमजी को यह अनुभव बतलाकर ठाकुरजी को विशेष भोग लगाने को कहा।

एकबार उनके सारे शरीर में इन्फेक्शन हो गया और स्वास्थ्य बहुत ही बिगड़ गया। उन्हें आभास होने लगा कि अब शरीर नहीं रहेगा। उन्होंने शिवकुमार से कहा–"मुझे श्री–जी के चरणाश्रय में वृन्दावन ले चलो, मैं चाहता हूँ मेरा शरीर वहीं छूटे।"

शिवकुमार उसी समय टैक्सी करके उन्हें श्रीधाम ले आये। श्री–जी ने उन्हें ठीक हो जाने का आश्वासन दिया और रामकृष्ण मिशन हॉस्पीटल में भर्ती करवाया। कुछ ही दिनों के उपचार से वे स्वस्थ हो गये।

एकबार श्री–जी ने उनसे कहा था–हम आपको एक भागवत-सप्ताह सुनवायेंगे, परन्तु एक वर्ष तक कोई संयोग नहीं बना। पिताजी ने कुसुमजी के द्वारा श्री–जी को कहलवाया–श्री–जी मुझे भागवत-सप्ताह कब सुनवायेंगे ? जीते जी या मरने पर ? ज्योतिषी ने मुझे मारकेश दशा बतायी है। मेरा एक महीने का ही जीवन है।

इस बात को सुनकर श्री–जी ने कहा–मारकेश दशा कुछ नहीं कर सकती, हम उन्हें जीते जी ही भागवत-सप्ताह सुनवायेंगे। ज्योतिषी की ऐसी की तैसी। श्रावण मास चल रहा है। भाद्रपद में हम गोरखपुर जायेंगे; वहाँ से लौटने पर सप्ताह सुनवायेंगे।

सच ही गोरखपुर से लौटने के बाद श्री–जी ने कुसुमजी को श्रीमद्‌भागवत-सप्ताह की सब तैयारी करने के लिये शिकारपुर भेजा। भगवान् भी साथ था। रास्ते में बस-दुर्घटना हो गई। दोनों को बहुत चोट आई, पर भगवत्-योगक्षेम द्वारा सुरक्षित घर पहुँच गये। एक अज्ञात व्यक्ति सारे सामान सहित उन्हें घर पहुँचा गया। उसी समय पिताजी ने गोपाल द्वारा श्री महाराजजी को समाचार भेजा तथा पुछवाया कि अब भागवत कैसे होगी ? श्री–जी ने कहा–"भागवत अवश्य होगी, जो विक्षेप था, वह निकल गया।"

नवरात्रियों में श्रीमद्‌भागवत-सप्ताह का निश्चय हुआ और सभी परिकरजन श्री–जी के साथ शिकारपुर गये। आचार्य श्री किशोरीरमणजी द्वारा श्रीमद्‌भागवत-सप्ताह का बृहद् आयोजन निर्विघ्न तथा प्रसन्नतापूर्वक सम्पन्न हुआ। पिताजी बहुत ही प्रसन्न हुए।

इसके पन्द्रह दिन पश्चात् ही पिताजी श्री वृन्दावन-वास करने के लिये आ गये। भजन-पाठन में अपना समय व्यतीत करने लगे। इनकी रहनी से श्री महाराजजी बहुत प्रसन्न रहते थे। लगभग चार मास पश्चात् एकाएक इनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। मात्र आठ ही दिन साधारण रूप से अस्वस्थ रहे। चैत्र मास की नव वर्ष प्रतिपदा संवत्सर के दिन (सन् १९८० में) उन्हें धाम प्राप्ति हुई। श्री घनश्यामजी की गोदी में उनका सिर रखा हुआ था। श्री–जी स्वयं उनके नेत्रों के सम्मुख बैठे रहे एवं अन्तिम समय में उन्हें राधा नाम सुनाते रहे। पिताजी का सम्पूर्ण परिवार उस समय उपस्थित था।

श्री महाराजजी ने उन्हें वचन दिया था कि "अन्तिम समय में धाम भी मिलेगा और मैं भी सामने रहूँगा और ऐसा ही हुआ। श्री महाराजजी ने कहा कि इनका गमन ऐसा हुआ जैसे उच्चकोटि के साधक का होता है।"

श्री मोतीरामजी को रज प्राप्ति

श्री मोतीरामजी का परिचय पूर्व में विस्तार से दिया ही जा चुका है। नौ वर्ष पूर्व लकवाग्रस्त हो जाने से ये अपंग प्रायः हो चुके थे। ये पाँच दिन तक बेहोश पड़े रहे। श्री देवीजी ने श्री–जी से कहा–"महाराजजी! मोतीरामजी बहुत कष्ट पा रहे हैं,ऐसे पड़े रहने से क्या लाभ ? शरीर छूट जाय तो अच्छा"। श्री–जी ने एकदम कहा–"नहीं-नहीं, ये अच्छे हो जायेंगे और श्री बिहारीजी के दर्शन करने जायेंगे।" लकवा का प्रकोप बहुत भयंकर रूप से हुआ था। श्री–जी ने डेढ़ मास तक डॉक्टरों से इलाज करवाया, फलस्वरूप वे घूमने-फिरने लग गये। एक हाथ और एक पैर में कमजोरी रह गई थी, परन्तु श्री–जी की कृपा से धीरे-धीरे सर्वत्र घूम फिर आते थे। कभी-कभी अकेले ही व्रज की स्थलियों, श्री बाबा के दर्शन करने गोरखपुर तथा मध्यप्रदेश में भी घूम कर आ जाते थे।

सन् १६८४ में आपका शरीर अस्वस्थ रहने लगा। शिथिलता बहुत बढ़ जाने से शैय्या में ही पड़े रहने लगे। लगभग एक मास तक बहुत अस्वस्थ रहने के पश्चात् वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को श्री–जी के सामने ही आपको रज-प्राप्ति हो गई। उनके अन्तिम समय में श्री–जी के मन में यह संकल्प आया कि उन्होंने जीवन भर बहुत ही निष्ठापूर्वक सेवा की है। उन्हें तो पहुँचाना ही पड़ेगा।

यहाँ एक बात स्मरणीय है कि किसी सन्त-महापुरुष से की हुई प्रार्थना करने वाला चाहे भूल भी जाये, परन्तु सन्त कभी नहीं भूलते। श्री मोतीरामजी ने प्रथम दर्शन में ही "मेरा भी प्रणाम कहना उस नन्द के कुँवर से" कहकर श्री–जी की करुणा को जगा दिया था। उसी करुणा सीकर ने अन्तिम समय में उन्हें सम्हाल लिया।

प्रोस्टेट का ऑपरेशन

पाँच मई १९८४ को श्री–जी को कुछ ज्वर हो गया। साधारण समझकर उपचार होता रहा, परन्तु ज्वर ठीक नहीं हुआ। लघुशंका अवरोध की एक नई शिकायत हो गई। डॉक्टर कठिल को बुलवाकर कैंथेटर नली द्वारा पेशाब निकाल दिया गया, परन्तु नली निकालते ही पुनः वही शिकायत हो गई।

सर्वसम्मति से श्री–जी को देहली ले जाने का निश्चय हुआ। श्री–जी में अत्यन्त निष्ठा रखने वाले श्री काशीरामजी सर्राफ कुंज के निकट ही रहते थे। उनकी कार के लिये पूछा गया। अत्यन्त आवश्यक कार्य से उन्हें कहीं जाना था, परन्तु श्री–जी के स्वास्थ्य की बात सुनकर उन्होंने तुरंत ही कार देने के लिये स्वीकृति दे दी। इसी समय श्री–जी ने अचानक कहा–कार तो देहली से आज शाम को अपने आप ही वेणुविनोदकुंज के दरवाजे पर आ जायेगी।

श्री ठाकुरजी ने कहा–"महाराजजी ! देहली में न किसी को सूचना दी है, न किसी के आने का कार्यक्रम है, कार कहाँ से आएगी ?

श्री–जी ने कहा–देखिये, आज शाम सात बजे तक कार दरवाजे पर रहेगी और आश्चर्य की बात यह थी कि चाहे कारण कुछ भी बना हो ठीक सात बजे श्री डालमियाजी की कार वेणुविनोदकुंज के द्वार पर आकर खड़ी हो गई। सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। ऐसा लगा कि श्री–जी को अपनी अन्तर्दृष्टि से भविष्य में होने वाले ऑपरेशन की जानकारी थी।

सोलह मई को सुबह सात बजे श्री–जी, ठाकुरजी, मैं, कुसुमजी एवं भगवानदास देहली के लिये रवाना हो गये और साढ़े नौ बजे ईस्ट ऑफ कैलाश में श्री लालजी के यहाँ पहुँच गये। वे घर की दूसरी मंजिल पर रहते थे। अत्यधिक कमजोरी आ जाने से श्री–जी को नीचे की मंजिल में मकान-मालिक श्री गुप्ताजी के एक कमरे में पलंग बिछवा कर लिटा दिया गया। जाते ही घनश्यामजी ने डालमिया हाऊस फोन से श्रीमती ललिताजी एवं अरुणाजी को श्री–जी की स्थिति से अवगत कराया। उन्होंने कहा–आप

श्री–जी को लेकर "जैन मेडिकल सेन्टर" (साउथ एक्सटेन्शन) पहुँचिए; हम भी वहीं पहुँचते हैं।" ऐसा ही किया गया।

डॉ. जैन ने श्री–जी का इलाज प्रारंभ कर दिया। ग्लूकोज चढ़ाया एवं इन्जेक्शन दिए गये। शाम तक श्री–जी के स्वास्थ्य में काफी सुधार दिखाई देने लगा तथा रुका हुआ पेशाब पूर्ण रूप से आने लगा। दूसरे दिन शाम को डॉक्टर की अनुमति से श्री–जी को लालजी के घर ले आये परन्तु फिर वही शिकायत प्रारंभ हो गई। डॉ. जैन को फोन किया गया और उसी समय उनके आज्ञानुसार श्री–जी को नर्सिंग होम ले जाया गया। नली डाल दी गई और यूरीन तथा ब्लड परीक्षण आदि सभी प्रकार के परीक्षण शुरू हो गये। अल्ट्रा साउण्ड से किडनी देखी गई, परन्तु कुछ निर्णय नहीं हुआ। प्रोस्टेट स्पेशलिस्ट सर्जन मैथ्यूस को बुलाया गया और दोनों डॉक्टरों ने यन्त्र द्वारा आधे घण्टे तक परीक्षण किया। फलस्वरूप पता चला कि प्रोस्टेट बहुत बढ़ गया था तथा शीघ्रातिशीघ्र ऑपरेशन करना आवश्यक था। अन्ततः इक्कीस मई की तारीख ऑपरेशन के लिये निश्चित हुई।

सुबह से ऑपरेशन की तैयारी हो गई। श्री–जी प्रसन्न थे। हम लोग उदास खड़े थे। हमें उदास देखकर श्री–जी ने मुस्कराते हुए कहा–"बेहोश करने के बाद कुछ भी करते रहें, हमें क्या ? हमें तो जरा भी विचार नहीं है।" ऑपरेशन का समय आया। प्रातः साढ़े सात बजे ऑपरेशन होने वाला था। कमरे के बाहर ठाकुरजी, मैं, कुसुमजी, मनोरमाजी, अलबेलीशरणजी, श्याम, माधवी, नीना, गोपी, लालजी, चोपड़ाजी, स्वामी श्रीरामजी और भी बहुत से लोग थे।

श्री–जी को स्ट्रेचर पर लिटाकर ले जा रहे थे। हम लोगों के मुख पर अत्यन्त उदासीनता छाई हुई थी। श्री–जी हमें देखकर मुस्कराये, बोले–"चिन्ता की क्या बात है ? अभी थोड़ी देर में आता हूँ।" परन्तु इस बात से हमारी उदासीनता दूर होना संभव नहीं था।

ऑपरेशन थियेटर में बड़े डालमियाजी (श्री जयदयालजी) अपने हाथ में माला झोली लिये श्री–जी के सिरहाने खड़े थे। डॉ. जैन से उनका घनिष्ट सम्बन्ध था। उन्होंने डॉक्टर से कह दिया था–"मैं पास खड़ा होकर ऑपरेशन

देखूँगा।" बाहर के काँच से श्री लालजी देख रहे थे। ऑपरेशन लगभग दो घण्टे चला और बड़े डालमियाजी टेबिल के पास खड़े होकर श्री–जी को नाम सुनाते रहे। बाद में श्री–जी को स्ट्रेचर द्वारा वार्ड में लाकर लिटा दिया गया। सबके लिये एक साथ अन्दर जाने का निषेध था। हम में से एक ही व्यक्ति अदल-बदल कर कमरे में रहता था।

डॉक्टर साहब ने काटकर निकाली हुई प्रोस्टेट ग्रन्थि एक कटोरी में रखकर हमें दिखाई। वह छोटी गेंद के बराबर थी। मैंने डॉक्टर साहब से पूछा–यह कितनी बढ़ गई थी? उन्होंने कहा–बीस गुनी। हमें बड़ा आश्चर्य हुआ। इसी के कारण श्री–जी को बहुत कष्ट उठाना पड़ता था। ऑपरेशन बहुत अच्छा हो गया। ऑपरेशन से पूर्व डॉक्टर जैन ने कहा था कि इस ऑपरेशन में ब्लड बहुत जाता है, अतः ब्लड चढ़ाना पड़ेगा। परन्तु श्री–जी ने कहा–"मुझे किसी का रक्त नहीं लेना है।" डॉक्टर ने कहा–जहाँ तक संभव होगा, आपकी आज्ञा का पालन करूँगा, परन्तु आवश्यकता होने पर आज्ञा-पालन में समर्थ नहीं हो सकूँगा, कारण इस ऑपरेशन में ब्लड चढ़ाना ही पड़ता है। श्री–जी चुप ही रहे, कुछ बोले नहीं।

किसी को न बताते हुए डॉक्टर ने ब्लडबैंक से ब्लड मँगवाकर रख लिया था। श्री–जी के परिकर के हम लोग चाहते थे कि ब्लडबैंक का ब्लड न लेकर हम सब में से ही जिसका भी ग्रुप मिलता हो, उसका ब्लड ले लिया जाय। इसके अतिरिक्त लालजी, श्री उषाजी भटनागर का भाई श्रुतिमोहन, अमीचन्दजी, रमेश कोहली, स्वामी श्रीरामजी आदि सभी लोग ब्लड देने के लिये सहर्ष तैयार थे। अनुरोध करने पर डॉ. जैन ने भी सभी का ब्लड ग्रुप टेस्ट कर लिया था।

परन्तु महदआश्चर्य, ऑपरेशन में रक्त देने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। डॉक्टर साहब ने कहा–जितना ब्लड जाना चाहिए था, उतना नहीं गया। दूसरे का ब्लड न लेने का श्री–जी का संकल्प था। उनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ काम हो ही कैसे सकता था? बाद में होमोग्लोबिन चैक करने पर दस परसेंट निकला, जितना होना आवश्यक होता है।

जिनके रोम-रोम में श्रीकृष्ण हों, उन्हें अन्य किसी का ब्लड दिया भी कैसे जाता? श्री—जी के संकल्प की रक्षा श्रीकृष्ण ने स्वयं ही की। ऑपरेशन सफलता-पूर्वक हो जाने की सूचना सर्वप्रथम स्वामी श्रीरामजी ने वृन्दावन आकर दी थी।

तीन दिन तक श्री—जी को अत्यन्त बेचैनी रही। ऑपरेशन के पश्चात् जब श्री—जी को वार्ड में लाकर लिटाया गया तो ट्यूब डालकर दो थैलियाँ दोनों तरफ लटकाई गईं। उसी दिन श्री विष्णुहरिजी डालमिया श्री—जी को देखने आये। दोनों थैलियाँ रक्त से भरी हुई देखकर घबरा गये और कमरे से बाहर निकल कर जोर-जोर से "डॉक्टर, डॉक्टर" कह कर जैन साहब को बुलाने लगे। डॉ. जैन भागकर उनके पास आये। श्री विष्णुहरिजी ने घबराते हुए कहा—"डॉक्टर! यह क्या हो रहा है? खून से थैलियाँ भर रही हैं। आपसे यदि श्री महाराजजी की हालत नहीं सम्हाली जाती तो कहीं से भी, किसी कीमत पर भी किसी डॉक्टर को बुला लें।" जैन साहब ने मुस्कराते हुए कहा—"आप घबराइए नहीं, स्थिति मेरे नियन्त्रण में है। कोई चिन्ता की बात नहीं।"

इतनी कष्टमय स्थिति में भी श्री—जी प्रसन्न रहते थे। जहाँ तक हो सकता था, अपने आप उठने की चेष्टा करते। हममें से एक-दो व्यक्ति सदा पास ही रहते थे।

बड़े डालमिया श्री जयदयालजी, श्री विष्णुहरि डालमियाजी, अरुणाजी, ललिताजी, इन्दुजी आदि सभी लोग श्री—जी को देखने नित्य ही आते थे। श्री—जी लेटे-लेटे भगवत्-चर्चा करते थे। प्रायः बड़े डालमियाजी से नित्य ही थोड़ी बहुत भगवत्-चर्चा होती ही रहती।

मध्य-मध्य में हमें श्री—जी से कहना पड़ता था—आप विशेष कमजोर हैं, अधिक बोलने से थक जायेंगे। श्री—जी "अच्छा, अच्छा" कहकर कुछ क्षण चुप रह जाते परन्तु पुनः आये हुए लोगों की प्रसन्नता के निमित्त बातचीत करने लगते। श्री—जी का कष्ट देखकर हम लोग काँप जाते परन्तु इतने कष्ट में भी आप प्रसन्न रहते। ऑपरेशन ठीक हो जाने के कुछ दिन पश्चात् श्री विष्णुजी विदेश चले गये थे। श्री—जी को लेटे-लेटे शौच जाने का अभ्यास

न होने से तीन दिन से पेट साफ नहीं हुआ था, इससे बेचैनी और बढ़ गई थी। डॉक्टर ने बैठने के लिये मना किया था। तीसरे दिन दोपहर श्री–जी के पास भगवानदास को छोड़कर ठाकुरजी लालजी के यहाँ कुछ समय के लिये चले गये थे। पीछे से श्री–जी ने भगवानदास से कहा–देखो, मुझे पलंग से नीचे बैठा दो, तो शौच साफ हो जायेगा। भगवानदास के मना करने पर भी आप पलंग से उतर कर नीचे बैठ गये। शौच तो साफ हो गया, पर भीतरी टाँके चट, चट की आवाज के साथ टूट गये। थोड़ा हलकापन महसूस हुआ, पर शीघ्र ही ऑपरेशन स्थान पर वेदना होने लगी। डॉक्टर जैन ने पुनः परीक्षण करके बताया–टाँके टूट गये हैं पुनः ऑपरेशन करना पड़ेगा। डॉक्टर भी बहुत दुःखी हुआ। अत्यन्त वेदना हो रही थी, अतः उसी समय ऑपरेशन थियेटर में ले जाने की व्यवस्था की गई। श्री घनश्यामजी ने डालमियाजी को फोन द्वारा इसकी सूचना दी और शीघ्र आने के लिये कहा। उन्होंने कहा–मैं पूजा करके दस-पन्द्रह मिनिट में आ रहा हूँ। पर घनश्यामजी ने कहा–पूजा बाद में कर लीजियेगा, आप शीघ्रातिशीघ्र आ जाइये। उन्होंने स्वीकृति दी तथा उसी समय अस्पताल आ गये और ऑपरेशन थियेटर में मालाझोली हाथ में लिये टेबिल के पास खड़े होकर नाम सुनाते रहे।

इस ऑपरेशन में श्री–जी को बहुत ही कष्ट उठाना पड़ा, परन्तु आपकी गंभीरता यथावत् रही। इसी बीच एक दुःखद घटना हो गई। श्री पुरुषोत्तमजी धानुका कार दुर्घटना में बुरी तरह घायल हो गये थे और उनकी धर्मपत्नी की मृत्यु घटनास्थल पर ही हो गई। दिल्ली के अस्पताल में धानुकाजी को भर्ती करवाया गया और कई दिन बेहोश रहने के पश्चात् होश में आये। वे श्री–जी के प्रति बहुत श्रद्धा रखते थे। इस दुर्घटना की सूचना नर्सिंग होम में जब श्री–जी को मिली तो आपको बहुत दुःख हुआ। श्री–जी अपना कष्ट तो भूल गये और उसी समय श्री घनश्यामजी को देखने के लिए भेजा। आशीर्वाद प्रदान करते हुए कहलवाया–"चिन्ता न करें, ठीक हो जायेंगे।"

श्री धानुकाजी होश में तो आ गये थे, परन्तु कई दिनों से शौच अवरोध हो जाने से उन्हें बहुत कष्ट था। डॉक्टरों के प्रयत्न का भी कुछ फल नहीं हुआ।

श्री–जी को जब ज्ञात हुआ तो कहा–उनसे पूछो, सुबह क्या खाते थे ? पता चला उन्हें सुबह छैना लेने का अभ्यास था, परन्तु डॉक्टरों की राय से ऐसी स्थिति में छैना देना हानिकारक था। श्री–जी ने कहा–"उन्हें छैना दो।" छैना दिया गया, फलस्वरूप पेट साफ हो गया और धीरे-धीरे स्वास्थ्य में सुधार आने लगा। वे स्वस्थ हो गये। जब भी वे वेणुविनोदकुंज में आते तो यह कहे बिना नहीं रहते कि श्री–जी ने इसी बहाने मुझे जीवन-दान दिया।

सचमुच ही इतनी वेदनाग्रस्त स्थिति में नर्सिंग होम में पड़े हुए होने पर भी श्री–जी के मन में कितनी करुणा थी। अपने दुःख की तनिक भी चिन्ता न करते हुए परदुःखकातरतावश अपने संकल्प से आपने श्री घानुकाजी को भयंकर आपत्ति से मुक्त किया।

दूसरा ऑपरेशन हुए दो या तीन दिन हुए थे, दर्द तो रहता ही था। एण्टीबाइटिक तथा नींद की गोलियाँ श्री–जी को दी जा रही थीं। उसका नशा बना ही रहता था। इस स्थिति में भी आप अपने भाव की स्थिति में ही रहते थे। कुछ अस्पष्ट शब्द मुँह से निकलते तथा अँगुलियाँ उठा कर कुछ इशारे से करते, जिससे अनुमान होता कि अपने अनुभव-राज्य में ही विचरण कर रहे हैं।

एक दिन रात को, लगभग सवा ग्यारह बजे स्पष्ट शब्दों में घनश्यामजी से कहने लगे–"देखोजी ! भारतीय सेना ने स्वर्णमंन्दिर पर चढ़ाई कर दी है, घमासान युद्ध हो रहा है, गुरुद्वारे की दीवारें तोड़ दी गई हैं। विजय तो अपनी सेना की ही हो रही है।" सुनकर श्री घनश्यामजी मुस्कराये। धीरे से श्री–जी से कहा–महाराजजी, आप सो जाइए, एण्टीबाइटिक गोलियाँ खाने से आपको कुछ का कुछ दीख रहा है। श्री–जी चुप लगा गये।

प्रातः छह बजे नित्य के अनुसार श्री बड़े डालमियाजी श्री–जी के लिये डाभ तथा गंगाजल लेकर आये। श्री–जी ने रात को जो देखा, उन्हें भी सुनाया। सुनकर वे स्तंभित से रह गये। उनके नेत्रों में आँसू भर आये। कहने लगे–आपने जो देखा वह पूर्ण रूप से सत्य है। मैं रात को बी. बी. सी. लन्दन का रेडियो स्टेशन लगाकर बैठा था। आपके कहे अनुसार ठीक सवा ग्यारह

बजे भारतीय सेना ने स्वर्णमन्दिर पर चढ़ाई कर दी तथा अन्दर घुसकर भिंडरावाले और उनके अनुयायियों को मौत के घाट उतार दिया। घमासान लड़ाई के बाद स्वर्णमन्दिर पर कब्जा कर लिया गया। श्री–जी के अन्तर्यामित्व को देखकर श्री डालमियाजी आश्चर्यचकित थे।

वृन्दावन में जब इस प्रसंग की चर्चा चलती, तब श्री–जी हँसते हुए कहते–देखोजी, घनश्यामजी को जब हमने यह बात सुनाई तो ये कहने लगे– "एण्टीबाइटिक से आपको कुछ का कुछ दीखता है, आप सो जाइये" और सब हँस पड़ते। अस्तु।

शनैः - शनैः श्री–जी का स्वास्थ्य सुधरने लगा। कुछ दिन बाद धीरे-धीरे उन्हें अस्पताल के द्वार तक घुमाने ले जाने लगे। नली लगी हुई थी, अतः एक कुर्ता ही पहने रहते थे। इस स्थिति में भी श्री–जी प्रसन्न ही दीखते तथा हँसी-विनोद करते रहते।

जैन होने के नाते डॉक्टर साहब ने अस्पताल के बरामदे में महावीर स्वामीजी की एक बहुत बड़ी तस्वीर लगा रखी थी। श्री–जी गेट तक घूमकर वापस आ रहे थे। मैं, लालजी, ठाकुरजी उनकी बाँह पकड़े साथ ही थे। श्री–जी की दृष्टि उस चित्र पर पड़ी। हँसते हुए विनोद से हाथ उठाकर कहने लगे–"यार, हम तुम दोनों दोस्त ही हैं, देखो ! तुम भी दिगम्बर हो और मैं भी।" हम सब हँस पड़े। एक माह तीन दिन हॉस्पीटल में रहने के पश्चात् श्री–जी को लालजी के घर लाया गया। यहाँ भी डालमिया परिवार नित्य ही श्री–जी को देखने आता रहता। बड़े डालमियाजी तो प्रतिदिन तेल की शीशी साथ लेकर आते और बहुत मना करने पर भी अपने हाथों से श्री–जी के चरणों की मालिश करते।

वृन्दावन से भी परिकर-जन श्री–जी को देखने आते रहते। श्री देवीजी वृन्दावन से बाहर नहीं जातीं, इसलिए ये श्री–जी के स्वास्थ्य के लिये अत्यधिक चिन्तित रहती थीं और प्रायः नित्य ही किसी को देहली भेज कर स्वास्थ्य के समाचार मँगवा लेती थीं। एकबार स्वामी श्रीरामजी की मंडली के ठाकुर तथा श्रीजी स्वरूप–लक्ष्मीनारायण एवं राधारमणजी भी स्नेहवश श्री–जी

को देखने गये। श्री–जी के परिकर में श्री–जी के प्रति श्री देवीजी का प्रेम तथा श्रद्धा विशेष प्रगाढ़ है। श्री–जी का स्वास्थ्य थोड़ा भी खराब होने पर ये अत्यधिक चिन्तित हो जातीं। इस ऑपरेशन के समय तो इनकी स्थिति "जल बिन मीन की सी" हो रही थी। वृन्दावन छोड़कर जाना असह्य और श्री–जी के स्वास्थ्य से चिन्तित हो दूर रहना भी असह्य। इस वेदना का वर्णन करना कलम और बुद्धि के सामर्थ्य के बाहर है।

एक दिन वे इतनी बेचैन हो उठीं कि अपनी दीर्घकालिक प्रतिज्ञा को छोड़कर श्री–जी को देखने देहली जाने का निश्चय कर लिया। रात को टैक्सी तय करवा ली। दो जनों को अपने साथ ले जाने के लिये तैयार कर लिया। आप भी तीन बजे उठकर तैयार हो गईं। टैक्सी द्वार पर आकर खड़ी हो गई। जाने के पूर्व यह निश्चय किया कि टैक्सी से सीधे दवाखाने जाकर और श्री–जी का स्वास्थ्य देखकर रास्ते में पानी भी न पीते हुए शाम तक वृन्दावन लौट आना है। जब जाने को उद्यत हुईं तो किसी अज्ञात प्रेरणा ने इन्हें रोक लिया। टैक्सी वापस लौटा दी गई परन्तु बेचैनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई, जिसका अनुभव हॉस्पीटल में श्री–जी ने किया और वहाँ से इन्हें कहलवाया–"इतना व्याकुल नहीं होना चाहिए। यहाँ मेरे ह्रदय पर गहरा असर होता है। इस समय मुझमें कमजोरी अधिक है।"

इसके कुछ दिन पश्चात् एक दिन देवीजी तीन-चार व्यक्तियों के साथ श्री गयाप्रसाद पण्डितजी के दर्शन करने गोवर्धन गईं। वैसे पण्डितजी का नियम था कि वे स्त्रियों से बात नहीं करते थे, परन्तु श्री देवीजी को बहिन कहकर पुकारते थे और सामने बैठाकर बात करते थे। श्री पण्डितजी ने श्री–जी के स्वास्थ्य के समाचार पूछे। वैसे भी वे इन दिनों दो-चार दिन में गोवर्धन से अपना एक व्यक्ति श्रीधाम वृन्दावन भेजकर श्री–जी के स्वास्थ्य के समाचार मँगवा लेते थे।

थोड़ी देर पश्चात् पण्डितजी ने सब व्यक्तियों को वहाँ से हटवा दिया, केवल उनकी नियम रक्षा के उद्देश्य से एक सेवक वहाँ रहा। फिर देवीजी से कहा–"बहिन! देखो, श्री–जी के प्रेम में तुम्हारी जो दशा हुई है,

हमको उसका यहाँ सब अनुभव हुआ है। तुमको यह अमोघ निधि मिली है। सम्हालकर रखना।"

उधर दिल्ली में श्री–जी का स्वास्थ्य शनैः-शनैः सुधरता गया और श्री–जी लालजी के यहाँ पन्द्रह दिन विश्राम करके वृन्दावन आ गये।

जन्मोत्सव

श्री–जी के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं को वर्षों से क्रमानुसार लिपिबद्ध करता आ रहा हूँ, परन्तु "उनका जन्मोत्सव" जो कि वेणुविनोद-कुंज के उत्सवों में अत्यन्त विशिष्ट है, उसका वर्णन करने का स्मरण बहुत विलम्ब से आया। प्रारम्भ में परिकरजनों एवं भक्तों के हृदय में श्री–जी का जन्मोत्सव मनाने के उत्साह की एक छोटी सी तरंग ने धीरे-धीरे ही समुद्र का रूप धारण किया तथा यह उत्सव एक अपूर्व भावात्मक रूप में उभर कर सामने आया। भक्तगण पूरे वर्ष इस उत्सव की प्रतीक्षा करने लगे।

भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, चतुर्नाम वपु एक।
इनके पद वन्दन किए, नासत विघ्न अनेक।।

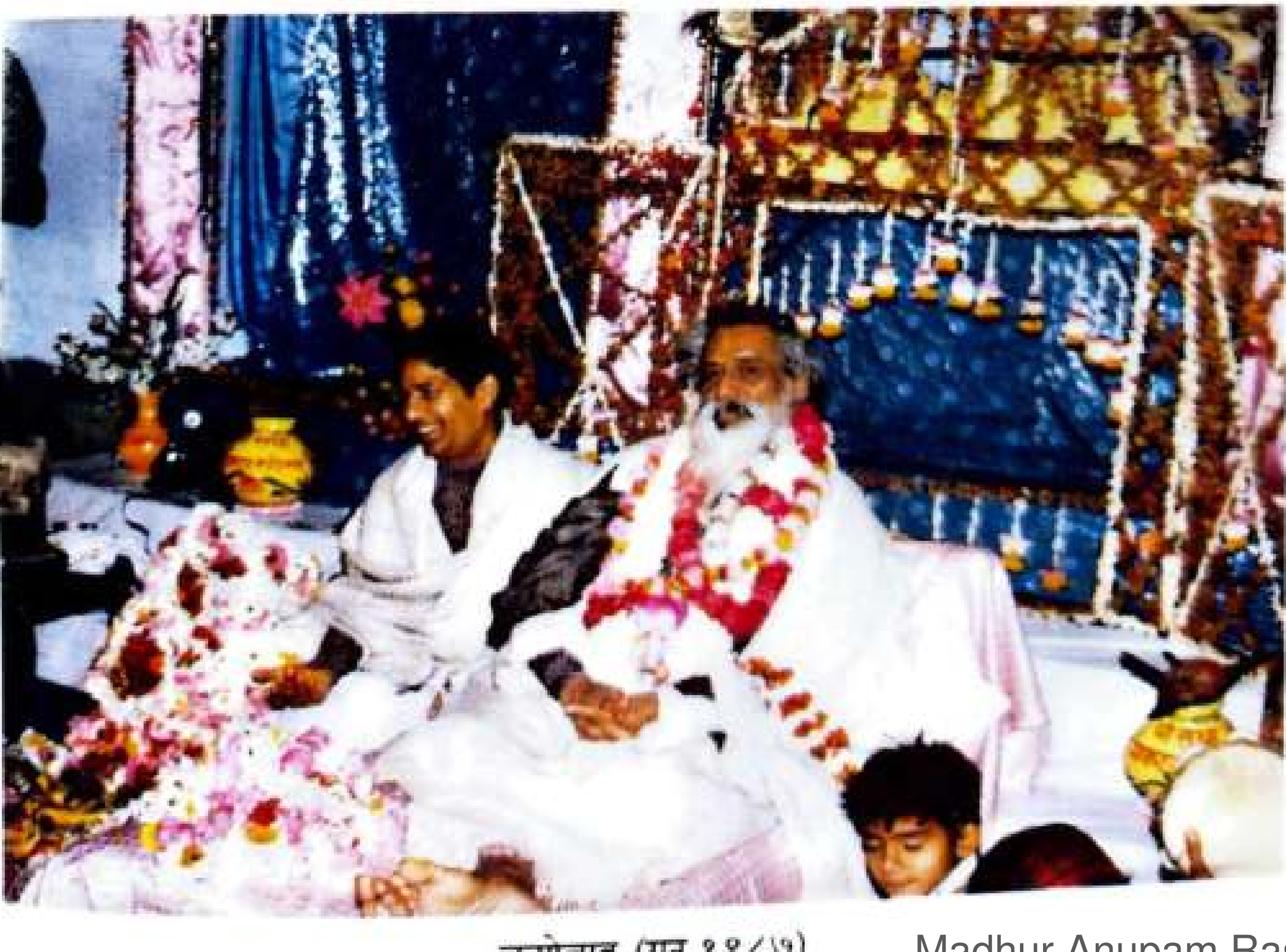
इस उक्ति के अनुसार सन्त भगवान् के ही अभिन्न स्वरूप हैं। जन-कल्याण के लिये ही सन्त इस धराधाम पर जन्म लेते हैं तथा भगवद्-भक्ति का प्रचार करके जीव के उद्धार का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

इनके प्राकट्य मात्र से ही परम सात्विक वातावरण परिव्याप्त होता है और सर्वत्र एक उल्लास भर जाता है। इनके प्रकट होते ही जीव ही नहीं पितृगण भी महान् शान्ति-सुख का अनुभव कर जय-जयकार करते हुए नृत्य करने लगते हैं। कहते हैं—हमारे कुल में एक महान् भगवद्-भक्त ने जन्म लिया है, अब निश्चित ही हमारा उद्धार हो जायेगा।

सन्तचरणाश्रय प्राप्त करके साधक-जिज्ञासुजन परम प्रसन्न होते हैं तथा इस आनन्द को जन्मोत्सव के रूप में प्रकट करते हैं। सन्त असंख्य जीवों को प्रभु-प्रेम की सरिता में नहलाते हैं तथा अपनी कृपा से भक्ति और सद्गति प्रदान कर भगवत्-चरणों तक पहुँचाते हैं। सन्त-कृपा का आस्वादन



श्रीवेणुविनोद कुंज में जन्मोत्सव : श्री महाराजजी के साथ श्रीपाद बाबा



जन्मोत्सव (सन् १९८७)

कर जीव कृतकृत्य हो जाते हैं तथा इस सुख का आह्लाद जन्मोत्सव के रूप में अभिव्यक्त करते हैं।

वह सुख, वह आनन्द का ज्वार जन्मोत्सव मनाने के लिये उन्हें बाध्य ही कर देता है।

सन्त-जन्मोत्सव एक महान् आह्वान है सम्पूर्ण जीवों के लिए। इस आह्वान को जो भी भाग्यशाली सुन लेता है, वह इस उत्सव के माध्यम से सन्त-चरणों में आ जाता है और सहज ही जीवन-लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है तथा इस महान् दुस्तर भवसागर से पार हो जाता है।

इसी आनन्द-सुख को लूटने-लुटाने हेतु श्रद्धालु भक्तजन उत्साह से सन्त-जन्मोत्सव मनाते हैं। इसमें मनोरंजन की कल्पना भी अपराध ही होगी। पाठकगण इसके महत्त्व को समझकर यदि इस जन्मोत्सव प्रकरण को मनोयोगपूर्वक पढ़ेंगे तो ही इसके मर्म को हृदयंगम कर पायेंगे।

मधुर भाव के रसिक-सन्त श्री महाराजजी श्रीधाम वृन्दावन की एक बहुमूल्य निधि थे, परन्तु वे सदैव ही श्रीधाम में प्रछन्न रूप से ही विराजमान रहे। यहाँ तक कि अपने परिकरजनों से भी श्री–जी ने अपने पूर्वाश्रम के विषय में विशेष रूप से कभी कुछ नहीं कहा।

यह एक विचित्र संयोग ही बना कि रामेश्वर-यात्रा के अवसर पर अपने गृह-परिजनों से श्री–जी का मिलन हुआ। उस समय हमें भी श्री–जी के परिवारी-जनों के दर्शन करने का अवसर मिला था। वहाँ से लौटते हुए श्री–जी की बड़ी बहिन श्री यदुगिरिजी से हम पूज्य श्री महाराजजी की जन्मकुण्डली ले आये थे। बस, यहीं से जन्मोत्सव मनाने का संकेत प्राप्त हुआ। सन् १९५५ तक हम गुरुपूर्णिमा का उत्सव सूक्ष्म रूप से मनाते थे।

एकबार बातों ही बातों में श्री बनवारीशरणजी ने कहा–हम तो श्री–जी का जन्मदिन मनायेंगे। श्री–जी की जन्मकुण्डली के अनुसार मार्गशीर्ष शुक्ला मोक्षदा एकादशी (गीता-जयन्ती) उपस्थित होने पर श्री बनवारीशरणजी एक सेर गुलाब जामुन ले आये और श्री–जी के चित्रपट को भोग लगाया, क्योंकि इन दिनों श्री–जी अज्ञातवास में थे। इस तरह भोग लगाकर प्रणाम मात्र करके

ही प्रथम वर्ष का यह जन्मोत्सव सम्पन्न हुआ। दूसरे वर्ष भी बनवारीशरणजी ने ही भोग लगाया। अभी तक श्री–जी लौटकर नहीं आये थे।

सन् १६५७ में जन्मोत्सव श्री–जी की उपस्थिति में संक्षेप में ही मनाया गया। भोग-प्रसाद एवं पुष्प माला अर्पण करके सम्पूर्ण रात्रि संकीर्तन किया गया। गोपाल-मंदिर में जन्मोत्सव का यही रूप रहा। सन् १६६३ में वेणुविनोद-कुंज का निर्माण हो चुका था। माघी पूर्णिमा सन् १६६३ को श्री–जी हम सबके सहित इस नये मकान में रहने आ गए और उन्होंने इसका नाम "वेणु-विनोदकुंज" रखा।

सन् १६६४ के दिसम्बर में अगहन शुक्ला एकादशी को यहीं पर केवल परिकर के दस-पन्द्रह व्यक्तियों के मध्य ही श्री–जी का जन्मोत्सव उत्साह से मनाया गया। बन्दनवार और कदलीस्तम्भ से सजावट की। श्री महाराजजी को नवीन वस्त्र धारण कराकर चन्दन इत्यादि से पूजन कर माल्यार्पण किया। अपनी-अपनी भावना के अनुसार फल-मिठाई भोग में रखे गये एवं आरती उतारी गई। केवल घनश्यामजी ने ही मंगल पदों का गान किया। ठा॰ विनोदविहारी को कुछ विशिष्ट भोग लगाया गया। श्री–जी के साथ सबने प्रसाद पाया और रात्रि भर अखण्ड संकीर्तन किया। बस, इसी वर्ष से जन्मोत्सव की रूपरेखा बनी, जो प्रति वर्ष वर्धित होती गई। दूसरे वर्ष परिकर तो बढ़ता गया, परन्तु उत्सव का रूप वही रहा। सन् १६६४ से १६७४ तक उत्सव नीचे के कमरे में इसी ढंग से मनाया जाता रहा। अब परिकर कुछ और बढ़ा। देहली आदि स्थानों में रहने वाले श्री–जी के भक्तगण भी उत्सव में सम्मिलित होने लगे। श्री देवीजी के सभी सम्बन्धी आदि आने लगे। इन सभी की श्री–जी में अनन्य निष्ठा है। देवीजी के भाई शिवकुमार एवं उनकी धर्मपत्नी माधवी का तो गुरुपूर्णिमा एवं जन्मोत्सव पर श्री–जी के दर्शनों के लिये सपरिवार आने का नियम ही बना हुआ था। उत्सव की व्यवस्था में उनका विशेष सहयोग रहता था।

भक्तजनों के बढ़जाने से नीचे का कमरा छोटा पड़ने लगा। अब उत्सव का आयोजन ऊपर वाले हॉल में होने लगा। हम लोग आम्र, अशोक के पत्तों के बन्दनवार और रंग-बिरंगे पुष्पों से ऊपर वाले हॉल को खूब सजाने



श्रीवेणुविनोद कुंज में जन्मोत्सव



श्रीवेणुविनोद कुंज में होली उत्सव



जन्मोत्सव : परिकर सहित यमुना आचमन करके आते हुए श्रीमहाराजजी



जन्मोत्सव (११-१२-८६): यमुना तटपर परिकर सहित विराजित श्रीमहाराजजी



वेणुविनोद कुंज परिकर के मध्य श्रीमहाराजजी

लगे। पुष्प-सज्जा आकर्षक कागजों की झंडियों से भी की जाती। बाँस की टटियों को मंडपाकार में बाँधकर गेंदों के फूलों से सजाते। इस समय स्वामी श्रीरामजी एवं संगीतज्ञ श्री हरिवल्लभजी भी उत्सव में सम्मिलित होने लगे। विशेषकर रात्रि भर का अखण्ड संकीर्तन इनके सहयोग से बहुत ही धूम से चलता था।

परिकरजनों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ने लगी, अतः सन् १९८१ से उत्सव का आयोजन नीचे वाले आँगन में होने लगा। अभी तक उत्सव एक ही दिन का होता था, परन्तु सन् १९८४ से दो दिन उत्सव मनाया जाने लगा। दूसरे दिन बृहद् भंडारे का आयोजन होने लगा। उत्सव की चर्चा मध्यप्रदेश निमाड़ के भक्तों तक पहुँच गई और वहाँ से भी प्रतिवर्ष भक्तवृन्द उत्सव का आनन्द लेने आने लगे। बड़वानी नगर से तो पूरी बस भर के भक्तजन आते थे।

इस प्रकार शनैः - शनैः उत्सव ने बहुत ही वृहद् रूप धारण कर लिया। परिकरजनों के उत्साह एवं उमंग का तो ओर-छोर नहीं था। पन्द्रह दिन पूर्व से ही तैयारियाँ प्रारंभ हो जाती थीं।

जन्मोत्सव के पहले ही भोपाल से गुप्ताजी की सुपुत्री राधा, इन्दौर से मनोरमाजी की माताजी तथा ग्वालियर से श्री ओमप्रकाशजी एवं उनकी धर्मपत्नी तथा राजकुमार-अर्चना भी श्रीधाम आ जाते थे। जन्मोत्सव के दो दिन पूर्व ही पूरा आँगन फूलों की सुन्दर-सुन्दर कलाकृतियों से सजाया जाने लगता। श्री वेणुविनोदविहारी ठाकुर का सिंहासन पुष्पों के मंडप एवं छत्र इत्यादि से सुसज्जित किया जाता। यह सब सजावट हम अपने ही हाथों से करते थे। सजावट इतनी आकर्षक होती कि देखने वाले मुग्ध होकर एक बार आश्चर्य में डूब जाते थे। इस समस्त साज-सज्जा में भक्तजनों का आनन्दोल्लास ही मानो छलकता हुआ दीखता था।

इस प्रकार प्रतिवर्ष उत्सव नवीनता लिये हुए होता था। सन् ८७ से सजावट करने के लिए पुष्पसज्जा करने वाले निपुण कारीगरों को बुलाया जाने लगा। ये लोग फूलों तथा केले के खम्भों से नवीन-नवीन प्रकार की नक्काशियाँ, बेल, बूटे, झूमर आदि बनाकर रमणीय रूप से सजाते। कदली

स्तम्भ, आम्र बन्दनवार तथा मंगल कलश, जिन पर सुन्दर अक्षरों में "अलिजन्मोत्सव" लिखा होता, जहाँ-तहाँ सजाते। कीर्तन करने वालों का समूह भी बढ़ने लगा। स्वामी श्रीरामजी, स्वामी फतेहकृष्णजी तथा प्रसिद्ध तबला-वादक हरेकृष्णजी की उपस्थिति में संकीर्तन बहुत ही धूम से रातभर चलता था। उत्सव के तीन दिन पूर्व रास का आयोजन भी होने लगा।

इस उत्सव के प्राण-पूज्य श्री महाराजजी जन्मोत्सव के दिन जब नूतन वस्त्र धारण कर विशेष रूप से सजाई गई चौकी पर आ विराजते तो उनकी शोभा देखते ही बनती थी। उस समय दर्शकवृन्द एकटक निहारते हुए अपने भाग्य को सराहते, अपने को धन्य मानते तथा प्रेम में गद्‌गद हो जाते। भोर से ही वेणुविनोदकुंज का प्रांगण शहनाई की मधुर ध्वनि से गुंजित हो जाता।

तत्पश्चात् श्री–जी का पूजन प्रारंभ हो जाता। सर्वप्रथम वेणुविनोद-कुंज में रहने वाले श्री–जी के परिकर के प्रधान-प्रधान निजजन श्री–जी का पूजन करते। श्री–जी की दीर्घायु की कामना करते हुए वे चन्दन लगाते, पुष्पमाला धारण कराते तथा चरण-वन्दन करते। बाद में क्रम-क्रम से एक एक भक्त आकर पूजन करता, फल-मिठाई तथा अन्य वस्तुएँ भेंट करता। पूज्य महाराजजी के मुखारविन्द पर एक अद्‌भुत स्मित खेलता रहता। भक्तों का प्रेम देखकर उनकी आँखें डबडबाई सी रहतीं। भक्तों की सामान्य सी भेंट को भी वे उत्साह से हाथ में उठाकर देखते। कोई सामान्य सा वस्त्र भी भेंट करता तो उसे खोलकर स्वयं ही ओढ़ लेते। भक्तों द्वारा धारण कराई गई पुष्पमालाओं को श्री घनश्यामजी लगातार उतार-उतार कर एक ओर रखते जाते। पुष्पमालाओं का एक अम्बार सा लग जाता।

यह क्रम लगभग डेढ़-दो घण्टे तक चलता रहता। पूजन के पश्चात् विभिन्न प्रकार के मोतियों से आकर्षक रूप से सजाये गये थाल में पंचारती रख कर श्री देवीजी श्री–जी की आरती उतारतीं, जिसे शशिकला मूले अत्यन्त आकर्षक ढंग से सजाती। आरती के समय का दृश्य वर्णनातीत है। "आरती आरति हरण अलि की" ध्वनि से प्रांगण गूँज उठता। इस प्रकार जय-जयकार की तुमुल ध्वनि के साथ पूजन का विराम होता। इस सब कार्यक्रम में प्रारंभ

से अंत तक श्री महाराजजी इस प्रकार रहते मानो यह सब पूजा-आरती इत्यादि उनकी नहीं किसी और की हो रही हो और वे भी उत्सव में सम्मिलित होने वालों में ही एक हों। अस्तु,

सब यथास्थान बैठ जाते। श्री–जी को कुछ मेवा-मिठाई के साथ चाय पिलाई जाती। सभी भक्तजनों को जलपान कराया जाता।

इसके बाद सब साज-समाज तैयार हो जाता। बधाई के कार्यक्रम का श्रीगणेश मंगलाचरण से श्री घनश्यामजी ही करते। तदन्तर श्री हरिवल्लभजी, स्वामी श्रीरामजी, स्वामी फतेहकृष्णजी बधाई के पद गाते। पद गान लगभग १२-१ बजे तक चलता। श्री–जी के साथ सभी भक्त आचमन करने श्री जमुनाजी जाते। वहाँ फोटो भी लिये जाते। इसी बीच राजनाथजी शुक्ला कुंज में रँगोली से आँगन चित्रित करते तथा श्री–जी सभी भक्तों को साथ लेकर प्रसाद ग्रहण करते। मध्य-मध्य में क्रम-क्रम से कई जन श्लोक, सवैया आदि का गान करते। कभी-कभी प्रसाद पाते हुए श्री–जी भी सुमधुर स्वर में एक-दो श्लोक गाकर वातावरण में और भी अधिक प्रफुल्लता भर देते। फिर सभी विश्राम करते। चार बजे श्री–जी अपने कमरे में बैठकर बाहर से आये भक्तवृन्दों से चर्चा करते। संध्या-समय श्री वेणुविहारी ठाकुर की सामूहिक आरती होती, फिर श्री–जी सभी भक्तों के साथ श्रीबाँकेबिहारीजी के दर्शनों के लिये जाते।

कीर्तन प्रारम्भ होने के पूर्व रात्रि में श्री–जी की आयु के वर्षों की गणनानुसार शुद्ध घी के दीपक प्रज्ज्वलित कर दीपमालिका सजाई जाती। हर वर्ष इस दीपमालिका में एक दीपक की वृद्धि हो जाती।

लगभग आठ बजे से महामन्त्र का कीर्तन प्रारम्भ हो जाता। विभिन्न राग-रागिनियों में कीर्तन रात्रिभर धूम से चलता। स्वयं श्री–जी भी इसमें सम्मिलित रहते थे, केवल दो-तीन घण्टे ही विश्राम करते थे।

दूसरे दिन प्रातः स्नानादि से निवृत्त हो श्री–जी सभी भक्तवृन्द के साथ चाय इत्यादि लेते और पुनः बधाई का कार्यक्रम प्रारंभ हो जाता। बधाई का उत्सव भी प्रतिवर्ष नूतनता लिए हुए होता था। परिकरजन बधाई में अपनी-

अपनी मनोभावानुकूल काव्य-रचना करके लाते और बड़ी उमंग से गाते। बधाई में पद गाने वाले प्रतिष्ठित व्यक्तियों को शाल, दुपट्टे आदि प्रदान कर सम्मानित किया जाता।

बधाई में एक नया आयोजन और प्रारंभ हुआ। श्री–जी के जीवन-चरित से सम्बन्धित छोटी-छोटी नाटिकाएँ अभिनीत की जाने लगीं। भक्तवृन्दों से भरे आँगन में एक ऊँची सुसज्जित चौकी पर श्री–जी विराजित होते। श्री–जी के अनन्य भक्तों की छोटी-छोटी बालिकाएँ सुन्दर-सुन्दर साड़ी, लहँगा तथा वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो बहुत ही रोचक ढंग से नृत्य-संगीत प्रस्तुत करतीं। जब ये बालिकाएँ सिर पर गगरियाँ लेकर नृत्यगति से एक के पीछे एक पदगान करती हुई आँगन में प्रवेश करतीं तो सभी दर्शकवृन्द एवं स्वयं श्री–जी भी भावविभोर हो जाते। उस समय का वातावरण इतना दिव्य एवं पावन होता था कि जो भाग्यशालीजन उस समय उपस्थित होते, वह उन्हीं के अनुभव की वस्तु है–वर्णनातीत है।

श्री कृष्णचन्द्रजी मिश्र स्वयं, उनके परिवार का प्रत्येक सदस्य श्री–जी के प्रति पूर्ण समर्पित हैं। इनके पुत्र श्री ब्रजेश मिश्र (जो अभियंता के पद पर कार्यरत हैं) एवं पुत्र-वधू शशिबाला अपनी उमंग को रोक नहीं पाते एवं जन्मोत्सव के अवसर पर ढाँढी-ढाँढिन बनकर श्री–जी को बधाई देने के लिये आ पहुँचते और अपनी स्वरचित बधाई नृत्य के साथ गाकर सुनाते। राधारमण, शिवकुमार, अनिल, गोविन्द, डॉ॰ राजेश आदि बालक भी इस बधाई के कार्यक्रम में किसी प्रकार पीछे नहीं रहते थे। वे भी गोप-बालकों की सी रंग-बिरंगी वेशभूषा में अपने ढंग से नाच-कूद कर श्री–जी को बधाई अवश्य देते थे। श्री–जी के नेत्रों से सतत स्नेहामृत झरता रहता था। बीच-बीच में वे खूब फल-मेवा मिठाई भी लुटाते जाते थे।

बधाई के कार्यक्रम के पश्चात् बृहद् भण्डारा होता था। देवीजी के बहनोई श्री रमेशचन्द्रजी गर्ग उत्सव दर्शन का अपना सुख छोड़कर सतत पाक-कार्य के संयोजन का कार्यभार सम्हालते थे। सन्त श्री ऊषाजी के भाई का बालक अनिलमोहन भटनागर अपनी चौदह साल की उम्र से ही जन्मोत्सव में आकर अवश्य सम्मिलित होता था। इसका यह नियम अद्यावधि चल रहा है।

इन्हीं के परिकर के श्री शान्तनु राणा एवं उनकी धर्मपत्नी पूनम श्री–जी के प्रति बहुत श्रद्धा रखते हैं। ये दम्पति श्री–जी के जन्मोत्सव पर अवश्य ही पहुँच जाते थे। कुछ वर्षों से श्रीशान्तनु राणा इण्डोनेशिया जकार्ता में एक उच्च पद पर कार्यरत हैं। ये लेटेस्ट मॉडल का एक वीडियो कैमरा अपने साथ लाये थे, परन्तु वह जन्मोत्सव की कैसेट बनाने के पूर्व ही मार्ग में चोरी चला गया।

वैसे सन् ७५ से अब तक के सभी अवसरों के फोटो मैंने स्वयं लिये हैं। जन्मोत्सव पर लिये हुए चित्रों से भरे हुए कई एलबम मेरे पास सुरक्षित हैं। मैंने सहज ही श्री शान्तनु को जकार्ता चिट्ठी डाल दी कि यदि आपके पास कैमरा होता तो श्री–जी के जन्मोत्सव की वीडियो फिल्म अपने मन के अनुकूल ले लेते। पत्र मिलते ही उन्होंने पैंतालीस हजार का नया कैमरा पुनः खरीदा और जन्मोत्सव के अवसर पर जकार्ता से आकर उपस्थित हो गये। उन्होंने बहुत ही भावना से श्री–जी के जन्मोत्सव की वीडियो फिल्म स्वयं ली। भगवत्कृपा से वह इतनी अच्छी आई कि परिकरजनों की अमूल्य निधि बन गई। पूज्य श्री–जी के अन्तिम स्मृति चिह्न के रूप में यह वेणुविनोद-कुंज में सुरक्षित है। सर्व प्रथम श्री ठाकुरजी ने ब्रजेश मिश्र के द्वारा जन्मोत्सव की वीडियो कैसेट बनवाई थी। राजकोट के श्री नटूभाई ने भी होली-उत्सव के अवसर पर वीडियो कैसेट बनाई। हरिद्वार निवासी श्री राजकुमार एवं उनकी पत्नी अर्चना भी प्रतिवर्ष उत्सव में आते एवं कैसेट रिकार्डिंग का कार्य दक्षता से करते थे तथा उत्सव में हर्ष-उल्लास से अपनी सेवाएँ प्रदान करते थे।

इस प्रकार प्रतिवर्ष मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी (गीताजयन्ती) के शुभ दिन सभी परिकरजन अपने हृदयोल्लास के साथ जन्मोत्सव मनाते। भक्तजन भी चार-पाँच दिन पूर्व से ही आने लगते और उत्सव के पश्चात् भी चार-पाँच दिन ठहर कर श्री–जी के सान्निध्य का लाभ लेते। इनके रहने के लिए आस-पास की धर्मशालाओं में पहले से ही कमरे सुरक्षित करा लिये जाते।

ऐसे ही कुछ वर्ष चलता रहा। आने वालों की बढ़ती संख्या को देखकर कुछ विशेष परिजनों के मन में यह विचार आया कि परिकरजनों को ठहरने के लिये किसी निजी स्थान का निर्माण हो जाये तो अच्छा हो। श्री–जी के मन में यह संकल्प बहुत पहले आ चुका था। महापुरुषों के संकल्प

तो साकार रूप धारण कर ही लेते हैं। बहुत बड़े-बड़े विघ्नों को पार कर, वेणुविनोदकुंज के सामने की विशाल जमीन खरीद ली गई। सर्वप्रथम जब जमीन लेने की बात चली तो हम ने श्री–जी से कहा भी कि इस जमीन में बहुत झगड़े हैं, इसे छोड़ देना चाहिये।

श्री–जी ने उत्तर दिया –"हम भी नहीं चाहते, पर हम क्या करें, जमीन ही हमारे पीछे पड़ी है, इसमें भगवत्-इच्छा है। आप लोग चिन्ता न करें। सब झगड़े अपने आप ही शान्त हो जायेंगे।" और आश्चर्य की बात यह कि इतने बड़े-बड़े झगड़े सहज ही शान्त हो गये। एक प्रकार से यह असंभव ही संभव हो गया। आसपास के लोग भी बहुत ही आश्चर्यचकित से रह गये।

सन् १९९१ के मई माह से निर्माण कार्य प्रारम्भ हो गया और सन् १९९२ की मई तक एक दुमंजिले भव्य भवन का निर्माण हो गया। इसमें एक बहुत बड़ा सत्संग हॉल भी बनाया गया है। श्री–जी ने इस भवन का नामकरण किया–"तमाल कुंज"।

यह सब कार्य श्रीकृष्ण की इच्छा से ही हुआ। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि जब नींव का मुहूर्त करते समय श्री–जी ने प्रथम ईंट रखी तो देखा श्रीकृष्ण स्वयं सामने खड़े हैं।

इस प्रकार भगवद्-इच्छा से श्री–जी का संकल्प 'तमाल कुंज' के रूप में साकार हो गया। अब सभी उत्सव जैसे होली, झूलनोत्सव, गुरुपूर्णिमा, जन्मोत्सव आदि अवसरों पर परिकरजन यहीं ठहरते हैं।

पुनश्च गोरखपुर गमन

प्रतिवर्ष की भाँति सन् १९८५ में राधाष्टमी पर गोरखपुर जाने के पूर्व श्री–जी की जीभ के नीचे बताशे जैसा एक बड़ा छाला हो गया था; अतः तुरन्त ही परीक्षण हेतु देहली जाना पड़ा। साधारण जाँच के पश्चात् डॉक्टर ने कैन्सर की आशंका व्यक्त की। उसकी बात पर विश्वास न करके श्री–जी की दवा लाने के लिये एक व्यक्ति को होमियोपैथिक के प्रसिद्ध डॉक्टर श्री कृष्णदत्त शर्मा गुरुजी के पास कुरुक्षेत्र भेजा गया। उन्होंने कहा– शुगर बढ़ी हुई होने से ही यह उपद्रव हुआ है। उन्हें बताया गया कि कुछ दिन पूर्व ही जाँच में शुगर सामान्य थी, लेकिन उन्होंने कहा चाहे कभी टेस्ट किया हो, आज की तारीख में शुगर बढ़ी हुई है। सचमुच ही शुगर बहुत बढ़ी हुई थी। श्री गुरुजी ने तीन पुड़ियाँ दीं। उनसे क्रमशः आराम हो गया। डालमिया हाऊस से श्री बाबा को श्री–जी की स्वास्थ्य सम्बन्धी सूचना दे दी गई थी।

श्री–जी गोरखपुर आते-जाते समय प्रायः लखनऊ में रुकते थे। मनकापुर स्टेट के राजासाहब श्री आनन्दसिंहजी एवं रानीसाहिबा श्रीमती वीणाजी गोरखपुर गीतावाटिका से सम्बन्धित हैं। श्री वीणाजी बहुत ही धार्मिक प्रवृत्ति की एवं श्रद्धालु महिला हैं। ये श्री राधाबाबा के प्रति अनन्य हैं एवं श्री–जी के प्रति भी इन्हें असीम श्रद्धा है। लखनऊ में श्री–जी इन्हीं की कोठी में एक-दो दिन ठहर कर विश्राम करते थे।

इस बार श्री महाराजजी गोरखपुर जाते समय मनकापुर ही गये, क्योंकि श्री–जी की प्रेरणा से राजासाहब ने राजमहल में ही रासलीला का आयोजन रखा था और स्वामी श्रीरामजी की ही रास-मंडली बुलाई थी। रियासत में आयोजन की घोषणा कर दी गई। वहाँ की प्रजा अब भी उनका उतना ही आदर करती है, जितना राज्यकाल में। राजमहल बहुत विशाल है तथा एक मील के किले की परिधि से घिरा हुआ है। किले का मुख्य द्वार बहुत विशाल है तथा महल के आगे विशाल प्रांगण है। इसी प्रांगण में रास का आयोजन किया गया था। रास की सब तैयारी हो गई। हजारों की संख्या में जनता उपस्थित थी।

विशाल मंच पर सुन्दर सजे हुए सिंहासन पर प्रिया-प्रियतम आ विराजे। श्री–जी यथा समय अपने परिकर सहित पहुँच गये। समस्त राजपरिवार भी बैठा हुआ था।

परदा खुला, तुमुल जय-जयकार से गगन-मंडल गूँज उठा। वाद्यों के स्वर मुखरित हो गये। स्वामी श्रीरामजी ने अपने सुन्दर कंठ से मंगलाचरण प्रारम्भ किया। इतने में ही आकाश-मंडल में घोर जलद-घटा छा गई। वर्षा के आसार दिखाई देने लगे। कुछ हलकी सी फुहारें भी पड़ने लगीं। सब लोग भयभीत हो गये कि अब क्या होगा ! रास का इतना बड़ा आयोजन यहाँ प्रथम बार ही होने जा रहा था।

श्री राजासाहब तथा वीणाजी भी चिन्तित हो गये। वीणाजी को तो श्री–जी पर अगाध विश्वास था। उन्होंने घनश्यामजी को सब परिस्थिति बतलाकर श्री–जी से निवेदन करने को कहा।

श्री महाराजजी निश्चिंत रूप से बैठे हुए थे। श्री घनश्यामजी ने पास आकर श्री वीणाजी की सब बात कही। श्री–जी मुस्कराये, हाथ के इशारे से श्री घनश्यामजी को बैठने के लिये कहा और एक बार गगन-घन को अपनी दृष्टि से देखा। श्री घनश्यामजी भी श्री–जी के पास बैठ गये।

रास प्रारंभ हुआ। आरती के पश्चात् नृत्य-संगीत प्रारंभ हो गया। सहसा आती हुई फुहारें रुक गईं। घटाएँ घूम-घूम कर झुकी जा रही थीं। तीन घण्टे रास शान्तिपूर्वक चला। समस्त दर्शकवृन्द बिदा हो गये। आश्चर्य, महद् आश्चर्य कि एक मील किले की परिधि के अन्दर एक बूँद भी वर्षा की नहीं परन्तु किले के द्वार पर आकर देखा तो बाहर घनघोर वर्षा हो चुकी थी और सर्वत्र घुटना-घुटना जल भरा हुआ था।

रासबिहारी ने सिंहासन से उठकर श्रृंगार-भवन में प्रवेश किया और तत्काल ही किले के अन्दर घोर वर्षा प्रारंभ हो गई। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं कि महापुरुषों का सामर्थ्य असीम होता है। इतिहास इसका साक्षी है। श्री वीणाजी एवं समस्त राजपरिकर चकित थे एवं श्री–जी की महानता को सराह रहे थे। अस्तु,

श्री–जी वहाँ आठ दिन रुककर कार द्वारा गोरखपुर पहुँच गये। श्री बाबा प्रतीक्षारत तो थे ही। श्री–जी के पहुँचने पर वे अति प्रसन्न हुए और सर्वदा की तरह उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रेम के साथ दोनों महापुरुषों का मिलन हुआ। इस वर्ष एक नवीन बात हुई। श्री महाराजजी की कुटिया में टिफिन पहुँच चुका था तथा निकटस्थजन श्री–जी को प्रसाद पवाने की तैयारी कर ही रहे थे कि पूज्य श्री बाबा ने कुटिया में प्रवेश किया। साथ में और भी कई लोग थे। श्री बाबा ने श्री–जी के कक्ष में आकर कहा–"महाराज ! आज हम आपको अपने सामने प्रसाद पवाना चाहते हैं। बस, कमरे में और कोई नहीं रहेगा। पास में घनश्याम रहेगा और कुसुम परोसेगी। इतनी बात तो आपको माननी ही पड़ेगी। मैं सामने चुप बैठा रहूँगा। बिलकुल बोलूँगा नहीं।" श्री–जी बहुत संकोची हैं; पर श्री बाबा के आग्रह को टाल न सके। श्री बाबा ने सामने बैठकर श्री–जी को भोजन कराया, तत्पश्चात् ठाकुरजी से कहा–"हम कहते हैं–महाराजजी को कैन्सर है भी नहीं और होगा भी नहीं।"

श्री भाईजी के लीलालीन होने के पश्चात् श्री बाबा ने उत्सव-पंडाल में जाना छोड़ दिया था। इस बार राधाष्टमी के अवसर पर ही आपने श्री–जी का हाथ पकड़ कर कहा–"हम आपके साथ उत्सव-पंडाल में चलेंगे। "वहाँ के निजजनों ने स्मरण भी दिलाया–"आपने तो उत्सव-पंडाल में न जाने का नियम लिया है।" श्री बाबा ने कहा–"श्री महाराजजी के साथ जाने में हमारा कोई नियम-बन्धन नहीं है। महाराजजी के साथ में हम वाटिका में कहीं भी जा सकते हैं।" दोनों महानुभाव उत्सव में सम्मिलित हुए तो वातावरण में सर्वत्र आनन्द की अद्भुत लहर लहरा गई। उत्सव सम्पन्न होने पर कुछ समय वहाँ रहकर श्री–जी यथासमय श्रीधाम लौट आये।

श्री–जी बहुत बड़े-बड़े कार्य भी चलते-चलते खेल ही खेल में इस सहजता से कर दिया करते थे कि सामने वाले को पता ही नहीं चलता था कि यह सब चमत्कार कब और कैसे हो गया !

एक बार श्री–जी ने मुझे नवजीवन प्रदान किया था। लगभग छह मास से मुझे गले में अत्यन्त कष्ट था। निरन्तर जलन और दर्द बना रहता था। सम्पूर्ण शरीर में इसकी पीड़ा व्याप्त थी। इस व्याधि का प्रारम्भ तो बड़वानी-

संकीर्तन-समापन के अवसर पर ही हो गया था। मैंने इन्दौर में ई.एन.टी के स्पेशलिस्ट डॉक्टर आनन्द को दिखाया था और उन्होंने इन्फेक्शन बताकर पाँच दिन की दवा दी थी पर कोई लाभ नहीं हुआ। श्रीधाम आने पर मथुरा के डॉक्टर शर्मा ने भी इन्फेक्शन बताकर आठ दिन की दवा दी, पर रोग बढ़ता ही गया। सेवाश्रम के स्वामीजी ने बम्बई के टाटा (कैन्सर) हॉस्पीटल में दिखाने की सलाह दी, परन्तु मैं सब विचार छोड़कर बैठ गया। दिनोंदिन कमजोरी बढ़ने लगी। भूख नहीं के बराबर रह गई। बजन घटने लगा। कुरुक्षेत्र वाले गुरुजी की होमयोपैथिक दवा चलती रही, परन्तु कोई लाभ नहीं हो रहा था। कुंज के सभी भक्तवृन्द विशेषतः श्री देवीजी बहुत चिन्तित हुईं। श्री–जी से कहने लगीं–""महाराजजी ! अभी से परिकर का एक व्यक्ति हमारे बीच से चला जायेगा ? अभी इनको नहीं जाना चाहिये।"

सुनकर श्री–जी चुप ही रहे, कुछ बोले नहीं। श्री–जी को दिल्ली जाना था, जिसके लिए श्री ललिताजी डालमिया की कार उन्हें लेने आई थी। श्री–जी जब तीन बजे देहली के लिये रवाना हुए तो मैं भी उसी कार में बैठकर बाँकेबिहारी कॉलोनी तक उनको पहुँचाने गया। मार्ग में स्वामी श्रीरामजी गाड़ी रोककर आग्रहपूर्वक श्री–जी को अपने घर ले गये। श्री–जी पलंग पर विराजित हो गये। हम सब सामने बैठ गये। श्री घनश्यामजी, कुसुमजी और नारायणजी साथ ही जा रहे थे।

बात करते-करते श्री–जी ने अचानक कहा–"अजी ! अभी तक तो मैंने इनका गला देखा ही नहीं, देखूँ कहाँ दुःखता है।" मैं पास गया और श्री–जी का हाथ पकड़कर जहाँ-जहाँ दर्द होता था; सभी जगह दिखा दीं। श्री–जी ने गले पर हाथ फिराया। उनकी आँखें कुछ उसी प्रकार लाल दिखाई दे रही थीं, जैसी भावस्थिति में होती थीं। बोले–"नहीं, नहीं जी, कुछ भी नहीं है।"

तत् पश्चात् कुछ जलपान इत्यादि लेकर श्री–जी देहली चले गये और मैं कुंज लौट आया। बस, उसी दिन शाम को मुझे भूख महसूस हुई और मैंने एक रोटी खाई। कई महीनों से शाम का भोजन छोड़ रखा था। दूसरे दिन से दोनों समय अच्छी भूख लगने लगी और शरीर में स्फूर्ति महसूस होने लगी। दर्द में कमी आई और शनैः - शनैः मैं निरोग हो गया।

इस प्रकार श्री–जी अपनी अकारण करुणा से अपने निजजनों को बड़े-बड़े संकटों से सहज ही बचा लिया करते थे।

समसामयिक सन्तों से मिलन

सिद्ध महापुरुषों के सभी कार्य सहज ही जन-जन के कल्याणार्थ सम्पन्न हुआ करते हैं। यद्यपि पूज्य श्री–जी सदैव अपने ही भावमाधुर्य में डूबे हुए एवं हरिरस-मदिरा के नशे में चूर रहते थे। तथापि "साधन का मूल आधार सत्संग ही है" इस बात की शिक्षा सदैव अपने परिकरजनों को देते रहते एवं जहाँ कहीं संतजनों की उपस्थिति देखते वहीं स्वयं भी दर्शन के लिये जाते एवं निजजनों को भी जाने के लिये प्रेरित करते रहते।

उस समय कई सिद्ध संत व्रजभूमि को सुशोभित कर रहे थे। कई महापुरुषों के साथ श्री–जी के भेट प्रसंगों का वर्णन विशद रूप से पाठकगण पढ़ ही चुके हैं।

पूज्य हरिबाबाजी महाराज –

एकबार पूज्य श्री हरिबाबाजी महाराज दिल्ली में विराज रहे थे। श्री महाराजजी को उनसे मिलने की इच्छा हुई, इसलिये श्री घनश्यामजी को लेकर दिल्ली चले गये। दिल्ली जाकर घण्टों पूज्य हरिबाबाजी महाराज को खोजते रहे। श्री घनश्यामजी ने कहा भी कि महाराजजी ! अब तो बहुत विलम्ब हो गया है, कल खोजेंगे, परन्तु श्री–जी को तो उनसे मिलने की धुन सवार थी, खोजते ही रहे। अन्ततोगत्वा बिरला मन्दिर में सन्त विद्वज्जनों के परिचयपत्र से ज्ञात हुआ कि पूज्य बाबा, पूज्या माँ आनन्दमयी के आश्रम, चन्द्रलोक में ठहरे हुए हैं। पूज्य श्री महाराजजी एवं ठाकुरजी रात्रि लगभग नौ बजे चन्द्रलोक आश्रम पहुँचे। श्री बाबा प्रवचन कर रहे थे। उन्हें देख पूज्य श्री–जी परम प्रसन्न एवं प्रेम-विभोर हो उठे और कहने लगे–"इनके तेजपुञ्ज मुख को तो देखो ! हमारी सम्पूर्ण थकावट इनके दर्शनमात्र से ही दूर हो गई है"। सत्संग के पश्चात् जब दोनों महापुरुषों का मिलन हुआ तो पन्द्रह मिनिट तक हाथ पकड़े हुए परस्पर एकटक निहारते रहे। दोनों प्रेमविह्वल हो रहे

थे। दोनों की गम्भीर-दशा देखकर श्री घनश्यामजी ने उन्हें बाह्यावस्था में लाने के उद्देश्य से पुनः दोनों के ही चरण छुए।

पूज्य बाबा मात्र इतना ही बोल पाये—"श्री महाराजजी तो मूर्तिमान् रस रूप ही हैं, इनके लिये मैं कह ही क्या सकता हूँ ?"

पश्चात् अपने निजजनों को श्री–जी के भोजन विश्राम आदि की सम्मानपूर्वक व्यवस्था करने को कहा। रात्रि-विश्राम के पश्चात् जब बिदाई लेने श्री–जी उनके पास पहुँचे तो प्रेम-पूर्वक मिले और कहा—"मैं भी शीघ्र ही वृन्दावन पहुँच रहा हूँ।"

कुछ वर्ष बाद श्री हरिबाबाजी महाराज जब अस्वस्थ रहने लगे तो अपने अन्तर्हृदय में श्री–जी को यह मालूम हो गया था कि श्री बाबा अब अधिक रहेंगे नहीं। इसलिये अकेले ही उनसे मिलने के लिये होशियारपुर चले गये, क्योंकि श्री घनश्यामजी राधाष्टमी के लिये गोरखपुर गये हुए थे। श्री महाराजजी ने श्री हरिबाबाजी महाराज को प्रेमोन्मत्त दशा में आबाल वृद्ध स्त्री-पुरुष सभी को कंठ लगाकर मिलते हुए देखा, तो उन्हें और भी निश्चय हो गया कि यह इनकी जाने की भूमिका है। एक दिन वहाँ रहकर श्री–जी श्रीधाम लौट आए।

पूज्या माँ आनन्दमयी –

एक बार पूज्या माँ आनन्दमयी वाराणसी में अपने गंगातटवर्ती आश्रम में विराज रही थीं। गोरखपुर से लौटते समय जब श्री–जी को ज्ञात हुआ तो वे उनसे मिलने उनके आश्रम पर गये। पूज्या माँ के कक्ष में पूज्य महाराजजी के प्रवेश करते ही वे गद्‌गद कंठ से कहने लगीं—"आज तो पुण्य सलिला गंगा स्वयं चलकर दर्शन देने आई है।"

एक बार पूज्य श्री–जी श्री माँ से मिलने उनके वृन्दावन स्थित आश्रम में गये। श्री घनश्यामजी ने उनसे कहा—"श्री महाराजजी आपके श्रीमुख से कुछ सुनना चाहते हैं।" इस समय श्री माँ के पास श्रीमती विजया राजे सिन्धिया उपस्थित थीं। वे कुछ कहने का उपक्रम करने लगीं तो उन्हें रोकते हुए श्री माँ ने कहा—"मैं ही आज महाराजजी को कुछ सुनाऊँगी" और आश्रम में ही मन्दिर के "छलिया ठाकुर" के विग्रह-प्रतिष्ठा का सब वृतान्त प्रीतिपूर्वक सुनाया।

अन्त में कहने लगी–"मैं बाबा (पूज्य महाराजजी) का यन्त्र हूँ, बाबा ने ही स्वयं बजा लिया।"

पूज्य श्री भक्तमालीजी महाराज –

प्रिया-प्रियतम के रंग में रंगे हुए पूज्य श्री भक्तमालीजी (श्री जगन्नाथ-दासजी महाराज) अपने ढंग के निराले ही अति सरल सिद्ध सन्त थे। पूज्य श्री महाराजजी से इनका बहुत ही मधुर सम्बन्ध था। श्री महाराजजी को जब कभी, जहाँ कहीं भी देख लेते तो खड़े हो जाते और गद्‌गद कंठ से कह उठते– " श्री महाराजजी तो प्रियालाल के सहचरी-परिकर में ही एक हैं, जिनके लिये श्री प्रियाजी की उक्ति है –

"सखि तोतें निमिष न बीछुरौं, मोहि प्रीतम की आन।"
"सखि तो बिन सरै न काज"

श्री महाराजजी के मन में भी उनके प्रति बहुत प्रेम भाव था और यदा-कदा उनके यहाँ जाते तो वे ऐसे प्रफुल्ल होते मानो स्वयं श्रीहरि ही मिल गये हों।

पूज्य ठाकुर श्री ओंकारनाथजी महाराज –

ठाकुर श्री सीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज बंगाल के सुप्रसिद्ध नाम-निष्ठ सिद्ध सन्त थे। वृन्दावन में अपने धीरसमीर, वर्धमान कुंज आदि आश्रमों में आया करते थे। पूज्य श्री महाराजजी उनसे मिलने जाते तो वे बहुत सम्मान-पूर्वक मिलते एवं सत्संग-चर्चा भी होती।

एकबार वे आनन्दमयी माँ के आश्रम में आए हुए थे। अपार जन-समुदाय में उन्होंने दूर से श्री महाराजजी को देखा तो अत्यन्त क्षीणकाय होने पर भी भीड़ को चीरते हुए ठाकुर श्री ओंकारनाथजी महाराज श्री–जी के पास पहुँच गये एवं अपने हाथों से पुष्पमाला धारण कराकर कहने लगे– "आपका दूर रहना मेरी वेदना का कारण बन रहा था।"

इस प्रकार प्रारम्भ से ही सन्त-महानुभावों के प्रति पूज्य श्री महाराजजी का प्रेम-सम्बन्ध रहा है।

पुनः अज्ञातवास का विचार

पूज्य श्री महाराजजी डेढ़-दो साल से प्रायः कहा करते थे–"मुझे छह या आठ माह के लिये अज्ञातवास में जाना है।" सन् १९८८ में आपने पूर्व से ही परिकरजनों से जन्मोत्सव पर किसी को न बुलाने के लिये कह दिया था। अत्यधिक धूमधाम के कारण आपका मन उत्सवों से उपराम सा हो रहा था। बड़वानी गये तो वहाँ भी भक्तजनों से कहा–"अबकी बार आप लोग जन्मोत्सव के अवसर पर बड़वानी में ही संकीर्तन करना, धाम न आना, मैं उस समय वृन्दावन में नहीं रहूँगा। दिल्ली, पंजाब, गुजरात, बुलन्दशहर, भोपाल आदि सभी जगह पत्र डालकर भक्तजनों को आने का निषेध करवा दिया गया। इसके पूर्व भी एकबार अपने वास्तविक स्वरूप की ओर संकेत करते हुए श्री–जी ने कुञ्ज के परिकरजनों को एक पत्र लिखा था, जो अविकल रूप से इस प्रकार है :–

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।।

भगवत्-कृपा से आप स्वस्थ हैं, हम भी सानन्द हैं। प्रागट्य-दिन का पता लगाना कठिन है। निकुंज से श्री युगल की समीपता से मेरा वियोग कभी नहीं। फिर जन्म का पता कैसे लगावें ?

चन्द्र-दिनकर की स्थायी स्थिति में मेरी भी स्थिति। नित्यविहार-विलास से मेरे वियोग का स्वप्न कदापि कभी नहीं।

गीताजयन्ती (मार्गशीर्ष एकादशी) से मेरा क्या मतलब, सम्बन्ध।

शुभचिन्तक – बालकृष्णदास
श्री वृन्दावन

इस बार परिकरजनों से भी कह दिया–"उत्सव संक्षेप में मनायें, नहीं तो मैं यहाँ नहीं रहूँगा।" आयोजन प्रतिवर्ष की तुलना में संक्षेप में करने पर भी जन्मोत्सव सुन्दर ढंग से ही मनाया गया एवं उत्सव सानन्द-सम्पन्न हुआ। वर्षों से जन्मोत्सव में आने का जिन-जिनका नियम था, वे परिकरजन आ

ही गये। इस बार जन-समूह अवश्य ही कम था, पर भक्तों के आनन्दोल्लास में किसी प्रकार कमी नहीं आई थी। इसके पश्चात् होली- उत्सव भी श्री–जी की उपस्थिति में ही सपन्न हुआ। ग्रीष्म के दिवस भी क्रमेण व्यतीत हुए। बड़वानी के भक्त गुरुपूर्णिमा श्री–जी के सान्निध्य में ही मनाना चाहते थे। श्री–जी को बड़वानी आने के लिये उनके आग्रह-पत्र आने लगे। श्री–जी ने निषेधात्मक उत्तर दिये परन्तु भक्तवृन्द का अनुरोध बढ़ता ही गया। अन्त में उन सब लोगों ने श्री–जी से प्रार्थना की कि आप नहीं आयेंगे तो हम सब निमाड़ के भक्त दो-तीन बस करके वहीं आ रहे हैं। इस प्रकार निमाड़ के भक्तों की अति आतुरता देखकर इच्छा न होते हुए भी श्री–जी श्रीधाम से रवाना होकर बारह जुलाई ८६ को सुबह बड़वानी पहुँच गये। उसी दिन संध्या से सात दिन का अखण्ड संकीर्तन प्रारम्भ हो गया, जिसका समापन गुरुपूर्णिमा के दिन हुआ। मध्य प्रदेश के हजारों भक्तगण वहाँ एकत्रित हो गये थे।

बड़वानी में गुरुपूर्णिमा-उत्सव बहुत धूमधाम के साथ श्री मोतीभाई के यहाँ मनाया गया। इसके बाद कुक्षी में भी एक दिन के अखण्ड संकीर्तन का आयोजन किया गया। दो वर्ष पूर्व जब आप कुक्षी गये थे और प्रथमबार संकीर्तन का प्रस्ताव रखा तो वहाँ के प्रतिष्ठित लोग हिचकिचाने लगे, परन्तु श्री–जी के सत्संग के प्रभाव से उन लोगों में एक नई जागृति आई। श्री–जी की उपस्थिति में बड़वानी भक्त-मण्डल ने कुक्षी आकर तीन दिन का अखण्ड संकीर्तन बड़ी धूमधाम से किया तथा वहाँ आपने नित्य नियमित संकीर्तन की स्थापना कर दी।

श्री नारायणरावजी मुन्सरिम, श्री–जी के पचास साल पुराने सर्व-प्रथम सत्संगी थे। उन्होंने कुक्षी से लौटने पर श्री–जी से प्रार्थना की–"इस समय मेरी उम्र सतासी साल की है, अब शरीर के अधिक दिन रहने की आशा नहीं है, पता नहीं आपका दर्शन पुनः हो या न हो। अतः आप मेरी प्रार्थना पर चौबीस घण्टे का कीर्तन और रख दें तो मुझे बहुत सुख होगा।" 'श्री–जी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर और एक दिन संकीर्तन का आयोजन करवाया तथा समापन के उपरान्त श्री घनश्यामजी सहित श्रीधाम के लिये रवाना हो गये।

इन्दौर में वे तीन दिन श्री राधेश्यामजी गुप्ता के यहाँ रुके।

अभी भी आपकी अकेले एकान्त में चले जाने की धुन बनी ही हुई थी। आपने घनश्यामजी से कहा–"तुम धाम चले जाओ। मैं कुछ दिन अकेले घूमकर आऊँगा।" जाने के लिये मना करने पर बड़ी जोर से घनश्यामजी पर नाराज भी हुए। कहा–"मैं चुपचाप चला जाऊँगा।" जैसे-तैसे मनाकर घनश्यामजी आपको धाम ले आये। कुछ दिन यहाँ रहकर वे कुरुक्षेत्र गुरुजी के पास दवा लेने गये। देहली में श्री लालजी के यहाँ ठहरे। दिन पर दिन अन्तर्मुखता बढ़ती जा रही थी। एक दिन घनश्यामजी से फिर कहने लगे– "तुम गोरखपुर चले जाओ, मुझे कुछ दिनों के लिये एकान्त में जाना है।" घनश्यामजी ने कहा–"वृन्दावन में परिकर के लोग मुझे क्या कहेंगे कि आपने श्री–जी को कैसे जाने दिया ? आप धाम चलकर जैसा चाहें करें।" पुनः श्री–जी को वे श्रीधाम ले आये।

श्रावण मास का झूलनोत्सव धाम में श्री–जी के सान्निध्य में सानन्द सम्पन्न हुआ। भाद्रपद मास प्रारंभ हुआ। श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी उत्सव भी बड़े ही उत्साह से मनाया गया। राधाष्टमी के पन्द्रह दिन रह गये थे। इस वर्ष आपका मन अन्तर्मुखता के कारण गोरखपुर जाने का नहीं था, परन्तु ठाकुरजी ने गोरखपुर जाना स्थगित ही रखा और सावित्रीबाई को तार दे दिया कि "श्री–जी का स्वास्थ्य ठीक न होने से मैं भी नहीं आ सकूँगा और उसमें राधाष्टमी पर श्री–जी के न आने का संकेत भी कर दिया।" श्री बाई को जब ज्ञात हुआ कि श्री–जी गोरखपुर नहीं आ रहे हैं तो उन्होंने श्री–जी को ले आने के लिये अमीचन्दजी के लड़के गोपाल को वृन्दावन भेज दिया। साथ में एक पत्र भी लिखकर दिया। उसने आकर श्री–जी को बाई का पत्र दिया तथा वहाँ की सभी परिस्थिति से अवगत कराया।

श्री–जी ने तो अपने मन में न जाने का निश्चय कर लिया था, परन्तु किसी को बताया नहीं। एक-दो दिन और व्यतीत हुए। आप चुपचाप अज्ञात रूप से कहीं चले जाने के विचार में थे। उस दिन सुबह से ही आप बहुत प्रसन्न थे। चाय के समय सबसे खूब विनोद करते रहे। दोपहर बारह बजे भोजन के समय भी सबसे बहुत प्रसन्नतापूर्वक बातें करते रहे और भोजन भी नित्य

की भाँति ही किया। नित्य की तरह भोजनोपरान्त विश्राम किया। सभी श्री–जी के कक्ष का दरवाजा बंद कर अपने-अपने कमरों में चले गये।

श्री–जी प्रायः ढाई-तीन बजे अपने कमरे का द्वार खोल देते थे, परन्तु उस दिन तीन बज गये, द्वार नहीं खुला, तब श्री देवीजी ने धीरे से जाकर द्वार खोला तो देखा श्री–जी पलंग पर नहीं हैं। सोचा, शौच गये होंगे, पर वहाँ की बिजली भी बंद पाई गई। दूसरी ओर के ठाकुरजी वाले कमरे में जाकर देखा तो वहाँ भी नहीं थे। ठाकुरजी से पूछा–'महाराजजी कहाँ हैं?' वे हड़बड़ाकर उठे। मैं भी अपने ऊपर वाले कमरे में था। ठाकुरजी ने भी सभी ओर देखा–श्री–जी नहीं थे। मकान के पीछे का दरवाजा खुला देख सब धक् से रह गये और इधर-उधर भाग छूटे। कोई बस स्टैण्ड गया तो कोई छटीकरा रोड और कोई रेलवे स्टेशन, परन्तु कहीं कोई पता नहीं लगा। मैं भी मथुरा स्टेशन गया। ठाकुरजी भी वहीं थे। जिस-जिस ट्रेन की शंका थी, देखीं परन्तु कहीं कुछ पता नहीं लगा। वृन्दावन बस स्टैण्ड के पास एक परिचित टैक्सी वाला मिला। उसने बताया–"श्री महाराजजी मुझसे पूछ रहे थे–चलोगे क्या?" मेरे हाँ कहने पर "अभी थोड़ी देर में आता हूँ" कहकर मथुरा के रास्ते की ओर चले गये।

अब तो कुञ्ज में हाहाकार मच गया। सभी जगह ढूँढ-ढूँढकर वापस आ गये। श्री–जी के सिरहाने से एक कागज मिला, जिसमें लिखा था–"मैं जा रहा हूँ। मुझे इस वर्ष गोरखपुर नहीं जाना है। मुझे खोजने की कोशिश न करें। न कोई उदास हों, न दुःखी हों, न चिन्ता करें। कुछ दिन बाद मैं अपने आप आ जाऊँगा।"

श्री–जी का सामान देखने पर पता चला कि साथ में कुछ भी नहीं ले गये हैं। शरीर पर जो वस्त्र पहने थे, वैसे ही चले गये। इस बात से सब की चिन्ता बहुत ही बढ़ गई। भोजन के बाद श्री–जी को दवाएँ देनी पड़ती थीं, परन्तु वे कोई दवा भी साथ नहीं ले गये।

अब तो सबके दुःख का ठिकाना न रहा। चाय, खान-पान से सबकी रुचि हट गई। उस रात न कोई रसोई बनी, न किसी ने कुछ खाया। कहीं

जाना चाहिये, कहाँ ढूँढना चाहिए इसी विचार में सब डूब गये। इसी समय दिल्ली से श्री बनवारीजी भी आ गए। वह भी अत्यन्त दुःखी हो गये। जैसे-तैसे रात बीती। सुबह भी किसी ने चाय-पानी कुछ भी नहीं लिया। परस्पर में अब क्या करें, यही विचार होने लगा।

कई दिनों से श्री–जी छह महीने के लिए अज्ञातवास हेतु कहा करते थे। इसे विचार कर सभी बड़े चिन्तित हुए। श्री–जी पहले से ही बहुत कमजोर हैं, फिर बिना वस्त्र, बिना दवाएँ, बिना सामान, बिना व्यवस्था के चले गये। क्या करेंगे, क्या खाएँगे, कहाँ ठहरेंगे, दवा कौन देगा ? इन चिन्ताओं से सब व्याकुल हो गये।

श्री–जी कहते थे–"मेरे जाने में कोई भी जागतिक उद्देश्य नहीं है। मेरा ही अपना कार्य है। जबतक उसकी पूर्ति नहीं होगी, तबतक के लिये एकान्त में रहना है। चार, छह या अधिक से अधिक आठ माह लग सकते हैं।"

इतने दिन श्री–जी के बिना हम कैसे रहेंगे ? हमारी क्या दशा होगी ? लगभग पैंतीस साल पूर्व श्री–जी ऐसे ही चुपचाप चले गये थे। उसकी पूर्व स्मृति फिर जाग्रत हो आई। जहाँ-तहाँ तार, पत्र भेजे गए, टेलीफोन किए गये। दिल्ली वाले बनवारीजी को खुर्जा , बुलन्दशहर देखने भेजा। वह दिन भी सबने बिना खाये-पीये बिताया। रात को भी कुछ नहीं लिया। सभी अपने-अपने कमरों में चले गये। रात साढ़े बारह बजे किसी ने दरवाजा खट-खटाया। द्वार खोला तो देखा स्वामी श्रीरामजी एवं शिवकुमार के पुत्र गोविन्द गोयल खड़े थे। उनकी प्रसन्न मुद्रा देखकर आशा की किरण उदय हुई।

बात यह हुई कि बनवारीजी श्रीधाम से शिवकुमार के घर खुर्जा गये। श्री–जी वहाँ नहीं थे। वहाँ से वे और गोविन्द स्कूटर से बुलन्दशहर रमेशजी के यहाँ गये, तो वहाँ श्री–जी को विराजमान देखा। श्री–जी भी इन दोनों को देखकर आश्चर्यचकित हो गये। गम्भीर मुद्रा में पूछा–तुम यहाँ कैसे आये ? दोनों ने ही बात बना दी। बनवारीजी ने कहा–मैं अपनी लड़की के लिये लड़का देखने आया हूँ। गोविन्द ने कहा–मैं स्कूटर सुधरवाने आया हूँ। श्री–जी को कुछ शंका तो हुई पर सोचा इतने शीघ्र किसी को पता नहीं लग सकता।

श्री–जी ने इन लोगों से कहा–"मेरा यहाँ आना किसी से कहना नहीं।" दोनों श्री–जी को प्रणाम करके वहाँ से चले गये। बनवारी तो देहली चले गये। गोविन्द चुपचाप यह सूचना देने के लिये वृन्दावन रवाना हो गया। वह रात्रि बारह बजे मथुरा पहुँचा, वहाँ अपने मामा के यहाँ से स्कूटर लेकर उसने वृन्दावन जाने का विचार किया। वह जन्मभूमि के सामने से जा रहा था कि रास की आवाज आई। स्वामी श्रीरामजी की मंडली का रास हो रहा था। स्वामीजी की आवाज सुनकर गोविन्द उनके पास चला गया और उन्हें सब बात सुनाई । रास समाप्त हो चुका था। गोविन्द और श्रीरामजी स्वामी फतेह-कृष्णजी का स्कूटर लेकर तथा श्री–जी का पता लग जाने की खुशी में, रास में हुई अन्नकूट लीला का बहुत सा प्रसाद लेकर रात साढ़े बारह बजे वृन्दावन पहुँचे। कुंज में आकर उन्होंने हम सब को सूचना दी। सभी को बहुत सन्तोष हुआ और परिकरजनों ने खुशी-खुशी प्रसाद ग्रहण किया।

प्रातः श्री घनश्यामजी और गोविन्द बुलन्दशहर के लिये चल दिये। घनश्यामजी ने गोविन्द को तो खुर्जा ही छोड़ दिया और अकेले ही रमेशजी के घर पहुँचे। द्वार पर टैक्सी खड़ी थी। अन्दर जाने पर अचानक इनको देखकर श्री–जी कुछ चौंक से गये।आश्चर्य से बोले–"तुम यहाँ कैसे आ गये?" घनश्यामजी ने श्री–जी के चरणों में प्रणाम किया और चुप ही रहे। श्री–जी सब बात समझ ही गये। घनश्यामजी को जलपान करवाया और उनके सहित टैक्सी में बैठकर फरीदाबाद के लिये रवाना हो गये।

श्रीधाम आने पर घनश्यामजी ने बताया–उस समय श्री–जी की भाव-मुद्रा बहुत गम्भीर दीख रही थी। आँखें लाल-लाल हो रही थीं। ऐसा लग रहा था कि कहीं मुझे भी छोड़कर चले न जाँय।"

जैसे-तैसे फरीदाबाद पहुँचे। वहाँ एक दिन ठहर कर पंचकूला चले गये। घनश्यामजी ने फोन द्वारा सब सूचना श्रीधाम दे दी थी। श्री–जी ने उनसे कहा–"मैं गोरखपुर नहीं जाऊँगा, तुम राधाष्टमी के लिये कल गोरखपुर चले जाओ। चार-पाँच दिन बाद आ जाना, मैं यहीं मिलूँगा।" घनश्यामजी के बहुत मना करने पर भी श्री–जी ने उन्हें जोर देकर गोरखपुर भेज ही दिया।

उन्हें अकेला देखकर गीतावाटिका में सब धक् से रह गये। पूछा–महाराजजी कहाँ हैं ? उन्हें सब बात बता दी तो सभी लोग बहुत उदास हो गये।

श्री बाबा ने पूछा–भैय्या, महाराजजी नहीं आये ? घनश्यामजी ने कहा–"नहीं।" बोले–"बिना महाराजजी के तुम अधूरे दीख रहे हो।"

इधर श्री–जी अम्बाला में घनश्यामजी को ट्रेन से गोरखपुर के लिए रवाना करके वापस पंचकूला चले गये। वहाँ से घनश्यामजी को गोरखपुर पत्र लिख दिया–"तुम पन्द्रह तारीख से पहले नहीं आना। तब तक मैं भी कहीं घूम-फिरकर आ जाऊँगा।"

श्री–जी हरीशचद्ढा से चुपचाप मन्त्रणा करके उसीकी कार से दिल्ली पहुँचे और वहाँ से डाकोर के लिये रवाना हो गये। हरीश ने पूछा–सब मुझसे पूछेंगे कि महाराजजी कहाँ गये ? तो मैं उन्हें क्या जवाब दूँगा ? प्लेटफार्म पर एक पैसेन्जर ट्रेन खड़ी थी। उसे दिखाकर आपने कहा–"कह देना पैसेन्जर ट्रेन से कोसी गये हैं।" उसने भी सबको यही बताया। सभी लोग सुनकर बहुत दुःखी हुए और हरीश को दोष देने लगे कि यह कैसा मूर्ख व्यक्ति है ! श्री–जी का स्वास्थ्य इतना खराब रहता है ! कभी ए. सी. कोच के बिना जाते नहीं हैं। मालूम होते हुए भी कैसी मूर्खता की ? कितना कष्ट हुआ होगा श्री–जी को पैसेन्जर ट्रेन में।"

देवीजी ने कुसुमजी को पता लगाने के लिये देहली भेजा। भगवान भी साथ गया। फरीदाबाद जाकर उन्हें भी यही सूचना मिली, जो उन्होंने फोन द्वारा वृन्दावन बता दी थी। यहाँ हम सभी बहुत दुःखी हुए। वृन्दावनदास को कोसी, नगरिया ढूँढने भेजा परन्तु कहीं कुछ भी पता नहीं लगा। एकबार हाथ में आया मणि फिर खो दिया। सब का खाना-पीना फिर छूट गया। दूर-दूर तक सब जगह तार-फोन किए गए। उधर घनश्यामजी भी ग्यारह तारीख को पूर्व निर्धारित समयानुसार अम्बाला आ गये। उन्हें वहाँ हरीश से सब बातें ज्ञात हुईं। मर्माहत वेदना हुई। वहाँ से देहली आये। फोन पर हम लोगों से सब बातें हुईं। देवीजी ने कहा–तुम वृन्दावन चले आओ; परन्तु श्री घनश्यामजी ने कहा–"मैं वृन्दावन नहीं आऊँगा। एकबार तो ढूँढने जाऊँगा। न मिले तो यहाँ से ही बहिर्वास पहनकर व्रज के किसी गाँव में चला जाऊँगा।"

जैसे-तैसे श्री लालजी ने उन्हें रोका कि श्री–जी के पत्र के अनुसार तीन-चार दिन प्रतीक्षा कर लीजिए। श्री घनश्यामजी फिर पंचकूला जाने को तैयार हुए इतने में लालजी के यहाँ कुलदीप चढ्ढा के एक पड़ौसी का फोन आया कि श्री महाराजजी आज रात यहीं हैं। सुबह कहीं जाने वाले हैं। शायद दिल्ली ही आवें। श्री घनश्यामजी रुक गये।

उस समय स्वामी श्रीरामजी की मंडली का रास जमुनानगर में हो रहा था। वे सहज ही कुलदीप से मिलने गए। वहाँ श्री–जी को देखकर उनकी प्रसन्नता की सीमा न रही। दूसरे दिन श्री महाराजजी इनकी मंडली का रास दर्शन करते हुए लगभग चार बजे श्री लालजी के यहाँ दिल्ली पहुँचे। श्री घनश्यामजी ने वृन्दावन फोन किया–"श्री–जी आ गए हैं। तीन-चार दिन विश्राम करके एक दिन खुर्जा में शिवकुमार के यहाँ होते हुए, वृन्दावन आ रहे हैं।"

तार पाकर सब में नवजीवन का संचार हो गया। निर्णीत समय के अनुसार श्री–जी वृन्दावन आ गये। कुंज में पुनः हर्षोल्लास भर गया।

इस बीच किसी अज्ञात स्थान से श्री–जी के एक-दो पत्र आये थे, जिनमें लिखा था–"मैं किसी जागतिक कारण से नहीं गया हूँ। अपने ही कार्य की पूर्ति के लिये निकला हूँ। आशा है छह महीनों में पूर्ण हो जायेगा। तब अपने आप ही आ जाऊँगा।" परन्तु छह मास की जगह छह दिन ही अज्ञात रूप से डाकोर में रहे और आठ-दस दिनों में ही लौट आये। प्रश्न करने पर आपने स्पष्ट तो कुछ नहीं कहा, परन्तु आपकी बातों से अनुमान हो गया कि श्रीकृष्ण ने आपकी इच्छा की पूर्ति छह मास की जगह छह दिनों में ही कर दी। अलौकिक जगत् की ही कोई बात थी, सो पूर्ण हुई।

कुछ दिनों के बाद परिकरजनों ने उत्सुकतावश श्री–जी से पूछा–महाराजजी ! आप डाकोर कैसे पहुँचे ? कहाँ रहे ? इत्यादि। वे कुछ दिन तो टालते ही रहे, फिर धीरे-धीरे एक-एक बात कहते रहे, जिनका सारांश इस प्रकार है –

वे दिल्ली से ट्रेन द्वारा रतलाम पहुँचे। अत्यन्त थके हुए होने से विश्राम हेतु वे एक पुराने भक्त उत्सवलाल के यहाँ चले गये। वहाँ जलपान करके कुछ

घंटे विश्राम किया। वहाँ से दाहोद होते हुए दस-साढ़े दस बजे डाकोर जा पहुँचे। बिना कुछ खाये पिये लगातार प्रवास करने से वे अत्यन्त थक गये थे। स्टेशन से डाकोर लगभग दो मील है। उस समय कोई ताँगा, रिक्शा भी उपलब्ध नही हुआ। चलने की क्षमता भी नहीं थी। इतने में ही एक ढकेल वाले ने कहा– इसीमें बैठ लीजिए। ढकेल में बैठ कर ही वे श्रीरणछोड़- रायजी के मंदिर के पास वाली 'वल्लभ भवन धर्मशाला' पहुँचे। मैनेजर को आवाज दी, परन्तु उसने एक अपरिचित को इस समय स्थान देने से इनकार कर दिया।

वैसे डाकोर में श्री–जी के बहुत से प्रेमी भक्त थे, जिनके यहाँ आप दो-दो माह रहते थे; परन्तु इस बार आप न किसी के यहाँ रहना चाहते थे और न किसी परिचित से मिलना चाहते थे।

आपके सम्मुख समस्या खड़ी हो गई। अत्यन्त थकान से एक कदम चलना भी दूभर था। इतने में अँधेरे में खड़े एक व्यक्ति ने कहा–"हूँ महाराजजी ने ओलखूँ छूँ"(मैं महाराजजी को जानता हूँ)। मैनेजर ने कहा–"तमे ओलखो छो"(तुम जानते हो) और उसने तुरन्त कमरा खोल दिया तथा श्री–जी ने वहाँ विश्राम किया। कहना न होगा कि उस व्यक्ति के रूप में श्री रणछोड़-रायजी ने ही योगक्षेम किया। प्रातःकाल वे वहाँ से एक मील दूर पुनीताश्रम चले गये और वहाँ एक कमरे में छह दिन रहे। दिन भर में केवल आधा किलो दूध ही लेते थे। श्री–जी एक दिन श्री रणछोड़रायजी के दर्शन करने जा रहे थे, तो रास्ते में तारा बहिन, रुक्मिणी बहिन और रणछोड़दासजी का लड़का कन्हैया मिला। उन्होंने ही श्री–जी को देखा और घर चलने का आग्रह किया, परन्तु उनसे 'फिर आऊँगा' कहकर दूसरे दिन ही वहाँ से पंचकूला के लिए रवाना हो गये। इन्दौर से श्री शुक्लाजी एवं विद्याधरजी आपको ढूँढने डाकोर गये थे परन्तु आप मिले नहीं। वृन्दावन से सभी बाहर रहने वाले परिकरजनों को पूज्य श्री–जी के सकुशल धाम लौट आने के समाचार दे दिये गये। आनन्दस्वरूप पूज्य महाराजजी के आ विराजते ही वेणुविनोदकुंज में पुनः सुख का समीर बहने लगा।

बड़वाह में श्रीमद्भागवत-सप्ताह

श्री नारायणरावजी श्री–जी के प्रथम सत्संगी श्रोता थे। जहाँ भी आप जाते, वहीं सबको श्री–जी की महिमा का वर्णन सुनाते और धारणा किए हुए सत्संग की चर्चा करते। मेरे अस्वस्थ हो जाने से १९४५ में जब श्री–जी प्रथमबार महेश्वर आये थे, तब श्री नारायणरावजी श्री–जी को मंडलेश्वर ले गये एवं अपूर्व सेवा की। उसीके फलस्वरूप सवा महीने तक अहोरात्र निरन्तर सत्संग का जो उन्मुक्त सत्र चला, उसका विस्तृत वर्णन पाठकगण पूर्व प्रसंगों में पढ़ ही चुके हैं।

नारायणरावजी ने उस समय तन-मन-धन से श्री–जी की सेवाकर उस सत्संग का वास्तविक लाभ प्राप्त किया। यह क्रम पच्चीस वर्षों तक चलता रहा। श्री–जी प्रायः प्रतिवर्ष ही मंडलेश्वर जाकर भक्त-मंडली को सत्संग देकर कृतार्थ करते रहे और श्री नारायणरावजी ने सपरिवार इसका लाभ उठाने का अवसर कभी नहीं खोया। उन्होंने दस वर्षों तक पत्नी सहित वृन्दावनवास किया, परन्तु पत्नी का देहावसान हो जाने के पश्चात् उन्हें शारीरिक असमर्थता के कारण लड़के के पास अपने घर लौट जाना पड़ा।

श्री–जी जब-जब निमाड़ प्रान्त में जाते नारायणरावजी साथ ही साथ रहते एवं श्री–जी के सत्संग का भरपूर लाभ उठाते। सन् ८९ में जब श्री–जी बड़वानी गये, तब उनके साथ नारायणरावजी का मिलन अन्तिम ही था। उस समय चौबीस घण्टे का कीर्तन अपनी ओर से रखने की प्रार्थना करके (जिसे श्री–जी ने स्वीकार कर लिया था) आपने एक प्रकार से इहलोक छोड़ने की आज्ञा श्री–जी से प्राप्त कर ली थी।

एक वर्ष पश्चात् ही वे अस्वस्थ हो गये और अपने पौत्र गोपालकृष्ण के यहाँ खरगोन में इक्कीस मई, ९० को शरीर छोड़ा। रुग्णावस्था में उन्होंने श्री महाराजजी को एक पत्र में लिखा था–"अन्तिम समय आ रहा है, बस, आपके चरणों का चिन्तन बना रहे।" श्री–जी ने भी उन्हें सान्त्वनात्मक पत्र लिख दिया था। उनकी अन्तिम इच्छा के अनुसार उनके छोटे पुत्र रामेश्वरजी ने उनकी अन्त्येष्टि क्रिया बड़वाह में श्री नर्मदाजी के तट पर सम्पन्न की।

इसके कुछ माह पश्चात् रामेश्वरजी ने जो एक डॉक्टर भी हैं, श्री–जी को पत्र लिखा–"मंडलेश्वर मकान बेचने के पश्चात् पिताजी से मेरे हिस्से की जो धनराशि मुझे प्राप्त हुई है, उन रुपयों से मैं उनके निमित्त श्रीमद्भागवत-सप्ताह करवाना चाहता हूँ, आप जैसी आज्ञा दें।"

इस पर श्री–जी ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए उन्हें लिखा–"उन्हीं के रुपयों से क्यों ? तुम अपने पास से भी कुछ और रुपये मिलाकर अच्छी तरह उत्साह से करो।" रामेश्वरजी ने सहर्ष श्री–जी को लिखा–"आपकी जो आज्ञा होगी, वही करूँगा। सप्ताह के लिये पण्डित भी श्रीधाम से ही भेजना होगा और आपको भी आना होगा।"

श्री–जी ने श्रीधाम से ही तिथि का निर्णय करके रामेश्वरजी को इसकी सूचना भेज दी और यह लिख दिया कि यहाँ से रासमण्डली भी भेज रहे हैं। कुछ दिन पूर्व विद्याधरजी को इन्दौर पत्र लिखकर प्रबन्ध करने का आदेश दिया। वे बड़वाह जाकर प्रबन्ध में जुट गये। यथासमय पंडित श्री कृष्णमुरारीजी, जापक एवं श्रीरामजी/फतेहकृष्णजी की रासमंडली को बड़वाह भेज दिया। उत्सव के कुछ दिन पूर्व स्वयं श्री महाराजजी घनश्याम जी को साथ लेकर देहली होते हुए बड़वाह पहुँच गये।

इतना बड़ा आयोजन देखकर रामेश्वरजी बहुत घबड़ाये। श्री–जी ने सान्त्वना दी कि सब कुछ हो जायेगा, चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। पण्डाल-स्टेज सभी तैयार हो गये और रामेश्वरजी के अपने मकान 'श्याम कुटी' में दूसरे दिन से रास एवं बृहद् श्रीमद्भागवत-सप्ताह प्रारम्भ हो गया।

श्री–जी के संकेतानुसार बड़वानी से एवं ग्राम-ग्रामों से भक्तवृन्द आ गये। सभी के ठहरने एवं खाने-पीने की समुचित व्यवस्था की गई।

रामेश्वरजी के दामाद गावशिंदे वकीलसाहब के यहाँ श्री–जी के ठहरने की व्यवस्था की गई। इसके पूर्व वे कभी सन्त सम्पर्क में नहीं आये थे; फिर भी उनकी श्री–जी में बहुत श्रद्धा हो गई और वे स्वतः ही श्री–जी की सेवा में तत्पर हो गये।

सप्ताह बहुत उत्साह-पूर्वक सम्पन्न हुआ। रास-दर्शन एवं कथा-श्रवण के लिए हजारों की संख्या में लोग एकत्रित हो जाते थे। रामेश्वरजी का मकान रोड पर होने से ट्रक एवं कार इत्यादि रोककर लोग कथा एवं रास का सुख लेते थे तथा वाहनों की लाईन लग जाती थी।

जिसके यहाँ से पण्डाल का सामान आया था, उसने उत्सव से प्रभावित होकर उसका किराया भी नहीं लिया। वहाँ जल-कष्ट था। नर्मदा का पेय जल लगभग तीन किलो मीटर दूर से टैंकरों से मँगवाना पड़ता था। सेवाभाव से सैकड़ों महिलाएँ दूर-दूर के कुओं से सैकड़ों घड़े पानी स्वयं लाती थीं। ऐसा क्यों न हो ! यह उत्सव रामेश्वरजी के पिताजी का नहीं, वरन् श्री महाराजजी के एक अपने निजजन का उत्सव था, जिन पर श्री–जी का बहुत प्रेम था। इस उत्सव में श्री–जी के प्रभाव से सब लोग किसी अलौकिक भाव में बह गये। इस प्रकार नारायणरावजी के निमित्त किया गया यह उत्सव अत्यन्त अपूर्व रहा।

अपूर्व योगक्षेम

कश्मीर के सिद्ध सन्त स्वामी श्री लक्ष्मणजू से पाठकगण पूर्व परिचित हैं ही। एक बार उनको चार-छह महीनों के लिए दिव्योन्माद हो गया था। उन्माद शान्त होने के पश्चात् भी वे प्रायः अर्धबाह्य दशा में ही रहते थे। एकबार वह देहली आये हुए थे। वहाँ से पूज्य महाराजजी को देहली आने के लिये सन्देश भेजा, परन्तु स्वास्थ्य ठीक न होने से श्री–जी ने देहली जाने में अपनी असमर्थता प्रकट की।

श्री–जी का समाचार मिलते ही श्री स्वामीजी ने वृन्दावन आने का विचार किया और तीन कारों में भक्तवृन्द सहित वेणुविनोदकुंज में पहुँचे। दोनों महापुरुष बहुत ही स्नेह-पूर्वक मिले। उन्हें श्री–जी के कक्ष में ही एक कुर्सी पर बैठाया गया। श्री–जी ने उन्हें चन्दन लगाकर माला धारण कराई। श्री स्वामीजी ने भी श्री–जी के हाथ से चन्दन की कटोरी लेकर श्री–जी को चन्दन लगाया और पूर्णालिंगनपूर्वक मिले। श्री–जी ने स्वामीजी को नया रेशमी वस्त्र उढ़ाया। दोनों सन्तों ने साथ-साथ चाय पी। फिर स्वामीजी एक

क्षण उठकर खड़े हो गये और कहा–"अच्छा ! अब हम चलते हैं।" श्री घनश्यामजी ने कहा–"स्वामीजी ! भोजन करके ही जाना होगा।" अभी भी उनकी उन्मादावस्था पूर्णरूपेण प्रशमित नहीं हुई थी। कहने लगे–"अच्छा, तो लाओ भोजन।" बहुत समझा-बुझाकर कमरे में लाकर बैठाया। वे कई बार उठ खड़े हुए और कई बार रोका। विनोद वार्ता भी होती रही। कहने लगे–"भैय्या ! महाराजजी बड़े ट्रिकी हैं। हमें वृन्दावन बुलाने के लिये तबियत का बहाना किया।" छह-सात घण्टे वेणुविनोदकुंज में स्वामीजी का श्री–जी से प्रेमालाप होता रहा। उनके परिकरजनों ने कहा–"स्वामीजी ने अपने हृदय में जितना स्थान श्री–जी को दिया है, उतना आजतक किसी को नहीं दिया। अन्य किसी से न तो हँस-खुलकर बोले और न किसी को अपने शरीर का स्पर्श ही करने दिया है।" परन्तु श्री महाराजजी को देखते ही वे गद्‌गद हो जाते और अश्रुपूरित नेत्रों से उन्हें चिपटाकर मिलते थे, कहते थे–"भैय्या ! तुम्हें मालूम है, श्री महाराजजी क्या हैं ? भैय्या ! श्री महाराजजी नख से शिख तक प्रेम ही प्रेम हैं।" उस दिन दोनों सन्तों के मिलन के कई चित्र मैंने लिये। भोजनोपरान्त श्री स्वामीजी ने अपने परिकरजनों सहित देहली प्रस्थान किया।

कुछ दिनों के बाद श्री स्वामीजी का स्वास्थ्य खराब हो जाने से उन्हें ऑलइण्डिया इंस्टीट्यूट देहली में भर्ती करवाया गया था। उन्नीस मई, ९१ को स्वामीजी को देखने देहली जाने का श्री–जी का कार्यक्रम निश्चित हुआ। तदनुसार आप सुबह साढ़े सात बजे सीताबाई पोद्दार की मारुतिवेन से देहली के लिये रवाना हुए। श्री ठाकुरजी एवं कुसुमजी साथ थे।

वर्षा के कारण मार्ग गीला था। छाता और कोसी के बीच अचानक कार के पहिए स्लिप हो गये। गाड़ी घूम गई और सड़क के एक तरफ उलट कर गिर गई। सामने से एक यात्रीबस आ रही थी। ड्राइवर दूर से ही लाइट देता हुआ आ रहा था। गाड़ी को स्लिप होकर गिरती देख बस के सब यात्री हाय-हाय कर उठे। ड्राइवर ने बस रोक दी। बस के सब यात्री भाग-भाग कर मारुतीवेन के पास आ गये। देखा, अन्दर सब ठीक हैं। एक ऐसी विचित्र बात हुई कि गाड़ी पलटते ही पीछे की डिग्गी अपने आप खुल गई और निकलने का रास्ता बन गया। सब खिड़कियाँ तो जाम हो गई थीं। खिड़की

की ओर से जिधर गाड़ी पलटी थी, कुसुमजी बैठी थीं। उन्हें थोड़ी चोट आई। दबाव पड़ने से पसली और बाँह दब गई। पसली में दर्द और सूजन हो गई। बाँह पर खून जम जाने से बड़ा सा काला दाग पड़ गया।

श्री–जी मध्य में बैठे थे। उन्हें कुछ भी चोट नहीं आई, परन्तु झटके लगने से शरीर में कई जगह दर्द हो गया। ठाकुरजी अगली सीट पर बैठे थे। उनकी अँगुली खिड़की से दब जाने के कारण नीली पड़ गई।

जब वेणुविनोदकुंज से गाड़ी रवाना हुई, तभी से श्री–जी ने कहना शुरू कर दिया था कि बरसात के दिन हैं, गाड़ियाँ स्लिप हो जाती हैं, सम्हाल के चलाना चाहिए। बार-बार कहने पर भी ड्राइवर गाड़ी की रफ्तार बढ़ा लेता था, अतः ठाकुरजी पीछे से उतरकर अगली सीट पर जा बैठे और बीच-बीच में उसे गाड़ी धीमी गति से चलाने के लिए कहते रहे।

दुर्घटना के समय गाड़ी साठ की स्पीड से ही चल रही थी। बस-यात्रियों ने धीरे से सबको डिग्गी के रास्ते बाहर निकाला और सात-आठ लोगों ने गाड़ी को उठाकर सीधा कर दिया।

सब कहने लगे गाड़ी को जिस प्रकार हमने पलटते देखा, उससे किसी के भी जीवित रहने की आशा नहीं की जा सकती थी, परन्तु भगवान् ने सब को बचा लिया। कुसुमजी और ठाकुरजी के हाथ में माला झोली देखकर कहने लगे–आपके साथ संत हैं और आप तीरथ करके आ रहे हैं, इसीलिए सब सुरक्षित रहे।

बस के ड्राइवर ने गाड़ी चैक की। टंकी देखी, ब्रेक देखे, गाड़ी स्टार्ट करके देखी। सब कुछ ठीक था। इतनी बुरी तरह पलटने के बाद भी न उसका शीशा टूटा, न बत्ती टूटी। और तो और गाड़ी को कहीं खरोंच भी नहीं आई। ड्राइवर ने खुश होकर कहा–गाड़ी बिलकुल ठीक है, आप सब आराम से जाइए। कुसुमजी ने कहा–महाराजजी ! अब तो वापस लौट चलना चाहिए। श्री–जी ने कहा–"जब ठाकुर ने सब कुछ ठीक रखा, योगक्षेम लिया, गाड़ी भी ठीक रखी और हमें भी विशेष चोट नहीं आने दी, तो किसलिए लौट चलें ? अब तो इसी गाड़ी से जायेंगे।"

इस घटना के कारण श्री–जी फरीदाबाद श्री लालजी के यहाँ विलम्ब से पहुँचे। चिन्ताग्रस्त होकर सब प्रतीक्षा कर ही रहे थे। घटना का विवरण सुनकर वे भी आश्चर्य करने लगे।

इस घटना के पीछे एक विचित्र बात थी, जो पूज्य श्री–जी ने बाद में बताई –

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।

श्री–जी गीता के इस श्लोक की व्याख्या अपने ही ढंग से करते थे। कहते थे–'योग' अर्थात् श्रीकृष्ण से मिलने का प्रसंग और 'क्षेम' अर्थात् श्रीकृष्ण मिलन से जिस प्रेम और आनन्द की प्राप्ति होती है, उसको गोपनीय रखकर जो संरक्षण करते हैं, वे उनके अपने श्रीकृष्ण।

श्री–जी ने कहा–"यह घटना क्यों हुई पता है ? मेरे मन में गाड़ी में बैठते ही यह विचार चल रहा था कि इस प्रकार 'योगक्षेम' को वहन करने वाले श्रीकृष्ण तो एकमात्र मेरे अपने हैं। फिर 'व्यापक योगक्षेम' कैसे होता है। सर्वव्याप्त, सर्वकर्ता श्रीकृष्ण तो और कोई होंगे। बस, यही विचार प्रगाढ़ता पूर्वक मेरे मन में चल रहा था। इस घटना के द्वारा उन्होंने मुझे अनुभव करा दिया कि मैं ही सर्वव्याप्त, कर्ता, धर्ता, सर्वत्र एवं सभी प्रकार का "योगक्षेम" लेने वाला हूँ। उन्होंने ही गाड़ी स्लिप कराकर पलटा दी और सबको सुरक्षित रखकर योगक्षेम भी लिया। इस घटना से मैं समझ गया कि उन्होंने मुझे अपनी सर्वव्यापकता की स्मृति दिलाने के लिये ही यह लीला की।"

बात यह है कि भक्त सब कुछ जानते हुए, सब कुछ अनुभव करते हुए भी प्रेमवश कभी-कभी किसी माधुर्य लहरी में डूब जाते हैं। वहाँ उनका ऐश्वर्यभाव लुप्तप्रायः हो जाता है। ब्रजगोपियाँ कोई साधारण नहीं; भगवत्ता के पूर्ण ज्ञान से अभिज्ञ हैं, पर माधुर्य-रस में डूबी रहने के कारण वे "श्रीकृष्ण एकमात्र हमारे कान्त हैं" इसी भाव से अभिभूत रहती हैं। वियोगावस्था में कुछ समय के लिये ऐश्वर्य का भान होता है तो कह उठती हैं–

"न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिल देहिनान्तरात्मदृक्।"

परन्तु जब श्रीकृष्ण उनके मध्य प्रकट हो जाते हैं –

तासामाविर्भूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः।।

बस, उनके इस रूप में प्रकट होते ही वे उन्हें अपने एकमात्र प्रियतम के रूप में ही देखती हैं। उन्हें भान भी नहीं रहता कि ये कोई भगवान् हैं। यह न होता तो दूसरे ही क्षण अपनी ओढ़नी बिछाकर कैसे कहतीं कि आओ इस पर विराजो।

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो
योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः।।

कहने का सार यह है कि कोई भी भक्त या प्रेमी सब कुछ जानते हुए भी कभी-कभी किसी लहर में डूब जाता है और उनके परमप्रेष्ठ को भी उसके साथ विभिन्न प्रकार की अठखेलियाँ करने में आनन्द आता है।

श्री–जी के मुख से इस दुर्घटना के आवरण में छिपी हुई एक परम मधुर घटना की बात सुनकर सभी भाव-विभोर हो गये।

श्री–जी, स्वामीजी को देखने हॉस्पीटल गये। श्री–जी को देखकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए। श्री–जी को निकट ही बैठाकर चाय पिलाई एवं श्री घनश्यामजी से कीर्तन सुना। इस अस्वस्थ अवस्था में भी उनके मुख पर बिखरी हुई प्रसन्नता देखते ही बनती थी। उनसे मिलकर श्री–जी यथा- समय श्रीधाम लौट आये।

श्री तिरुपतिबालाजी के दर्शन –

एकबार परम पूज्य श्री महाराजजी अचानक डाकोर चले गये। पीछे से श्री ठाकुरजी और कुसुमजी भी डाकोर पहुँचे। श्री रणछोड़दासजी महाराज के यहाँ श्री–जी से भेंट हुई। श्री ताराबहिन के यहाँ प्रसाद पाने के पश्चात् सबने रणछोड़दासजी महाराज के यहाँ ही रात्रि-विश्राम किया।

दूसरे दिन जब घनश्यामजी ने श्री–जी से पूछा कि वृन्दावन कब चलेंगे, तो कहने लगे–श्री तिरुपतिबालाजी का प्रसादी चन्दन अचानक मेरे

हाथ में आ गया है। इसका मतलब है, वे मुझे बुला रहे हैं। मैं उनके दर्शन करके आठ दिन बाद वृन्दावन पहुँच जाऊँगा। आप लोग वृन्दावन चलें। पर ठाकुरजी ने श्री–जी के साथ रहना ही उचित समझा और भीकाजी को साथ लेकर सबका आरक्षण करा लाये और इसकी सूचना वृन्दावन दे दी। श्री–जी, ठाकुरजी एवं कुसुमजी तीनों तिरुपतिबालाजी पहुँचे तथा रहने के लिये दो कमरों की व्यवस्था की। विश्राम करने के पश्चात् सायं श्री बालाजी के दर्शन करने गये। दर्शनार्थियों की लम्बी कतार देखकर निराशा सी हुई कि शायद उस दिन दर्शन नही हो पायेंगे। कुसुमजी ने कहा–"वृन्दावन के हमारे बिहारीजी तो बड़े अच्छे हैं। वहाँ लाईन का कुछ चक्कर ही नहीं है।"

इतना सुनकर पूज्य श्री–जी बोले–'अच्छा !' और अच्छा कहते ही जैसे उनमें कोई आवेश सा हो गया। बोले–चलो, उधर चलो। इन लोगों को लाईन से निकालकर जाने कहाँ-कहाँ से ले जाकर सबसे आगे वाली पंक्ति में खड़ा कर दिया।

मद्रास से दो मिनिस्टर आये हुए थे। एस.पी., डी.एस.पी. सभी उनकी व्यवस्था में आगे जा रहे थे। श्री–जी ने एस.पी. से पूछा–"क्या मैं आ सकता हूँ ?" उसने बिना पीछे मुड़े हाथ के इशारे से कहा–'आइये।' तीनों तेजी से उसके पीछे चल दिये और आगे जाकर ऐसे द्वार पर पहुँच गये, जो मंदिर के ठीक सामने ही था और उत्सव के अवसरों पर ही खुलता था। उसमें एक विशाल ताला पड़ा हुआ था। सब लोग वहाँ खड़े हो गये। द्वार के भीतर श्री रामनाथजी गोयनका को खड़े देखकर श्री ठाकुरजी ने श्री–जी को बताया कि उनको वे गीतावाटिका गोरखपुर में श्री बाबा के पास देख चुके हैं। इन्हें बाहर खड़े देखकर वे खिंचे हुए इनके पास आये और तुरंत द्वार खुलवाकर इन लोगों को अन्दर ले लिया तथा जो मिनिस्टर खड़े थे, उनसे भी पहले श्री–जी को श्री बालाजी के दर्शन कराने के लिये पुजारीजी से कहा।

पुजारीजी ने इन्हें अच्छी तरह दर्शन कराये। सिर पर शठकोप रखा। फिर श्री रामनाथजी ने सभी को साथ लेकर परिक्रमा कराई और कहा–"कल नेत्रदर्शन होंगे। आप मंगला में आइए। मैं भी आऊँगा।"

दूसरे दिन जब मंगला में नेत्रदर्शन करने पहुँचे तो श्री रामनाथजी गोयनका प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने अच्छी तरह दर्शन करवाये।

ये लोग तीन दिन वहाँ रहे और बिना लाईन में लगे सीधे मंदिर में पहुँचकर दर्शन सुख प्राप्त करते रहे। श्री–जी ने कहा–"मुझे उन्होंने प्रेरणा देकर बुलाया है, तो सब व्यवस्था उनको करनी ही थी।" वहाँ से पंढरपुर होते हुए पुनः सभी डाकोर आ गये और दो दिन डाकोर रहकर वृन्दावन पहुँचे।

यहाँ तक तो घटना सामान्य सी ही लगती है, परन्तु आश्चर्य तो तब हुआ, जब यात्रा के दो माह पश्चात् श्री रामनाथजी गोयनका गीतावाटिका में श्री ठाकुरजी को मिले। श्री ठाकुरजी ने जब उनसे कहा–"आपने तिरुपति-बालाजी में हमें बड़े अच्छे दर्शन कराये।" वे बोले–"दर्शन, कैसे दर्शन? और कोई होगा; मैं गया ही नहीं, आप भूल रहे हैं।"

इसके बाद पुनः वे श्री ठाकुरजी को डालमिया हाऊस में मिले। श्री ठाकुरजी ने जान-बूझकर उनसे फिर से यही बात कही। उस समय भी उन्होंने यही कहा–आप भूल कर रहे हैं, मैं नहीं था, कोई और होगा।

अब तो पूर्णरूपेण स्पष्ट हो गया कि स्वयं तिरुपतिबालाजी ने ही श्री महाराजजी को प्रेरित कर बुलाया और इस विचित्र ढंग से दर्शन की व्यवस्था कर अपूर्व योगक्षेम भी लिया।

पुनश्च बड़वानी-गमन

पूज्य श्री महाराजजी लगभग तीन वर्षों से बड़वानी नहीं जा सके थे। बुलाने के लिए वहाँ के लोगों का आग्रह निरन्तर बढ़ता जा रहा था। श्री–जी इन दिनों बहुत अस्वस्थ रहने लगे थे। परिकरजन नहीं चाहते थे कि श्री–जी लम्बा सफर करें या श्रीधाम छोड़कर कहीं जायें। अधिक सफर करने से स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की आशंका से सभी डरते थे। श्री–जी तो परिकरजनों के प्राण ही थे। उनके बिना रहना सभी को असह्य हो जाता था। विशेषकर श्री देवीजी तो बहुत ही व्याकुल एवं दुःखी हो जाती थीं। इसीलिए श्री–जी भी प्रायः, जब कहीं जाना ही होता था तो बिना कुछ कहे-सुने निकल जाते थे. पीछे से पता चलता था कि कहाँ गये हैं, क्यों गये हैं। उनका इस तरह परिकरजनों को एकदम आश्चर्य में डाल देने का कौतुकी स्वभाव भी था।

इस बार भी उन्होंने बड़वानी जाने का मन ही मन निश्चय कर लिया, पर बात किसी से भी प्रकट नहीं की। सोलह जून को प्रातः ठाकुरजी को साथ लेकर नित्य की भाँति घूमने गये। कुरते के ऊपर केवल एक चादर ओढ़े हुए थे। घूमते हुए श्री कमलाजी के यहाँ गए। श्री ठाकुरजी को भी श्री–जी के मनोभाव का कुछ पता नहीं था। एकदम देहली जाने का प्रस्ताव रखा और कमलाजी की कार द्वारा वे श्री घनश्यामजी को लेकर देहली चले गए। सर्वदा की तरह लालजी के यहाँ ही ठहरे और वहाँ से श्रीधाम फोन कर दिया कि चार-छह दिनों में स्वास्थ्य-परीक्षण करवाकर आ रहे हैं।

चार-पाँच दिनों के बाद जब देवीजी ने फोन किया तो पता चला कि श्री–जी बाईस जून को राजकोट चले गये हैं। श्री–जी राजकोट में मणिभाई के यहाँ दस दिन रहे। वे सत्रह वर्ष पश्चात् वहाँ गए थे। वहाँ के सभी भक्त श्री–जी के सत्संग एवं कीर्तन का लाभ लेने के लिये एकत्रित हो गये थे।

राजकोट में उन दिनों श्री कृष्णशंकर शास्त्रीजी का भागवत-सप्ताह हो रहा था। श्रीकृष्णशंकर शास्त्रीजी श्री–जी से पिछले कई वर्षों से परिचित थे तथा उनके प्रति अत्यधिक पूज्य भावना रखते थे। अहमदाबाद (सोलो) में

इनके आश्रम में एक विशाल भागवत-विद्यापीठ बना हुआ है, जहाँ विद्यार्थी श्रीमद्भागवत का अध्ययन करते हैं।

इनके भागवत-सप्ताह की सूचना समाचारपत्र में छपी थी। मणिभाई के यहाँ श्री–जी ने पढ़ी और सप्ताह में जाने की इच्छा प्रकट की। एक जुलाई को श्री–जी नटवरलालजी की कार से रवाना हुए। जब श्री–जी कथास्थल पर पहुँचे तो श्री शास्त्रीजी की कथा का प्रथम दिन ही था। वे मंगलाचरण करने ही वाले थे कि श्री महाराजजी को समुपस्थित देखकर हर्ष गद्गद होकर मौन हो गए। बद्धाञ्जलिपूर्वक श्री–जी को निहारते रहे। उन्होंने मंच पर ही आसन लगवाकर श्री–जी को विराजित किया तथा कुशलक्षेम पूछकर श्री–जी का स्थानीय पता ठिकाना नोट करवा लिया। फिर कहने लगे प्रथम दिन ही कथा के प्रारंभ में श्री–जी का पदार्पण मंगल-सूचक है।

श्री–जी कुछ समय कथा में बैठकर अपने स्थान पर लौट आए। कथा समाप्त होते ही श्री शास्त्रीजी वहीं आ पहुँचे और अपने साथ प्रसाद ग्रहण करने हेतु चलने का आग्रह करने लगे, परन्तु श्री–जी का कार्यक्रम और कहीं निश्चित होने से श्री–जी ने असमर्थता प्रकट की। श्री कृष्णशंकर शास्त्रीजी ने कहा–कथा के कारण मैं तो यहाँ बँधा हुआ हूँ, आपको साथ लेकर नहीं जा सकता। पर आप जाते समय अहमदाबाद आश्रम (सोलो) में भागवतविद्यापीठ अवश्य देखें। श्री–जी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

श्री शास्त्रीजी ने राजकोट के दैनिक समाचार-पत्रों में यह समाचार प्रमुखता से छपवाया "वृन्दावनधाम से एक महान् सन्त श्री बालकृष्णदासजी महाराज सप्ताह कथा में आए हैं"।

राजकोट से जाते समय श्री महाराजजी अहमदाबाद में भागवत-विद्यापीठ देखने गये एवं कुछ घंटे वहाँ रुके। वहाँ के कार्यकर्ताओं ने श्री–जी का समुचित आदर-सत्कार किया। मणिभाई की भतीजी रुक्मिणीजी और भाई धीरजलाल भी साथ ही थे। वहाँ से रवाना होकर शाम को चार बजे डाकोर आ गये। दूसरे दिन रणछोड़रायजी की रथयात्रा का उत्सव था। रथयात्रा दर्शन हेतु श्री–जी के लिये 'अर्चक' द्वारा विशेष व्यवस्था की गई थी।

इस उत्सव में दर्शनार्थियों की बहुत ही भीड़ होती है। गोस्वामी बालक ही भगवान् रणछोड़रायजी का रथ खींचते हैं। स्थान-स्थान पर आरती होती है तथा जय-जयकार की तुमुल ध्वनि से नभोमंडल गूँज उठता है।

यह सब दृश्य देखकर श्री–जी उठ खड़े हुए और रथ की ओर अग्रसर हुए। रथ को स्पर्श करते ही वे भावाविष्ट हो गये। आपके शरीर में रोमांच, अश्रु, कम्प इत्यादि सात्विक भाव जाग्रत हो गये। श्री घनश्यामजी ने कठिनता से श्री–जी को सम्हाला। दो-तीन घंटों में वे प्रकृतिस्थ हुए और घर आकर प्रसाद ग्रहण किया।

मात्र एक ही दिन डाकोर में रहकर दिनांक दो जुलाई को श्री–जी बड़वानी पहुँच गए।

साढे दस माह के अखण्ड संकीर्तन में श्री निगमसाहब का आश्चर्य-जनक रूप से हृदय परिवर्तन हुआ था। सन् १९६० में उन्होंने बहुत ही शान्ति पूर्वक भगवत्-स्मृति में शरीर छोड़ा। श्री–जी की प्रेरणा से उनके दत्तक पुत्र श्री सुशील निगम ने उनकी कल्याण-कामना से भागवत-सप्ताह का बृहद् आयोजन किया था। इसीलिए श्री–जी का बड़वानी आगमन हुआ था। कथाव्यास श्री कृष्णमुरारीजी को भी श्री–जी ने श्रीधाम से भेजा था। तीन जुलाई से सप्ताह-कथा प्रारंभ हो गई।

दो तारीख को श्रीधाम में हमारे पास भी निमन्त्रण पत्र पहुँच गए। मध्यप्रदेश गए मुझे भी कई वर्ष हो गए थे। प्रेमीजनों का आने के लिए बहुत आग्रह था, परन्तु मैं श्री महाराजजी की उपस्थिति में ही वहाँ जाना चाहता था। निमन्त्रण-पत्र मिलते ही इस अवसर को उपयुक्त जानकर मैं भी दिनांक सात को बड़वानी पहुँच गया।

सप्ताह-कथा-श्रवण हेतु गाँव-गाँव से सैकड़ों भक्त आये हुए थे। श्री–जी के दर्शनों के लिये प्रेमीजनों का ताँता लगा हुआ था। श्री सुशील बाबू ने पत्नी सहित मनोयोग-पूर्वक सप्ताह श्रवण किया तथा पूर्ण उदारता एवं प्रसन्नता से सम्पूर्ण व्यय-भार वहन किया। भक्तों के रहने, भोजन, पान आदि की व्यवस्था 'तुलसी मंदिर' नामक एक विशाल धर्मशाला में की गई थी।

सेवाभावी श्री लक्ष्मीनारायणजी व्यवस्था-कार्य पूर्ण दक्षता से कर रहे थे। कैलाशभाई, मोतीभाई, पुरुषोत्तमभाई आदि प्रतिष्ठितजनों का रोम-रोम से इसमें सहयोग रहा। सभी के हृदय में एक ही भावना कार्य कर रही थी कि यह आयोजन किसी व्यक्ति विशेष का नहीं, हमारे श्री महाराजजी का है। श्री महाराजजी के कार्य में किसी प्रकार की न्यूनता आ ही कैसे सकती थी!

श्रीमद्भागवत सप्ताह बहुत ही आनन्दपूर्वक सम्पन्न हुआ तथा सप्ताह-समापन में दो हजार व्यक्तियों का विशाल भंडारा हुआ।

इसके पश्चात् तुरन्त ही सप्त दिवसीय अखण्ड संकीर्तन श्री सुशील बाबू की ओर से ही रखा गया एवं समापन में पुनश्च विशाल भंडारा हुआ।

इसी मध्य गुरुपूर्णिमा उत्सव भी बहुत ही उत्साहपूर्वक मनाया गया। वहाँ उपस्थित हजारों लोगों ने मोतीभाई के यहाँ श्री–जी का माल्यार्पण के साथ पूजन किया। पूजन का कार्यक्रम लगभग सात घंटे चला। श्री–जी के कमरे से बाहर सड़क तक भक्तों की लम्बी कतारें खड़ी थीं। सभी क्रम-क्रम से आकर श्री–जी को अपने श्रद्धा-सुमन भेंट करते रहे। मोतीभाई की ओर से पुनः बृहद् भंडारा हुआ। इस प्रकार पन्द्रह दिन तक श्री–जी सबको भक्ति-रसामृत पान कराते रहे। चलते समय सभी भक्तों ने आँसू बहाते हुए श्री–जी को बिदाई दी।

लौटते समय श्री–जी कुछ घंटों के लिये भाईसाहब श्री सख्याहरिजी के यहाँ महेश्वर भी गये। वहाँ से इन्दौर पहुँचे। खण्डवा के श्री बालकृष्णसेठ श्री–जी को इन्दौर से आग्रह-पूर्वक खण्डवा ले गये। उनके घर चौबीस घण्टे का अखण्ड संकीर्तन हुआ। खण्डवा के लोग तो सप्त दिवसीय अखण्ड संकीर्तन का आयोजन करना चाहते थे, परन्तु सावन के झूलनोत्सव के लिए श्री–जी को शीघ्र श्रीधाम पहुँचना था, इसलिये पुनः आने का वचन देकर वे भोपाल के लिये रवाना हो गये। यहाँ श्री हीरालालजी के यहाँ तीन दिन रहे एवं पूर्व परिचित भक्तों को सत्संग और संकीर्तन का सुख प्रदान कर सात अगस्त को श्रीधाम पहुँच गये।

दो महान् विभूतियों का अन्तिम मिलन

पूज्य श्री महाराजजी सात अगस्त को बड़वानी से श्रीधाम लौट आये थे। अपने निज परिकर को सुख देते हुए छब्बीस अगस्त तक परमानन्द पूर्वक वेणुविनोदकुंज में विराजित रहे। वैसे तो श्री बाबा के प्रेमवश राधाष्टमी के अवसर पर हर वर्ष ही श्री–जी का गोरखपुर जाने का नियम सा ही बन गया था; परन्तु इस वर्ष आपका वहाँ जाने का विचार कुछ शिथिल सा ही हो रहा था। इस बात को श्री कुसुमजी ने श्री कमलजी को लिख दिया। कमलजी ने जब यह बात श्री बाबा से कही, तो बाह्यस्मृति शून्य भाव-विभोर स्थिति में निरन्तर रहने वाले श्री बाबा एकदम चौंके और अंग्रेजी में कहा– "I actually wanted thee" (मुझे सचमुच ही तुम्हारी आवश्यकता है।) यह वाक्य श्री कमलजी ने यहाँ लिख भेजा। तब तो श्री–जी का गोरखपुर जाना निश्चित हो गया। उन्होंने सत्ताईस अगस्त को देहली के लिये प्रस्थान किया और वहाँ से तीस अगस्त को रवाना होकर इकतीस अगस्त को गोरखपुर पहुँच गये।

श्री महाराजजी के वहाँ पहुँचते ही मानो गीतावाटिका में एक आनन्द की बहार सी आ जाती थी। एक उत्सव का सा वातावरण छा जाता था। वाटिका के कर्मचारीगण, माली इत्यादि भी उत्साह से एक-दूसरे से कहते हुए कि "वृन्दावन से श्री महाराजजी आ गये हैं" अपना आनन्द प्रकट करते थे। गीतावाटिका का कण-कण आह्लादमय हो उठता था। भक्तगण तो प्यासे चातक की तरह श्री–जी की बाट जोहते रहते थे।

श्री बाबा को लेकर वहाँ कभी कुछ भी समस्या उत्पन्न होती तो उसे सुलझाने के लिये भक्तगण श्री–जी का ही आश्रय लेते थे।

एकबार श्री बाबा की भिक्षा में दो-तीन दिन तक लगातार नमक की मात्रा अधिक हो गई। एक-दो बार भिक्षा बनाने वालों को संकेत करने पर भी भूल की पुनरावृति होती देख श्री बाबा ने एकदम निर्णय ले लिया कि मैं बिना नमक की भिक्षा ही लूँगा। अब तो वाटिका में सभी घबरा गये। भिक्षा बनाने वालों के कष्ट का तो कहना ही क्या ! यदि बाबा ही नमक नहीं लेंगे तो भला और सब कैसे ले सकेंगे ? क्या करें, क्या न करें ? विष्णुहरि डालमिया तथा

और भी भक्तजन श्री महाराजजी के पास समस्या के समाधान हेतु दौड़े-दौड़े आये। श्री–जी की आज्ञा से ठाकुरजी ने बाबा से निवेदन किया–"आपके नमक छोड़ने से श्री–जी को बहुत कष्ट है। यदि आप बिना नमक की भिक्षा करेंगे तो श्री–जी नमक कैसे ले सकते हैं ?"

श्री बाबा ने कहा–"अपनी अन्तर्दृष्टि से महाराजजी देखें कि मैंने उचित किया है या अनुचित ! मेरी इच्छा है कि महाराजजी नमक न छोड़ें।"

फिर श्री महाराजजी ने ये पंक्तियाँ लिखकर भेजीं–"इस बार भिक्षा में जिनकी भूल हुई है, उन्हें क्षमा किया जाय। आगे यदि फिर भूल हुई तो विचार करेंगे।" पढ़ते ही श्री बाबा ने नमक की भिक्षा लेना स्वीकार कर लिया। सभी के मुर्झाये मुख प्रसन्नता से खिल उठे।

इस प्रकार श्री–जी के वहाँ पहुँचने पर सभी को एक सम्बल सा मिल जाता था, क्योंकि कई वर्षों से श्री बाबा उन्मत्त या प्रकृतिबाह्यदशा में ही प्रायः रह रहे थे। इससे प्रेमी लोग कुछ व्यथित से ही थे। श्री–जी के पहुँचने पर श्री बाबा भी कुछ प्रकृतिस्थ हो गये और राधाष्टमी-उत्सव सानन्द सम्पन्न हुआ। उनका स्वास्थ्य भी ठीक ही रहा। यह सब श्री–जी की उपस्थिति मात्र का चमत्कार था। तेइस सितम्बर को पूज्य श्रीभाईजी का श्राद्ध दिवस था। उनका शताब्दि-जन्मोत्सव भी वर्ष भर से मनाया जा रहा था। श्री–जी ने श्रीधामोन्मुख जाने का अपना कार्यक्रम बनाया, तदनुसार चौबीस सितम्बर को लखनऊ तक का आरक्षण हो गया था। इधर पूज्या माँ (श्री भाईजी की पत्नी) का स्वास्थ्य कुछ दिनों से बहुत ही चिन्ताजनक था। पाँच दिनों से वे बेहोशी की अवस्था में ही पड़ी हुई थीं।

श्रीधाम जाने के लिये पूज्य बाबा से आज्ञा ले ली गई थी, परन्तु ऐसा लगता था कि बाबा के मन में कुछ और ही विचार है, जिसे वे प्रकट नहीं कर रहे हैं।

चौबीस तारीख को स्टेशन जाने के लिये श्री–जी का सब सामान कार पर रख दिया गया। गाड़ी का सही समय जानने के लिये स्टेशन फोन किया गया तो पता चला कि गाड़ी आठ घंटे लेट है। समय निकट आने

पर पुनः फोन किया तो पता चला कि गाड़ी अठारह घण्टे लेट है। सब बड़े असमंजस में पड़ गये। श्री बाई (भाईजी की पुत्री) श्री–जी के पास आईं और कहने लगीं–"माँ की तबियत तो बहुत गम्भीर है , क्या आप ऐसी स्थिति में भी चले जायेंगे ?"

श्री–जी ने अपना जाने का कार्यक्रम स्थगित कर दिया। दूसरा दिन बीत गया। माँ की स्थिति गम्भीर होती जा रही थी। चौबीस सितम्बर से ही उनकी अन्तिम स्थिति के लक्षण दीखने लगे थे। श्री बाबा और श्री महाराजजी माँ के सिरहाने बैठे हुए थे। ऊर्ध्व श्वास चल रहा था। श्री घनश्यामजी, कुसुमजी और आत्मीयजन माँ के कमरे में पास ही बैठे हुए थे। किसी कारण से श्री घनश्यामजी उठकर श्री–जी के पास गये, तो बाबा समझे कि वे महाराजजी को यहाँ से ले जाना चाहते हैं। श्री बाबा कहने लगे–"ठाकुर ! श्री महाराजजी को कहाँ ले जा रहे हो ? ले नहीं जाना, मेरी और महाराजजी की सम्मिलित भावधारा से ही माँ को युक्त जगह पहुँचाना है।"

तारीख छब्बीस को नौ बजकर बीस मिनिट पर माँ का अन्तिम प्रयाण हुआ। सत्ताईस तारीख को यथाविधि उनका अग्नि-संस्कार गीतावाटिका में ही श्रीभाईजी की समाधि से कुछ ही दूरी पर किया गया। ये सभी समाचार फोन द्वारा वृन्दावन दे दिये गये।

अट्ठाईस सितम्बर को वृन्दावन के लिये प्रस्थान करते समय पूज्य श्री महाराजजी पूज्य श्री बाबा के पास बिदाई लेने गये। सर्वदा की तरह वे बाबा के निकट चौकी पर बैठ गये और उनके हाथ अपने हाथों में लेकर कहा–"मैं फिर आपके साथ ही बैठकर रासलीला के दर्शन करूँगा।" यह कहने के मूल में श्री–जी की यही भावना थी कि तबतक वे रहें और स्वस्थ रहें। जनवरी में श्री बाबा के जन्म दिन पर रासलीला का आयोजन निश्चित किया गया था। उसी की ओर श्री–जी का संकेत था, परन्तु बात को बीच में ही काटते हुए श्री बाबा ने कहा–"प्रभु ! अब की बार तो मैं आपके साथ ही चल रहा हूँ। आपके रोम-रोम में समा जाना चाहता हूँ।" ऐसा कहकर पूज्य श्री बाबा अत्यन्त गम्भीर हो गये। पूज्य श्री महाराजजी सजल नेत्रों से एकटक उन्हें देखते रहे

और इसी स्थिति में हाथ पकड़े दोनों महापुरुष श्री भाईजी के समाधि-स्थल तक आये। यहीं से श्री बाबा ने श्री–जी को बिदाई दी।

दो महान् विभूतियों का यह अन्तिम मिलन था। गोरखपुर से रवाना होकर श्री–जी लखनऊ पहुँचे और वहाँ मणकापुर रानीसाहिबा की कोठी पर तीन दिन रुक कर सभी को कीर्तन एवं सत्संग का लाभ देते हुए श्री उषाजी झुनझुनवाला के आग्रह पर कानपुर पहुँचे। वहाँ बैंक मैनेजर श्री रामकृष्णजी शुक्ल, विमलनारायणजी शुक्ल इत्यादि प्रेमियों को सत्संग का लाभ देते हुए चार अक्टूबर को श्री लालजी के यहाँ दिल्ली पहुँचे। वहाँ चार दिन विश्राम करके नौ अक्टूबर को वे श्रीधाम आ गये। वेणुविनोदकुंज में आनन्द छा गया। डेढ़ माह से प्रतीक्षारत परिकरजनों के हृदय श्री–जी को पुनः अपने मध्य पाकर हर्षित हो गये।

पूज्य श्री राधाबाबा का लीला-प्रवेश

पूज्य श्री महाराजजी नौ अक्टूबर,१९९२ को गोरखपुर से श्रीधाम आ गये थे। एक ही दिन पश्चात् गोरखपुर से समाचार आया कि श्री बाबा की तबियत चिन्ताजनक है। दस्त और वमन होने से अत्यधिक कमजोरी आ गई है। ग्लूकोज चढ़ रहा है। दूसरे दिन फिर फोन आया कि तबियत सुधार पर है। हमें कुछ शान्ति मिली। तीसरे दिन फोन आया कि श्री बाबा की स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक हो गई है–पसली में दर्द है; साँस तेज हो गया है, ऑक्सीजन दिया जा रहा है और ग्लूकोज भी चढ़ रहा है। ऑक्सीजन की बात सुनकर श्री–जी को बहुत चिन्ता हुई। वे गोरखपुर जाने की सोचने लगे। यहाँ से फोन लगाकर बार-बार पता लगाते रहे।

बारह अक्टूबर को रात को फोन पर श्री जगदीशजी से बात हुई। उन्होंने बताया श्री बाबा की स्थिति सुधार पर है। ऑक्सीजन हटा दिया है। ग्लूकोज चढ़ रहा है। श्री बाबा को चम्मच से कुछ चटाया भी है। इस सूचना से सभी को शान्ति मिली। उस रात श्री–जी ने भी शान्तिपूर्वक विश्राम किया।

तेरह अक्टूबर को सुबह शीघ्र ही श्री–जी श्री ठाकुरजी को साथ लेकर श्री बाबा के स्वास्थ्य के समाचार जानने हेतु श्री कमलाजी के यहाँ

गये और गोरखपुर फोन लगाया। श्री हरिजी ने वहाँ से बताया–श्री बाबा की तबियत ठीक है। श्री–जी प्रसन्न हुए और पुनः थोड़ी देर बाद फोन लगाने हेतु श्री राधारमणजी को वहीं बैठाकर हरिनिकुंज तक ही आये होंगे कि पीछे से राधारमणजी भागते हुए आये। रोते हुए उन्होंने श्री–जी को बताया कि बाबा नहीं रहे। श्री–जी को बहुत धक्का लगा। वे स्वामी श्रीरामजी के यहाँ जाकर लेट गये। कुछ समय पश्चात् श्री घनश्यामजी के साथ वेणुविनोदकुंज में आए, दोनों ही अत्यन्त उदास अत्यन्त दुःखी।

श्री मीराजी ने कुंज में यह दुखद समाचार पहले ही दे दिया था। कुंज में उदासी छायी हुई थी। सभी के नेत्र छलक रहे थे। पूज्य बाबा ने तेरह अक्टूबर, सन् १९९२ को प्रातः साढ़े आठ बजे लीला संवरण कर ली थी।

उसी समय श्री सीताबाई पोद्दार की कार मँगवाई गई। एक घंटे में ही श्री–जी गोरखपुर जाने के लिये दिल्ली रवाना हो गये। साथ में श्री ठाकुरजी, मैं, कुसुमजी, राधारमणजी तथा वृन्दावन से और भी कई लोग गये। दिल्ली पहुँचकर विशेष प्रयत्न से वैशाली ट्रेन में आरक्षण मिल गया और हम सब श्री–जी के साथ शाम को साढ़े सात बजे गोरखपुर के लिये रवाना हो गए। दिल्ली से गोरखपुर फोन कर दिया गया था। दूसरे दिन सुबह साढ़े आठ बजे वहाँ पहुँचे, तो स्टेशन पर गीतावाटिका के कुछ लोग प्रतीक्षारत थे। दो गाड़ी श्री–जी को लेने भेजी थीं। सभी वाटिका पहुँचे। वहाँ तो शोक का सागर उमड़ रहा था। श्री–जी को देखकर सभी फूट-फूटकर रो पड़े।

श्री–जी को धीरे-धीरे श्री बाबा के पास ले गये। श्री बाबा को एक तखत के ऊपर, कुर्सी पर बैठाया हुआ था। सम्मुख जाते ही श्री–जी के नेत्रों से सहज अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। वे कुछ समय तक श्री बाबा के सामने खड़े रहे। निकटस्थजनों ने श्री–जी के हाथ में माला दी, जिसे उन्होंने पूज्य बाबा को धारण करा दी। माला धारण कराते ही श्री–जी स्थिर हो गये। हम सब ने श्री बाबा के चरण छुए। सभी के नेत्र बह रहे थे।

कुछ देर पश्चात् विधिपूर्वक अन्तिम संस्कार का कार्य प्रारंभ हो गया। पधारने के कुछ दिन पूर्व श्री बाबा कह गये थे कि "मेरा सब कार्य ठाकुर श्री घनश्यामजी के हाथ से करवाना।" वेदपाठी ब्राह्मणों ने मन्त्रोच्चार-पूर्वक

सब कार्य करवाया। चाँदी के कलश में रखे गंगाजल से श्री-जी के हाथों से श्री बाबा को स्नान कराया गया, श्री ठाकुरजी ने तथा सभी ने श्री बाबा का पूजन किया। सबके नयन छलक रहे थे। इतनी मालाएँ धारण कराई गयीं कि केवल श्रीमुख के ही दर्शन हो रहे थे। कीर्तन करते हुए भक्तजन कुर्सी पर विराजित श्री बाबा को राधाकृष्ण साधनामंदिर की ओर ले चले। मंदिर की परिक्रमा करने के पश्चात् श्री भाईजी की कोठी की, जिसमें उनका कक्ष स्थित है, परिक्रमा की गई। फिर श्री बाबा की डोली श्री भाईजी की समाधि स्थल पर लाई गई । समाधि एवं श्री माँ के चितास्थल की परिक्रमा के पश्चात् डोली श्री बाबा की कुटिया के सम्मुख रख दी गई।

पूज्य श्री बाबा जिस वृक्ष के नीचे टीन के छप्पर में रहते थे, उसी स्थान पर समाधि की व्यवस्था की गई थी। अपार जनसमूह से गीतावाटिका व्याप्त थी। दूर-दूर से लोग अन्तिम दर्शन के लिये आये थे एवं आते जा रहे थे। ट्रेन से, हवाई जहाज से, कार से, जिसको जैसा साधन मिला, कलकत्ता, दिल्ली, बम्बई, वृन्दावन आदि-आदि स्थानों से लोग आये थे। सब के मन में श्री बाबा के लिये अगाध प्रेम था। बिना श्री बाबा के सब अपने को अनाथ सा महसूस कर रहे थे। सबके हृदय दुःख से फटे जा रहे थे। श्री बाबा के निर्मल प्रेम ने सबको बाँध रखा था। सभी के मन में यह विश्वास था कि श्री बाबा सबसे अधिक मुझे ही प्रेम करते हैं।

श्री ठाकुरजी (घनश्यामजी) ने छलछलाते नेत्रों एवं भरे हृदय से यह कटु कर्तव्य सम्पन्न किया। जन-जन के प्रिय, पूज्य श्री राधाबाबा को समाधि दे दी गई। समाधि का कार्य संध्या चार बजे तक पूर्ण हुआ। श्री बाबा के पार्थिव शरीर के दर्शन से सभी वंचित हो गये और अपना म्लान मुख लेकर लुटे हुए से अपने-अपने निवास पर लौट आये।

अब तक पूज्य श्री महाराजजी एवं सभी निजजनों ने जल भी ग्रहण नहीं किया था। सबकी उदासी देखकर श्री–जी दो दिन और रुक गए। सोलह अक्टूबर को श्री–जी ने वहाँ से प्रस्थान किया। स्टेशन पर वाटिका के प्रेमीजन श्री–जी को पहुँचाने आये और अश्रुपूरित नेत्रों से पुनः आने के लिये प्रार्थना करते हुए कहने लगे कि "अब बाबा के बाद हमको आपका ही आश्रय रह

गया है।" श्री महाराजजी ने उन्हें सान्त्वना देते हुए पूज्य श्री बाबा के स्मृति-समारोह में आने का आश्वासन दिया। इससे उनके मन में कुछ समाधान हुआ।

जनवरी,१९९३ में पूज्य बाबा का स्मृति-उत्सव मनाना निश्चित हुआ था, परन्तु कतिपय कारणों से पच्चीस-छब्बीस अप्रैल को मनाया गया। एक विशेष कारण यह भी था कि उस समय देश में कुछ राजनैतिक हलचलों के कारण वातावरण क्षुब्ध था। छह दिसम्बर को पूज्य श्री–जी का जन्मोत्सव था। उसी दिन अयोध्या में (रामजन्म भूमि में) मसजिद गिरा दी गई। विश्व हिन्दू परिषद् के प्रायः सभी नेता गिरफ्तार कर लिए गए थे। जिनमें अध्यक्ष श्री विष्णुहरि डालमिया भी थे।

स्मृति-समारोह में सम्मिलित होने के लिए पूज्य श्री महाराजजी बारह अप्रैल को गोरखपुर के लिये रवाना हो गये। डालमिया-परिवार पूज्य बाबा का अनन्य भक्त है, परन्तु इसी समय बड़े डालमियाजी का स्वास्थ्य अत्यन्त चिन्ताजनक होने से श्री विष्णुहरिजी, श्रीमती ललिताजी, श्रीमती अरुणाजी, जो कि उत्सव के प्रमुख सहयोगी पात्र थे, उत्सव में सम्मिलित नहीं हो सके।

श्री–जी की उपस्थिति में उत्सव मनाया गया। अखण्ड संकीर्तन, सन्त-गोष्ठी एवं दरिद्रनारायण की सेवा के कार्यक्रमों का आयोजन किया गया।

इसी समय पूज्य बाबा का समाधि-मंदिर निर्माण करने का निर्णय भी लिया गया। एक बात पर कुछ मतभेद उठ खड़ा हुआ। पूज्य भाईजी के परिवारजनों की राय थी कि पूज्य बाबा की समाधि पर शिवलिंग की स्थापना की जाये। कुछ लोगों का मत था कि पूज्य बाबा ने त्रिपुरसुन्दरी की उपासना की थी, अतः त्रिपुरसुन्दरी की मूर्ति की प्रतिष्ठापना की जाये।

परन्तु पूज्य श्री महाराजजी एवं श्री बाबाके परिकर साधकजनों की इच्छा थी कि महाभाव परिनिष्ठित पूज्य श्री राधाबाबा का ही श्रीविग्रह समाधि पर स्थापित करना चाहिए। अन्तिम निर्णय यही लिया गया और समाधि- मंदिर का निर्माण प्रारंभ हो गया।

पूज्य श्री–जी उत्सव के पश्चात् गोरखपुर के सभी परिकरजनों को सान्त्वना प्रदान करते हुए श्रीधाम लौट आए।



बड़वानी में श्रीसुशील निगम के यहाँ श्रीमद्भागवत सप्ताह



बड़वानी (म.प्र.) में श्रीमोतीभाईके यहाँ श्रीमहाराजजी के द्वारा श्रीमद्भागवत सप्ताह का अंतिम आयोजन (सन् १९९५)

बड़वानी में श्रीमद्भागवत-सप्ताह

तीन जुलाई,१९६३ को गुरुपूर्णिमा थी तथा इस अवसर पर बड़वानी के भक्तजनों का विशेष आग्रह होने से श्री महाराजजी का वहाँ जाने का कार्यक्रम निश्चित सा ही था, परन्तु ज्वर आने से उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और अत्यधिक कमजोरी आ गई। फलतः गुरुपूर्णिमा के अवसर पर श्री–जी बड़वानी जा नहीं सके। जगजीवनभाई गुप्ता ने ही श्रीमदभागवत-सप्ताह एवं रासलीला का आयोजन रखा था, जिसे श्री–जी ने दो दिन आगे बढ़वा दिया। परिकरजन इस कमजोरी की स्थिति में श्री–जी को किसी भी प्रकार श्रीधाम से बाहर जाने देना नहीं चाहते थे, परन्तु महापुरुषों का निश्चय अडिग होता है। श्री–जी ने श्रीरामजी की रासमंडली तथा श्रीमद्भागवत-वक्ता श्री अच्युत-लाल भट्टजी को श्री विद्याधरजी के साथ बड़वानी भेज दिया और आतुरता से प्रतीक्षारत बड़वानी के भक्तों को कहलवा दिया कि "पाँच जुलाई से रास एवं सप्ताह प्रारंभ कर दिया जाय। हम दो-तीन दिन बाद पहुँच जायेंगे।"

तारीख पाँच को स्वास्थ्य-परीक्षण के लिए श्री लालजी की गाड़ी से उन्हीं के साथ वे देहली के लिये रवाना हो गये। छह को सुबह देहली फोन लगाया तो ठाकुरजी ने बताया–आज ही शामको मालवा ट्रेन से बड़वानी के दिये रवाना हो रहे हैं। हम सब रात नौ बजे मथुरास्टेशन पर श्री–जी से मिलने गये तब पूरा पता चला कि वहाँ पाँच जुलाई से श्रीमद्भागवत-सप्ताह एवं रास प्रारंभ हो चुका है।

श्री–जी एक रात इन्दौर में विश्राम करके आठ तारीख को बड़वानी पहुँच गये। बहुत धूमधाम से सात दिन तक सप्ताह एवं रासलीला हुई। बड़वानी के लोगों में अदम्य उत्साह था। आसपास के गाँवों से हजारों भक्त आये थे। सबसे अधिक तो लोनारा ग्राम के थे । सप्ताह-समाप्ति पर बृहद् भंडारा हुआ। तेरह तारीख से सप्त दिवसीय अखण्ड संकीर्तन रखा गया। समापन में सत्संग के आयोजन के बाद बृहद् रूप से नगर-कीर्तन करते हुए. शोभायात्रा के पश्चात् विशाल भण्डारा हुआ। भक्तजन चाहते थे कि उत्सवों का यह सिल-सिला कभी समाप्त न हो और श्री–जी हमारे मध्य सदा-सदा विराजित रहें।

लोनारा के भक्तों ने भी अपने यहाँ अखण्ड संकीर्तन रखने का निवेदन किया। उनका उत्साह देखकर श्री–जी ने तेईस जुलाई से एक माह का अखण्ड संकीर्तन प्रारंभ करने की अनुमति दे दी और कहा कि बीच-बीच में हम आ जाया करेंगे, परन्तु स्वास्थ्य अधिक खराब हो जाने से श्री–जी संकीर्तन में जा नहीं सके।

छब्बीस जुलाई को वे इन्दौर आ गये और छह-सात दिन के उपचार और विश्राम के पश्चात् पाँच अगस्त को सीधे वृन्दावन पहुँच गये।

श्री–जी सुविधा-असुविधा या स्वास्थ्य का विचार किये बिना जो कार्य करना होता था, उसे हर कीमत पर करते ही थे। शरीर से सदैव उपराम रहने वाले इन महापुरुष की मुखश्री को देखकर बाहरीजन तो अनुमान भी नहीं लगा सकते थे कि उनका स्वास्थ्य दिन-प्रति दिन क्षीणता की ओर बढ़ता जा रहा है। मात्र परिकरजन श्री–जी के स्वास्थ्य को लेकर सदैव चिन्तित रहते थे।

प्रियाभाव की एक झलक

सन् १९६३ की बात है–कुछ दिनों से पूज्य श्री महाराजजी का पूर्व लिखित सत्संग–'मन का स्वभाव सौन्दर्य' श्री–जी की उपस्थिति में ही पढ़ा जा रहा था। यह सत्संग केवल लेखमात्र नहीं है, न ही किसी ग्रन्थ के अंश का अनुवाद है। यह तो एकमात्र श्री–जी के अपने अनुभव की वस्तु है, अतः जब-जब सत्संग पढ़ा जाता, पूज्य श्री–जी अपने पूर्व अनुभव की स्मृति में डूब जाते थे। सत्संग बहुत बड़ा है, उसका कुछ अंश पाठकों के रसास्वादन हेतु यहाँ दिया जा रहा है –

श्रीमुखचन्द्र-सुधा किरणमालाओं की लहरियों से आलोकित है सम्पूर्ण श्रीवन। क्या चन्द्र तारागण अम्बर के, क्या पुष्प वाटिकाएँ वन की, यहाँ तक कि भूमि के हरित-कोमल तृण भी इससे अनुरंजित विचुम्बित हो रहे हैं। इसकी श्लाघा क्या करें, जहाँ पर श्री वनमाली स्वयं प्रियसखी सुख के लिये सर्वस्व बने हुए हैं। हाँ, संपूर्ण प्रकृति से बेमान रहने वाली, किरण माला विचुम्बित उस प्रियसखी की ही है विशेषता।

नयनकमलों का मनहरणीय हास्य, भ्रूलताओं का अति आह्लादक हास्य, अरुणाधर स्मित, वदनसुषमा की जन्मस्थली, वंशीपीतदुकूलाच्छादित करधनी-ध्वनित कोमल कटि प्रदेश में खोंसी हुई, चपल वनमाला कण्ठ विलुलित हृदय-रंजित, आजानुलम्बित, संस्पर्शित अत्यन्त आह्लाद से मानो नीलांग में लहरा रही है। सुकुमार शुभ्र घन नील कोमल सुवासित कान्ति स्वच्छन्दतया श्रीअंगों से फूटकर पीतवसन में से बाहर फैलती जा रही है। दोनों लता सघन मण्डित द्रुमों के बीच, साँकरी कुंज गली में अत्यन्त स्फूर्ति से दोनों ओर की लताओं को करकमलों से हटाते हुए चले आये। इनकी दृष्टि क्षणार्ध के लिये भी टिक नहीं पा रही है। चरण लिपटे नूपुरों की हलचल से इनके मन की अस्थिरता प्रगट हो रही है। श्री पादारविन्द अत्यन्त चंचलतया पड़ते जा रहे हैं कभी आगे, कभी अत्रतत्र। कभी पुनः पीछे की ओर मुड़ने से (पलक पड़ने से पहले) इनका स्मित रहस्यमय है। इनकी आँखों के चांचल्य में रहस्य है। इनके पगों में रंजित नूपुरों से मुखरित स्वरों में रहस्य ही प्रगट हो रहा है। इनका स्फूर्ति से समक्ष लता-पुष्प परिशोभित दोनों द्रुमों मध्ये संकुचित रमणीय मार्ग में आ जाना रहस्य को ही अन्यासखियों की दृष्टिमाला में मण्डित करा रहा है।

रमणीय सरोवरीय पुष्पवाटिका से अनुरंजित मणिमय सोपान पर स्थित हुई प्रियसखी वाटिकाओं के उन्मुख देख रही थी। निकट इसके मनोगत विचारों को, अभिलाषा को सुनने समुत्सुकतया इसकी ओर निहार रही थी प्रियसहेली।

इनके चहुँ ओर समावृत समस्त सखियों के मन में यह अभिलाषा उद्गमित हुई, जो प्रियसखी के नेत्रों में पायी। फिर क्या था, समक्ष की पुष्प-वाटिका की ओर धावित हो चलीं अत्यन्त स्फूर्ति से।

कई द्रुमावलियों की पंक्ति मध्ये, कई लता सघन कुंजों में से, कई लता पुष्प परिवेष्टित साँकरी कुंज गलियों से, कई मणिमय सोपानों के आस-पास से होती हुई गमन करने वाली किशोरियों से सम्पूर्ण वनप्रान्त प्रफुल्लित हो उठा।

प्रियसखी को इस दृश्य ने अपनी लपेट में ले ही लिया। वह बेभान होकर अंक में हुई प्रियसहेली के। पीछे से प्रकट होकर महाकौतुकी किशोर ने उस आमुग्ध वदन में डूबते हुए अपने अंक में ले लिया।

बेभान दशा में यह प्रियसखी भी पुष्प-चयन करने वालियों में हो चुकी। (अंक में बेभान पड़ी हुई) प्रियसखी के चहुँ ओर कई सखियाँ घेर कर बाह्यदशा की प्रतीक्षा करती हुई विमुग्धानन में डूबती जा रही हैं। पुष्प-चयन करती हुई ही मानो उन्हें पा लिया एवं कहने लगी–'सखियो ! देखा ! ये छिपे हुए हैं यहाँ पर, इन्हें गमन कहीं भी करने नहीं देना, सत्वर पकड़ लो। मैंने दीर्घ समय की खोज के बाद ही पाया है', कहती-कहती मौन हो गई।

प्रिय, अपने अंक में पड़ी, बेभान, मुग्धानना में विस्फारित दृष्टि डालते हुए, थोड़ा अर्धोन्मीलित लोचनों से सखियों की ओर भी देख रहे हैं। विशाल अश्रुपूर्ण नयन-कमल हैं। बाह्यदशा को देखने, हृदय में लगने आतुर हो रहे हैं।

यही भाव इनके लोचनों को देखती हुई सभी (हृदय में) अनुभव कर रही हैं।

"नहीं-नहीं, मैं इनके नयनकमलों को अब मूँदूँगी, तुम सभी जाकर छिप जाओ" कहा तन्मयदशा में प्रियसखी ने। प्रियतम कर-कमल को इसके शीश पर फेर रहे हैं मन्दस्मित मण्डित मुख से निहारते हुए। आवृत हुई कई सखियाँ उपस्थित होती जा रही हैं। कई सन्निकट ही बैठी हुई आमुग्ध अवलोकन करती हुई श्रवण करने समुत्सुक हो रही हैं।

इसकी तन्मयदशा में प्रियतम किसी भी सखी को न पाकर पुनः लौटकर इसी के निकट पहुँचे, यही इसके मुख से सखियों को ही नहीं, प्रियतम को भी लग रहा है।

"मुझे मालूम था, सखियों की ओर तो देखो ! मैं अच्छी तरह देख रही हूँ, जहाँ-तहाँ लता सघन में, कुंजों में, द्रुमों की आड़ में, सरोवर तीरवर्ती वाटिकाओं में, पुष्प-समूह में, मणि-सोपानों की आड़ में, द्रुमों की शाखाओं में, किन्तु तुम्हें नहीं मिली एक भी, यह आश्चर्य की बात ही तो है !"

"हे चपल ! तुम्हारी चपलता, चातुर्यता क्या बस यही है ? एक को भी खोज नहीं पाये ?" यों कहती-कहती हँसती हुई मौन होने वाली बेसुध प्रियतमा में ये भी विमुग्ध, तन्मय, विदग्ध हँसते—हँसते मौन हो चुके। सभी की दशा यही हो चुकी यहाँ पर।

पुनः बोलने लगी—"मैं जानती हूँ, मैं अच्छी तरह जानती हूँ तुम्हारी चपल दृष्टि किसकी खोज में थी, व पा लिया। पर हे चतुर चूड़ामणि ! इसे सभी चतुरा सखियाँ भी तो जानती हैं ! फिर उनका जाकर छिपना—यों कहती-कहती मौन हो गई। मन्द मधुर स्मित अलंकृत हो रहा था मुखपर, आँखें अधखुली, हाँ, इनमें समाये जा रहे हैं विशाल पद्मलोचन।

"मैंने भी इसीलिये ये खेल रचा है कि तुम्हारी चतुराई उन्हें भी दीख जाय एवं वे भी आनन्दित, विमुग्ध, तन्मय हो जायँ" कहती-कहती एक क्षण रुककर कहने लगी—"देखो ! वह समीप कदम्ब दीख रहा है न ! उसके पीछे लता निकुंज में पूर्व मध्ये दीख रही है जो सखी, उसे पकड़ लो"। यों कहने में प्रगट ही हो गई हँसी, मधुर कोमल कण्ठ स्वर-लहरी लहरा गई। एक-दो पग जाते हुए अभिमुख इसी की ओर लगने त्वरित आने की विवशतापूर्ण समुत्कण्ठित नयनों को निहारती हुई—"नहीं, नहीं मैं समझ गई, तुम उसकी बाँह ग्रहण करोगे ही, ऐसे ही मत लौटना। हे मोहन ! यह क्या कर रहे हो ?" कहती-कहती मौन हो गई। प्रिय ने ही नहीं, अपितु सखियों ने भी उसकी ओर देखते हुए हृदय से रहस्य में तन्मयतापूर्ण अनुरंजित होने में अर्धक्षण का विलम्ब भी नहीं किया। इनमें से एक ने कहा—इसकी लीला को तुमने समझ ही लिया न ! कहा दूसरी ने—तुम ही कहो न क्या है ? निर्दिष्ट सहेली की ओर ये विदग्ध गमन ही नहीं कर पाये, लौटकर अपलक इसे एकबार देखते हुए आँखें मुँदवाने स्थित हो चुके यों कहती हुई प्रिय की ओर देखने लगी वह स्मितवदनासखी। प्रियतम ने करकमल से उस तन्मया का हाथ ग्रहण किया। देख रहे हैं विमुग्ध (कमल-लोचनों से)। ऐसे लग रहे हैं मानो इनके लोचन मधुप इसके सुधाधरों का पान कर रहे हों—यों विमुग्धा एक सखी ने कहा सखियों से।

तन्मया स्मितहीन वदना के मुख से ये वाक्य निसृत होते ही होते जाग्रत हो गई—"तुम अब कहीं किसी भी सहेली की खोज में मत जाओ।

मैं नही जाने दूँगी अपनी बाँहों से पल भर भी।"

आँखें कमलनयनों में ही खुलीं। अंक में पड़ी हुई वही से बाह्यदशा में जाग्रत अपने को पाकर, विस्मय-विस्फारित लोचनों के आनन्द का पारावार ही नही रहा। विमुग्ध किशोर ने आतुर ह्रदय का समाधान तत्क्षण ही किया।

सर्वत्र आनन्द का साम्राज्य था। क्या चर, क्या अचर तन्मय ऐसे डूबे कि मानो इस आनन्द सिन्धु–महोज्ज्वल भुजालंकृता की तन्मयता में महासुख में सुखी हो चुके हों।

"मन का स्वभाव सौन्दर्य" सत्संग में वर्णित इस लीला को भाव तन्मय दशा में श्री महाराजजी देख रहे थे एवं प्रियाभाव से भावित हो यह स्थिति स्वयं ही अनुभव कर रहे थे। एकाएक श्री महाराजजी विरह-दशा में होकर बहुत व्याकुल हो गये और तीन दिन तक इसी भाव में स्वयं के शरीर में भयंकर तप्तता का अनुभव करते रहे। बेचैनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। रात भर बैठे रहते। कभी स्नान-गृह में जाकर अन्दर से साँकल लगा लेते एवं कौपीन मात्र धारण किये हुए जमीन पर अपनी धोती बिछाए लेट जाते। जब अन्दर प्रवेश किए बहुत विलम्ब हो जाता, तब श्री ठाकुरजी बडी कठिनाई से द्वार खुलवाकर बाहर लाते।

श्री–जी कहते–"क्या करूँ बहुत दाह हो रहा है, सहन नही होता। मैं तो कमलपत्र की शैय्यापर सो रहा था, मुझे क्यों उठाया ?" इसी स्थिति में तीन दिन व्यतीत हो गये, खाने-पीने में कुछ रुचि नही। किसी से बोलने का मन नहीं आँखें बंद किये घंटों बैठे रहते या लेटे रहते।

इधर तो तीन दिन हो गये, परन्तु वहाँ कुछ क्षणों की ही लीला हुई।

जब तीन दिन पश्चात् दाह प्रशमित हुआ तो श्री ठाकुरजी ने श्री–जी से पुनः - पुनः अनुरोध कर ऐसी स्थिति हो जाने का कारण जानना चाहा। तब श्री महाराजजी ने जो लिखकर दिया, वह उन्ही के शब्दों में इस प्रकार है–

"उस दिन शाम को पढ़ा था आँखमिचौनी-क्रीड़ा का प्रसंग। हाँ, एक की खोज में हो चुके थे प्रियतम। प्रियसखी ! कमनीय अंक में पड़ी हुई बेभान उस सखी को पकड़ने का संकेत कर रही थी, प्रियतम उसके पीछे हो रहे

थे। प्रियसखी को भान था नहीं कि वह अंक में ही है। ऐसी मधुरदशा से समाकर्षित, मुग्ध होकर वे अनवरत प्रवाहित अश्रुधारा को पौंछते जाते थे। रहा नहीं गया इनसे (प्रियतमसे)। निकट सरोवर से झुका हुआ कमल तोड़कर एक-एक शीतलजल संयुक्त कमल-दल को उसकी (प्रियसखी की) आँखों पर, पलकों पर लगाते जाते सतत अश्रुप्रवाह से उष्णतापूरित आँखें शीतल करने (होने)।

इसकी (प्रसंगकी) तन्मयता में पड़े–पड़े एक की (श्री महाराजजी की) आँखें भी शीतल होती गईं, अश्रुधारा के कारण जो उष्णतापूरित हो गई थीं।"

लीला यह जो नवीन हो गई, लिखित नहीं थी। यहाँ स्थूल स्वरूप का तुरन्त भान होना असहनीय वेदना का परिणाम बन चुका था।

ऐसे कई प्रसंग समय–समय पर देखने में आते थे और बाद में तो महाभाव में ही श्री–जी की स्थायी स्थिति निरन्तर हो गई थी।

भावराज्य में

अठारह दिसम्बर, सन १९६३, बिहार-पंचमी का दिन था। आज ही के दिन श्रीहरिदासजी के लाड़िले श्रीबाँकेबिहारीजी का पाटोत्सव बड़ी धूमधाम से निधिवन में मनाया जाता है। हजारों लोग निधिवन में जाकर श्रीबिहारीजी की प्राकट्यस्थली एवं श्रीहरिदासजी की समाधि के दर्शन करते हैं।

प्रतिवर्ष की भाँति हम भी श्री महाराजजी के साथ निधिवन में दर्शन करने गये। दर्शन करके लौटते समय ही श्री–जी कुछ भावस्थिति में हो गये थे। थोड़ी देर वेणुविनोदकुंज में विश्राम के पश्चात् श्री–जी श्री घनश्यामजी के साथ श्रीबिहारीजी के दर्शनों के लिये गये। वहाँ पहुँचते ही श्री–जी को भावावेश हो गया। आपने देखा कि सम्पूर्ण मन्दिर एक दिव्य सजावट से जगमगा रहा है। आज बधाई का दिन है और स्त्री-पुरुष-बालक, गोप-गोपीगण दिव्य श्रृंगार आभूषणों से सजे रंग-बिरंगे वस्त्र धारण किए हुए प्रांगण में एकत्रित होकर नृत्य कर रहे हैं। इसी भाव में श्री–जी तन्मय हो गये तथा अपने सखीस्वरूप में स्वयं को भी अनुभव किया। जब तक कुछ बाह्य ज्ञान

था, अपने को सम्हालने की चेष्टा करते रहे, परन्तु मार्ग नहीं सूझ रहा था। कहाँ जायें, किधर जाना है, इसका भान नहीं था। भाव संवरण करने की पूरी कोशिश कर रहे थे।

पीछे से श्री घनश्यामजी श्री–जी को सम्हालते हुए चल रहे थे। बड़ी कठिनाई से सीढ़ी चढ़ाकर उन्हें श्रीबिहारीजी के सामने वाले बरामदे में ले आये। भावावेग के कारण श्री–जी को खड़ा होना कठिन हो रहा था। पीछे की ओर जो लोहे की कैंची का दरवाजा था, उसे पकड़कर उसी पर सिर टिका कर खड़े हो गये। आँखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। नेत्र अर्धोन्मीलित थे। कुछ-कुछ बाह्य चेतना में आकर वे बैठने के लिये एकान्त जगह खोज रहे थे, परन्तु कुछ सूझ नहीं रहा था। भाव-संवरण करना कठिन हो रहा था श्री–जी के मनोभावों को जानकर श्री घनश्यामजी उन्हें धीरे से पकड़कर पीछे भंडार-गृह की ओर ले गये। निकट ही श्री रासबिहारी गुसाँईजी की बैठक है। उनकी बहिन ने श्री–जी की यह भावदशा देखी और शीघ्रता से एक कुर्सी ले आईं। श्री–जी को उस पर बैठा दिया। कुछ समय बाद भाव का संवरण हुआ, तब श्री घनश्यामजी श्री–जी को वेणुविनोदकुंज ले आये। यहाँ आकर भी आप कमरा बंद कर बहुत देर तक भावमत्तता में ही रहे। प्रकृतिस्थ होने पर श्री महाराजजी ने हमें अपनी अनुभूति से अवगत कराया।

वात्सल्य भावापन्न सन्त श्री पण्डितजी का गोलोक गमन

पंडितजी श्री गयाप्रसादजी सिद्ध कोटि के सन्त थे। वर्षों से वे श्री गिरिराज-तलहटी में दानघाटी स्थित श्री लक्ष्मीनारायणमंदिर में निवास कर रहे थे। इस समय आपकी उम्र १०१ वर्ष की थी। पूज्य श्री महाराजजी के साथ इनका बहुत ही प्रेम एवं आत्मीयता का सम्बन्ध था। पूज्य पण्डितजी एक मास तीन दिन बहुत अस्वस्थ रहे। दिनांक पच्चीस अगस्त, सन् १९६४ को सुबह पौने आठ बजे आपका गोलोक-गमन हुआ। इनके शिष्य श्री रामदासजी एवं श्री गोपालदासजी ने सर्वप्रथम यह सूचना वेणुविनोदकुंज में फोन द्वारा दी। सभी शोकसागर में डूब गये।

उस समय पूज्य श्री–जी बहुत अस्वस्थ थे, इसलिये पूज्य पण्डितजी के धाम-गमन की सूचना उन्हें नहीं दी गई। समाचार मिलते ही मंदिर के हम सब परिकरजन गोवर्धन चले गये। श्री घनश्यामजी को श्री–जी की सेवा में सतत रहना पड़ता था, अतः वे पण्डितजी के अन्तिम दर्शन करके कार द्वारा श्रीधाम लौट आए। उन पर पण्डितजी का बहुत ही स्नेह था। हम सब श्री पण्डितजी के अन्तिम संस्कार तक वहीं रहे। श्री घनश्यामजी के अतिरिक्त अन्य कई जनों को कुंज में न देखकर श्री–जी ने पूछा कि सब लोग कहाँ हैं ? इतने में श्री ठाकुरजी गोवर्धन से आ गये। तब उन्होंने धीरे-धीरे पूज्य पण्डितजी के धाम-गमन की सूचना दे दी। सुनकर श्री–जी को अपने वहाँ नहीं जा सकने का बहुत दुःख हुआ और वहाँ के सब समाचार पूछने लगे।

जब श्री ठाकुरजी ने कहा कि इस समय वहाँ अधिक भीड़ नहीं है, केवल पच्चीस-तीस व्यक्ति ही उपस्थित हैं और पण्डितजी के इच्छानुसार उनका अन्तिम संस्कार भी श्री प्रियाशरणजी महाराज की संस्कारस्थली के निकट ही किया जायेगा, तब श्री–जी ने कहा–"नहीं, नहीं, वहाँ तो अपार जनसमुद्र उमड़ रहा है। बहुत विशाल प्रोसेशन निकल रहा है। उनका अन्तिम संस्कार भी तुम जहाँ कह रहे हो वहाँ नहीं, आन्यौर की ओर श्री गिरिराज-तलहटी में होगा।" श्री घनश्यामजी ने कहा–"नहीं महाराजजी !, ऐसा कुछ नहीं है। अधिक भीड़ नहीं होगी और सवारी वगैरह भी नहीं निकलेगी।"

श्री–जी ने कहा–"मैं देख रहा हूँ, बहुत बृहद् रूप से सवारी निकल रही है एवं अपार जनसमुदाय भी है।"

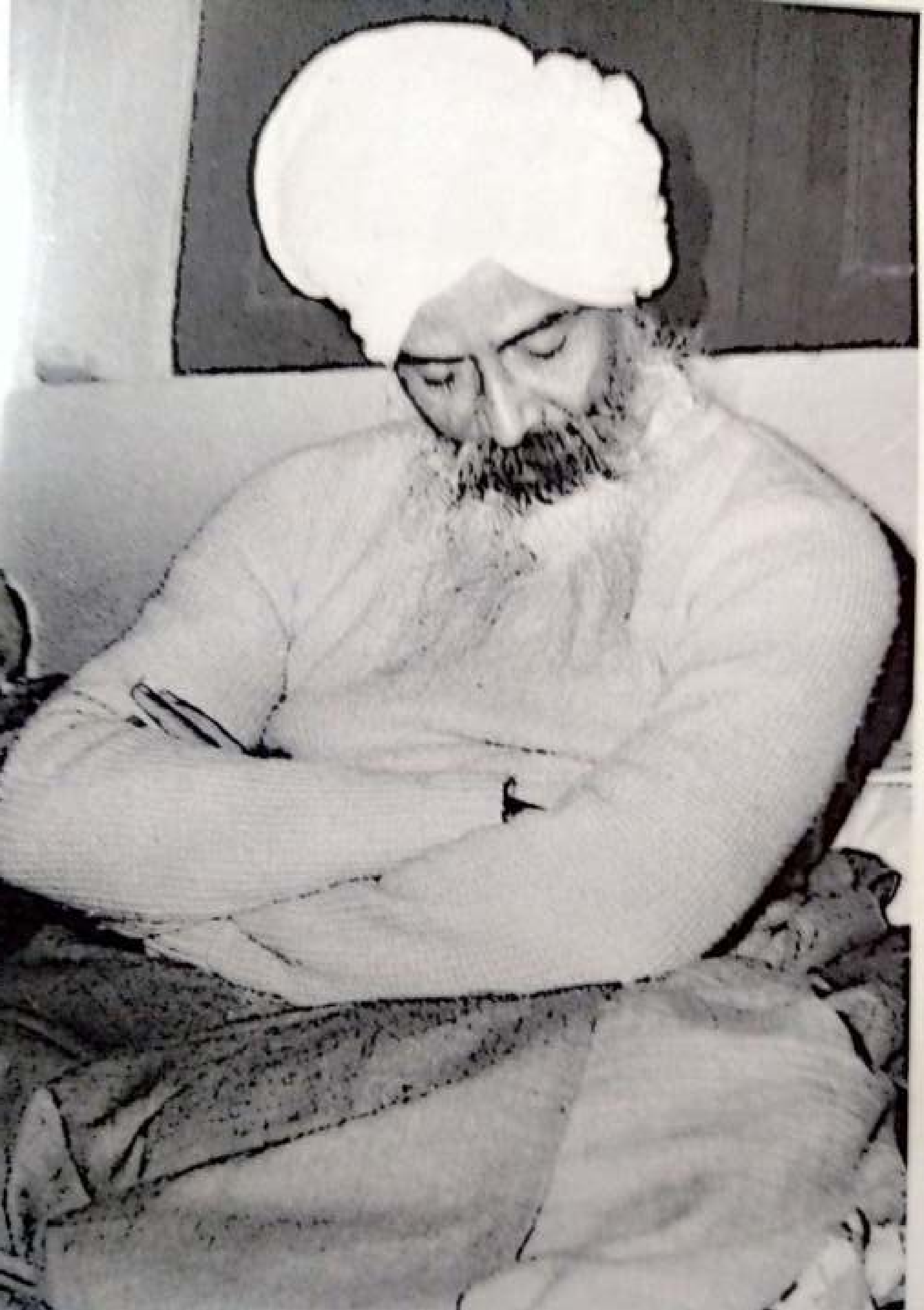
जब हम सब लोग शाम को गोवर्धन से लौटे तो श्री–जी ने हम से सब बात पूछी। श्री–जी ने जैसा कहा था वैसा ही सब कुछ हुआ। यह सब इस बात का प्रमाण है कि दोनों महापुरुषों का परस्पर कितना प्रगाढ़ एवं अन्तरंग सम्बन्ध था।

बढ़ती हुई अन्तर्मुखता तथा एक विशिष्ट संकल्प .

इन दिनों पूज्य श्री महाराजजी निरन्तर अपने रस की गहराई में उत्तरोत्तर उतरते जा रहे थे। अस्वस्थता के कारण शरीर दिनोंदिन कृश होता जा रहा था। श्री–जी की उपरामता बढ़ती जा रही थी। हँसना, बोलना, मिलना-जुलना कम हो गया था। तटस्थभाव से रहने लगे थे। निरन्तर मग्नावस्था में वे किसी रस में खोये हुए से आँखें बन्द किए बैठे रहते। कोई क्या कर रहा है, इस ओर वृत्ति जाती ही नहीं थी। खान-पान में कोई रुचि ही नहीं रही। परिकरजन समय-समय पर सजग करते या कुछ पूछते, तो आँख खोलकर कुछ न कुछ उत्तर दे देते, पर बात करने में प्रायः असंगतता हो जाती। बस, सदा डूबे ही डूबे रहते और अधिकतर लेटे रहते।

प्रातः श्री वेणुविनोदविहारी की आरती के पश्चात् श्री–जी चाय लेकर जब निज कक्ष में कुछ समय के लिए पलंग पर विराजित होते तो परिकरजन भी निकट ही बैठ जाते और उनसे कुछ बातें करते। वे कभी तो उत्साह से कुछ उत्तर दे देते, अन्यथा कपोल पर तर्जनी उँगली गड़ाये बैठे-बैठे या लेटे-लेटे तटस्थभाव से सुनते रहते। जब अधिक समय हो जाता तो परिकर-जनों में से कोई विनोद भरे स्वर में कहता–"महाराजजी ! हम भी पास बैठे हुए हैं, "सुनकर आप मन्द-मुस्कान बिखेरते हुए कहते–"मुझे मालूम है" और अर्धोन्मीलित नेत्रों से देखकर पुनः आँखें बन्द कर लेते।

श्री घनश्यामजी के साथ कुछ दूर घूमकर आ जाने के पश्चात् श्री–जी को आग्रहपूर्वक कुछ दूध पिलाया जाता और उनकी एकान्त की इच्छा देखकर पुनः उनके कक्ष का द्वार बन्द कर देते।



भाव निमग्न श्रीमहाराजजी

परिकरजन प्रतीक्षा कर रहे होंगे यह सोचकर इच्छा न होते हुए श्री श्री–जी साढ़े ग्यारह बजे कमरे का दरवाजा खोल देते तथा सबके साथ कुछ आहार लेकर पुनः बंद हो जाते।

चार बजे कुंज से बाहर रहने वाले भक्त और स्वजन दर्शनार्थ आने लगते, तब आप सजगता का प्रयत्न करके उठकर बैठ जाते और कुछ हास-परिहास का वातावरण बनाकर स्वजनों को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते। कभी–कभी सत्संग-चर्चा भी हो जाती। आप तो अपनी ओर से सभी के सन्तोष का प्रयास करते, परन्तु वृत्ति काम दे तब न यह सब होता ! मन तो बरबस उसी रस-समुद्र में लय होने लगता।

साधना के प्रारम्भ से ही अन्तर्मुखता की यह धारा वेग से बह रही थी, परन्तु अलग-अलग रूपों में। उस समय साधन की तीव्रता में स्वभावतः ही श्री–जी, समाज, जनव्यवहार, मिलना-जुलना, परिचय इत्यादि से बहुत दूर रहे।

अनन्तर अगाध विरह स्थिति में एकान्त में रहने की प्रवृत्ति और भी ऐकान्तिकता में परिवर्तित हो गई। रोदन, सतत रोदन, बस, अजस्रअश्रु-प्रवाह। इसके साक्षी हैं यशोदा-कुण्ड और उद्धव-क्यारी (नन्दगाँव)।

पूर्ण साक्षात्कार के बाद श्रीकृष्ण-प्रेरणा से श्री वृन्दावन आगमन, पात्रों (परिकरजनों) का चयन तथा उनके साथ विचरण करते हुए सत्संग तथा संकीर्तन का स्रोत वर्षों बहता रहा।

इस परिस्थिति में भी आप अपने निजस्वरूप से लीला साम्राज्य में तन्मय रहते हुए प्रियतम के प्रिय से प्रिय होते ही गये।

प्रेम का अन्त नहीं, प्रेम की इतिश्री नहीं। प्रेम की अनन्तता तथा प्रिय के सौन्दर्य-माधुर्य की परिणति नहीं।

"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयतायाः।।"

डूबने वाला कहने के लिये रहता ही नहीं। इसी प्रकार आपकी रस-सरिता अनवरत प्रवहमान ही रही – आगे, आगे, आगे से आगे।

प्रतिवर्ष राधाष्टमी के अवसर पर गोरखपुर में दोनों महापुरुषों (श्री राधा बाबा एवं श्री महाराजजी) के मध्य ऐकान्तिक चर्चा, रस का वह प्रवाह एक दूसरे को कितनी गहराई में ले जाता, कितनी मस्ती में डुबा देता, कितना उन्माद दोनों ओर से कितने समय तक हिलोरें लेता रहता, वर्णनातीत ही है।

समय का कोई व्यवधान नहीं। दो दीवाने जब मिलते हैं तब क्या होता है, वे ही जानें। दोनों सिद्ध महापुरुष, दोनों दीवाने, दोनों शृंगाररस के रसिक, दोनों एक ही आत्मा अथवा इतना ही कह सकते हैं–एक प्राण दो देह।"

राधाष्टमी के अवसर पर दोनों रसिक सिद्ध महापुरुषों के मिलन प्रसंग में ऐसा लगता मानो वहाँ के जड़-जंगम भी रोमांचित और रसमय हो उठे हों और सम्पूर्ण वाटिका प्रेम-रस में डूब गई हो। दो दिव्य विभूतियों के लोकोत्तर स्नेह के आदान-प्रदान का यह क्रम वर्षों चलता रहा एवं इनकी प्रेम-रज्जु में बँध कर असंख्य जीव धन्य हो गये, परन्तु इस संसार के साँझ-उषा के आँगन में कोई भी स्थिति स्थायी कब रही है !

अन्ततोगत्वा पूज्य बाबा ने भी अपनी भौतिक लीला-संवरण कर ली, तो पूज्य श्री–जी और भी अधिक गम्भीर हो गये। बाह्यवृत्ति बहुत अंश में लय हो गई। परन्तु इसे ईश्वरेच्छा या उनके प्राण-प्रेष्ठ का एक विशिष्ट संकेत ही कह सकते हैं कि पूज्य श्री–जी के मन में पूज्य बाबा के विग्रह की स्थापना का एक विशेष संकल्प जाग गया। महापुरुषों का संकल्प तो सत्य होकर ही रहता है। कई व्यवधानों, बाधाओं एवं मतभेदों की दुर्भेद्य दीवारों को धराशायी करता हुआ श्री–जी का संकल्प विजयी हुआ और विग्रह-निर्माण का कार्य प्रारंभ हो गया। इसका सम्पूर्ण भार श्री जगदीश शर्मा को, जो स्मारक-समिति के मन्त्री एवं एक कुशल तथा श्रद्धावान् कार्यकर्ता थे, सौंपा गया था। जयपुर के मूर्तिकार श्री वाजपेयीजी को पूज्य बाबा का श्रीविग्रह निर्माण करने हेतु अनुबन्धित किया गया। पूज्य महाराजजी ने ही पूज्य बाबा के कई चित्रों को देखने के पश्चात् श्री घनश्यामजी से विचार-विमर्श कर यह निर्णय किया कि किस प्रकार का विग्रह बनना चाहिए एवं कैसी मुद्रा होनी चाहिए।

जब क्ले मॉडल बनकर तैयार हो गया तो स्वयं श्री–जी घनश्यामजी तथा लालजी को साथ लेकर विग्रह देखने जयपुर गये एवं श्री वाजपेयीजी को उसमें आवश्यक संशोधन के निर्देश भी दिये।

पूज्य बाबा के भावानुकूल पूज्य महाराजजी समाधि-मंदिर के गर्भगृह में अष्टसखियों के विग्रह भी स्थापित कराना चाहते थे। अतः पाण्डे-मूर्ति-भण्डार में अष्टसखियों के विग्रह-निर्माण का आर्डर भी दे दिया गया था।

एक आकस्मिक दुर्घटना में श्री जगदीशजी का निधन हो जाने से कार्य में कुछ व्यवधान उपस्थित हो गया, परन्तु श्री–जी का दृढ़ संकल्प कब रुक सकता था। अब इस कार्य का सारा भार श्री घनश्यामजी पर आ गया। श्री–जी चाहते थे कि विग्रह-स्थापना आगामी राधाष्टमी के अवसर पर अवश्य हो जाय परन्तु मूर्तिकार की ओर से विलम्ब होता ही गया। श्री–जी बीच-बीच में किसी न किसी को जयपुर भेजकर मूर्तिकार को काम शीघ्रता पूर्वक करने के लिये प्रेरित करते रहते थे।

श्री बाजपेयीजी ने राधाष्टमी के पूर्व विग्रह तैयार करके देने में अपनी असमर्थता प्रकट की, इससे श्री–जी चिन्तित हो गये। उनके मन में कोई संकल्प उदित हो और वह सिद्ध न हो; यह हो ही कैसे सकता था ? श्री–जी को इस समय एक ही धुन सवार थी कि बाबा के श्रीविग्रह की प्रतिष्ठा निर्धारित समय पर हो जाय।

श्री–जी का स्वास्थ्य दिनों-दिन बिगड़ता जा रहा था। श्री बाबा के विग्रह की स्थापना की चिन्ता तो थी ही, पर वे अपने भावराज्य में डूबे हुए अपने तन-मन की सुधि खोते ही जा रहे थे । सब परिकरजन इस स्थिति को देखकर चिन्तित हो जाते। श्री–जी की भावाकुलता पराकाष्ठा पर थी। नींद नहीं, भूख नहीं, प्यास नहीं। पूरी रात तड़पते ही बीतती।

इतने पर भी उन्होंने मूर्तिकार श्री बाजपेयीजी को यथाविग्रह तैयार करके देने हेतु विशेष पत्र लिखकर भेजने का विचार किया। श्री घनश्यामजी ने दो-चार दिन बाद फोन पर श्री खीचीसाहब को जब श्री–जी द्वारा पत्र लिखने के विचार से अवगत कराया तो वे आनन्द से उछल पड़े और

कहा–"पूज्य श्री महाराजजी का "मानसिक पत्र" बाजपेयीजी को मिल चुका है।" श्री घनश्यामजी ने पूछा–"कैसे" ?

उन्होंने कहा–"कल जब मैं कार्य की प्रगति के अवलोकनार्थ श्री बाजपेयीजी के पास गया तो देखा वे जोर-शोर से काम में लगे हैं। उन्होंने कहा–पूज्य महाराजजी की आन्तरिक प्रेरणा से अब मुझे जोश आ गया है। मैं निश्चित समय पर (१ सितम्बर तक) मूर्ति तैयार करके दे दूँगा। श्री खीचीसाहब से यह बात सुनकर श्री घनश्यामजी प्रसन्न हो गये।

इसके कुछ दिन पश्चात् मैं, घनश्यामजी और लालजी जयपुर गये। विग्रह-निर्माण का कार्य पूरा हो चुका था। केवल फिनिशिंग का थोड़ा सा काम बाकी था, जो श्री बाजपेयीजी ने तीन-चार दिनों में पूरा कर देने का वचन दिया। इस समय श्री–जी देहली में ही थे। हमने जयपुर से मनोनुकूल विग्रह तैयार हो जाने की सूचना फोन द्वारा जब श्री–जी को सुनाई तो सुनते ही उन्होंने जोर से ताली बजाई एवं प्रसन्नतातिरेक से खिलखिलाकर हँस पड़े। जयपुर से लौटकर जब हम श्री–जी के पास पहुँचे तो श्री–जी ने घनश्यामजी से कहा–"विशेष आनन्द की बात भी किसी को एकदम सुनाना नहीं चाहिए। मुझे आनन्दातिरेक से रातभर नींद नहीं आई।"

पूज्य श्री बाबा का श्री विग्रह एवं अष्टसखियों की मूर्तियाँ तैयार हो गईं। अंगराग भी सुन्दर हो गया तथा सभी विग्रह अट्ठाईस अगस्त, ६४ को सुरक्षित रूप से गीतावाटिका पहुँच गये।

❀

विग्रह-स्थापना

राधाष्टमी-उत्सव ग्यारह सितम्बर, १९९४ को गीतावाटिका में मनाया जाने वाला था तथा उसी अवसर पर पूज्य श्री राधाबाबा के समाधिमंदिर में उनके श्री विग्रह की स्थापना का आयोजन था परन्तु इधर श्रीधाम में श्री–जी अत्यधिक अस्वस्थ चल रह थे। एक ग्रास भी खाने की रुचि नहीं। कमजोरी के कारण घूमना भी बंद हो गया था। श्री घनश्यामजी अपने आराम-विश्राम का किंचित् भी खयाल न करते हुए छाया की तरह श्री–जी के साथ एवं सेवा में तत्पर रहते थे। स्नानादि भी वे ही कराते थे।

परिकरजन समझ नहीं पा रहे थे कि हम क्या करें, क्या न करें, जिससे श्री–जी का कष्ट-निवारण हो। गोरखपुर जाने का समय निकट आ रहा था। हमें चिन्ता हो रही थी कि ऐसी स्थिति में कैसे जा पायेंगे ? पूछने पर श्री–जी प्रायः मौन ही रहते, परन्तु देखने से ऐसा लगता था कि उनके मन में जाने का पक्का निश्चय है।

अन्ततोगत्वा वह समय निकट आ गया। विग्रह-स्थापना का कार्य सम्पन्न कराने के लिये पूज्य श्री महाराजजी ने भागवतवक्ता आचार्य श्री किशोरीरमणजी को चार कर्मकाण्डी ब्राह्मणों के साथ श्री धाम से गोरखपुर भेज दिया तथा इसी नाजुक शारीरिक स्थिति में दिनांक चार, सितम्बर १९९४ को स्वयं भी गोरखपुर जाने के लिये श्री घनश्यामजी के साथ देहली रवाना हो गये। देहली में स्वास्थ्य-परीक्षणार्थ डॉ. अरोड़ा को दिखाया। डॉक्टर ने स्वास्थ्य की स्थिति देखकर गोरखपुर जाने की अनुमति नहीं दी, कहा–"यदि श्री महाराजजी को कुछ हो गया तो मैं कभी भी अपने को क्षमा नहीं कर सकूँगा।"

परन्तु श्री–जी अपने निश्चय के आगे किसी की कब मानने वाले थे। नौ सितम्बर को वैशाली ट्रेन से वे गोरखपुर के लिये रवाना हो गये। साथ में श्री घनश्यामजी, कुसुमजी, वृन्दावनदास, लालजी, नीना तथा श्री विष्णुहरिजी डालमिया, ललिताजी और अरुणाजी भी थे।

श्री–जी के स्वागतार्थ स्टेशन पर भीड़ लगी हुई थी। सभी बहुत उत्कंठा से उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। स्टेशन से बाहर कई कारें सेवा में खड़ी थीं। सबके साथ वे गीतावाटिका पहुँचे।

श्री–जी पैदल दस कदम भी नहीं चल पाते थे। व्हील चेयर से ही उन्हें कुटिया तक पहुँचाया गया और स्नान-आहार के पश्चात् विश्राम करा दिया गया। उस दिन मिलने वालों को भी सख्त मना कर दिया गया। दूसरे दिन कुछ लोग दर्शनार्थ आये। विग्रह-प्रतिष्ठा के विषय में परामर्श हुआ तथा तदनुसार कार्य व्यवस्था में सभी संलग्न हो गये। श्री–जी अपनी आत्म-शक्ति से सब कार्य करवा रहे थे।

श्री विष्णुहरिजी डालमिया तथा उनकी धर्मपत्नी श्री ललिताजी इस 'प्रतिष्ठाकार्य' के यजमान थे। बारह सितम्बर को प्रतिमा प्रतिष्ठा का कार्य प्रारंभ हो गया। संकल्प छोड़ने के पश्चात् डालमिया-दम्पती ने प्रतिष्ठा का प्रतिनिधित्व श्री घनश्यामजी को देकर उन्हें इस कार्य में प्रतिष्ठित कर दिया। उत्सव का सारा भार भी इन्हीं पर था तथा अन्य सभी कार्य इन्हीं की सम्मति से किये जा रहे थे। श्री घनश्यामजी पूज्य राधाबाबा के सबसे अधिक अन्तरंग तथा प्रेमपात्र थे।

दूसरी ओर पूज्य श्री महाराजजी की सार-सम्हाल का भार भी इन्हीं पर था। कार्य की व्यस्तता बहुत बढ़ गई थी परन्तु इन्हें यही भान होता था कि श्री बाबा एवं श्री महाराज जी यन्त्रवत् मुझसे सब कार्य करा रहे हैं; इसलिये इनके सब कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होते गये।

समाधि-मंदिर में पूज्य बाबा के विग्रह की स्थापना हेतु अभिजित मुहूर्त में बारह बजे का समय निर्धारित किया गया था। मन्त्रोचार के मध्य सभी कार्य विधि-विधान पूर्वक किये जा रहे थे। ठीक बारह बजे पूज्य श्री महाराजजी के करकमलों द्वारा पूज्य बाबा के श्री विग्रह का अनावरण कराया गया। जय-जयकार की तुमुल ध्वनि से गगन निनादित हो गया। शंख, घंटा, घड़ियाल की सम्मिलित ध्वनि चारों ओर गूँज उठी।

जब श्री महाराजजी ने आरती उतारी, तो उनकी भावपूर्ण मुद्रा देखते ही बनती थी। नेत्र अरुणवर्ण हो रहे थे तथा मुख एक दिव्य आभा से दमक रहा था। पूज्य बाबा भी मानो विग्रह में प्रत्यक्ष हो उठे थे। उनके करुणापूर्ण विशाल नेत्र दीप-शिखाओं के समान उद्भासित हो रहे थे। कहना कठिन है कि कौन किसकी आरती उतार रहा था।

आरती के पश्चात् प्रसाद-वितरण हुआ तथा कीर्तन-ध्वनि और जय-जयकार के साथ विग्रह-प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न हो गया।

श्री–जी को कुटिया पर ले जाकर विश्राम कराया गया। वे बहुत ही थक चुके थे, परन्तु विग्रह-प्रतिष्ठा का कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो जाने से उनका रोम-रोम प्रसन्न हो रहा था। प्रतिष्ठा-कार्य के समापन के पश्चात् श्री विष्णु-हरिजी और श्री ललिताजी श्री–जी की कुटिया पर आये एवं पूर्ण भक्तिभाव से चरण-स्पर्श किया। गद्गद स्वर में श्रीमती ललिताजी ने कहा–"महाराजजी ! आपने तो हमको निहाल कर दिया।" श्री विष्णुहरिजी ने कहा–"महाराजजी ! आपने हम पर अपार करुणा की है। मैंने विदेश में भी मूर्तिकला की दृष्टि से उत्कृष्ट विग्रहों को देखा है, परन्तु पूज्य बाबा के करुणापूर्ण नेत्र जैसे, कहीं नहीं देखे।"

दूसरे दिन श्री राधाष्टमी-उत्सव था। सभी उसमें व्यस्त हो गये। दर्शकों की अपार भीड़ थी। सर्वप्रथम श्री–जी ने 'राधाकिशोरी' की आरती की, बाद में श्री विष्णुजी, श्री फोगलाजी एवं श्री बाई ने आरती उतारी। इसके दूसरे दिन दधिकाँदो तथा उद्दाम हरिनाम-संकीर्तन हुआ।

थोड़ी देर के लिये श्री–जी उसमें सम्मिलित हुए, परन्तु अधिक समय तक बैठ नहीं सके।

इस तरह विग्रह-प्रतिष्ठा एवं राधाष्टमी का उत्सव आनन्दोल्लासमय वातावरण में सम्पन्न हुआ और बहुत से लोग अपने-अपने घरों को लौट गये।

अपूर्व भावावेश –

पूज्य श्री महाराजजी ने वाटिका के परिकरजनों को समाधिमंदिर में पूज्य बाबा के सम्मुख प्रातः - सायं कुछ समय तक संकीर्तन करने के लिये

प्रेरित किया। दिनांक पन्द्रह सितम्बर १९६४ की एकादशी तिथि को समाधि-मंदिर में संकीर्तन का शुभारम्भ किया गया। पूज्य श्री–जी ने आज पूज्य बाबा को पाँच प्रकार की मेवा का भोग लगाने का निर्देश भी दिया। तदनुसार पाँच प्रकार की मेवा बोरियों में भरकर मँगवाई गई, ताकि सभी भक्तजनों को भी प्रसाद-वितरण किया जा सके। भोग लगाने के पश्चात् संकीर्तन प्रारंभ हो गया। श्री घनश्यामजी, स्वामी श्रीरामजी और स्वामी फतेहकृष्णजी सुस्वर में कीर्तन करा रहे थे। पूज्य श्री–जी समाधि-मंदिर के पास ही चौकी पर विराजमान थे। उनकी दृष्टि पूज्य बाबा के श्री विग्रह पर स्थिर थी। नेत्र अरुणवर्ण हो रहे थे। भावमग्न स्थिति में श्री–जी ने अपनी ओढ़ी हुई अण्डी कन्धे पर से उतार कर कटि के नीचे सरका ली और धीरे-धीरे चौकी पर आगे सरकने लगे। वे एकटक बाबा की ओर देखते जा रहे थे। देखते-देखते आवेश की दशा में स्फूर्ति से चौकी से नीचे उतरकर, दोनों हाथ ऊपर उठाकर, शीघ्रता से दोनों सीढ़ियाँ चढ़कर समाधि-मंदिर के दरवाजे पर पहुँच 'ओहो ! ओहो ! बोलते हुए नृत्य की मुद्रा में हो गये और भाव-स्थिति में गोल चक्कर में घूमते हुए नृत्य करने लगे। कहाँ तो दो कदम भी बिना सहारे के चलना दूभर था, कहाँ यह स्थिति ! उपस्थित सभी जनसमुदाय अवाक्, मुग्ध, मौन होकर भावसौन्दर्य की यह स्थिति देख रहा था। सभी के नेत्र झर रहे थे। स्वामी फतेहकृष्णजी निरन्तर रो रहे थे। सर्वेश्वर नाम का एक लड़का, जो उत्सव की सम्पूर्ण अवधि में प्रायः श्री–जी के साथ-साथ लगा रहता था, इस तरह रो रहा था कि पाषाण भी पिघल जाये। सम्पूर्ण वाटिका क्षेत्र एक नूतन प्रेम की सृष्टि में बदल गया था। ऐसा लगा कि श्री–जी बेहोश होकर गिर जायेंगे। श्री घनश्यामजी बाजा छोड़कर शीघ्रता से उठे और हाथ का सहारा देकर उन्हें सम्हाल लिया। श्री–जी बाबा के श्री विग्रह के सामने वहीं बैठ गये। अश्रु-प्रवाह सतत चल रहा था। मुख से अस्फुट शब्द निकल रहे थे– वैभव ! अद्‌भुत वैभव ! वैभव !! अद्‌भुत वैभव !!

श्री घनश्यामजी ने शीघ्रता से व्हील-चेयर मँगवाई, तो श्री विष्णुजी ने कहा–"श्री–जी की जाने की इच्छा नहीं दीख रही है।"

श्री घनश्यामजी ने कहा–"परन्तु मुझे तो ले ही जाना है।" वे जानते थे कि कुछ ही देर में वे मूर्च्छावस्था में हो जायेंगे। पूर्व में भी कई बार उन्होंने श्री–जी की भावदशा के दर्शन किए थे। आनन्द की स्थिति से उठाकर ले जाने से श्री–जी के मन में कष्ट होगा, यह जानते हुए भी परिस्थिति की गंभीरता देखकर ऐसा करना आवश्यक था।

धीरे से व्हील-चेयर पर बैठाकर श्री–जी को कुटिया में लाकर पलंग पर लिटा दिया गया। वे बाह्य-चेतनाशून्य थे एवं घण्टों उसी भावदशा में पड़े रहे। सभी भक्तगण कुटिया के सम्मुख एकत्रित हो गये थे एवं श्री–जी को देखना चाहते थे, परन्तु स्थिति की गंभीरता को देखते हुए श्री घनश्यामजी ने कमरा बंद कर रखा था। कुछ घंटों पश्चात् प्रकृतिस्थ होने पर श्री–जी ने श्री घनश्यामजी से कहा–"तुम मुझे यहाँ क्यों ले आये? मुझे बहुत कष्ट हुआ। मैं एक अपूर्व, विचित्र आनन्द में था।"

दूसरे दिन वाटिका एवं श्री–जी के परिकरजन उनके निकट जब कुटिया में बैठे, तब श्री घनश्यामजी ने धीरे से बात चलाई–महाराजजी! कल पद-संकीर्तन के अवसर पर भावस्थिति में आपके मुख से "अद्‌भुत, अद्‌भुत तथा क्या वैभव, क्या वैभव," इत्यादि अस्फुट शब्द निसृत हुए, जिन्हें श्री बंकाजी ने लिख लिया। सभी यह जानने के लिये उत्सुक हैं कि कैसे आप नृत्यगति से बिना किसी सहारे के दो सीढ़ियाँ चढ़कर बाबा के निकट पहुँच गए? बार-बार आग्रह करने पर श्री–जी पलंग पर उठकर बैठ गये और धीरे से कहना प्रारंभ किया–

"राधिका रमण निरवधि जय, जय अम्बुज-नयन सदा प्रियतम"

यह बाबा का प्रिय कीर्तन चल रहा था। मेरी दृष्टि श्री बाबा की ओर थी। देखते-देखते श्री बाबा की भृकुटि चंचल हो उठीं। मुख पर एक अद्‌भुत सौन्दर्य बिखर गया। मुझसे रहा नहीं गया। उठने के प्रयास में मैं चौकी से आगे सरकता गया। देखा श्री बाबा भृकुटि-चालन के साथ हाथ उठाकर नृत्य की मुद्रा में "जय हो, जय हो" कह रहे हैं। मैं अपना भान भूल गया। कब, कैसे दो सीढ़ी चढ़कर मंदिर के द्वार तक पहुँचा? बाह्य-स्थिति का मुझे कुछ भी भान नहीं था।

पूज्य बाबा दिव्य स्वरूप में थे और मैं भी। सम्पूर्ण वातावरण अद्भुत हो रहा था। आनन्द का साम्राज्य छाया हुआ था। बाबा को नृत्य-गति में देखकर मैं भी वैसा ही हो गया और "वैभव, वैभव" कहकर उन्हें सराहने लगा। ईको पॉइंट के समान प्रत्युत्तर में वे भी मुझे देखकर दोनों हाथ उठाकर "वैभव आपका, वैभव आपका" कहने लगे। मैंने कहा—"साक्षात् वैभव ही अवतरित है, मेरी प्रत्येक बात को आदर देकर इस रूप में पधारे हैं, मुझे साक्षात् देख रहे हैं, मुझे साक्षात् देख रहे हैं।" पूज्य बाबा भी मेरी बात को दुहरा कर मुझे ही सराहने लगे। उनके मुख का स्मित बढ़ता जा रहा था। मेरे ही कहने पर उन्होंने इस प्रकार आना स्वीकार किया, बोले—"मैंने आपका मेवे का प्रसाद स्वीकार किया है, मैं सब सुन रहा हूँ। क्या कहूँ, कैसे कहूँ ?" श्री—जी ने कहा—"मेरा हृदय नमक के डले के समान पिघलता जा रहा था।" इतना कह श्री—जी मौन हो गये।

श्री—जी दो दिन और गीतावाटिका में रहकर दिनांक अठारह सितम्बर को वृन्दावन के लिये रवाना हो गये। स्टेशन पर भक्तों की अपार भीड़ थी। गाड़ी ने सीटी दी और श्री—जी को लेकर धीरे-धीरे चलने लगी। टकटकी लगाये पूज्य श्री—जी की ओर देखते हुए अश्रुपूरित नेत्रों से भक्तों ने बिदाई दी। वह करुण दृश्य देखकर कौन ऐसा होगा, जो बिना रोये रहा होगा।

दूसरे दिन श्री—जी लालजी के यहाँ फरीदाबाद पहुँचे। संकल्पसिद्धि के आनन्द के फल स्वरूप श्री—जी के स्वास्थ्य में कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। खाने में रुचि हुई, थोड़ी नींद भी आने लगी तथा मुख पर कार्य सफलता की प्रसन्नता दीखने लगी। कमजोरी तो यथावत् ही थी।

श्री विष्णुहरिजी तथा श्री मानमलजी ने बम्बई से भारत विख्यात हृदय-रोग-विशेषज्ञ डॉ. जे शाह एवं डॉ. सिंघानिया को देहली बुलाकर स्वास्थ्य-परीक्षण करवाने के लिये फोन द्वारा संपर्क किया। डॉक्टरों ने आठ दिन बाद की तारीख दी, परीक्षण किया तथा उसके अनुरूप अनुपान चलता रहा। उसके बाद श्री—जी वृन्दावन चले आये। बहुत समय के बाद श्री—जी को अपने बीच पाकर कुंज के सभी लोग परम आनन्दित हुए। हम सबके अनुरोध पर श्री महाराजजी ने प्रतिष्ठा के अवसर पर हुए अनुभव की बात हमें सुनाई।

ममलेश्वर-दर्शन

पूज्य बाबा के विग्रह-प्रतिष्ठा-कार्य के समय आपने अपने संकल्प से ही स्वास्थ्य सम्भाल रखा था। वृन्दावन आने पर पूर्ववत् वही स्थिति हो गई। भूख नहीं, नींद नहीं, साँस फूलने लगी और बेचैनी बढ़ गई। डॉ. के. गोपाल को बुलाया गया। उन्होंने इसका कारण कंजेशन बढ़ना ही बताया और तेज एंटिबायटिक कॅपसूल लिख दिये। तीन दिन बाद स्वास्थ्य में कुछ सुधार आया। श्री–जी का जन्मदिन तेरह दिसम्बर को था। परिकरजनों को यही चिन्ता हो रही थी कि उत्सव किस तरह मनाया जायेगा।

सभी भक्तों को पत्र लिख दिये गये कि उत्सव में वे ही लोग आयें, जिनका आने का नियम है। साथ में स्त्री-बच्चों को न लायें और हुआ भी ऐसा ही। जहाँ हर वर्ष बड़वानी से पूरी बस भरकर लोग आते थे, इस बार केवल पन्द्रह व्यक्ति ही आए, परन्तु अन्यान्य स्थानों से बहुत से लोग आ गये।

तीन दिन के स्थान पर एक दिन रासलीला का आयोजन किया गया। उत्सव के कार्यक्रमों में श्री–जी बहुत थोड़ी देर के लिये ही बैठ पाते थे। उनके दर्शनों के लिये सबके मन में अतृप्ति ही बनी रहती थी।

जन्मोत्सव के दिन सुबह सबकी प्रसन्नता के निमित्त श्री–जी दो घण्टे बैठे, परन्तु बहुत ही थक गये। दोपहर भोजन भी ठीक से नहीं कर पाये। रात को संध्या-आरती के पश्चात् खाँसी का प्रकोप बहुत ही बढ़ गया। बोलने में भी असमर्थता दीख रही थी। किसी को भी श्री–जी से मिलने नहीं दिया गया। सभी वापस लौट गये। कुछ घंटों बाद जब श्री–जी को कुछ राहत मिली तो कहने लगे–"आज तो मेरा जाने का दिन था, जो टल गया।" हमेशा की तरह रातभर महामन्त्र संकीर्तन हुआ। सिद्ध सन्त श्रीपादबाबा कहीं भी हों, पर जन्मोत्सव के अवसर पर संकीर्तन में अवश्य सम्मिलित रहते थे। अबकी बार श्री–जी का स्वास्थ्य खराब होने से वे आठ बजे से ही श्री महाराजजी के पास आकर बैठ गये थे एवं पूरी रात एकासन से संकीर्तन में भी बैठे रहे। जैसे-तैसे उत्सव सम्पन्न हुआ और बहुत ही भारी मन से सब लोग अपने-अपने घरों को लौट गये। श्री–जी के स्वास्थ्य के समाचार जानने के लिये सभी के दुःख भरे पत्र आने लगे।

इकतीस दिसम्बर को श्री–जी पुनः देहली चले गये एवं पन्द्रह दिनों तक डॉक्टर की देखरेख में रहे। कड़ाके की ठंड पड़ रही थी। अत्यधिक कमजोरी के कारण श्री–जी सहन नहीं कर पा रहे थे; अतः सब की सम्मति से मध्य प्रदेश जाने का विचार हुआ। तदनुसार चौदह जनवरी को देहली से रवाना होकर इन्दौर पहुँचे। साथ में श्री घनश्यामजी, कुसुमजी, विद्याधरजी, वृन्दावन भी गये। सदैव की तरह राधेश्यामजी के यहाँ ही रुके। सारा परिवार श्री–जी के आगमन से आनन्द के कारण फूल उठा। श्री–जी इनके यहाँ दस दिन रहे। उनके स्वास्थ्य में कुछ सुधार के लक्षण दिखाई देने लगे।

जन्मोत्सव के समय भक्तगण कुछ निराश एवं दुःखी मन से लौट गये थे। श्री–जी यह कब सह सकते थे, उन्होंने देहली से ही म॰ प्र॰, निमाड़ के भक्तों से मन्त्रणा करके बड़वानी में रासलीला एवं श्रीमद्भागवत सप्ताह करवाने का निश्चय कर लिया और अत्यन्त अस्वस्थता रहने पर भी सभी व्यवस्था करवा दी थी। थोड़ा सा स्वास्थ्यलाभ होते ही वे दिनांक छब्बीस जनवरी को इन्दौर से बड़वानी पहुँच गये। वहाँ से इस आयोजन के मुद्रित पोस्टर एवं निमन्त्रण-पत्र जब हमारे पास श्रीधाम पहुँचे, तब हमें बृहद् कार्यक्रम की पूरी जानकारी मिली।

नियोजित कार्यक्रम के अनुसार नौ फरवरी, ६५ को बड़वानी में आठ दिन के लिए प्रातः श्री महाप्रभु-लीला एवं सायं रासलीला प्रारंभ हो गई। दिनांक दस फरवरी, ६५ से श्रीमद्भागवत-सप्ताह कथा प्रारंभ हुई। कथा व्यास, वृन्दावन के आचार्य श्री किशोरीरमणजी थे। इनकी कथा की रोचकता के कारण श्रोताओं की अपार भीड़ उमड़ती रहती। श्रवण लोभ से लोग एक घंटा पूर्व ही आकर बैठ जाते। अत्यधिक कमजोर स्थिति होने पर भी श्री–जी दोनों समय कुछ काल के लिए कथा में अवश्य उपस्थित रहते। उन्नीस जनवरी को कथा-समाप्ति के पश्चात् अड़तालीस घण्टे का अखण्ड हरिनाम संकीर्तन हुआ। शोभायात्रा निकाली गई तथा विशाल भंडारा हुआ।

दो दिन विश्राम करके श्री–जी पुनः इन्दौर पहुँचे। वे शीघ्र वृन्दावन आना चाहते थे; परन्तु श्री विद्याधरजी के बड़े भाईसाहब श्री बालकृष्णजी

सराफ श्री–जी को विशेष आग्रहपूर्वक दो दिन के लिये खण्डवा ले गये। वहाँ चौबीस घण्टे का अखण्ड संकीर्तन हुआ।

श्री–जी, सराफजी के साथ श्री ममलेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग के दर्शन करने ओंकारेश्वर गये। बड़वानी एवं अन्यान्य स्थानों से और भी बहुत से भक्त श्री–जी के साथ हो लिये। वहाँ बड़े भाईसाहब ने श्री महाराजजी के स्वास्थ्य-सुधार के उद्देश्य से ग्यारह ब्राह्मणों द्वारा श्री ममलेश्वर भगवान् का लघु रुद्राभिषेक करवाया और श्री–जी से पूजन करवाया गया।

श्री रामानुज-सम्प्रदाय में शिवआराधना का निषेध है, परन्तु श्री–जी तो साम्प्रदायिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त थे। फिर भी आपके जीवन में शिव-पूजन का यह प्रथम प्रसंग था। शिवजी की अकारण कृपा को स्मरण कर आप पूजन करते-करते भावाविष्ट हो गये। नेत्रों से अवरिल अश्रु बहने लगे। भावावेश हो गया। ऐसा लगा कि अब मूर्च्छावस्था को प्राप्त हो जायेंगे। स्थिति को गंभीर जान श्री घनश्यामजी ने श्री–जी को वहाँ से धीरे से उठाकर बाहर लाकर बिठा दिया। इसी अवस्था में कुछ समय तक बाहर सीढ़ी पर बैठे रहे। प्रकृतिस्थ होने पर परिकर सहित धर्मशाला लौट आए।

श्री–जी ने कहा–"मंदिर का वातावरण क्या था ? सर्वत्र दिव्यता फैल रही थी। श्री शिवजी ने मुझ पर बलात् कृपा की और अपने वैभव का दर्शन कराया।" ओंकारेश्वर में रंगअवधूत की शिष्या एक वृद्धा माताजी रहती थीं। इस समय उनकी उम्र ६० वर्ष की थी। उनसे मिलते हुए कुछ घण्टे वहाँ रुककर श्री–जी सीधे इन्दौर आ गये। इन्दौर में दो दिन रुककर ग्यारह मार्च ६५ को वे श्रीधाम पहुँच गये।

दिनांक ग्यारह मार्च से बाईस मई ६५ तक परमानन्दपूर्वक वेणु-विनोदकुंज में रहकर वे अपने परिकरजनों को सुख पहुँचाते रहे।

तमालकुंज में श्रीमद्भागवत-सप्ताह

परमनामानुरागी एवं श्री–जी के अनन्य भक्त रामेश्वरजी के सम्बन्ध में पर्याप्त लिखा जा चुका है। उनके प्रति श्री–जी की रीझ का कारण यह था कि एकबार श्री–जी ने उनसे पूछा–"आपको कैसे सन्त पसंद हैं ?" उन्होंने कहा–"जो श्याम के दीवानें हों।" सुनकर श्री–जी बहुत प्रसन्न हो उठे। एक बार वे श्री–जी के साथ श्री बिहारीजी के दर्शन कर रहे थे। उन्होंने कहा–"महाराजजी ! मैं कुछ नहीं चाहता, केवल यही चाहता हूँ कि मेरा शरीर वृन्दावन में छूटे।" श्री–जी ने कहा–"श्री बिहारीजी आपकी बात सुन रहे हैं। वे इच्छा पूर्ण करेंगे।" इसके पश्चात् वे रींवा में रहे परन्तु मृत्यु से दो वर्ष पूर्व पत्नी सहित वृन्दावन-वास का संयोग बन गया। नित्य वेणुविनोदकुंज में आकर श्री–जी के दर्शन करते तथा कीर्तन और आरती में सम्मिलित होते। वृन्दावन में जहाँ-तहाँ सत्संग-श्रवण एवं रास तथा श्रीबिहारीजी के दर्शनों के लिये जाते। आखिर जीवन की अवधि समाप्त हुई। दिनांक दस अप्रैल, १९६४ को वे नित्य की भाँति वेणुविनोदकुंज में आये तथा संध्या आरती के पश्चात् श्री महाराजजी के दर्शन करते हुए अपने घर चले गये। भोजनोपरान्त विश्राम किया। रात के ग्यारह बजे आपकी छाती में दर्द हुआ और बढ़ता ही गया। ग्यारह अप्रैल, १९६४ को प्रातः तीन बजे आपका शरीर शान्त हो गया। इस समय इनकी उम्र लगभग बयासी वर्ष की थी। श्री–जी की कृपा से धाम में शरीर छोड़ने की आपकी अभिलाषा पूर्ण हुई।

इनके इच्छानुसार श्री–जी इनके निमित्त श्रीमद्भागवत-सप्ताह करवाना चाहते थे परन्तु कतिपय कारणों से विलम्ब होता गया। दिनांक पाँच मई को इन्हीं की स्मृति में तमालकुंज में सप्ताह कथा का विशाल आयोजन किया गया। श्रीमद्भागवत के उद्भट विद्वान् श्री अच्युतलालजी भट्ट कथा व्यास थे। पूज्य श्री महाराजजी की उपस्थिति के कारण वे अतीव उत्साह से कथा-प्रवचन करते थे और गद्गद होते रहते थे। कहते थे कि पूज्य श्री महाराजजी इतने अस्वस्थ होने पर भी कथा में नियम से उपस्थित रहते हैं एवं इतने मनोयोग से भावविभोर होकर श्रवण करते हैं कि समय की ओर ध्यान ही नहीं जाता।



निकुंज प्रवेश के तीन दिन पूर्व का चित्र (२१ मई १९९५)

इस सप्ताह-कथा में श्री—जी के प्रायः सभी परिकरजन एवं दूर-दूर रहने वाले भक्तगण सम्मिलित हुए थे। कथा-समापन के पश्चात् बृहद् भण्डारा एवं साधुसेवा की गई।

पूज्य श्रीमहाराजजी की उपस्थिति में होने वाला यह अन्तिम श्रीमद्भागवत-सप्ताह था।

महामिलन

पूज्य श्री महाराजजी की भावदशा उत्तरोत्तर गंभीर से गंभीरतर होती जा रही थी, जबकि शरीर अनु-दिन क्षीणता की ओर अग्रसर हो रहा था।

सुखिया सब संसार है, खावै और सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै और रोवै।।

उनसे अब क्षणमात्र का भी वियोग सहन नहीं हो रहा था। मिलन, प्रगाढ़ मिलन की पिपासा तीव्रतर होती जा रही थी। दिव्य चिन्मय देह से प्रियतम के साथ महामिलन की त्वरा निरन्तर बढ़ती ही जा रही थी।

''तुम निकट मैं निकटतम, यह अचरज की बात नहीं।''

इसी महामन्त्र का सतत स्मरण चल रहा था। मिलनैक्य के लिये प्राण छटपटा रहे थे। इसी बात को लेकर प्रिय से बात चल रही थी। शान्ति नहीं, समाधान नहीं, मिलन-पराकाष्ठा की गहरी से गहरी खोज में तीव्र लालसा लिये हुए, सबसे अन्यमनस्क, संसार-स्मृति से पृथक्, किसी एक दिव्य साम्राज्य में, अधिरूढ़ महाभाव में वे निरन्तर आन्दोलित हो रहे थे।

मिलन में अतृप्ति, अमिलन की आशंका से विकलता, संयोग-सुख की पराकाष्ठा में भी पराकाष्ठा की खोज, यही दिनचर्या बनी हुई थी। इसी प्रकार ढाई मास व्यतीत हो गये। समाधान की कोई स्थिति समझ में नहीं आ रही थी। परिकर के पास तो इस रोग का कोई उपाय था नहीं, बस, श्री—जी की बाह्य बेचैनी देखकर बेचैनी अवश्य होती थी।

विरहजाह्नवी की धारा सागर-संगम हेतु तीव्रतर वेगवती होती हुई चली जा रही थी—उफान, उफान, कैसा तूफान ! जिस पर दृष्टि भी नहीं टिक

सकती थी—महाविशाल रूप धारण करती हुई चली जा रही थी। कुछ इधर-उधर सीकरों के रूप से फैली तो बरबस उनकी लेखनी से कागज पर अंकित हो गई।

यह लेखन क्या है, कहना कठिन है। उन्माद कहना ही अच्छा रहेगा। मिलन-पराकाष्ठा का द्योतक, रसिकों के जीवन को प्रमाणित करनेवाला, उनकी स्थिति को परिपुष्ट करने वाला वह लेखन, जिसके आगे मेरे विचार से न कोई शब्द है, न कोई लेखनी का कार्य है। लौकिक शब्दों एवं अर्थों की वहाँ पहुँच नहीं। वाणी तथा बुद्धि की जहाँ इतिश्री ही है, जहाँ केवल उन्माद ही उन्माद की गंभीर स्थिति का दर्शन हो रहा है, वहाँ किसी को भी उसके आकलन, अंकन और लेखन करने का आधार ही नहीं है। वहाँ प्रयास करना व्यर्थ का श्रम है।

श्री—जी ने उसको अंकित करने का अथक प्रयास किया और जितना भी अंकन किया, वह देखते ही बनता है। उसे लेख कह नहीं सकते, उसको विचार कह नहीं सकते, उसको भावाभिव्यक्ति कह नहीं सकते, उसे केवल "गूंगे का गुड़" ही कह सकते हैं। पीने का नशा ही कह सकते हैं।

"हरिरस-मदिरा-मदातिमत्तः" यही कह सकते हैं। देखकर, सुनकर, पढ़कर उन्मत्त हो सकते हैं, परन्तु कह नहीं सकते।

जब स्वयं श्री—जी ही कहने का अथक प्रयास करने पर भी अतृप्त ही अतृप्त रहे, तब किसी और की पहुँच ही क्या है वहाँ पर। जिसने इस रस का कुछ भी स्वाद लिया है, रसिकों का उच्छिष्ट पाया है, जिनको उन उन्मत्तों के सौरभमय वायु का संस्पर्श हुआ है तथा जो इस रस को पान करने को लालायित हैं, वे ही कुछ अनुमान लगा सकते हैं।

रसिकन कौ माल, याहि रसियाजन लेहु देहु,
अतिशय अनुकूल, बिना दामन की लूट है ।।

यह 'धन' श्री—जी उन्हीं रसिकजनों, उन्हीं साधकजनों, उन्हीं प्यासे जनों के लिये छोड़ गये हैं। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि श्री—जी महाभाव

में निमग्न होकर, प्रियाभाव-सागर की लहर बनकर उस महारसराज रसाम्बुधि के अंक में समा गए। जो भी महान् रसिक संत हो गये हैं, उनका यही विश्राम-स्थल है।

अनन्तकाल से प्रिया-प्रियतम की केलि अविराम चल रही है, परन्तु दोनों में पहचान नहीं हुई है कि कौन प्रिया है, कौन प्रियतम?

"आदि न अन्त बिहार करैं दोऊ, लाल प्रिया में भई न चिह्नारी"

तब रसिकजन सदा अतृप्त बने रहें, इसमें आश्चर्य ही क्या!

इस स्थिति में स्थूल का अस्तित्व टिक ही कैसे सकता था। वहाँ तो स्थूलता का विचारं भी स्पर्श नहीं कर सकता। वहाँ रहता है उसी दिव्यता का एकछत्र साम्राज्य।

इसी महाभाव की स्थिति में श्रीमन्महाप्रभु रसरूप होकर समा गए उस नील रसांग के अंक में और महामिलन की स्थिति को प्राप्त हो गये।

यह 'महामिलन' की मधुर गाथा है। जहाँ रसराज-वारिधि अपनी प्रियतमा को अंक में ले आनन्दातिरेक से उत्ताल तरंगें ले रहा है, उसमें ज्वार उठ रहा है, परन्तु वह ज्वार उसका नहीं, महाभाव-स्वरूपा उस रस-सरिता का है। यह रस की परिणति ! इसके आगे कुछ भी नहीं।

प्राणों की तीव्रलालसा से, अपने रसस्वरूप की पराकाष्ठा से, उद्दाम वेग को संयमित करने में असमर्थता को प्रकट करते हुए दिनांक चौबीस मई, १९६५, जेष्ठ कृष्ण एकादशी, बुधवार को संध्या बेला में महामिलन—महामिलन—महामिलन...................।

भावोन्माद की उत्ताल तरंगें नख-शिख से, रोमरोम से आत्मसात् करती जा रही थीं, भाव का आवेश चरमसीमा पर पहुँचता जा रहा था, तनिक भी बाह्य ज्ञान होने पर बेचैनी, तड़फ, व्याकुलता असहनीय हो जाती थी, तब महौषधि के रूप में कुछ-कुछ निजानुभव, निज नित्य मिलन की सुगुह्य बातें लिपिबद्ध करने बैठ जाते और पुनः - पुनः उस रस-सागर में गोते लगाते रहते। दो-चार पंक्तियाँ लिख कर ही कलम हाथ से छूट जाती और मसनद के सहारे लुढ़क जाते। कुछ घण्टों के बाद भान आता, तो नयनाश्रु मार्जन कर बड़ी कठिनता से बोलते (निकटस्थ व्यक्ति से)......"उन्हें पा लेना, उनके संग-संग गमन करना, लीलारस में निमग्न हो जाना सहज है, परन्तु वर्णन कर पाना लोहे के चने चबाना है। पुनः अस्फुट शब्दों में कुछ-कुछ वर्णन करने लगते।" निकटतम, घनिष्टतम एकात्म मिलन की स्थिति में भी अमिलन की आशंका, संयोग में भी वियोग की विषम संभावना से हृदय विदीर्ण होने लगता। महाभाव-जनित दिव्योन्मादकता की उत्ताल तरंगें उच्छलित होतीं, उसके वे सीकर लेख रूप में कागज पर बिखर जाते, जिनको रसिक-जनों ने गोपनीय रखा—

रस ! रस ! रस ! रस !

तुम निकट मैं निकटतम, यह अचरज की बात नहीं।
नयनों में रूप भरा वचन सुधा श्रवण पात्र,
तनु में नील कान्ति तरंगित तनु क्या सच है ?
असीम सौरभ वाणी मुखेन्दु विनिन्दित धारा
दामिनी विलज्जक दसन, नयनों में क्या सच है ?
नीरज विनिन्दित कज्जलांजित मन्द-मन्द चकित क्या सच है ?
नीरज विनिन्दित कज्जलांजित अरुणाधर सुधा मध्य क्या सच है ?
नयन समक्ष क्या सच है ?
मेरे कर कमल-करमणि-नखचन्द्र छवि उद्भासित
दामिनिजित पंक्ति क्या सच है ?
नासा बहिर्गत सुगन्ध चन्दन केशर विलज्जक

मेरे मुख पर छाया निमग्न मुग्ध क्या सच है ?
अलकावलि मध्य भ्रू नयनों बिच पुनः - पुनः विस्फारित
नयनाम्बुज विदग्ध विमुग्ध क्या सच है ?
खंजन विमोहक कजरारे नयन अपलक आमुग्ध
मेरी आँखों पर संलग्न क्या सच है ?
अनंग मोहित कमनीय नीलांग मेरे अंग संश्लिष्ट
कर ग्रहीत नयनों मुग्ध क्या सच है ?
निकट क्या सच है, सन्निकट क्या सच हूँ ?
मानो ये नटवर समालिंगित स्थित हैं !
अंग-अंग अनुराग रस तरंगित सुधाधर पर
हृदय हृदय परिमंडित मेरे सच है !
मीठी मादक बातें कह मौन हुए मूक मुग्ध
विदग्ध की आँखें स्पष्ट मानो बोल रही हैं सच है ?
ये चुप हुए मेरे वचन सुधा रंग में, पर
संकेत रहस्यमय भरा यह श्रीमुख सच है ?
नयन चातुर्य भ्रू तरंग मन्दस्मित मोहिनी,
मेरे हृदय हृदय सर्वस्व निकट क्या सच है !
ये निकट, क्या मैं निकटतम अन्तरंग भाव में,
मेरे मूर्तिमान् निकट हैं।

पुनः महा-भाव सागर में लहर उठी। यदि एक ओर प्रवाह संश्लिष्ट एकात्मता का था तो दूसरी बोर प्रवाह वक्रिम गति से वियोग के संशय का भी था; —"तुम और मैं भिन्न नहीं कदापि" साथ ही 'संशय बना रहता है'—

अनन्त अमित माधुर्य गुणगण आवलि
तुम पुष्प भृङ्गी लुब्ध मणि
भृंगी रस लुब्ध पद्म मुख सुधा धारा रस प्रवाहित पद्मिनी
श्रीमुख निसृत मूरति पद्मिनी, ऐक्य मकरन्द भृंगी चाँदनी

ऐक्य रस भृंगोन्मादिनी
रस वर रसिक शेखर आभूषण वैभव निधि
नील ऐक्य रसमणि, अधर मणि।
मो मन नयन श्रवण तनोद्भव अभिनव अद्‌भुत कीर्ति मूर्ति महामणि
नीलोज्ज्वल नख शिख रोम प्रतिलज्जित दामिनी इन्द्रद्युति मणि
ह्रदय चन्द्रिका मृदुस्मित माधुरी विक्रीड़ित विलसित चकोर चातुरी
तुम मन चन्द्र चकोरी सदन नयन द्वय रंजित माधुरी
दर्पण अनुपम नयन मुग्ध विदग्ध विमोहित पल-पल लोमित
कज्जल अविचल
भाल तिलक सुगन्धित केशर चन्दन अलकों मधि शोभा अकथनीय
लहरि अलक मधि मृदु मधुर गति नव सुधाधर स्मित
अद्‌भुत, अभिनव अनुपमेय
तव भ्रूवल्ली नयन चापल्य मन्दस्मित ने मुझे नृत्योन्मुख किया
कि तुम सन्मुख हुए मेरे उन्मुख हुए।
मेरे नयन द्वय कि तुम्हारे, मैं अद्वितीय कि तुम,
मैं अनेक कि तुम, मैं और तुम, फिर क्या हैं !
मैं और तुम, तुम और मैं भिन्न नहीं कभी कदापि
किन्तु रहती हूँ निकटतम।

लालसान्वित व्यथित तुम मेरे मुखचन्द्र सरोवर में, पर एक तरंग की, न एक किरण की, रसकणांश की तृषान्वित, लोभान्वित किया करते हो।

क्या मैं निकटतमा हूँ?

सत्य ही तुम निकट हो स्थित, यह विश्वास पूर्णतया मेरे मन में अवकाश ले नहीं पा रहा है।

तुम्हारा सम्पूर्ण चन्द्रमुख पूर्णरूपेण मन में पूर्णाधिकार भी कभी किया !
यह संशय बना रहता है।
मुखचन्द्र सरोवर तरंगिता, विक्रीड़ता, विलसिता इसका विश्वास
तुम निकट होकर भी करा नहीं पा रहे हो।

पुनः रसराज और महाभाव के संगम पर अनेकविध ऊर्मियों के नर्तन की विलक्षण छवि निखरी –

इन्दुमुख संश्लिष्ट चकोरी लिए मन्द-मन्द गमन निरत है।
कहाँ किस वन में नयन हैं (गमन है)।
मूक वाचाल नूपुर मणि पायलों में हिलमिल
रहस्य सम्यक् ज्ञात गमन ही गमन है।
"तुम सरसिज मैं सरस सरोवर, मैं तरंग गति चकित विमोहित"
उद्यान सरोवर सम्पूर्ण वन प्रान्त वन किरणाह्लादित, वाटिका किरणाह्लादित, तुम प्रफुल्लित इन्दु गुल्मलतावृत सुन्दर कोमल अनुपम अद्भुत, मैं किरणेन्दु शीतल शशिमुख वर्षित अमृत किरण मालिका,
तुम रसोन्मद भृंगी अलकावलि विस्मित पद्मिनी मोहित मधुप मालिका तुम विहगवृन्द मैं कलरव सुमधुर, मैं मत्त मयूर तुम नृत्यत नटवर,
तुम कमलावलि मैं अत्र-तत्र गुञ्जित झन-झन
तुम मृग चपल चारु आकर्षक, मैं अनुगत धावित सत्वर वन-वन,
तुम अभिनय नाट्य विशारद मोहक, मैं नृत्य नव नूतन कला विमोहित,
मैं नूपुर मणिगण मादक वादक, तुम आकर्षित चकित मुग्ध आस्वादक
मैं कमल मिश्रित सुमधुर लहरी स्वर
स्वर लहरी मुग्ध स्तब्ध विमूर्च्छित,
तुम ब्रजराज, हृदय मेरे निधि, संपूर्ण साम्राज्य तुम मेरे, नख-शिख
मैं और तुम एक प्राण तुम ही मैं और मैं ही तुम। क्रीड़ारत नृत्य
चपल जड़ जंगम वन भू मुग्ध विमोहक, शब्द गन्ध सुगन्धि आँधी
स्फुरित नाना पुष्पोद्यान की रचना
प्रति पुष्प प्रवेश व बहिर्गमन संग-संग चुंबन आलिंगन-मादकगमना

नव शशिबिंब (मेरे) कपोल मुग्ध विदग्ध चकोर,
मन हृदय चकोर मन हृदय माधुरी।
अलक चारु मधि नील भाल कटाक्ष नयन अति विचित्र चातुरी।
मन्द-मन्द अति आनन्द सिन्धु तरंग नव नवीन उमंग रंग।

चपल चारु किरण छवि धारा त्रिभंग रंग शशि माधुरि संग।
श्रीमुख पद्म नियुत नाम पद्मिनी, विलक्षण अनुक्षण विमोहिनी मोहनी।
चुंबित प्रति अंग रोम आलिंगन अंग-अंग स्वच्छन्द माधुरी।
यमुना तट कदम्ब निकट विचित्र तमाल लिपटी मैं वल्लरी।
प्रति किरण नख चन्द्र मणी नव चरण कमल भृंगी रस रसिकनी
उन्मादिनी मैं मुग्ध आनना रम्य भू रजकण चर-अचर जाने ना।
मैं सुधाधर वेणु सुमधुर (मधुर) स्वर धारा
रस माधुर्य राधावर मण्डल परिकर
मैं कान्ति, नीलतनु सागर-नागर रसिक भूपवर दिव्य मौलिवर
बंकिम मादक चितवन सुन्दर कोटि काम शशि लज्जित प्रियवर
सुन्दरता माधुर्य कमनीय छवि चुंबित प्रतिक्षण अंग-अंग मैं
मम चुंबन घन-घन मण्डित मुख नवनीरद नील विनिन्दित घन तनु
मधुपावलि शंकित अलकावलि लखि
लावण्य चकोरी इन्दु मधुर स्मित मुख
स्मित माधुरी वाक् चातुरी तव, मैं लास्य हास्य चन्द्रिका मादक माधुरी
करकमल नखचन्द्र मणि प्रतिबिंब विमोहित पंक्ति दामिनी
चरण कमल मणि किरण माल नख रसोन्मद भृंगी नित नव रसिकनी
गुण मणि शोभा मूरति घन लावण्य इन्दुमुख चकोर चारुमणि

परस्परिक संश्लेष की विमुग्ध स्थिति में भी सतत वर्धमान मिलन-लालना की नव-नवोन्मेषशालिनी तरंगें उठीं –

तुम्हारी स्थिति गति मेरी दृष्टि में
स्मित मेरे लिए मुझको लिए किन्तु मेरे संपूर्ण मन में कराते क्यों नहीं! पूर्ण विश्वास करा नहीं पा रहे हो।
तुम मेरे चित चितचोर चारु चतुर अवश्य हो।
मुझे लिए लहरान्वित सरोवर हो।
क्या मैं हूँ लहरान्वित!
क्या मैं हूँ लहरान्वित! फिर लालसान्वित, तृषान्वित क्यों रखते हो?

यह लालसा तृषा क्यों और क्या ? इसे थोड़ा करा सकोगे
विश्वासानुभव को ?
तुम मेरे सन्निकट, इस सन्निकटता का मध्यवर्ती क्या प्रमाण
विश्वास के लिए ?
तुम मुझे सम्यक् देख रहे हो वैसे ही मैं,
पर मेरी आँखें विश्वास कर नहीं पा रही हैं।
तृप्ति-तृषानिवृत्ति का स्वप्न भी हो नहीं पाया,
ऐसी दशा को अश्रुधारा से प्रकट किया करती है।
तुम मेरी आँखों को अपलक आमुग्ध अखण्डतया कब बनाओगे,
अश्रुविमोचन कब करोगे ?
हे कमनीय ! तुम्हारे नीलोज्ज्वल कोमल कपोल कुण्डल मण्डित स्थल
मेरे नयनों से कब विचुंबित कराओगे ?
कब सुधाधर रस रसिक करोगे मेरे अधरों को ?
अधर सुधा रस रसिकनी क्यों मेरे हैं अधर ? मेरे हैं नयन ?
हे नयनाम्बुज ! मेरे नयन रसोन्मद भृंगी कब सुस्थिरतानुभव करेंगे ?
मेरे अधर कोमल अरुणाधर सुधा पान मग्न उन्मत्त स्थिर कब होंगे ?
यह सुस्थिरता, रसास्वादन, निमग्नता, रसोन्मादकता का सुअवसर
क्या तुम्हारी निकटता नहीं ?
सन्निकटता का, सुस्थिर स्मित माधुर्यता का,
हास्य वदन चन्द्र की चन्द्रिका का क्या मेरी अक्षु-चकोरी करेंगी
अखण्डानुभव ?
तुम मेरे समीप सर्वदा, मैं निकटतमा हूँ सर्वदा क्या ?
इसे क्यों नहीं अनुभव कराते हो ?
निकटस्थित क्यों नहीं कराते हो ? निकट निधि !
प्राण ! प्राणेश ! प्राणनाथ ! प्राणवल्लभ नाम
मेरे मुख सर्वदा निसृत नहीं ! समीप समलंकृत, हे अंग संग !
हे मुख संश्लिष्ट

हे अधर विचुंबित ! हे पूर्णालिंगित ! हे मेरे सर्वस्व निधि प्राण !

मन में, नयनों में, तनु रोम-रोम में, अंग-अंग में समाकर पूर्णानुभव करो न ! समाकर, हाँ, विक्रीड़ित विलसित होकर, चुंबित आलिंगित होकर, बाँहों में परिमण्डित होकर, ग्रहण करकमल से, मुखकमल नयनकमलों से सम्यक् समाकर मुझमें होते हुए, डूबते हुए, समलंकृत होते हुए, होते हुए ही, रहते हुए ही हो जाना, रह जाना।

प्रियतम आते और प्रियतमा का शृंगार करते। प्रियतमा शृंगार की साक्षात् सरस प्रतिमा बनकर उद्भासित हो उठती –

क्या तुम मेरे हृदय, हृदय का हृदय;
प्राणों के प्राण, मैं और तुम, तुम ही मैं, मैं ही तुम
फिर क्या अचरज की बात, तुम निकट मैं निकटतमा।
मैं शृंगार तव, कि शृंगार मम।
मैं शृंगार तव, शृंगार रूप तुम, मैं ही तुममें शृंगार, शृंगार।

मैं शृंगार कुण्डल प्रतिबिंब स्थल, कोमल कपोलमय कपोल शृंगार स्थल ! भाल तिलक चन्दन सौरभ अलकों मध्य नीलोज्ज्वल विशाल भाल स्थल ! नासा बेसर विचुम्बित अधर सुधा स्थल अधर रस शृंगार, शृंगार हूँ मैं। नयन शृंगार रंजित कज्जल शृंगार चतुर नयन चापल्य शृंगार, शृंगार हूँ मैं। श्रवण शृंगार धृत कुण्डल शृंगार बिंबित स्थल शृंगार, शृंगार मैं। तिरछी मदभरी चितवन शृंगार, स्मित अधर मधुर, मेरी स्थिति शृंगार। संपूर्ण मौखिक शृंगार मैं, मेरे नख-शिख चपल त्रिभंग, मदन मोहन अति शृंगार, शृंगार।

सर्वांग नीलाङ्ग महोज्ज्वल अनुपमेय कमनीयता, सुन्दरता, मधुरता, आकर्षकता, आह्लादकता शृंगार, अरुणाधर चुंबित वंशी निसृत मधुर मादक स्वर शृंगार हूँ मैं। विलुब्ध विमुग्धतया निसृत अनुपम मधुरिम वाक् पुष्प मालिका शृंगार हूँ मैं।

मम विमुग्ध विदग्ध अपलक कमल लोचन अवलोकन-संग मधुर

स्मित व परिणत हास्य चन्द्रिका शृंगार, शृंगार हूँ मैं। प्रदर्शित दसनावलि शोभा प्रकट कण्ठ मधुर स्वर प्रसरित सौरभ शृंगार, शृंगार, शृंगार मैं।

मैं ही सर्वांग लास्य मदन मोहक हास्य निसृत-मधुर वाक्य शृंगार, शृंगार, शृंगार मैं।

रूप मन्मथमोहक कमनीयता दिव्योन्मादकता शृंगार,
मैं ही शृंगार, शृंगारमय स्थल।

क्रीड़ा-विहार, विलास मुझसे सृष्टित, मैं ही कारण शृंगार क्रीड़ा विहार विलास में।

मैं ही लतावृत तरुमाला समलंकृत नव निकुंज वन उपवन, संपूर्ण लीला भूमि मैं।

मेरी स्थिति गति संग-संग अंग-अंग संश्लिष्ट माधुरी चातुरी विशाल दृग् गोचरित सर सरसिज मधुप गुञ्जार, पक्षी, कलरव मेरे नयनों में उनकी आमुग्धतया मन्द गति कारण, हाँ, कारण मैं, वे और मैं संग-संग पग, संग-संग मंद-मंद अन्योन्य ऐक्य ज्यों अरविन्द मकरंद, चन्द्रिका चन्द्र, अन्योन्यता शृंगार, एकाकी कदापि शृंगार नहीं। एक दूसरे के समीप, नयनों में अंग संग शृंगार, नाम क्रीड़ा विलास एक, मन एक, ऐक्य परस्पर के कभी मधुर भ्रम कि कौन चपल व कौन प्रेमास्पदा। माधुर्य अकथनीय, भ्रम है मैं और तुम, कारण मैं ही तुम या तुम ही मैं।

यही सार मधुर रस सार मधुर

यही अपार रस सुधा सिन्धु सुधा सर्वदा सुसम्मिलित शृंगार, यही ये ही दो नहीं एक हैं, दोनों एक ही हैं, जो मैं मुग्धा विदग्ध शृंगार, मैं लुब्धा विलुब्ध शृंगार, मैं मुग्धा विदग्ध की मुग्धता, मैं शृंगार विलुब्धता, मैं ही शृंगार हूँ मैं। ये कमनीय सुवासित बाँह, मेरी बाँहों से विलग कभी न हों,

तुम्हारी अपलक आमुग्ध कमल लज्जित आँखें मुझ पर रंजित,
आच्छादित, अलंकृत बनी रह जाँय।
तुम्हारे सुभग सुशीतल सुगन्धित पादाम्बुज
मेरे चरण संग संश्लिष्ट गमन में बने रहें।

मम अंग स्पर्श तव अंग स्पर्श सम्यक् आलिंगित ही गमन निरत रहें।
तुम्हारी मदभरी रसभरी दृष्टि जहाँ, वहीं मेरी, तद्रूप में
भाव भावित रहे। (बनी रहे)।
तुम और मैं जहाँ पर स्थित सुस्थिर रहे मग दोनों से,
दृग दोनों से
दोनों श्रृंगार मार्ग में, वन उपवन के कुंज निकुंज के,
कर सररिज के, सरोवर मणिमय सोपानों के।

सरोवरवर्ती वाटिकाओं के, नव-नवीन पुष्प सघन के, वाटिका वन के, गुञ्जार मग्न मधुप माल के, कलरव निरत पक्षीकुल के, तारा-चन्द्र परिमण्डित नभ के, पुष्पालंकृत प्रकृति वाटिकाओं के, संपूर्ण वृंदावन के श्रृंगार, मैं और तुम अन्योन्य सुसम्मिलित अधरसुधा सम्मिलन रस सार श्रृंगार।

एक देशकाल पात्र भिन्नता हीन, व्यापक, असीम, अपार श्रृंगार माने ही श्रीवृन्दावन।

विलिप्त चन्दन से मेरी कंचुकी सौभाग्यवती,
प्रत्यालिंगित हो चुकी श्रृंगार मैं मूर्तिवती,
तुम निकट मैं निकटतम, यह अचरज की बात नहीं। ❊

❊ (उपर्युक्त पंक्तियों के लेखन-कला की अवधि में एक दिन महाराजश्री पर्यंक से सहसा उठे। उनके मुख-मण्डल पर एक विचित्र अलौकिक मादकता छाई हुई थी। वे भावावेश में थे। नेत्र अरुणिम एवं अर्धोन्मीलित थे। उठते ही पर्यंक पर रखी ओढ़ने की चादर उनके पैरों पर गिर पड़ी। प्रेम-विह्वल होकर उस चादर को उन्होंने इस प्रकार उठाया जैसे वह एक अत्यन्त प्रिय समादरणीय वस्तु हो और उसको प्रेमावेश से अपने सिर पर लगा लिया। विस्मित होकर उनके एक निकटस्थ परिकर ने उसे सिर पर लगाने का कारण पूछा तो अपनी उसी मादकस्थिति में कहने लगे–"क्या कहूँ? तीन महीनों से प्रतिदिन जब मैं दरवाजा बंद कर पर्यंक पर लेटता हूँ तो मेरी बाह्य चेतना विलुप्त हो जाती है, उनकी एक विचित्र लीला प्रारम्भ हो जाती है। वे मेरे निकट बैठ जाते हैं। उनके हाथ में अत्यन्त मनोरम छोटी-छोटी सुगन्धित रंग भरी कटोरियाँ रहती हैं। उनसे रंग लेकर तूलिका से मेरे वक्ष पर नित्य नवीन-नवीन चित्राङ्कन करते हैं। उनके इस श्रृंगार करने की प्रीति भरी रस-धारा में मैं बहने लगती हूँ। वे इसी चादर

पर तो बैठे थे। यह उनके चरण-कमलों से स्पर्शित है। उनके प्रीति-दान की साक्षी है। इसलिये मैंने इसको सिर पर लगाकर उनके इस प्रीति का समादर किया है।" तुमने पूछा, इसलिए कह रहा हूँ।

यह अवधारणीय है कि इस लोक में यह लीला तीन माह तक चली, किन्तु लीला राज्य में यह अल्प अवधि में ही सम्पन्न हो गई।

इस सरस सुकोमल लीला को सुनकर रसलीन मन में स्मृति जाग्रत होती है श्री बिहारिनदासजी कृत एक पद की –

"ऐसे सुख पइयत सखी सुख देखत।
आतुर मुख निरखत चंचल कर बनत न चित्र उर लेखत।।
प्रिया हँसति सकुचत मनमोहन छिनछिन प्रति रति रसहिं विसेखत।
श्री बिहारिनिदासि लोचन ललितादिक लगत न नैन निमेखत।।

श्री रघुनाथ भट्ट की अभिलाषा –

कनक - रचित - कुम्भ - द्वन्द्व - विन्यास - भंगी
रुचि-हर-कुच युग्म सौभगोच्छूनमस्याः।
सपुलक-मथ गंधैश्चित्रितं कर्तुमिच्छोः
गिरिधृत इह हस्ते हन्त दास्ये कदाऽहम्।।

सुवर्ण-रचित मंगल-घटों के सौन्दर्य और आभा का अपरहण करने वाले प्रियतमा के सुभग और उत्तुंग वक्षोजों पर चित्रकारी करने के लिये इच्छुक गिरिधर के हाथ में हाय कब सुगंधित रंगीन द्रव्य (की कटोरी) दे सकूँगी।)

महाभाव का उन्मत्त ज्वार और प्रियतमा का रसराज नील-महोदधि में निमज्जन हो गया।

[illegible]
१/१/७५

[illegible] मैं निकटतम

तुम निकट

यह अनुराग की बात नहीं

नयनों में रूप भरा चन्दन सुधा [illegible] पात्र

मन के नील आकाश तरंगित [illegible] क्या सकते हैं!

अतीत सौरभ भरी [illegible] [illegible] धरा

[illegible] [illegible] नयनों में क्या सकते हैं!

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] क्या सकते हैं!

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] क्या सकते हैं!

[illegible] क्या सकते हैं!

मेरे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] क्या सकते हैं!

[illegible] [illegible] [illegible] चन्दन [illegible] [illegible]

मेरे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] क्या सकते हैं!

[illegible] [illegible] [illegible] नयनों [illegible] पुनः पुनः

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] क्या सकते हैं!

[illegible] [illegible] [illegible] नयन [illegible] [illegible]

मेरी आँखों पर [illegible] [illegible] रूप हैं!

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मेरे अंग [illegible]

पर [illegible] नयनों [illegible] क्या सकते हैं।

निकट [illegible] सकते हैं [illegible] क्या सकते हैं।

[illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] हैं।

अंग-अंग अनुराग [illegible] तरंगित [illegible] पर

[illegible]-[illegible] [illegible] मेरे सकते हैं!

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]-

[illegible] की [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सकते हैं!

मैं [illegible] [illegible] मेरे चन्दन [illegible] [illegible] में पर

[illegible] [illegible] भरा [illegible] पर भी [illegible] सकते हैं!

[illegible] [illegible] के [illegible] [illegible] [illegible]-[illegible]

मेरे [illegible] [illegible] [illegible] निकट [illegible] सकते हैं!

मैं निकट [illegible] मैं निकटतम अन्तरंग [illegible]

मेरे मूर्तिमान निकट हैं!

अनन्त अमित माधुर्य सुधा सम कोमलांगि तुम
[illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] रस सुन्दर नव सुख सुधा धारा रस उमगित माधुरी
[illegible] सुख सिन्धु सुहाने माधुरी. [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] रस [illegible] [illegible]

रस का दाड़िम [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] रस [illegible] [illegible]

मो मन नयन [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] नयन सुधा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] नयन [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]. तुम सचमुच हम नहीं अद्भुत हो!

मेरे नयन हृदय [illegible] तुम्हारे, मैं अहर्निशि सखी तुम
मैं [illegible] [illegible] तुम मैं और तुम [illegible] [illegible] हैं।
मैं और तुम, तुम और मैं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] तुम मैं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] न [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
क्या मैं [illegible] हूँ!
लगता है तुम [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
पर [illegible] [illegible] रहता है।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], रस का [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] दी है।

इन्दुमुख [illegible] चकोरी नाचे मन्द मन्द गगन गिरत हैं,
नहीं [illegible] मन में मगन हैं,
गगन है।

मुख आभास मधुर वाणी पायलों में [illegible]
ही गगन है।
इन्दु [illegible] साज [illegible]
तुम सदालीन हैं अमल मनोहर
[illegible] [illegible] [illegible]
मैं [illegible]
[illegible] [illegible] संपूर्ण [illegible] मन [illegible]
[illegible] [illegible]
तुम [illegible] इन्दु [illegible]
[illegible] कोमल [illegible] मधुर,
मैं [illegible] शीतल [illegible] [illegible]।
[illegible] मधुर [illegible] [illegible]
तुम [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] मधुर [illegible]
तुम [illegible] [illegible] मैं [illegible] [illegible]
मैं [illegible] मधुर तुम [illegible] नटवर
तुम [illegible] मैं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ([illegible] मन)
तुम [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मैं [illegible] [illegible] [illegible]
तुम [illegible] [illegible] [illegible] मैं [illegible]
मैं मधुर वाणी [illegible] [illegible] [illegible] तुम [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible]
मैं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible],
तुम [illegible] [illegible] [illegible] मेरे [illegible] संपूर्ण [illegible]
तुम मेरे [illegible] [illegible]
मैं और तुम एक प्राण तुम ही मैं अब मैं ही तुम!
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
मैं [illegible] तुम
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] की [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

आदर्श गामनी

[illegible]

[illegible]

[illegible]

रस ! रस ! रस ! रस !

रस जिसका प्रारंभ अन्त नहीं, तरतमता नहीं, क्रमोत्कर्ष नहीं, उपमा नहीं।

प्रकट करने शब्द नहीं, सुनने श्रवण नहीं, समा जाने मन नहीं,

रस ने स्वयं निवासस्थल बना लिया हो तो मन है, नयन है, श्रवण है, तनु रोम-रोम है, पर रस ही रस का प्रेक्षणस्थल आँखें नहीं, श्रवण नहीं, नासिका नही, रसना नहीं ।

मूल मन से ही भरे रूप को आँखें देख रही हैं, श्रवण सुन रहे हैं, रसना व्यक्त कर रही है।

पहले मन है मूल, हाँ, कब से, कल्पनाऽतीत है, यह प्रारंभिकता। प्रारंभिकता से मन है, यों भी कह नहीं सकते, कल्पना कर नहीं सकते कब से ? यह प्रश्न रहता नहीं।

प्रत्युत्तर स्वरूप रूप ने सब कुछ भुला दिया, ऐसा भी कह नहीं सकते। सब कुछ तो यही रस है, फिर भुला क्या दिया; हाँ, जहाँ से समास्वादन होता है, उसे भुला दिया।

प्रेक्षण को भुला दिया, श्रवणीय को भुला दिया, रसना को कहने नहीं दिया पर भुला देने का भाव है, मानो नहीं देखा गया, नहीं सुना गया, नहीं कहा गया, न सर्वांग, सर्वावयवों से, तनु रोम-रोम से समालिंगित हो पाया।

मन, नयन, श्रवण, रसना, तनु रोम-रोम सर्वांग रस, रस, रस, रस, है। रस ने अपने विलास निवास के लिये स्वयं का आनन्द लेने यह सृष्टि रसमयी रची; पर रची कहने में पूर्वाऽपर से न सृष्टित रहने की कल्पना व्यर्थ होती है।

रस का नाम पूर्व से ही, सृष्टित होने का अनुभव नख-शिख में होकर करा रहा है।

निवास, विहार शब्द रस संकेत है, जहाँ हो रहा है, रसमयी भूमि ही या भूमि रस ही रस है।

रस, रचना का अपने को आस्वादन करता आ रहा है।

रचना से ही रस, रसिक शेखर चूड़ामणि कहलाने संबोधित हुए समक्ष रसना से। पश्चात् श्रवण करता आ रहा है रसिक ही, मुख रसीली वाणी को, आँखें अपने को देखती हुई भी भूल जाती हैं, ऐसी वाणी उस श्रीमुखीय है।

श्रवण भी मानो नहीं किया, यह मधुर भ्रम बना रहता है, बोलती हुई भूल जाती है रसना, मैं उनसे कुछ बोली, प्रत्युत्तर प्रदान किया था? रस ने होकर मुग्ध, स्तब्ध, विलुब्ध, निमग्न किया।

आँखें, श्रवण अपने को भूले,

भूलना, खो बैठना ही है, भान में नहीं रहना, अतृप्त प्यासे के प्यासे बना रहना।

रस ने समास्वादन किया, माने प्यासे बना दिया, अतृप्त बना दिया, रस संग के कहने का मार्मिक शब्द है रास, विलास, विहार। रस शब्द ने दोनों को बेभान किया, एक दूसरे के हृदय से आलिंगित पाकर मानो नहीं! बाँहों में (किन्तु) मानो नहीं। एक दूसरे को सम्यक् अपलक आमुग्ध अवलोकन-निरत, पर नहीं।

परस्पर रस, रस, रस, रस ही।

मूल रसानुभव हुए रस-रहस्य को आस्वादन कर नहीं सकेंगे। आस्वादन यह प्रत्यंग अपनी सृष्टि का सार सर्वस्व रस विषय है। रस विषय-दोनों प्रिया-प्रियतम ही विषय, विलास, विहार ही हैं।

इसके माने दोनों समान, बड़े छोटे नहीं, एक दूसरे के अधीन समाश्रित। अधीनता, मुग्धता, समाश्रितता मनोमूल स्वभाव है, जिसने पहले से होकर रहने, ऐसे होकर रहने, स्वरूप को, दोनों को सहज स्वभाव से उपस्थित दिखा दिया।

दशा देखते हुई हो, होती रहती है, स्वभाव सिद्ध गुण है, ऐसा होना। कोई आश्चर्य, चकित होने की बात नहीं, अचरज की बात नहीं।

मैं एवं तुम, बस यही सर्वस्व है, किन्तु कहा नहीं जाता, सुनने में कदापि श्रवण नहीं।

मैं तुम से एवं तुम से मैं यह भी अश्रुत है।

'से' का रहस्य, एक दूसरे से, हाँ, एक ही होने का, रहने का,
तुम निकट मैं निकटतम पर निकटतम भाव उन्हीं से ही तो जाग्रत हुआ,
दोनों निकटतम हाँ, लीला लहराई तत्क्षण। परस्पर एक हो रहे हैं,
बिछुड़कर या अंग में ही रहकर माने बिछुड़े हों, ऐसा भ्रम हुआ करता है,
संलग्न, सम्मिलित पर मानो नहीं।

दोनों डूब रहे हैं, निमज्जित हो रहे हैं, तरंगित है पर सिन्धुसुधा अपार है, न कण है रस का, न कणांश है रस कन का, न तरंग है रस की, हाँ सिन्धु रस अपार है।

दोनों ही मानो अपार असीम रस सिन्धु हैं।

रस सिन्धु का प्रतिबिम्ब सरोवरों में, मणिमय सोपानों में ,रमणीय वन्य पथ में, भू रजकणों में।

रहस्य यही मार्मिक कि प्रतिबिम्ब ग्रहण करने का स्वाभाविक भाव सरोवरों में है।

यदि एक बार युगल उपस्थिति हुई तो आरोहण-अवरोहण में सरोवर, मणि सोपानों में बनी रहती है।

एकाकी न सरोवर, न वन्यपथ, न मणि-सोपान।

ऐसे ही आस्वादन-निरत मन, नयन, श्रवण, तनु रोम-रोम।

सरोवर से चहुँ ओर के सोपान, सोपानों से सरोवर, कमलावलियों में सरोवर, सरोवर से कमलावली मधुप मण्डित कमल से कमल जैसे तद्वत् कमल से रसोन्मदा भृंगी।

सम्पूर्ण सरोवर चहुँ ओर की हरित तृणाच्छन्न भूमि से सुशोभित है, चन्द्र की मुग्धता में मतवाली चकोरी, पदम सुगन्ध रस मकरन्द-मत्त मधुप, परस्पर से सुन्दर मधुर शोभान्वित।

तद्वत् अवलोकन मग्न नयन मन श्रवण।

रस अभिन्न पात्र समान है पूर्व से ही तद्वत् तद्रूप समान अन्योन्य से।

रस तो है ही नयनों में, मन में, श्रवणों में, तनु रोम-रोम में, यदि मन है, नयन हैं, श्रवण हैं, तो पूर्व से ही रस रंजित समलंकृत, विभूषित, विक्रीड़ित। क्रीड़ा विलास रसमयी भूमि में रसिक सखी-वृन्द में होता ही रहता है। विलग नही; भिन्न नही, हीन नहीं, ऐसा स्वप्न नहीं। आश्चर्यचकित होने की बात नही, सामान्य, साधारण, सहज स्वभाव से है। यह प्रतिक्षण सुलभ, लब्ध पर मानो नहीं, आश्चर्यान्वित कराता रहता है वह अद्भुत रूप।

नवनवायमान, प्रतिक्षण वर्धनीय सौन्दर्य, माधुर्य स्वरूप, ऐसे मनो-लालसा, अतृप्ति पूर्ण प्रेम वैचित्र्यमय।

अचरज की बात तो नहीं, प्रतिनित्य के अपने प्रियतम एवं समा-स्वादक रसिकवृन्द।

रूप नयनों में भरा, वचन सुधा श्रवणपात्र, तनु तरंगित नील छवि क्या सच है, ऐसा मधुर भ्रम !

रूप महादभुत, अनुपमेय रूप नयनों में समा नहीं सका, पर भरा है, ऐसा अनुभव है !

श्रवण ही पात्र हैं श्रीमुख प्रवाहित पुष्पित वचन सुधा के, यह चकित आश्चर्यान्वित कररहा है, नील छवि क्या सत्य ही ऐसे तन में तरंगित है, संस्पर्शित है, विलसित है !

यह बात तो सत्य है कि मैं निकटतम किन्तु यह क्या आश्चर्य है !

ये इनके नख-शिख श्रृंगार अभिन्न रहस्यपूर्ण मूक सांकेतिक वचनों में निर्देश करते हैं, इन आभूषणों का स्वभाव श्री अंग-संग प्रभाव से जहाँ गमन होना है, प्रकट करते हैं।

गमन धृत नूपुर पायलों का अन्योन्य, अनुभव, एक रहता है। मन, मानसिक संकल्प स्वेच्छा सुनिर्णय है, श्रृंगार परस्पर अभिन्न है या श्रृंगार स्वरूप ही है।

आभूषण बिना श्री अंग सौरभ, कान्ति विस्फारित कमल पर स्वयं पहुँचाया करते है।

अंग सुगंध कान्ति से भिन्न नहीं संपूर्ण वन, वनीय मार्ग (चराचर) हों, किस वन में गमन है निर्देश करते है, नूपुर-पायल।

तुम सरसिज मैं सरस सरोवर। मैं तरंग कहती हो, सरसिज में, संचार से पादपद्मों की नृत्य गति से चकित विमोहित हो गई। सार संकेत यह भी कहना है कि रसोन्मदा भृंगी का पथ कमल सौरममय ही मय है; वैसे ही पूर्ण शशि-उन्मुख मुग्धा का तीव्र गमन अमृतश्राविणी किरण मालिका ही मालिका है।

अरुणाधर सुधा आतुरतया त्वरित गति से धाविता मुग्धा मतवालियों का कोमल मार्ग अधर विभूषित, चुंबित रस प्रवाहित वंशीरव ही है।

गमन-निरता-धाविता रसिकनी का स्वरूप अरविन्द मुख सुगंध से, अरुणाधर रस सुधा से, मुखचन्द्रकिरणमाला से अभिन्न एक है।

पथ पथिक का रसमय अनुपमेय, अकथनीय अद्भुत स्वरूप रहस्य है। सरसिज कहने वाली रसोन्मदा भृंगी है, तरंगमालानुभवी, कमल संचालन से प्रियतम के कोमल अरुण चरणकमलों का ही स्फुरित प्रदर्शित होना सहज स्वभाव है आँखों का।

आँखें माने ही नख-शिख।

चंद्रिका से चरणकमलनखमणिचंद्रिका, श्रवणों का केवल रस को सतत पान निमग्नतया करते रहने का स्वभाव है। श्रवणों को रस का घट कहने में अतिशयोक्ति नहीं है।

विलक्षण विषय यह है कि कमल नयनों की माधुरी में ऐक्य बिना हुए पान करना संभव नहीं, श्रवण पान करते हैं, रूप माधुरी रस को धारावाही कहा है श्रोत-पात्र!

अद्भुत, अनुपम स्वरूपभूत तनु सुगन्धि लिये बिना केवल सुनना संभव नहीं माने श्रोत-पात्र, श्रीकृष्ण-पात्र, सतत विलास, निवास जिनका।

प्रत्येक इन्द्रिय, सर्वेन्द्रियों का काम एक साथ तत्क्षण करती है। रहस्य यह है कि मन ही सर्वेन्द्रियाँ है।

बिना मन के लीला-भूमि का दर्शन, लीला में प्रवेश संभव नहीं।

सब कुछ सुलभ संभव स्वभाव से पर प्यारी इन्द्रियाँ अतृप्त प्रेम वैचित्र्य रसानुभवी है।

इसीलिये प्रियतमा को निकटतम संकेत करती हुई भी क्या यह सच है ?

यह अतृप्त, मानो पाया नहीं भाव बना रहता है।

निकटता से ये दीख रहे हैं, क्या सत्य ही दीख रहे हैं (इसी भाव से) चकितावलोकन-निरत रहा करती है।

मेरे अधर, प्रियतम के अधर-स्पर्श भी किया कभी, रस पान कभी किया ? यह अतृप्त लालसामय भाव बना रहता है।

इन्दुमुख संश्लिष्ट चकोरी लिये मन्द-मन्द गमन निरत, कहाँ, किस वनोन्मुख गमन है, भान रहता इसलिये नहीं कि अन्योन्य श्रीमुख विलासी रसिक बने रहते हैं। वन प्रदेश दोनों का अन्योन्य मुख ही रहता है। वाचाल नूपुरमणि पायलों का हिलमिल रहस्य सम्यक् ज्ञात है किन्तु इनके अंग-संग का प्रभाव ही तो है ऐसा जान लेना। श्री प्रियतम प्रिया निकट आ रहे हैं क्या इसकी सूचना नूपुरमणियाँ देंगी ?

श्री अंग कान्ति प्रवाह सौरभ मादक अभिनिवेश ही प्रकट करेगा हृदया को, हृदय कहाँ से आ रहे हैं, कैसे ज्ञात है ऐसा भी कहना अपेक्षित नहीं, कारण वह हृदया है।

कमल मकरन्द रसोन्मुख रसोन्मदा भृंगी स्वयं आती है। मुख्य है कमल, प्रियतमा की उन्मुखता उनकी स्वाभाविकता है।

मैं निकटतम यों आनन्द में डूबती हुई कह रही है।

अभिनव चंद्र की चकोरी-उन्मुखता आमुग्धतामय स्वाभाविक रहती है ! अन्य कारण रहता नहीं, यह कहने नूपुर करधनी सुनकर, तनु सुगंधि पाकर आगमनानुभव किया हो।

नखशिखैक्य, प्रत्यंग समक्ष हुए को निकटतम कहें कि निकट! रसानुभव को कौतुक से प्रकट करने व्यक्त किया।

रस रसानुभव, बस मन में अवकाश केवल इसीके लिये रहता है। रसोन्मदा भृंगी मन-कमल मकरन्द रस ऐक्य, अभिन्न केवल इसी रसोन्मदा के लिये रहता है, मन को कमल की उपमा दी है।

नाम, रूप, लीला, स्थली मन में समाकर केवल इसीके लिये रहता है मन में अवकाश और किसीके लिये नहीं, ऐसे कहने का अवकाश रहता नहीं। प्रियतम प्रियतमा मन में समाकर एकाकार रहते हैं, जब भी दीखते हैं पूर्ण मन से, नयनों से, श्रुतिगोचर होते हैं पूर्णतया ही।

सरोवर नाम लेने से पूर्ण प्रदर्शित दीखने वाला सरोवर पूर्ण मन से ही दीखा करता है। किंचित् नहीं, थोड़ी मात्रा में नहीं, अवकाश अलावा किसी के लिये बाकी रहा हो ऐसा नहीं।

सरोवर मणिमय सोपान युक्त कमलावली मधुपावली मण्डित गुंजार-निरत एक साथ पूर्ण मन से दीखते हैं।

स्थलीय प्रत्येक वन, कुंज, निकुंज, उपवन एवं हरिणी, मृग शावक, विहग-वृन्द एक साथ दीखकर दीखते ही रहते हैं पूर्ण मन से। पूर्ण मन से इसलिये कहा जा रहा है कि मन के ही हैं और कुछ भी मन का नहीं।

श्री प्रियतम पूर्ण मन में समाकर जो हैं, वे ही दीखते हैं नयनों से, सुना जाता है श्रवणों से, धृत शृंगार पूर्ण मन से, प्रत्येक दीखा करते हैं, यदि नूपुर करधनी हो तो मुखरित मधुर स्वर पूर्ण मन से श्रवणों से अनुभव होते हैं, नूपुर धृत नटवर कलानिधि बाँहोंमण्डित प्रियतमा समलंकृत एक साथ पूर्ण मन से अनुभव में आते हैं।

नूपुर स्वर मधुर दीखने वाले मधुर-मधुर मन के अपने हैं और अपना कोई नहीं, कहने का अवकाश रहने नहीं दिया नूपुर स्वर मधुर ने।

नूपुर सुमधुर शृंगार ने धृत को संपूर्ण शृंगारों से समलंकृत निकट प्रस्तुत किया, जैसे श्री नीलोज्ज्वलांग तनु की कमनीय कान्ति ने स्वरूपभूत

सौरभ ने। शृंगार स्वयं श्रीकृष्ण का संकल्प स्वरूप सांकेतिक मार्मिक रहस्यमय भाव है।

वे जहाँ भी गमन करना चाहें तो नूपुर उस ओर ही गमन कराते हैं। नूपुर स्वर था कि श्री प्रिय ने श्री प्रियतमा से कुछ कहा, यह भ्रम होने लगता है श्रुत स्वर से।

मुख श्री निसृत पुष्पित वाक्माला श्री प्रिया के हृदयाह्लादक, जैसे भी कहा हो प्रकट करते हैं नूपुर स्वर।

स्वर मधुर कि मधुर मुख निसृत मादक वाणी, स्वर मधुर कि अरुणाधर सुधा रस विचुंबित वेणु मादक सुमधुर स्वर! संपूर्ण चंद्रमुख विमुग्ध चकोरी के नयनों को चकित, विस्मित, आश्चर्यान्वित कराता है।

सखी कहती हो, नूपुर ध्वनि गूंजित आ रही है, तो प्रियसखी कोमल को अंक में ही पा लेती है मानो वे समलंकृत हो गये।

नूपुर सुमधुर स्वर लहरी ने तमाम वन प्रदेशों को नयनों गोचरित ही क्या, करा दिया संग-संग उनके।

मधुप माल-गुंजार विनिन्दक नूपुर स्वरों ने कमलावलि समाच्छादित पद्म सरोवरों में करा दिया।

श्री पद्ममुख है कि पद्म है, पलक मात्र भी विचार करने अवकाश प्रदान किया नहीं। कमल पत्रावली मध्य विकसित कमल पर दृष्टि हुई कि चतुर चितचोर पर, कहने सुनाने का अवसर नहीं रहने दिया।

मन ने स्मरण, वरण, हरण एवं रमण के स्वरूप में इत्यादि नामावली रचित सृष्टित होने देने का अवसर प्रदान किया।

मन जहाँ, जिस ओर हुआ सर्वेन्द्रियाँ भी हो गईं, कहने के लिये गुंजाइश नहीं रहने दी, प्रत्येक स्फुरित, प्रदर्शित, प्रस्तुत मधुर प्रसंगों में।

परस्पर को निर्णय हो नहीं पाया किस वनोन्मुख गमन हो, किन्तु धृत अंग स्पर्शित संकल्प अभिन्न नूपुर स्वरों ने उनके अनुकूल ही संकेत

प्रदान किया। नूपुरों की बातें क्या कहें, साक्षात् चरणों को भ्रमित कराने वाले चरण चिह्नों ने संग प्रिया के संश्लिष्ट स्वरूप सहित नयनों में करा दिया।

नूपुर-स्वर कि श्रीमुख वाक् लहरी, हास्य चंद्रिका रस सुधा-लहरी, सम्पूर्ण मौखिक सुषमा !

चकित, विस्मित, विमोहित, विलुब्ध हो जाती है, श्रीचन्द्रमुख में !

केवल नूपुर स्वर था ! विश्वास हो नहीं पाता, केवल मणि जटित नूपुर स्वर्ण का था, यह तो कल्पना ही नहीं होती, न संभव ही है।

केवल स्वर को सुन नहीं पाते वनीय विहंगकुल, आश्चर्य है यह श्री युगल सहित ही नूपुर-पायल सुन पाते हैं, पर आश्चर्य इसलिये नहीं कि सम्पूर्ण श्रीवन रस है, रस सिन्धु ही है, चर-अचर कह नहीं सकेंगे।

एक प्रेम-दशा में यह सयानापन रहता नहीं फिर केवल क्यों विजातीयता जड़-जंगमों की दीखेगी ?

रस गमन में, रस पथ में, रस दृश्यों में कारण रस, मन, नयन, श्रवण एवं तनु रोम-रोम में।

'कारण' शब्द की आवश्यकता नहीं, कारण की कल्पना भी होती नहीं, रस व्यापक असीमामय अद्‌भुत सृष्टि में।

एक सरोवरीय प्रफुल्लित कमल क्या करता है, दशान्वित-स्वरूप ही अनुभवी है ! स्वरूप एवं दशान्वित रहने की भिन्नता कदापि रहती नहीं; दशा ! दशा ! दशा ! ही विलक्षण स्वरूप रहता है।

रस दशा, दशा में रहस्य निज इष्ट की प्रेम वैचित्र्यता ही की वैचित्र्यता परिमण्डित रहती है !

मिले किन्तु मिले नहीं, दीखे किन्तु दीखे नहीं, ग्रहण किया, वरण किया हृदय में, पर मानो नहीं, नहीं।

दूसरे शब्द में लालसा, अतृप्ति नखशिख की रूप माधुरी ही के साथ लपेट में लिया। आलिंगन हो रहा है सम्यक् किन्तु कह नहीं पाती आनन्द

सिन्धु में गोता खाने वाली मादक रसना से। व्यापक प्यासा, अतृप्त साम्राज्य ही साम्राज्य है, यह या ये दोनों परस्पर परस्पर के लालसापूर्ण साम्राज्य हैं।

एक दूसरे के अधखुले नयनों में कर ग्रहण कर मणि सोपानवर्ती कमलों को देख रहे हैं।

सखियों के हृदय की तीव्र इच्छा यही कि परस्पर अंग-संश्लिष्ट, मणि-सोपान-प्रतिबिंबित बेभान विशेष समय तक नहीं रहें, भान में एकदम आकर प्रेम से मिलें, आह्लाद पूर्ण अभिनिवेश बन जाय।

एक कमल पर दृष्टि पड़ने का परिणाम, दोनों हृदमधुर दशा मण्डित दीख रहे हैं।

परिणाम के माने प्रारंभिक दशा इससे भिन्न रहती नहीं।

पहले, पश्चात् , परिणाम आदि शब्द रस ही रसमय आप्लावित, ओतप्रोत रहा करते हैं।

नहीं रहकर परिणाम की कपोल कल्पना कदापि नहीं इस रस साम्राज में।

सखी यह कहती कभी नहीं कि यह प्रिय का श्रीमुख जो दीख रहा है स्मित हीन रहकर, प्रफुल्लित हास्य से परिणत होनेवाला है आदि-आदि।

श्रीमुख माने ही सर्वदा स्मित मण्डित। अरुणाधर कहने मात्र से मंदमंद स्मित समलंकृत श्रीमुख ऐसा लग रहा है, कुछ कहने वाला दीख रहा है, पर कहते ही रहने वाला श्रीमुख है। मूक वचन भी स्पष्ट मानो वाक्य रहता है, वाक्य का प्रारंभिक एक शब्द भी पूर्ण मधुर मादक वाक्य ही है।

यह रूप कदापि मौन रहा नहीं, न नूपुर, न करधनी मणियाँ मौन रहीं; न अधर विचुंबित मुरलिका।

रस का रहस्य यही—नयनों में आकर मुस्कराते रहने वाला, श्रवणों में कुछ न कुछ सब कुछ बोलते रहने वाला।

अपनी रसना को बोलने उद्युक्त करने वाला मानो उन्होंने कहा था,

इसका प्रति-उत्तर प्रदान करती है रसना। संपूर्ण अंगों से समालिंगित होने के भ्रम में पटकने वाला रस है।

सतत होती रहने वाली एक एक लीला को सुनने लगती है सहेली से, यह रस प्रभाव है।

रस, रस का प्रभाव, रसानुभव मूल रसिकता के स्वरूप में सहज आने में, मन-दर्पणोपरि आच्छादित, प्रतीत, कल्पित अज्ञानावरण रूपी धूली को सम्मार्जित होने देने ऐसी रसीली मादक माधुर्य-चर्चा श्रवणों में प्रविष्ट होना परमावश्यक है। कानों में प्रवेश मनोमूल प्रान्त से सुसम्बन्धित है।

मन कहाँ का, स्थिति जहाँ की, गत, रत, अनुगत जहाँ था वहीं होने में, भूतकाल को अवकाश प्रदान करने वाला था। 'था' शब्द इससे निवृत्त होना चाहिये। वर्तमान में, 'है' में सहज होना चाहिये। अनादि-अनन्तकालीन मूल स्वरूप से च्युत, विस्मृत होकर यह 'था' की कल्पना हो रही है। 'है' वर्तमान में इस का सहजानुभव रसमय लीला-चर्चा से सुलभ संभव है।

सरोवरीय कमलों से झुके हुए, निम्नतम मणि सोपान में देभान, एक करकमलदलांगुली में कमल को लिये पड़ी है। निकट से निकट शुककुल मधुर-मधुर बोल रहे हैं, भान में लाने कभी कपोलों-निकट, कभी श्रवणों निकट बोलते हुए चोंचों से वस्त्र को भी धीरे-धीरे खींच रहे हैं।

जहाँ प्रतीक्षारत हैं श्री प्रियतम बस, यह साक्षात्, प्रत्यक्ष दृश्य नयनों में विक्रीड़ित तभी हो सकेगा कि मन हो जाय।

मन के होने में रसीली चर्चा कारण है, श्रवणों में प्रवेश करने के साथ ही नयनों से गोचरित होने में। मन वहीं पर है क्या, यही लीला सहित विचारणीय विषय है।

मन नहीं तो फिर प्रत्यक्ष वास्तविक नित्य और किसी की कल्पना है ! किसी की कल्पना ने न मन को तृप्त किया, न पूर्ण किया, न प्यास बुझायी।

नहीं जो रही, फिर कल्पना को मूल्य क्यों ? अवकाश मन में क्यों देना ?

किसीको अपना समझा हो तो वह सीमा में है, दूरस्थ है, समीप नहीं भले ही वह निकट हो तो भी अवकाश मन में पूर्णतया ग्रहण नहीं किया। जो मन का नहीं, अवकाश हो कैसे सकेगा! उनके मन में पूर्णतया कहाँ समा सकेगा? फिर अतृप्त रखने वाला जीवन को, मन को अपूर्ण रखने वाला मन का कैसे हो सकेगा?

स्थलीय समस्त आनन्द सुख को एक तरफ रखकर, संपूर्ण कल्पित संसार को मन मे समाकर रखने अवकाश कहाँ दिया? माने समा नहीं सका। बाकीपन रह ही जाता है, या मन खाली ही रहता है।

मन का खालीपन भी संभव नहीं क्योंकि मन के अपने जो हैं, उनके प्रति आकर्षण, लोभ वर्तमान अनुभव में आता है।

मन की हाँ मनोलालसा वर्तमान रहती जो है, नित्य, प्रत्यक्ष, वास्तविक मन के अपने अभीष्ट की स्मृति से संभव है।

रस ही स्मृति, श्रवणीय, सौरभान्वित रसनोच्चारित सर्वांगालिंगित कहलाया। मतलब मन स्मरण, रमण, हरण, वरण के नाम से प्रकट किया।

मन माने, कहने समझाने व्याख्या करने का विषय नहीं रहता हुआ समास्वादनीय कहलाया या सम्यक्-आस्वादन का स्वरूपानुभव हुआ।

नित्य पूर्ण प्रत्यक्ष, नवनूतन, प्रतिक्षण वर्धनीय, व्यापक, सर्व समीप स्थित अपना-प्रिय कहलाया मन या रस!

अनित्य, अपूर्ण, नीरस, अप्रत्यक्ष, अवास्तविक यथार्थ स्वरूप-रचना है ही नहीं। सृष्टित ही नहीं, मन का इन शब्दों से सम्बन्ध ही नहीं। मन ने स्वप्न तक नहीं देखा। जब तक अपना मूलानुभव नहीं, ज्ञान नहीं, बोध नहीं, मन अपने सर्वस्व निधि से प्रत्यक्ष से वंचित ही रहा है।

मन का जो नहीं, फिर त्याग, वैराग्य, अनासक्त भाव आदि विशेषणों का मतलब क्या रहा? रसमय, अनुरागमय रूपासक्त स्वरूप ही अनादि अनन्तकाल से है।

आदि एवं अन्त जिसका नहीं, जिसका साधन, उपायों से संबंध नहीं, स्वच्छन्द, स्वतंत्र, अधीन है।

प्रेम स्वरूप है, उसका सहज अनुभव रस के मूल स्वरूप-स्मृति से, पुनः बोध से हो सकेगा।

रस माने ही पूर्णानुभूत, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण लीला-चर्चा से सुलभ, सहज संभव है।

रस, हाँ, नयनों में आकर मुस्कराया, श्रवणों में प्रवेश करने वाला अमृत बना, नासिका को विमुग्ध करने वाला सौरभ बना, रसनोच्चारित मधुर मादक शब्द वाक्य बना, मन को लुब्ध, मुग्ध किया, निवास-विलास किया।

एक दूसरे से, हाँ, परस्पर संश्लिष्ट, संग-संग गमन किया, स्थित हुआ, मुख में स्मित बना, शब्द बना, मुख पर स्थित ही नख-शिख सर्वांग सर्वावयवों में स्थित।

स्थित, परिस्थिति बना, पुरस्थित कहलाया, किन्तु इसने बिछोह की स्मृति, भूल को कदापि अनुभव कराया नहीं।

हाँ, मिलकर अमिलन रूप को अतृप्तमय प्रेमवैचित्र्य का अवश्य ही कराया करता है अनुभव ऐसा, पर नहीं मिले, पर नहीं संग हुए, पर असंग का अनुभव कराता रहता है। अंग-अंग अनंग-विमोहक स्वरूप संलग्न है, समालिंगित है पर संग प्यास-लालसा बनी रहती ही है, (इसलिये कहा) आँखें विचुंबित, कपोल विचुंबित, रोम-रोम समालिंगित पर लालसा-रूपिणी सहेली संग रहती ही है।

इसलिये कहा रूप नयनों में, बना वचन सुधा श्रवण पात्र, तनु नील छवि विचुंबित, यह क्या सच है ! तुम निकट मैं निकटतम यह अचरज की बात नहीं।

प्रफुल्लित, कमलाच्छादित पद्म-सरोवरीय मणिमय-सोपानों ने दोनों के प्रतिबिंब से शोभान्वित होने का अकथनीय सौभाग्य प्राप्त किया।

दृष्टि-पथ में दीख रहा था थोड़ी सी दूरी पर पार के रमणीय तट शोभित प्रफुल्ल कमल।

दोनो में निश्चय एक साथ हुआ कि पहले उसे कौन तोड़ लायेगा! दोनों अन्योन्य देखते हुए उतरे त्वरित गति से तैरते हुए वहाँ पहुँचने, ऊपर सरोवरीय लहरों में लहराती जा रही है।

प्रियसखी प्रियतम सरोवरीय जल मध्ये, कभी ऊपर दीखते हुए नीचे सरोवर में कमलपत्राच्छादित कमल को तोड़ने करकमल को ऊपर बढ़ाया साथ-साथ प्रियतमा ने भी बढ़ाया करकमल को।

कमल तो रह गया, करकमल अन्योन्य के ग्रहीत हो गये।

एक दूसरे से मुग्ध अधीनता की लहरों में हो गए।

सरोवरीय जल भीतर दीख रहे थे अत्यन्त सुन्दर, मधुर मुस्कराते हुए। ऊपर सरोवरीय जल मध्य कमलों में दीख रही है पद्मवदना, जिसमें रसोन्मद भृंग हो चुके थे।

मणिसोपान पर आवृत सखियों के आह्लाद की सीमा नहीं रही।

जिसका वर्णन नहीं हुआ, कभी एक शब्द से भी कहने में नहीं आया, सीमा प्रारंभ जिसका नहीं, एक देशकाल की सीमा से आबद्ध नहीं, यही है संबोधित 'तुम एवं मैं'

सरोवर से कमलावलि में, मधुप माल गुञ्जार में, मणिमय-सोपानों में, विहग कलरवों में, कुञ्ज-निकुञ्जों में, वन-उपवनों में, उस प्रकृति-अंबर में, सर्वत्र संपूर्ण वृन्दाकानन में, ये दोनों मधुर, अद्वितीय, अद्भुत संबोधन मुख निसृत शब्द 'मैं एवं तुम' समलंकृत सर्वदा हैं।

तुम निकट मैं निकटतम, कोई आश्चर्यचकित दोनों का भाव नही है, यहाँ पर ये साधारण, सामान्य हैं, यह भी इसलिए संकेत कर सकते हैं कि अन्य प्रकृति नहीं, यह शब्द ही असाधारण, असामान्य, अलौकिक, अनुपमेय है।

मूर्तिमान् विग्रह स्वरूप है दोनों का, अथवा दोनों ही हैं। अरविन्द

को अवलोकन करते हुए परस्पर अरविन्द-मुख में होते हैं आमुग्ध, अपलक। चन्द्र चकोरी, कभी चकोरी चन्द्र अन्योन्य आमुग्ध होते रहते हैं।

लीला-प्रसंगों को देखने पर कहना संभव नहीं कौन निकट व कौन निकटतम !

सार संकेत यह है कि उनके वक्षस्थल पर विलिप्त चन्दन से ही तो सौभाग्यवती इसकी हुई कंचुकी।

नीलसर्वांग लिपटी ही तो कह रही है, मत्त हुई "मैं श्रृंगार, मूर्तिमान् श्रृंगार हूँ।"

विलक्षण भाव मार्मिक, गोपनीय रहकर प्रकट हुआ करता है।

"तुम निकट, मैं निकटतम" यह अचरज की बात नहीं, अवर्णनीय, अकथनीय, अनुपमेय अनुभवजन्य भाव ही हृदय में समलंकृत रहता है।

इसीलिए कहा कि "अचरज की बात नहीं"।

"मैं" यह मधुर कमलचरण नखमणि चन्द्रिका से लेकर श्रीमुख-चन्द्र मयूरपिच्छ मण्डित तक, अवलोकन आमुग्ध, अपलक करते हुए ही, संकेत अपने स्वरूप का है।

'तुम' श्रीमुख से अरुणाधरसुधा (स्नपित) निमज्जित, डूबते हुए, निसृत हुआ, अपने स्वरूपावलोकन (संयुक्त नयन गोचरित निकटतम प्रांत में) करते हुए संबोधित हुआ।

श्री प्रियतम ने पुष्पित वाक् रसामृत को 'तुम' कहते हुए कानों में प्रविष्ट कराया, हाँ, (उड़ेला), अपने श्रवणों में सुधा को, वाक् सुधा को प्रवाहित किया।

श्रीमुख एवं निसृत 'तुम' शब्द विचुंबित हुआ; पान किया वचनामृत को, अमृत पान निरत स्वरूप अपना अमृतमय ही है। सुधा पूर्ण है, सुधा का विग्रह या स्वरूप है।

सुधारसघन सिन्धु का समास्वादन अपने अमृतपूर्ण स्वरूप से हुआ करता है, अपना अमृतमय स्वरूप जो है, उनके नखशिख सर्वांग तनु रोम-रोम

से समास्वादित है; यही महाद्भुत सुन्दर अनुभूत निर्णय है।

'निर्णय' शब्द नहीं, कारण वे परम सुन्दर किशोर सम्यक् दीख रहे हैं। दीख रहे हैं, अपने स्वरूप से, नखशिख से, सर्वांग से निकलकर। अपने नयनों से, नयन समक्ष विचुंबित, समालिंगित विलक्षण अवर्णनीय सुख को पुनः पाने की त्वरा में, आतुरता में, लालसा में दीख रहे हैं। दीख रहे हैं दीखते हुए अपने में, अपने नखशिख संश्लिष्ट आमुग्ध विमुग्ध दीख रहे हैं।

अपना स्वरूप, उनकी संश्लिष्टतापूर्ण सुखमय, अक्षय सुखमय मुग्धता विलुब्धतायुक्त। अपने स्वरूप के माने रहस्य सार रसपूर्ण रसमय ही रसमय (अप्राकृत, अलौकिक, अनिर्वचनीय)।

प्राकृत प्रवृत्ति की कल्पना तक जहाँ पर नहीं, एक देश काल पात्रता की नहीं कल्पना जहाँ पर।

'प्रकृति' के कल्पना-स्वप्नहीन, अप्राकृत अलौकिक रसमय ही रसमय लीलास्थली को अवर्णनीय अनुभवजन्य लीला-लहरियों में, लहरान्वित दिव्य मादक माधुर्य स्थली को अनुभव कराती है अप्राकृत लीला-स्थली।

अनुभूत पुनः - पुनः अनुभव में आते रहना लीला-लहरियों का स्वरूप स्वभाव ही है। लीलाओं का स्वरूप स्वभाव ही अपने मन का स्वरूप-स्वभाव है। लीला, अपना स्वरूप अभिनव एक ही स्वभाव से प्रकट होती है।

लीला के माने अपना स्वरूप-स्वभाव।

अपना माने ही जो तत्क्षण से, कहने के तत्क्षण से नहीं, अपितु पूर्व से ही जो दीखने लगते हैं, दीखा करते हैं।

अनन्त बार, अगणित बार प्रत्येक पग पर दृग् परिमंडित दीखा करते हैं। स्वरूप अपना पहले कि उनका स्वरूप, यह कह नहीं सकते। दोनों एक साथ न जाने कब से !